नवनीत-सौरभ

मूल्य : बारह रुपये

प्रकाशक :
हरिप्रसाद नेवटिया
नवनीत प्रकाशन लिमिटेड
ताडदेव, बंबई-३४

मुद्रक :
वि० पु० भागवत
मौज प्रिंटिंग ब्यूरो
खटाववाडी, बंबई-४

आमुख

इस सकलन के प्रकाशन की प्रेरणा और उसके लिए प्रोत्साहन देने वाले, 'नवनीत' के हितैषी मित्रवर श्री दुर्गाप्रसादजी मंडेलिया के प्रति सर्वप्रथम आभार प्रकट करता हूं।

बीस वर्ष पूर्व जनवरी १९५२ में 'नवनीत' के प्रथम अक में मैंने लिखा था– "ज्ञान-विज्ञान और उसका साहित्य समुद्र के समान है। उसका अगाध संग्रह वर्षा के रूप में बरसता है और नदी-नदों और सरोवरो को पूरित करता है. .अपने पात्र में वह जल लेकर मनुष्य उसमें अपनापन अनुभव करता है, उससे अपनी पिपासा मिटाता है।...'नवनीत' इसी उद्देश्य को लेकर जनमा है कि वह ज्ञान-विज्ञान और उसके साहित्य की चुनी हुई जलधाराओं के उत्तम अश को अपने घट में भरेगा।"

पिछले बीस वर्षों से 'नवनीत' इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर अपने घट को पूरित करता रहा है और सुरुचि-सपन्न पाठकों की जिज्ञासा और अध्ययन-कुतूहल की तृप्ति के लिए प्रतिमास प्रस्तुत होता रहा है।

बीस वर्षों के इन दो सौ चालीस अकों के हजारों पृष्ठों में से चार सौ पृष्ठों की सामग्री का चयन निश्चय ही दुष्कर कार्य था, परतु 'नवनीत' के वर्तमान संपादक श्री नारायण दत्तजी ने यह कार्य बहुत दक्षता से सपन्न किया है, इसका मुझे हर्ष और अभिमान है।

मैं आशा करता हूं कि 'नवनीत-सौरभ' का परिमल स्थायी रहेगा और 'नवनीत' के प्रेमी ही नहीं, स्थायी मूल्य के पठनीय गद्य के समस्त प्रेमी भी इस सकलन को सग्रहणीय पायेंगे।

नवनीत-परिवार की ओर से यह सेवा उत्कृष्ट साहित्य के पाठकों को सविनय समर्पित है।

श्रीगोपाल नेवटिया
सचालक–नवनीत

नवनीत [हिन्दी डाइजेस्ट]

स्थापना-वर्ष से अब तक के कार्यकर्ता

संपादक :

रतनलाल जोशी
सत्यकाम विद्यालंकार
नारायण दत्त

सहकारी :

रमेश सिन्हा
ज्ञानचंद्र
वीरेंद्र मोहन
विद्याभूषण
ओंकारनाथ शर्मा
सत्यनारायण मिश्र
काशीनाथ मिश्र
श्यामराय भटनागर
आलोक शीगोदिया
परमेश श्रीवास्तव
रमेश उपाध्याय
सुरेश सिन्हा
गिरिजाशंकर त्रिवेदी
राम अरोड़ा

संचालक :

श्रीगोपाल नेवटिया

प्रबंध-संचालक :

हरिप्रसाद नेवटिया

सज्जाकार :

गोपालकृष्ण भोबे
वी. एन. ओके
कमलाक्ष शेणै
ठाकोर राणा

अनुक्रम

♧ ♧ ♧

कृपया निम्नलिखित संशोधन सूचित स्थानों पर कर लें :
पृष्ठ ११० पर नीचे से तीसरी पंक्ति में 'आप्टिकल एनिसोट्रोफी' के स्थान पर 'आप्टिकल एनिसोट्रोपी'।
पृष्ठ १६५ पर लेखक का नाम 'लुडविग कोच-आसडनवर्ग' के स्थान पर 'लुडविग कोच-आडसनवर्ग'।



प्रथम सोपान

जब महाभारत का अंतिम श्लोक महर्षि वेदव्यास के मुखारविंद से नि.सृत हो गणेशजी के सुडौल-सुपाठ्य अक्षरों में भूर्जपत्र पर अंकित हो चुका, तब गणेशजी से महर्षि ने कहा–"विघ्नेश्वर, धन्य है आपकी लेखनी! महाभारत का सृजन तो वस्तुत: उसी ने किया है। परंतु एक वस्तु आपकी लेखनी से भी कहीं अधिक विस्मयकारी है–वह है आपका मौन। सुदीर्घ काल तक आपका-हमारा साथ रहा। इस अवधि में मैंने तो पंद्रह-बीस लाख शब्द बोल डाले: परंतु आपके मुख से मैंने एक भी शब्द नहीं सुना!" इस पर गणेशजी ने मौन की व्याख्या करते हुए कहा–"बादरायण, किसी दीपक में अधिक तेल होता है, किसी में कम, परंतु तेल का अक्षय भंडार किसी दीपक में नहीं होता। उसी प्रकार देव, मानव, दानव आदि जितने भी तनुधारी हैं, सबकी प्राण-शक्ति सीमित है–किसी की कम है, किसी की कुछ अधिक, परंतु असीम किसी की नहीं। इस प्राण-शक्ति का पूर्णतम लाभ वही पा सकता है, जो संयम से उसका उपयोग करता है। संयम ही समस्त सिद्धियों का आधार है, और संयम का प्रथम सोपान है वचोगुप्ति, अर्थात् वाक्-संयम। जो वाणी का संयम नहीं रखता, उसकी जिह्वा बोलती रहती है। बहुत बोलने वाली जिह्वा अनावश्यक बोलती है और अनावश्यक शब्द प्रायः विग्रह और वैमनस्य पैदा करता है, जो हमारी प्राण-शक्ति को सोख डालते हैं। वचोगुप्ति से यह समस्त अनर्थ-परंपरा दग्धबीज हो जाती है। इसीलिए मैं मौन का उपासक हूं।'

—'नवपुराण' से



स्वामी रामकृष्णानंद
की कथा पर से

मंत्रदान

गोष्ठीपुर-वासी वैष्णव-शिरोमणि गोष्ठीपूर्ण ने देखा कि एक अपरिचित युवा संन्यासी उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम करने के पश्चात् हाथ जोडे खड़ा है। संन्यासी का मुख-मंडल अलौकिक तेज से दीप्तिमान हो रहा था, सात्त्विक सौंदर्य से पूर्ण दैवी आभा उसके चारों ओर प्रस्फुटित हो रही थी। कुछ देर तक उसे अपलक दृष्टि से देखते रहने के बाद गोष्ठीपूर्ण ने प्यार-भरे स्वर में पूछा–"युवक! तुम्हारा परिचय?"

"भगवन्! मेरा नाम रामानुज है और मैं महात्मा महापूर्ण का एक तुच्छ शिष्य हूं। वे महामुनि यामुनाचार्यजी के प्रधान शिष्यों में से हैं और श्रीरंगम् में निवास करते हैं। मैं उन्हीं की सेवा में रहता हूं और वहीं से आया हूं।"

गोष्ठीपूर्ण को ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे इतने विनम्र तथा रसपूर्ण वचन वे पहली बार सुन रहे हैं। उन्होंने पूछा–"मेरे पास आने का उद्देश्य?"

"प्रभो! मैं आपसे अर्थ-सहित वैष्णव-मंत्र ग्रहण करने आया हूं।" रामानुज बोले।

यह सुनते ही गोष्ठीपूर्ण की समस्त मृदुता लुप्त हो गयी। "इसके लिए किसी और के पास क्यों नहीं गये?" उनके इन शब्दों में ममता का कहीं पता न था। अत्यंत सौम्यता के साथ रामानुज ने उत्तर दिया–"पूज्य गुरुदेव का कहना है कि इस भूखंड में उस मंत्ररत्न के एकमात्र अधिकारी आप ही हैं, और आपसे ही वह प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए भगवान की सेवा में उपस्थित हुआ हूं।"

ये विनम्र वचन भी गोष्ठीपूर्ण को द्रवित न कर सके। वैष्णव-मंत्र उनका सर्वस्व था, जिसे वे किसी को भी नहीं देना चाहते थे; क्योंकि वे इसका अधिकारी किसी को नहीं समझते थे। परतु वे जानते थे कि संत महापूर्ण की बात भी गलत नहीं है। टालने के अतिरिक्त उनके पास कोई चारा न था। अतः कुछ रुखाई के साथ बोले–"फिर कभी आना, तब देखा जायेगा।"

निराश एवं दुःखी हृदय से रामानुज लौट आये। कुछ दिनों के बाद भगवान श्रीरंगनाथ का कोई उत्सव पड़ा। दर्शन के लिए गोष्ठीपूर्ण भी श्रीरंगम् पधारे। भगवान

की आज्ञा से मंदिर के पुजारी ने दर्शन करते हुए गोष्ठीपूर्ण से कहा—"आप रामानुज को वैष्णव-मंत्र अर्थ-सहित प्रदान कीजिये, वह उसका परम अधिकारी है।"

इस पर गोष्ठीपूर्ण ने करबद्ध निवेदन किया—"प्रभो! स्वयं आपने ही तो नियम बनाया है कि जिसने तप न किया हो, जो अभक्त हो, जो सेवाभावी न हो तथा जो आपकी निंदा करने वाला हो, उसके प्रति यह मंत्र कदापि न कहना चाहिये।"

भगवान रंगनाथ द्वारा प्रेरित होकर पुजारी ने उत्तर दिया—"गोष्ठीपूर्ण! तुम्हें उसकी पवित्रता का पता नहीं है। वह समस्त मानव-जाति का उद्धारक होगा।"

कुछ दिनों के पश्चात् रामानुज फिर गोष्ठीपूर्ण की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने मंत्रदान की प्रार्थना की। इस बार भी सफलता नहीं मिली। परतु वैष्णव-मत्र प्राप्त करने की इतनी उत्कृष्ट अभिलाषा उनके मन मे थी कि एक-दो बार नहीं, अठारह बार वे गोष्ठीपूर्ण के समीप गये और खाली हाथ लौटा दिये गये।

तब उन्होंने विचार किया कि इसमें इन महात्मा का कोई दोष नहीं है, कदाचित् मैं ही उस मंत्र का अधिकारी नहीं हूं, कमी मुझमें है। ऐसा सोचकर वे नितात दुःखी और निराश हुए और घर के बाहर एक कोने मे बैठकर रोने लगे।

उनकी इस दशा की सूचना किसी शिष्य ने गोष्ठीपूर्ण को दी। संत-हृदय दया से पिघल गया। उन्होंने रामानुज को एकांत में बुलाकर बड़े प्यार से अर्थ-सहित अष्टाक्षर मंत्र प्रदान किया, साथ ही सावधान करते हुए बोले—"प्रिय शिष्य! इस परम-दुर्लभ मंत्र का माहात्म्य श्रीविष्णु भगवान के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। मैं जानता हू, तुम इसके परम अधिकारी हो; इसीलिए यह मंत्र मैंने तुम्हें दिया। तुम किसी और को यह महामंत्र मत देना, क्योंकि इस कलियुग मे मैं और किसी को इसका अधिकारी नहीं पाता। जो कोई इस मंत्र को सुन लेगा, वह मृत्यु के उपरात मोक्ष प्राप्त करके वैकुंठ को जायेगा, यही इस मंत्र का गुप्त रहस्य है।"

मंत्र ग्रहण करते ही रामानुज को भीतर-बाहर एक अलौकिक आनंद का अनुभव हुआ। दैवी प्रकाश से उनका मुख-मंडल उद्दीप्त हो उठा। उन्हे असीम शाति प्राप्त हुई। उन्होंने अपने को धन्य माना और फिर गुरुदेव के चरणों मे साष्टाग प्रणाम करके वे श्रीरगम् की ओर चल पडे। परतु गोष्ठीपुर के श्रीविष्णु-मंदिर के निकट पहुंच-कर उनके मन में एक विचार उदित हुआ। वे मार्ग में मिलने वाले प्रत्येक व्यक्ति से कहने लगे कि मेरे साथ मंदिर तक चलो, वहा मैं तुम्हें एक अमूल्य रत्न दूंगा।

शीघ्र ही यह समाचार सारे गोष्ठीपुर में फैल गया कि मंदिर के पास एक महात्मा आये हैं, जो सबको मनचाही वस्तु देते हैं। देखते-देखते मंदिर के पास जन-सागर उमड पड़ा। नगर के पास-पडोस से भी बहुत-से लोग दौड पडे।

नर-नारियों की अपार भीड़ देखकर रामानुज का हृदय प्रसन्नता से भर गया। वे मंदिर के गोपुर के ऊपर चढ़ गये, जिससे सभी लोग आसानी से उन्हें देख

सकें और उनकी बात सुन सकें। उस उच्च स्थान पर स्थित होकर मेघगंभीर वाणी में उन्होंने एकत्र जनता को सबोधन करके कहा "भाइयो तथा बहनो! यदि आप सब ससार के बंधन तथा घोर कष्टों से सदा के लिए मुक्ति पाना चाहते हैं, तो मेरे साथ मिलकर उस मंत्ररत्न का तीन बार उच्चारण कीजिये, जिसे मैंने आपके लिए ही प्राप्त किया है। इस मंत्र को बोलकर आप कृतार्थ हो जायेंगे।"

तब रामानुजाचार्य ने आनंदपूर्ण एवं गद्गद हृदय से महामंत्र का तार स्वर से उच्चारण किया–"ओं नमो नारायणाय।"

जनता ने मंत्र को सुना और उसी तरह ग्रहण किया, जैसे कई दिनों का भूखा आदमी स्वादिष्ट भोजन ग्रहण करता है। सबने मिलकर अपनी पूरी शक्ति से इस मंत्रराज का उच्चारण तीन बार किया। मंत्र के तुमुल नाद से सारा वातावरण अलौकिक आनंद से परिपूर्ण हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ, मानो धरती पर वैकुंठ उतर आया हो, मानो सारे दुःख धरती से लुप्त हो गये हो।

जो लोग पहले धन-वैभव की कामना लेकर आये थे, उनके मन से वह कामना न जाने कहां चली गयी। सबके मुखों पर दिव्य आनंद की झलक थी। सबने अपने को धन्य माना। इतने लोगों का कल्याण देखकर रामानुज के हर्ष का ठिकाना न था। गुरु गोष्ठीपूर्ण के चरणों में पुनः प्रणाम करने के लिए वे उनके घर की ओर चले।

इस बीच गोष्ठीपूर्ण को लोगों से पता चल गया था कि रामानुज ने मंदिर में कैसी लीला की। उनके क्रोध का पार न था। जिसे किसी भी आदमी को न बताने के लिए कहा था, वही महामंत्र रामानुज ने असख्य नर-नारियों को खुलेआम दे दिया, फिर गुरु को क्रोध क्यो न हो! जब रामानुज उन्हें प्रणाम करने को वहा पहुंचे, तो गुरु क्रोध के आवेग को रोक न सके और अत्यंत तीव्र स्वर में बोले–"दूर हो जा, नराधम! तुझ विश्वासघाती को वह मंत्ररत्न सौंपकर मैंने बहुत बड़ा पाप किया है। अब तू यहा क्यों आया है? अपना मुख दिखाकर मेरे सिर पर और अधिक पाप चढाने के लिए? तुझ-जैसे नीच को नरक में भी स्थान मिलना कठिन है।"

तनिक भी भयभीत न होते हुए, विनम्र भाव से रामानुज बोले–"महात्मन्! आपने कहा था कि जो भी इस मंत्र को सुनेगा, वह मोक्ष प्राप्त करेगा। इतने लोग जीवन का परम पुरुषार्थ प्राप्त करके वैकुंठ को जायें और उनके लिए मुझ-जैसा तुच्छ जीव नरक मे वास करे, इससे अधिक धर्म और लाभ की बात क्या हो सकती है? आप जैसे गुरु की आज्ञा भंग करने के कारण मुझे निश्चय ही नरक की प्राप्ति होनी चाहिये। किंतु प्रभो! आपके कथनानुसार मंत्र बोलने वाले इन सब नर-नारियों का उद्धार भी अवश्य होना चाहिये।"

गोष्ठीपूर्ण के हृदय-पट खुल गये। उन्हें अपनी सकुचित वृत्ति तथा रामानुज की उदारता का ज्ञान हुआ। उन्होंने रामानुज को हृदय से लगा लिया। ❀ ❀ ❀



नगेंद्रनाथ गुप्त

परमहंस का सान्निध्य

सन १८८१ में एक दिन श्री केशवचंद्र सेन काफी बड़ी टोली के साथ अपने दामाद, कूचविहार के महाराज नृपेंद्र नारायण भूप के अग्निबोट में रामकृष्ण परमहंस से मिलने दक्षिणेश्वर गये। मुझे भी उस दल में सम्मिलित होने का सौभाग्य मिला।

दक्षिणेश्वर में हम लोग नहीं उतरे, अपितु स्वयं परमहंस हमारी किश्ती पर आ गये। साथ में उनका भतीजा हृदय था, जो हमारे लिए एक टोकरी में कुरमुरा और संदेश लाया था। अग्निबोट नदी के बहाव के विपरीत सोमरा की ओर चल पड़ी।

परमहंस ने लाल किनारी की धोती और कुरता पहन रखा था, जिसके बटन बंद नहीं थे। ज्यों ही वे किश्ती पर आये, हम सब उठ खड़े हुए और केशवचन्द्र ने हाथ पकड़कर परमहंस को अपने पास बैठाया। फिर केशवचंद्र ने इशारे से मुझे बुलाकर पास में बैठने को कहा और मैं लगभग उनके चरणों से सटकर बैठ गया।

परमहंस सांवले रंग के थे, उनके दाढ़ी थी, उनकी आंखें कभी पूरी उन्मीलित नहीं होती थीं और अंतर्मुख थीं। वे मझले कद के थे, शरीर से पतले, लगभग कृश थे और कमजोर-से लगते थे। वास्तव में वे अत्यंत 'नर्वस' स्वभाव के थे और हल्की-सी भी शारीरिक पीड़ा को तीव्रता से अनुभव करते थे।

वे हल्की-सी और बड़ी प्यारी लगने वाली हकलाहट के साथ बड़ी सीधी-सादी बंगला बोलते थे और 'आप' और 'तुम' ('आपनि' और 'तुमि') में अक्सर घोटाला कर देते थे। लगभग सारी बातचीत उन्हीं ने की। शेष सब, केशवचंद्र भी, उत्सुकता और श्रद्धा के साथ सुनते रहे।

मैंने कभी किसी को वैसा बोलते नहीं सुना है। यह उनकी भक्ति और ज्ञान के अटूट स्रोत से उमड़ते हुए गहरे आध्यात्मिक सत्यों और अनुभवों का अखंड प्रवाह था। उनकी उपमाएं, रूपक और दृष्टांत जितने अधिक प्रभावशाली थे, उतने ही मौलिक भी थे।

बोलते-बोलते वे कई बार केशवचन्द्र के निकट इस तरह आ जाते थे कि अनजाने

ही उनके शरीर का कुछ हिस्सा केशवचंद्र की गोद में आ जाता था। किंतु केशव सर्वथा निश्चल बैठे रहते थे और पीछे सरकने की चेष्टा नहीं करते थे।

बैठ जाने के बाद परमहंस ने अपने चारों ओर दृष्टि डाली और चारों ओर बैठे लोगों के प्रति सहमति-सी सूचित करते हुए कहा–"बहुत अच्छा! सबकी बड़ी-बड़ी आंखें हैं।" (बेश-बेश! बेश सब पटल चेरा चोखा।) इस घटना को हुए इतने वर्ष बीत चुके हैं; परंतु परमहंस की कही एक-एक बात मेरे मानस पर अमिट अक्षरों में अंकित है। फिर उन्होंने एक नवयुवक की ओर निर्निमेष देखा, जो पश्चिमी वेश पहने, रसी लपेटने के खूंटे (कैप्स्टन) पर बैठा था। बोले–"वे कौन हैं? साहब लगते हैं।" (उनिके? ओ के साहेब, साहेब देखछि।)

केशवचंद्र ने मुस्कराते हुए बताया कि वह हाल में इंग्लैंड से लौटा हुआ एक बंगाली युवक है। परमहंस हंस दिये–"कहो भाई, साहब को देखकर डर लगता है न?" (ताई बल मशाई, साहेब देखले भय करे न?) वह युवक और कोई नहीं, कूचविहार के कुमार गजेंद्रनारायण थे, जिनका विवाह थोड़े समय बाद केशव की द्वितीय पुत्री से हुआ।

अगले ही क्षण आस-पास के लोगों में परमहंस की दिलचस्पी समाप्त हो गयी और उन्होंने बताना शुरू कर दिया कि वे कैसी-कैसी साधनाएं करते रहे। "कई बार मैं कल्पना करता कि मैं चकवी हूं और चकवे को बुला रहा हूं।" (आमि डाक तुम चक्रा आर आमनि आमार भीतर थेके रा आसत चकि।)

संस्कृत का यह प्रसिद्ध कवि-समय है कि चकवा-चकवी एक ही तालाब के आमने-सामने के तटों पर रात काटते हैं और एक-दूसरे को पुकारते रहते हैं। फिर बोले–"मैं बिल्ली का बच्चा बनकर मां को पुकारने लगता था और मां मुझे उत्तर देती थी।" (आमि बल तुम मिउ आर येन धाड़ि वेडाल बल तो म्याउ।)

कुछ देर इस ढंग से बोलते रहने के बाद अचानक ही वे सभल गये और बच्चे की-सी मुस्कान के साथ बोले–"आप जानते ही हैं, गुप्त साधना की सारी बातें बतायी नहीं जातीं।" (जान मशाई, गोपन साधनार सब कथा बलते नेई।) उन्होंने समझाया कि जब आत्मा आराध्य के ध्यान में खो जाती है, तब उसके दिव्य आनंद का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता।

फिर उन्होंने आस-पास बैठे कुछ लोगों के चेहरों को निहारा और विस्तार से इसकी चर्चा की कि किस तरह मुखाकृति आदमी के चरित्र की सूचना देती है। आंखें सबसे मुख्य चीज हैं; लेकिन अन्य सभी लक्षण–माथा, कान, नाक, ओंठ और दांत आदि भी चरित्र को समझने में सहायता देते हैं।

इस तरह यह एकतरफा सभाषण चलता रहा, जब तक वे निराकार ब्रह्म के विषय पर नहीं बोलने लगे। "वह जो निराकार है, उसका अनुभव करना होगा।"

(ओइ ये निराकार रूप तारई धारणा चाई।) उन्होंने दो-तीन बार 'निराकार' शब्द का उच्चारण किया। फिर वे चुपचाप समाधि में चले गये, जैसे कि कुशल गोताखोर गहरे पानी में पैठ जाता है। जब परमहंस समाधिमग्न थे, तब केशवचंद्र सेन ने हमें समझाया कि हाल में निराकार ब्रह्म के संबंध में परमहंस से उनकी बातचीत हुई थी और परमहंस बहुत भावपरवश हो गये थे।

हम समाधिस्थ रामकृष्ण परमहंस को बहुत ध्यान से देखते रहे। सारा शरीर पहले शिथिल हुआ और फिर तनिक-सा तन गया। मांसपेशियों या नसों में कोई स्पंदन नहीं था, अंगों में हलचल नहीं हो रही थी। दोनों हाथ गोद में थे और उंगलियां आपस में हल्की-सी गुथी हुई थीं। वे आरामदेह आसन में सर्वथा निश्चल बैठे हुए थे।

मुख तनिक ऊपर उठा हुआ और समाहित था। आंखें लगभग बंद थीं—पूरी तरह नहीं। पुतलियां ऊपर को चढ़ी हुई या किसी ओर मुड़ी हुई नहीं थीं, अपितु स्थिर थीं, वे मस्तिष्क को किसी भी बाह्य वस्तु का बोध नहीं करा रही थीं। वर्णनातीत परमानंद की मुस्कान लिये ओंठ खुले हुए थे और उनमें से शुभ्र दंतपंक्ति दिखाई दे रही थी। उस मुस्कान में ऐसा कुछ अनूठापन था, जिसे कभी कोई फोटोग्राफर पकड़ नहीं पाया।

हम कई मिनिट तक परमहंस की समाधिलीन अचंचल काया को अपलक देखते रहे। तब केशवचंद्र सेन के ब्राह्म समाज के गायक-भक्त त्रैलोक्यनाथ सान्याल ने खोल और करताल के साथ एक भजन गाया।

संगीत का रव बढ़ने पर परमहंस ने आंखें खोलीं और चारों ओर ऐसे देखा, जैसे कि वे किसी अनजानी जगह पर आ गये हों। संगीत थम गया। परमहंस ने हम लोगों को देखते हुए पूछा—"ये सब कौन हैं?" (एरा सब कारा?) फिर उन्होंने अपने सिर पर तीन-चार बार जोर से हाथ मारे और जोर से कहा—"उतर जाओ, उतर जाओ।" (नेबे जा, नेबे जा।)

किसी ने भी समाधि का जिक्र नहीं किया। परमहंस पूर्ण सचेत हो गये और बड़े मीठे सुर में गाने लगे—"श्यामा मा कि कल करे छे, काली मा कि कल करे छे।" (मां काली ने कैसी अद्भुत कल-मशीन-बनायी है।) गाने के बाद उन्होंने इस विषय पर बड़ा ज्ञानवर्धक प्रवचन दिया कि गाने के लिए गले को कैसे साधा जाता है और अच्छे गले की विशेषताएं क्या हैं।

परमहंस को दक्षिणेश्वर में उतारकर जब हम कलकत्ता लौटे, तब तक रात काफी बीत चुकी थी।

❀ ❀ ❀



जी. रामचन्द्रन्

जन-जन का बोधिवृक्ष

गांधीजी असंदिग्ध रूप से धार्मिक पुरुष थे। उतने ही असंदिग्ध रूप से वे बुद्धिवादी भी थे। उन्होंने श्रद्धा और तर्क का अपने ही ढंग से सहज सामंजस्य बैठा लिया था और ऐसा सामंजस्य वे इसीलिए बैठा पाये थे कि उन्होंने यह स्पष्ट देख लिया था कि श्रद्धा और तर्क दोनों की अपनी सीमाएं और क्षमताएं हैं। इन सीमाओं व क्षमताओं का पूरा-पूरा और जीवंत ज्ञान उन्होंने पुस्तकों से नहीं, बल्कि मानव-जीवन के अनुभवों की विकट खान से प्राप्त किया था।

गांधीजी को प्रार्थना में देखकर, या मुग्ध होकर रामायण-महाभारत की कहानियां सुनते देखकर सहज ही यह भ्रम हो जाता था कि यह आदमी धार्मिक अंधविश्वासों से पूर्णतया मुक्त तो नहीं हो सकता। लेकिन गांधीजी सब प्रकार के अंधविश्वासों से इतने विमुक्त थे कि उतना विमुक्त कोई बुद्धिवादी भी क्या होगा! उन्होंने स्वयं अपने संबंध में कोई अंधविश्वास कभी सहन नहीं किया; और उसी से यह बात असंदिग्ध रूप से सिद्ध हो जाती है कि उनका बुद्धिवाद कितना प्रबल एवं ठोस था।

ऐसे बुद्धिवादी बहुत मिलते हैं, जो अपने संबंध में फैले अंधविश्वासों के सिवा बाकी सब अंधविश्वासों का खात्मा कर देना चाहते हैं। बेशक वे ऐसे अंधविश्वासों को नष्ट करते हैं, जो उन्हें नापसंद हैं; लेकिन वे अपने अनुकूल पड़ने वाले अंध-विश्वासों की सृष्टि भी किया करते हैं। आजकल के राजनीतिक 'बुद्धिवादियों' के बारे में यह बात विशेष रूप से सत्य है। मगर गांधीजी उनमें से नहीं थे।

सन १९२४ में जब गांधीजी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए दिल्ली में इक्कीस दिन का उपवास कर रहे थे, तब एक अत्यंत बोधप्रद घटना घटी। गांधीजी 'दिलकुशा' के एक कमरे में उपवास कर रहे थे और बंगले की सीढ़ियों पर सी. एफ. एंड्रूज बड़ी मुस्तैदी से चौकीदारी कर रहे थे। गांधीजी की शक्ति तेजी से क्षीण होती जा रही थी और डाक्टरों ने उन्हें पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी थी। एक दिन तो उनके प्राणों का भी खतरा उपस्थित हो गया था।

शायद उपवास का तेरहवां दिन था कि दूर के किसी गांव से एक ग्रामीण दंपति महात्माजी के दर्शन करने 'दिलकुशा' आ पहुंचे। 'दिलकुशा' के फाटक पर तो हजारों की भीड़ लगी थी। वे दोनों बड़ी दृढ़ता से स्वयंसेवकों का घेरा तोड़कर फाटक के भीतर चले आये। परन्तु सीढ़ियों पर उनका पाला सदा मुस्कराते रहने वाले, किंतु टस-से-मस न होने वाले श्री एंड्रूज से पड़ा।

एंड्रूज ने उनसे कहा—"क्यों भाई, इस तरह घुस क्यों आये हो? तुम्हारा ऊपर जाना और गांधीजी को परेशान करना ठीक नहीं। वे बहुत कमजोर हो गये हैं और उन्हें पूरा आराम चाहिये। इसलिए उनके स्वास्थ्य के लिए भगवान से प्रार्थना करो और शांति से चले जाओ।"

लेकिन किसान और उसकी पत्नी बिल्कुल भी डिगे नहीं। यात्रा के कारण वे धूलि-धूसरित और थके-हारे लग रहे थे। औरत के हाथ में पीतल का चमचमाता हुआ लोटा था, जिसका मुंह उसने पत्ते से ढंक रखा था। उनकी कथा बड़ी मार्मिक थी।

दूर गांव के झोंपड़े में उनका इकलौता बेटा बीमार पड़ा था। बेचारा सख्त बीमार था और गांव के वैद्य की भरसक कोशिशों के बावजूद उसकी हालत तेजी से बिगड़ती जा रही थी। और तब उनके मन में एक विचार कौंध गया था। गांव के कुएं का पानी ले जाकर उससे महात्माजी के पांव पखारें और वह चरणामृत लाकर बच्चे को पिला दें, तो वह रामबाण का काम करेगा। उनकी आंखें श्रद्धा से चमक रही थीं। उनके कंठ भावना से गद्गद थे और उन्होंने एंड्रूज से अनुनय-विनय की कि उन्हें बस एक मिनिट के लिए गांधीजी के पास जाने दें, ताकि वे अपना उद्देश्य पूरा कर सकें।

मगर 'चौकीदार' ने तो अपना कलेजा पत्थर का बना लिया था और वह डाक्टरों की हिदायत का मुस्तैदी से पालन कराने पर आमादा था। उसने साफ-साफ कह दिया कि गांधीजी के पास उन्हें जाने देना सर्वथा असंभव है।

दोनों पक्ष अड़े हुए थे। ग्रामीण दंपति सीढ़ियों के नीचे बैठ गये और उन्होंने साफ कह दिया कि हम गांधीजी को देखे बिना हटने वाले नहीं हैं। एक सज्जन ने मामला निबटाने के खयाल से सुझाव दिया कि सारी बात गांधीजी को बता दी जाये और अगर वे (गांधीजी) कहला भेजें कि वे बहुत थके हुए हैं और अभी किसी को देखना उनके लिए संभव नहीं है, तो दंपति को चुपचाप चले जाना होगा।

दंपति इसके लिए तैयार हो गये, लेकिन उनकी भी एक शर्त थी—"हमारे बच्चे की हालत और हमारे यहां आने का मकसद महात्माजी को बता दिया जाये।"

"वह मैं जरूर कर दूंगा," कहते हुए श्री एंड्रूज अंदर चले गये। उन्हें पूरा विश्वास था कि गांधीजी अपने पैर धोने और उस पानी को दवा के रूप में पिलाने की अनुमति कदापि न देंगे; वे इन लोगों को हर्गिज अंदर आने न देंगे।

मगर उनका अनुमान गलत निकला। सारा किस्सा सुनकर गांधीजी ने श्री-एंड्रूज को इशारा किया कि उन पति-पत्नी को आने दिया जाये। गांधीजी उस दिन सचमुच बहुत कमजोर थे। श्री एंड्रूज ने विरोध किया। मगर गांधीजी ने बड़ी क्षीण आवाज में कहा कि वे उन्हें इसलिए बुलाना चाहते हैं, ताकि "उनके अंधविश्वास का इलाज" कर सकें।

सो ग्रामीण दंपति को भीतर ले जाकर गांधीजी के सामने बैठाया गया। तब गांधीजी ने धीरे-धीरे, क्षीण किंतु स्पष्ट आवाज में उन्हें समझाया..... क्या तुम्हे भगवान पर श्रद्धा है? अगर है, तो उस श्रद्धा को एक अदना-से आदमी पर उतारकर भगवान का अपमान क्यों करते हो? क्या तुम्हारी समझ में नहीं आता कि मेरे पैर धोकर वह गंदा पानी दवा के रूप में पिलाया जाये, यह मेरे लिए (और तुम्हारे लिए भी) अपमान की बात है? क्या तुम्हें स्वास्थ्य और सफाई की इतनी मोटी बात भी मालूम नहीं?......लगभग पंद्रह मिनिट तक गांधीजी इसी तरह उनसे बातें करते रहे, उन्हें समझाते रहे।

कृषक-दंपति बड़े लज्जित हुए। गांधीजी ने उनसे लोटा खाली करवा दिया। जब वे जाने लगे, तो अंत में उनसे यही कहा कि भगवान पर श्रद्धा रखो और किसी डाक्टर को अपने साथ ले जाओ।

वे भी प्रसन्नचित्त, मुस्कराते हुए लौट चले। उन्होंने जितना चाहा था, उससे बहुत अधिक पा लिया था। एक अविस्मरणीय पाठ उन्हें आज सीखने को मिला था। अब कभी वे धर्म और चिकित्साशास्त्र में ऐसा घोटाला नहीं करेंगे, भगवान को सस्ते चमत्कारों में नहीं घसीटेंगे।

जब वे बाहर निकले, तो भीड़ ने उन्हे घेर लिया। सब लोग यह जानने को उत्सुक थे कि उनका काम बन गया कि नहीं? इस पर उन्होंने वही बात दोहरायी, जो गांधीजी ने उनसे कही थी।

कौन जाने शायद यह बात फैलते-फैलते हजारों कानों तक पहुंची हो; बुद्धिवाद का यह बीज अंकुरित और पल्लवित होकर एक महावृक्ष बन गया हो!

❀ ❀ ❀

अपनी अल्पता का दर्शन करना महान बनने का आरंभ है। अलग पड़ा हुआ समुद्र-बिंदु अपने को समुद्र कहकर सूख जायेगा। परंतु अपनी बिंदुता स्वीकार करे, तो वह समुद्र की ओर प्रयाण करेगा और उसमें लीन होकर समुद्र बन जायेगा।

—महात्मा गांधी



चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

पादुका-पुराण

रामायण में पादुकाओं की महिमा अति अनुपम है। मेरे जीवन में भी एक बार ऐसी घटना घटी कि पादुकाओं की महिमा बड़े विचित्र रूप से मेरे सम्मुख आयी।

सन १९२१ मे मैं और मेरे कुछ सहयोगी तिरुच्चेंगोडु के 'गांधी-आश्रम' में काम कर रहे थे। इस प्रदेश मे वर्षाभाव के कारण बार-बार दुष्काल पड़ा करता है। दुष्काल-पीडितों को आश्रम आधे मूल्य मे अनाज देता था।

दुष्काल से पीड़ित प्रदेशों में मणियनूर गांव की हालत सबसे शोचनीय थी। उस गाव में सबके-सब मोची ही थे। सप्ताह मे एक दिन मणियनूर में हाट लगती थी। आस-पास के गावों से लोग क्रय-विक्रय करने आते थे। ऐसी-ऐसी जगहों को देखकर ही उस जमाने की सरकार ताडीखाने खोला करती थी।

'गाधी-आश्रम' के द्वारा जिन गावों की सेवा होती थी, उनके निवासियों ने कसम खायी थी कि वे कभी ताड़ी-शराब नहीं पियेंगे। मणियनूर की मोची बिरादरी ने भी यह कसम खायी थी।

गुरुवार के दिन आश्रम मे अनाज दिया जाता था। एक गुरुवार को मणियनूर का मुनिसिफ तथा और कुछ लोग मेरे सामने आकर खडे हो गये।

"क्या बात है?" मैंने पूछा।

"...शपथ तोडकर दो आदमियों ने कल रात खूब पी ली थी।"

"उन्हें यहां लाये हो?"

"जी। एक खुद आया है और दूसरे की घरवाली आयी है।"

"उन लोगों ने कसूर कबूल कर लिया?"

"जी नहीं। यह कल रात पीकर आया था और अपनी घरवाली से झगड रहा था। मालिक, सारा गांव जानता है। कबूल कैसे न करेगा?"

मैंने अपराधी की ओर देखा और पूछा—"तुम्हें कुछ कहना है?"

"मालिक, मैं घरवाली के साथ झगड रहा था, यह सच है। पर इतने से किसी को

पिया हुआ समझना कहां का न्याय है? ..जो नहीं पीते, वे झगड़ते नहीं क्या?"

"देखो, सच-सच बताओ। कल तुम ताड़ीखाने गये थे कि नहीं? अगर तुम्हारे गाव में से एक ने भी पी है, तो सारे गांव का अनाज बंद कर दिया जायेगा।"

"नहीं मालिक, मैंने नहीं पी। मुनियन झूठ बोल रहा है।"

"आप इस बूढ़े से पूछ लीजिये। यह इसका बाप है और मेरा चाचा है!"

मैंने बूढ़े की ओर देखा—"सच बताओ, तुम्हारे बेटे ने पी थी कि नहीं?" बूढ़ा एक क्षण चुप रहकर बोला—"कल रात यह अपनी घरवाली के साथ झगड़ रहा था।"

"मैं झगड़े के बारे में नहीं पूछता। कल तुम्हारे बेटे ने ताड़ी पी थी कि नहीं?"

"नहीं, मालिक! नहीं पी थी।"

"तो इसे कसम खाने के लिए कहिये।" मुनियन ने गुस्से में कहा।

सचाई और कसम...और कसम भी किस तरह ली जाये? अठारह साल के वकालत के अनुभव ने सत्य तथा कसम पर से मेरा भरोसा उठा दिया था।

सोचते-सोचते मेरी दृष्टि अपने फटे जूतों पर गयी। तुरंत मैंने बूढ़े को पास बुलाया और कहा—"देखो, तुम लोगों का जीवन चमड़े पर ही निर्भर है। चमड़े के बिना तुम्हारा काम चल सकता है क्या?"

"नहीं मालिक! चमड़ा न हो, तो हम सब मर जायें।"

"अच्छा, तो तुम लोगों को रोजी देने वाला चमड़ा यहां है। उठाओ, इसे अपने हाथों पर!" बूढ़े ने जूते उठा लिये। "अब मैं जैसे कहूं, वैसे ही बोलो।"

मेरे कहने के अनुसार वह बोलने लगा—"भगवान के सामने मैं कह रहा हूं।... मुझे रोजी देने वाले इस चमड़े की मैं कसम खाता हूं...।"

तब मैंने पूछा—"रात तुम्हारे बेटे ने पी थी कि नहीं?"

"हां मालिक, उसने पी थी।" बूढ़ा कांप रहा था।

अपराधी से भी जूते उठाकर यही करने को कहा। उसने भी जूते उठाकर कसूर कबूल कर लिया। अपराधी पर चार आने जुर्माना हुआ। उसने तुरंत दे भी दिया।

उनके चले जाने के बाद मैं काफी देर तक अपलक दृष्टि से उन पुराने जूतों को देखता रहा। उस वर्णनातीत अनुभूति ने मेरे भीतर जूतों के प्रति एक अजीब आदर का भाव पैदा कर दिया था। जिन जूतों को हम हेय-नगण्य समझते हैं, वे ही क्या हजारों-लाखों का भरण-पोषण नहीं करते? उन कोटि-कोटि मनुष्यों के लिए ईश्वर, धर्म, दर्शन—सब ये जूते ही तो हैं! चमड़ा ही उनका नारायण है, चमड़ा ही उनकी अन्नपूर्णा है, चमड़ा ही उनकी लक्ष्मी है! जो भरण-पोषण करे, धारण करे, वही तो भगवान है! अतः उस दिन से जूतों को पैरों में पहनने से पहले, मैं उस महापालक शक्ति को, जो जूतों के साथ है, मन में प्रणाम कर लेता हूं!

❀ ❀ ❀



जे. कृष्णमूर्ति

क्रांति का मूल

अपने भीतर क्रांति करने के लिए प्रचंड शक्ति चाहिये। शक्ति का अर्थ है–चीजों को स्पष्टत. देखना। इसके लिए अपना सारा ध्यान देखने मे केंद्रित कर देना आवश्यक होता है। किंतु यदि हमें तनिक भी भय है–आर्थिक भय, सामाजिक भय, जनमत का भय–तो हम अपना ध्यान पूर्णतया केंद्रित नहीं कर सकते।

इस भय के कारण ही हम सत्य की–भगवान की–कल्पना ऐसी वस्तु के रूप मे करने लगते हैं, जो हमसे बहुत दूर है, जो अवास्तविक है, जिसे पाने के लिए हमें हाथ-पाव मारना, टटोलना और जूझना पडता है। और इसी भय से बचने के लिए, शांति और कल्याण पाने के लिए, हम तरह-तरह के उपाय रचते है। यह है हमारी स्थिति, वस्तुस्थिति।

इसे यदि ठीक से समझ लें, तो हम यह भी जान जायेंगे कि सघटित धर्म तो आस्थाओं और मान्यताओं का पुलिंदा मात्र है, वह धार्मिक जीवन के अनुसधान मे बाधक ही है। वस्तुतः धरती पर स्वर्गिक स्थिति को लाने के लिए आयोजित प्रत्येक क्राति एक प्रतिगामी आदोलन है क्योंकि उसके आयोजक भी सीमाओ मे आबद्ध मनुष्य होते हैं।

मानव एक अत्यत सश्लिष्ट सत्ता है। और इस सश्लिष्ट सत्ता को समझे बिना ऊपर-ऊपर से सुधार करना सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि यह सुधार और अधिक दुःख, मति-विभ्रम और दासता को ही जन्म देगा।

इस बात को समझने का प्रयत्न कीजिये। आज हम सकट मे हैं और इस सकट का–इस विश्वग्रासी सकट का–समाधान हम थोथे उत्तरों से नहीं कर सकते। इससे त्राण पाने के लिए हिन्दुत्व, इस्लाम, ईसाइयत या और किसी धर्म की शरण मे जाने की बात करना निरा बचकानापन है, प्रौढ़ व्यवहार नहीं।

हम किसी धर्म या दल में सम्मिलित नहीं हो सकते, किसी समाज-सुधार आदोलन या राजनीतिक पार्टी में शरीक नहीं हो सकते; क्योंकि वे सब अपूर्ण है और अपूर्ण

एवं आंशिक के पीछे दौड़ रहे हैं। ऐसा कोई नेता नहीं, जो हमारा पूर्ण उद्धार कर सके–केवल आर्थिक उद्धार नहीं, संपूर्ण समग्र और आत्यंतिक उद्धार।

तो हम क्या करें? हम जो निराश हैं, भ्रांत हैं, दुःखी हैं, जीवित और मृत दोनों से भयभीत हैं, सत्रस्त हैं–हम क्या करें? हम अपनी मुस्कान और हंसी खो बैठे हैं। हम सौंदर्य को भी नहीं देखते। धरती सुंदर है, नयनाभिराम है। परंतु हमने उसे खंड-खंड कर दिया है। राजनीति, धार्मिक जोश, हठवाद के द्वारा हमने उसे उत्तर-दक्षिण, तेलुगु-तमिल, अंग्रेज-जर्मन में बांट दिया है। यही नहीं हम "तेरा घर–मेरा घर, तेरी जायदाद–मेरी जायदाद" की चखचख में पड़े हैं; अधिक सत्ता और अधिक प्रतिष्ठा पाने की फिराक में लगे हैं। इस विभीषिका, दुःख, अधोगति, विकृति और हिंसा में हम क्या करें?

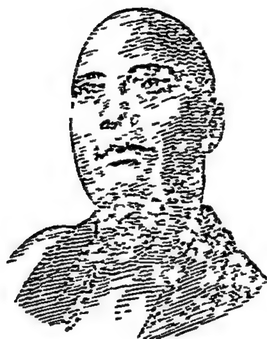
यह अच्छी तरह समझ लीजिये कि किसी भी समग्र प्रतिक्रिया का समाधान अधूरे उत्तर से नहीं किया जा सकता। वृक्ष पूर्ण है; क्योंकि वह केवल जड़, शाखाएं, पत्ते या फल नहीं है। उसके जो भाग धरती के ऊपर हैं और जो नीचे हैं, वे सब मिलकर ही वृक्ष है। इसी प्रकार जीवन केवल आनंद नहीं, जीवन केवल दुःख नहीं। जीवन डूबता सूरज, सांझ का तारा, उड़ता पंछी या जल पर झिलमिलाती चांदनी मात्र नहीं। जीवन नैराश्य भी है, भीषण आतंक और आशाभंग भी है। जीवन में मृत्यु है, एकाकीपन और आत्मिक दारिद्र्य भी है।

परंतु इन सबका समाधान भी है–एक समग्र समाधान। आत्मज्ञान ही यह समाधान है। आत्मज्ञान से मेरा मतलब है, अपने आपको जानना–अपने विचारों, बरतावों, प्रेरक भावों और आकांक्षाओं को जानना। मेरा अभिप्राय 'आत्मा' के ज्ञान से नहीं है।

लेकिन 'ज्ञान' अलग चीज है, 'जानना' अलग चीज। ज्ञान कालबद्ध होता है। ज्ञान हमेशा आंशिक होता है, सचय-रूप होता है, सादि-सांत होता है। अनुभव-संचय की बुद्धि ही ज्ञान है। वही स्मृति है। और स्मृति विचार-रूप होती है। ये विचार शब्दात्मक हो भी सकते हैं, नहीं भी। 'जानना' इससे भिन्न चीज है। जो बुद्धि 'जान रही है', 'सीख रही है', उसका न आरंभ है, न अंत। वह कालातीत है।

अपने आपको जानना स्वातंत्र्य का प्रथम सोपान है। अपने आपको समझने से ही वह स्थिति, वह प्रज्ञा प्राप्त होती है, जो काल की कुंडली में जकडी हुई नहीं है। इस कालातीतता का, इस शाश्वतता का साक्षात्कार करने वाली प्रज्ञा ही मानव की समस्याओं का समाधान कर सकती है। क्योंकि वास्तव में वही एकमात्र सृजनात्मक अवस्था है। असीम और अपरिमेय का वरण वही प्रज्ञा कर सकती है।

❀ ❀ ❀



स्वामी रामतीर्थ

सुमेरु-दर्शन

यमुनोत्री की गुफा में रहते समय राम का दैनिक भोजन था मर्चा (एक प्रकार का पहाडी अन्न) और आलू.....सो भी चौबीस घंटों में केवल एक बार। फलतः कुछ दिनों में मदाग्नि हो गयी। इसी रुग्णावस्था के चौथे दिन बडे तडके गर्म चश्मे में नहाने के बाद राम सुमेरु-यात्रा के लिए निकल पडा, केवल एक कौपीन पहनकर–न जूता, न पगडी और न छाता। पाच हृष्ट-पुष्ट पहाड़ी गर्म कपड़े पहन-कर राम के साथ हो गये।

सबसे पहले हमें शिशुरूपिणी यमुना तीन-चार स्थलों पर पार करनी पड़ी। कुछ दूरी पर यमुना-घाटी का मार्ग ४०-५० गज ऊंचे और डेढ़ फर्लांग के लगभग लंबे एक विशाल हिम-शिलाखंड से अवरुद्ध था। एकदम सीधे दो पर्वत-शिखर दो दीवारों की भांति सगर्व दोनों ओर खडे थे। जैसे सचमुच राम बादशाह का पथ रोकने के लिए उन्होंने कोई षड्यंत्र रचा हो। राम कब परवाह करता है! सुदृढ अचल सकल्प-शक्ति के आगे बाधाएं ऐसे भागती हैं, जैसे आंधी के आगे बादल।

हम लोगों ने पर्वत की पश्चिमी दीवार पर चढ़ना प्रारंभ किया। कभी-कभी हमें पैर जमाने के लिए एक इंच भी भूमि नहीं मिलती थी। केवल एक ओर हाथों से सुगंधित, किंतु कंटीली गुलाब की झाड़ियों को पकड़कर और दूसरी ओर पर्वतों की कोमल घास के नन्हे-नन्हे डंठलों में पैर की उंगलियां गडाकर हम बदन को समाले रहते थे। किसी भी क्षण हम मृत्यु के मुख में गिर सकते थे। यमुना की घाटी में बर्फ के ठंडे बिस्तरों से भरा हुआ एक गहरा गड्ढा हमारे लिए मुह फैलाये खड़ा था। किसी का पैर जरा भी कांपता, तो वह आराम से तुर्गातल हिम-समाधि में जाकर सो जाता।

निचाई से आने वाली यमुना की धीमी-धीमी मर्मर-ध्वनि अब भी हमारे कानों में पडती थी, जैसे कब्रिस्तान में मृत्यु-कालीन बाजा बज रहा हो।

हम लोग पूरे पौन घंटे तक मानो मृत्यु के मुख में चलते रहे। सचमुच विचित्र

परिस्थिति थी। एक ओर मृत्यु हमारे लिए मुंह बाये खड़ी थी और दूसरी ओर ऐसी भीनी-भीनी सुगंध वाली शीतल और मधुर वायु के झोंके आ रहे थे, जिससे चित्त एकदम खिल उठता था। इस भयानक और दुरारोह चढ़ाई के बाद हम लोगों ने उस भयंकर अवरोध को पार कर लिया। वह भयंकर हिमशिला और यमुना पीछे छूट गयी। हमारी टुकड़ी पुनः एक सीधे खड़े पर्वत पर चढ़ने लगी।

किंतु कोई रास्ता, कोई पगडंडी, कुछ भी दृष्टिगोचर न होता था। एक बड़ा भारी सघन जंगल था, जिसमें वृक्षों की टहनियां भी ठीक समझ में न आती थीं। राम का शरीर कई जगह छिल गया। देवदार और चीड़ के इस गहन वन में एक घंटे तक संघर्ष करने के बाद अंत में हम लोग एक ऐसी खुली जगह में पहुंचे, जहां वनस्पति अपेक्षाकृत बहुत छोटी थी। वायु-मंडल में विद्युत्-जैसी लहरें फैल रही थीं, सुगंध के फुहारे छूट रहे थे।

इस चढ़ाई ने पहाड़ियों को बेदम कर दिया। पर इस व्यायाम से राम का चित्त प्रफुल्लित हो उठा। यहां की धरती अधिकतया चिकनी थी। फिर भी चारों ओर के मनोहर दृश्य ने, सुंदरतम फूलों के कानन और हरियाली की बहार ने हमारी इस कठोर यात्रा के श्रम को हमारी चित्तवृत्ति से सदा दूर ही रखा।

और उन दिनों बीमार रहने वाला राम! वह तो और बीमार हो गया होगा! नहीं, उस दिन बिलकुल चंगा रहा। न कोई रोग, न कोई थकावट; शिकायत का नामो-निशान नहीं। कोई भी पहाड़ी उससे आगे न निकल सका। हम लोग ऊपर-ऊपर चढ़ते ही गये, जबकि हर एक को भूख लग आयी।

इस समय हम उस प्रदेश में पहुंचे हुए थे, जहां कभी पानी नहीं बरसता। वहां गिरती है केवल बर्फ, अत्यंत सौंदर्यमयी उदारता के साथ। यहां इन नंगे और वीरान शिखरों पर हरियाली का भी नामो-निशान नहीं दिखाई देता। हमारे आगमन के पहले ही सुंदर हिमपात हुआ था।

राम के सत्कार के लिए साथियों ने एक पत्थर की बड़ी चट्टान पर कालीन की भांति एक लाल कंबल बिछा दिया और पिछली रात जो आलू उबाले गये थे, भोजन के लिए परोस दिये। साथियों ने भी वही सीधा-सादा रूखा-सूखा बासी भोजन बड़े अनुग्रह के साथ खाया।

भोजन करने के बाद हम लोग तुरंत ही उठ खड़े हुए। दृढ़ता के साथ हम लोग आगे बढ़े। किंतु ऊपर की चढ़ाई कठिन थी। एक नवयुवक थककर गिर पड़ा, उसके फेफड़ों और हाथ-पैरों ने आगे चढ़ने से इन्कार कर दिया। उसका सिर चक्कर खाने लगा। उस समय उसे वहीं छोड़ दिया गया। थोड़ी दूर चलने के बाद एक दूसरा साथी बेहोश होकर गिर पड़ा। उसने कहा—मेरा सिर घूम रहा है। वह भी उस समय वहीं छोड़ दिया गया। शेष टुकड़ी आगे बढ़ी। किंतु थोड़ी

देर बाद तीसरा साथी भी गिरा। उसकी नाक फूट गयी, रक्त बहने लगा। दो साथियों को लेकर राम ने आगे का मार्ग लिया। तीन अत्यंत सुंदर बरड हवा की तरह दौड़ते हुए निकल गये।

लो, चौथा साथी भी लडखडाने लगा और अत मे हिमाच्छादित शिला पर लेट गया। यहा कहीं तरल जल नहीं दिखाई देता था। किंतु शिलाओं के नीचे से, जहा वह आदमी लेटा था, घर-घर की गंभीर आवाज आती थी। एक ब्राह्मण इस समय भी राम के साथ था। वही लाल कंबल, एक दूरबीन, एक हरा चश्मा और एक कुल्हाडी लिये हुए था। यहां हवा बिलकुल पतली है, जिससे सांस लेने में बडी कठिनाई होती है। फिर भी आश्चर्य! दो गरुड हमारे सिरों के ऊपर उडते हुए निकल गये।

अब बहुत पुरानी, अत्यंत पुराकालीन, गहरे काले रंग की बर्फ की एक ढलवां चढ़ाई चढ़नी थी। विकट काम था। साथी ने उस रपटने वाली बर्फ में कुल्हाडी से कुछ गड्ढे बनाने चाहे, जिससे उनमें पैर जमाकर ऊपर चढा जा सके। किंतु वह पुरातन हिमखड इतना कडा था कि उस बेचारे की कुल्हाडी टूट गयी। और ठीक उसी समय बर्फ के अधड ने आ घेरा। राम ने उस बेचारे दु.खी हृदय को सात्वना देने की चेष्टा की। भगवान कभी हम लोगों का अनिष्ट नहीं कर सकता, इस हिमवर्षा से हमारा मार्ग निस्सदेह सुगम हो जावेगा।

सचमुच हुआ भी यही। उस भयानक हिमपात से ऊपर चढ़ना कुछ आसान हो गया। नुकीली पर्वतीय छडियों की सहायता से हम लोग उस ढाल के ऊपर चढ गये और लो, हमारे सामने साफ, चौरस, चमचमाती हुई बर्फ का मीलों विशाल लंबा-चौड़ा मैदान प्रस्तुत था। शुभ्र रजत-जैसी आभा से जगमग फर्श, चारों ओर से एकदम समतल। हर्ष! परम हर्ष! जाज्वल्यमान क्षीरसागर—चमत्कार, परमोत्तम, विचित्र, विचित्र-से-विचित्र! राम के हर्ष का वारापार न था। उसने अपनी पूरी चाल से दौडना शुरू किया। कधे पर लाल कंबल डालकर और कैनवास के जूते पहनकर वह ऐसी तेजी से दौड़ा, जैसा जीवन में कभी न दौडा होगा।

इस समय राम बिलकुल अकेला था। एक भी साथी नहीं। आत्मा का हंस भी तो अत में अकेला ही उड़ता है।

लगभग तीन मील तक राम दौडता चला गया। कभी-कभी टांगें बर्फ मे धस जाती थीं और निकलती थीं बड़ी कठिनाई से। लो, अब एक हिम-ढेर पर लाल कंबल बिछा दिया और राम बैठ गया, एकदम अकेला, ससार के गुल-गपाड़े और झझटों से एकदम ऊपर, समाज की तृष्णा और ज्वाला से एकदम परे। नीरवता की चरम सीमा, शाति का साम्राज्य! शक्ति का अतुल विस्तार! शब्द का नामो-निशान नहीं है, केवल आनंद घनघोर! धन्य! धन्य! उस गंभीर एकांत को सहस्र बार धन्य!

बादलों का घूंघट भी यहां पतला पड़ जाता है और उस पतले परदे में से होकर सूर्य की किरणें छनकर फर्श पर ऐसे गिरनी शुरू होती हैं कि बात की बात में उस शुभ्र रजतहिम को प्रदीप्त स्वर्ण में परिणत कर देती हैं। कितना उपयुक्त नामकरण हुआ है इस स्थान का—सुमेरु-पर्वत—सोने का पहाड़।

ओ दुनिया के भोले-भाले लोगो! देखो, देखो! क्या किसी सुंदरी के कपोलों की गुलाबी आभा, जगमगाते हीरे की प्रभा, सुंदर से सुंदर राजप्रासाद की कला इस सुमेरु की तुलना में एक क्षण के लिए भी टिक सकती है? नहीं, नहीं। अभी और ऐसे असख्य सुमेरु तुम्हें अपने ही भीतर मिलेंगे, जब तुम एक बार भी अपनी वास्तविक आत्मा का साक्षात्कार कर लोगे। सारी सृष्टि "मिट्टी के ढेले से लेकर बादल तक, शस्य-श्यामला भूमि से लेकर नीलाबर तक और उस सृष्टि के भीतर रहने वाले सभी सजीव प्राणी—चींटी से लेकर आकाश मे उड़ने वाले गरुड़ तक, तुम्हारे स्वागत के लिए उठ खड़े होंगे।" कोई देवता भी तुम्हारी अवज्ञा का दुःसाहस नहीं कर सकेगा।

❁ ❁ ❁

जब हिरण्यकशिपु जनमा, तो भगवान ने अवतार लिया। नरसिंह-रूप में प्रकट होकर हिरण्यकशिपु का नाश करके वे वापस चले गये। लेकिन थोड़े समय के बाद ही बलि का जन्म हुआ और भगवान फिर वामन-रूप में अवतरित हुए। तीन डगों में उन्होंने त्रिलोक को नाप लिया और बलि को पाताल भेज दिया। फिर रावण के विनाश के लिए भगवान राम इस धरा पर आये और अपना काम करके चले गये। अंत में, श्रीकृष्ण आये। महाभारत का भयंकर युद्ध हुआ, कौरव-पांडव लड़े, आखिर कोई नहीं बचा। यादव भी आपस में कट मरे।

इन सबसे निराश होकर श्रीकृष्ण एक दिन पीपल के एक पेड़ के नीचे पैर-पर-पैर चढ़ाकर लेट गये। एक व्याध ने उन्हें हिरन मानकर उन पर तीर छोड़ दिया और उनके प्राण निकलने की तैयारी करने लगे। उस समय उनके पास उनका सारथी खड़ा था। भगवान का अंतिम समय समीप देखकर उसने पूछा—"प्रभो, कोई संदेश कहना हो, तो कहते जाइये।"

भगवान ने कहा—"अब मैं बहुत थक चुका हूं। आगे मैं अवतार नहीं लूंगा। संदेश तो मैंने गीता मे दे ही दिया है—उद्धरेदात्मनात्मानम्! मनुष्य को अपना उद्धार खुद ही कर लेना चाहिये। दूसरा कोई किसी का उद्धार नहीं कर सकता।"

—रविशंकर महाराज



काका कालेलकर

मना करा रे प्रसन्न

जब मैं पहले-पहल गांधीजी से मिला और उन्होंने आश्रम में दाखिल होने के लिए आमंत्रित किया, तो मैंने कहा—"आपकी अहिंसा पर मेरा अभी तक पूरा विश्वास नहीं जमा है। अहिंसामय जीवन परमानुकूल है, उन्नतिकारक है, इतना तो मैं देख सका हूं। उसके प्रति मेरा आकर्षण भी है। लेकिन मैं यह नहीं मानता कि अहिंसा हमें स्वराज्य दिलायेगी। स्वराज्य मुझे सबसे प्यारा है, उसके लिए मैं हिंसा करने को भी तैयार हो जाऊंगा और बाद में चाणक्य की भांति प्रायश्चित्त कर लूंगा। ऐसी हालत में आप मुझे अपने आश्रम में कैसे ले सकते हैं?"

गांधीजी मुस्कराते हुए बोले—"जो तुम्हारे विचार हैं, वही सारी दुनिया के हैं। तुमको आश्रम में न लूं, तो किसको लूं? मैं जानता हूं कि बहुमत तुम्हारा है। लेकिन मैं सुधारक हूं, आज अल्पमत में हूं। अतः मुझे धैर्य के साथ राह देखनी चाहिये। सुधारक अगर बहुमत की बात बर्दाश्त न करे, तो दुनिया में उसी को बहिष्कृत होकर रहना पड़ेगा।" इस जवाब में गांधीजी ने अच्छी तरह समझाया है कि सुधारक का धर्म क्या है।

कभी किसी ने गांधीजी से पूछा "आपकी राय में विनोद का जीवन में कितना स्थान हो सकता है?" गांधीजी ने कहा—"आज तो मैं महात्मा बन बैठा हूं; लेकिन जिंदगी में हमेशा कठिनाइयों से लड़ना पड़ा है। कदम-कदम पर निराश होना पड़ा है। उस वक्त अगर मुझमें विनोद न होता, तो मैंने कब की आत्महत्या कर ली होती। मेरी विनोद-शक्ति ने ही मुझे निराशा से बचाया है।"

इस जवाब में गांधीजी ने जिस विनोद-शक्ति का विचार किया है, वह केवल शाब्दिक चमत्कार द्वारा लोगों को हंसाने की बात नहीं है; बल्कि लाख-लाख निराशाओं में अमर आशा को जिंदा रखने वाली आस्तिकता की बात है। छोटे बच्चे जब गलतियां करते हैं, शरारतें करते हैं, तब हम उन पर गुस्सा नहीं करते। मन में सोच लेते हैं कि बच्चे ऐसे ही होते हैं: इसमें मिजाज खोने की क्या बात

है। जब ये होश सभालेंगे, अपनी गलतिया अपने आप ही समझ लेंगे। सुधारक के हृदय में यह अटूट विश्वास होना चाहिये कि दुनिया धीरे-धीरे जरूर सुधर जायेगी, वह भी बच्चा ही तो है।

मुझे एक प्रसग याद आता है। 'परिगणित जाति-आयोग' के काम से हम मुसाफिरी कर रहे थे। रास्ते में एक साथी की पेटी गायब हो गयी। वे बहुत बिगड़े, सब पर नाराज हुए। आखिरकार मेरे पास आये। ऊंची आवाज में उन्होंने सारा किस्सा कह सुनाया। मैंने उन्हें शाति से कहा—"बड़े अफसोस की बात है कि आपने अपनी पेटी खोयी। लेकिन मैं समझ नहीं पा रहा कि अपनी पेटी के साथ आप अपना मिजाज भी क्यों खो बैठे हैं?" यह सुनकर वे हंस पड़े। उन्हें खोया हुआ मिजाज तुरंत मिल गया। और काफी कोशिश के बाद उनकी पेटी भी मिल गयी।

मैंने देखा कि जिंदगी में मनुष्य के नसीब में हार-जीत आती रहती है। कई बार मनुष्य अपनी पूंजी खो बैठता है, वसीला खो बैठता है। लेकिन उसकी आखिरी पूंजी तो उसका मिजाज ही होता है। जब तक मनुष्य ने मिजाज नहीं खोया है, तब तक उसे निराश होने की आवश्यकता नहीं है।

सुधारक तो हमेशा अल्पमत में होता है। रूढ़िवादी ही बहुमत में होते हैं, अधिकार-सपन्न होते हैं। ऐसी हालत में दुनिया के साथ दोस्ती रखना, नाराज न होना और मिजाज न खोते हुए अपना हाथ ऊपर रखना उसी के लिए साध्य है, जो हमेशा मुस्कराता रहता है और प्रसन्न रहकर लोगों के साथ पेश आता है।

सम्राट् चंद्रगुप्त के प्रधान अमात्य चाणक्य से किसी ने आकर घबराते हुए कहा—"स्वामिन्, आपके साथियों ने आपको दगा दिया है। वे शत्रुओं से जाकर मिल गये हैं। आपकी फौज भी बिगड़ गयी है और आपको छोड़कर शत्रु के पास जाने की तैयारी कर रही है।" चाणक्य ने शांति से जवाब दिया—"और भी जिनको जाना हो, शौक से चले जायें। मेरी बुद्धि मुझे न छोड जाये, तो बस है—बुद्धिस्तु मा गान्मम।" संकट-काल में परिस्थिति को संभालने वाली ऐसी अघटित-घटना-पटीयसी बुद्धि को ही मिजाज कहते हैं।

पूना के एक भाई बडे मसखरे थे। लबे प्रवास के बाद घर आये तो देखते हैं कि घर का ताला नहीं खुलता। क्या किया जाये? नाराज होने से ताला थोड़े ही समझने वाला था। पर वे नाटकीय स्वर में बोले—"अरे कमबख्त ताले, मैंने तुझे पूरे दाम देकर खरीदा था। मैं तेरा मालिक हूं। तू मेरा क्रीत दास है। मैं दो महीने बाहर क्या गया, तू मुझे भुला ही बैठा! ठहर, अब मैं तुझ पर स्नेह-प्रयोग करता हूं। खोल तो जरा अपना मुंह।"

और उन्होंने तेल की दो-तीन बूंदें ताले में डालकर फिर चाबी घुमायी। ताला तुरंत खुल गया। घर के सब लोग, जो बाहर प्रतीक्षा में खड़े-खड़े तंग आ गये थे,

प्रसन्न हो गये। और उसी शुभ प्रसन्नता के साथ उन्होंने गृह-प्रवेश किया। हमारे सामाजिक जीवन में रूढ़ि के ताले ऐसे ही खुल सकते हैं।

सुकरात यूनान के प्रथम पंक्ति के तत्त्वज्ञानी संत थे, और थे अपने जमाने के कड़े टीकाकार। लेकिन मिजाज के पक्के थे। कभी होश-हवास नहीं खोते थे। एक दिन उनकी पत्नी गुस्से में आकर जोर-जोर से चिल्लाने लगी, लेकिन सुकरात बर्फ की तरह ठंडे ही रहे। यह देखकर पत्नी का मिजाज और भी बिगड़ गया। उसने गंदे पानी की एक बाल्टी सुकरात के सिर पर उडेल दी। इस पर वे बोले–"इतनी गर्जना के बाद तो बारिश होनी ही थी।" ऐसे ठंडे मिजाज के कारण ही वे अपने जमाने को सुधार सके।

महाराष्ट्र के संत-कवि और समाज-सुधारक तुकाराम भी अपनी पत्नी के साथ शांति से काम लेते थे। वे अपने अनुभव से कहते हैं "मना करा रे प्रसन्न, सर्व सिद्धीचें कारण", अर्थात् अपने मन को प्रसन्न रखो, वही सब सिद्धियों का मूल है।

मैंने यह लेख गांधीजी की विनोद-शक्ति के नमूने से प्रारंभ किया है। इसका अंत भी मैं इस वाक्य से करूंगा, जो गांधीजी ने सेवाग्राम की अपनी कुटी में लिख रखा था–"जब आप ठीक हैं, तब तो मिजाज संभालना आपके लिए आसान भी है। और जब आपकी बात ठीक नहीं है, तब मिजाज खोने से कैसे काम चलेगा?"

इसलिए सबसे बड़ी हानि मिजाज खोने में ही है। जो मिजाज खोता है, वह कमजोर पड़ता है, अंधा बनता है और खुद अपना ही शत्रु बनता है। जो मिजाज नहीं खोता, उसका भविष्य उज्ज्वल है।

❖ ❖ ❖

कहानी है कि जब हजरत मोहम्मद स्वर्ग देखने के लिए गये, तो वहां उन्हें कुछ ऊंचाई पर बने हुए कई बड़े-बड़े महल दिखाई पड़े। उनकी सुंदरता के सामने सारे स्वर्ग की सुंदरता फीकी लगती थी। मोहम्मद ने उस देवदूत से, जो उन्हें स्वर्ग दिखा रहा था, पूछा–"ऐ जिब्राईल, ये महल किन लोगों के लिए बनाये गये हैं?" जिब्राईल ने उत्तर दिया–"उन लोगों के लिए, जो क्रोध को वश में रखते हैं और अपना अपमान करने वाले को क्षमा करना जानते हैं।"

सचमुच ही शांत और द्वेष-रहित मन एक भव्य महल है; जबकि आवेश और प्रतिहिंसा से पूर्ण मन के बारे में ऐसा कहा नहीं जा सकता। हमारा मन हमारा घर है। चाहे तो हम उसे सुरीले लयबद्ध संगीत से भरा, स्वच्छ, शांत, सुंदर महल बना सकते हैं। चाहे तो उसे कटु शब्दों और कर्कश चिल्लाहटों से भरी अंधेरी, भयावनी गुफा भी बना सकते हैं।

–श्रीमाताजी



विनोबा भावे

गृत्समद

यह एक मंत्रद्रष्टा वैदिक ऋषि था। वर्तमान यवतमाल जिले के कळंब गाव का रहने वाला था। गणपति का महान भक्त था। "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे" (हम आपका, जो कि समूहों के अधिपति हैं, आवाहन करते हैं) यह सुप्रसिद्ध मंत्र इसी का देखा हुआ है। ऋग्वेद के दस मंडलों में से समूचा द्वितीय मंडल इसी के नाम पर है। इस मंडल में तैंतालीस सूक्त हैं और मंत्रसख्या चार सौ से ऊपर है।

ऋग्वेद जगत् का अतिप्राचीन और पहला ग्रंथ माना जाता है। ऋग्वेद का भी कुछ अंश प्राचीनतर है। इस प्राचीनतर भाग में द्वितीय मंडल की गणना होती है। इस पर से कुछ इतिहासज्ञ इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि गृत्समद करीब बीस हजार वर्ष पहले हुआ था। गृत्समद का यह मंडल सूक्तसख्या और मंत्रसख्या की दृष्टि से ऋग्वेद का लगभग पचीसवां हिस्सा होगा।

गृत्समद हरफन मौला था। ज्ञानी, भक्त और कवि तो वह था ही; लेकिन गणितज्ञ, विज्ञानवेत्ता, कृषि-सशोधक और कुशल बुनकर भी था। जीवन के छोटे-बड़े किसी भी अंग की उपेक्षा वह सहन नहीं कर सकता था। वह हमेशा कहा करता—"प्राये प्राये जिगीवांसः स्याम", अर्थात् हमें हर एक व्यवहार में विजयी होना चाहिये। उसके ज्वलंत उदाहरण के कारण आस-पास रहने वाले लोगों में उत्साह का जागृत वातावरण बना रहता था।

गृत्समद के जमाने में नर्मदा से गोदावरी तक का सारा भू-प्रदेश जंगलों से भरा था। बीस-पचीस मील पर एक-आध छोटी-सी बस्ती होती थी। शेष सारा प्रदेश निर्जन! आस-पास के निर्जन अरण्य में बसी हुई एकमात्र बडी बस्ती गृत्समद की थी। इस बस्ती ने ससार में कपास की खेती का सबसे पहला सफल प्रयोग देखा। आज तो बरार कपास का भंडार बन गया है।

गृत्समद के काल में बरार में आज की अपेक्षा बारिश का परिमाण ज्यादा था। उतना पानी सोख लेने वाला कपास का पौधा गृत्समद ने तैयार किया और उसे एक

छोटे-से प्रयोग-क्षेत्र में लगाकर उससे दस सेर कपास प्राप्त किया। गृत्समद की इस नयी पैदावार को लोगों ने 'गार्त्समदम्' नाम दिया। क्या इसी का ही लैटिन रूप 'गासिपियन' हो सकता है?

उसकी बस्ती के लोग ऊन कातना-बुनना अच्छी तरह जानते थे। यह कार्य मुख्यतः स्त्रियों के सुपुर्द था। आज बुनने का काम पुरुष करते हैं और स्त्रियां कुकडी भरने, मांडी लगाने आदि में उनकी मदद करती हैं। किंतु वैदिक काल में बुनकरों का एक स्वतंत्र वर्ग नहीं बना था। खेती की तरह बुनना भी सभी का काम था।

उस युग की ऐसी व्यवस्था थी कि सारे पुरुष खेती करते थे और सारी स्त्रियां घर का काम-काज सभालकर बुनाई करती थीं। "शाम को सूर्य जब अपनी किरणें समेट लेता है, तब बुनने वाली भी अपना अधूरा बना हुआ तागा समेट लेती है" (पुनः समव्यत विततं वयन्ती)–इन शब्दों में गृत्समद ने बुनने वाली के जीवन-काव्य का वर्णन किया है।

गृत्समद के प्रयोग के फलस्वरूप कपास तो मिल गयी, लेकिन कपडा कैसे बनाया जाये, यह महाप्रश्न उठ खड़ा हुआ। ऊन कातने की जो लकडी की तकली होती थी, उसी पर सबने मिलकर कपास का सूत कात लिया। यद्यपि बुनाई स्त्रियों के ही सुपुर्द थी, तो भी कातने का काम तो स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी किया करते थे। सूत तो निकला, लेकिन बिलकुल रद्दी। अब उसे कोई बुने भी कैसे?

गृत्समद हिम्मत हारने वाला व्यक्ति नहीं था। उसने खुद बुनना शुरू किया, बुनने की कला की सारी प्रक्रियाओं का सांगोपांग अभ्यास किया। सारा ही सूत दोष-सपन्न पाया. लेकिन उसमें से जो थोडा मजबूत था, उससे उसने तंतु बनाया। 'ततु' के मानी वैदिक भाषा में तागा है। बाकी कच्चे सूत को 'ओतु' कहकर रख लिया।

लेकिन मांडी लगाने में खटाखट-खटाखट तार टूटने लगे। गणितज्ञ होने के कारण, गृत्समद टूटे हुए कितने तारों को जोडना पडा, इसका हिसाब भी करता था। पहली बारी में माडी लगाने में टूटे हुए तारों की सख्या चार अर्बों की (हजार की) थी। बाद में तागा करघे पर चढाया गया। हत्थे की पहली चोट के साथ चार-पाच तार टूटे। उन्हें जोड़कर फिर से ठोका, फिर टूटा। इसी तरह हफ्तों के बाद पहला थान बुना गया। उसके बाद सूत धीरे-धीरे सुधरता गया।

फिर भी शुरू के बारह वर्षों में बुनाई का काम बड़ा ही कष्टकर रहा। गृत्समद की आयु के ये बारह वर्ष तपश्चर्या के वर्ष थे। वह बडा ही उत्साही और तंतु-ब्रह्म, ओतु-ब्रह्म और टूट-ब्रह्म की ब्रह्ममय वृत्ति से बुनाई का काम करने वाला था। तो भी जब सूत लगातार टूटने लगते, तो वह भी कभी-कभी पस्तहिम्मत हो जाता। ऐसे ही एक अवसर पर उसने ईश्वर से प्रार्थना की थी–"मा तन्तुश्छेदि वयत:" ..प्रभो, बुनते वक्त तंतु टूटने न दो।

लेकिन ऐसी गलत प्रार्थना करने के लिए वह तुरंत ही पछताया। इसलिए उस प्रार्थना में "धियं मे" यानी "मेरा ध्यान" ये दो शब्द मिलाकर उसे संवार लिया। "जब मैं अपना ध्यान बुनता होऊं, तो उसका तंतु टूटने न दो"–ऐसा शोभनीय अर्थ उस संशोधित और परिवर्धित प्रार्थना में से निकला।

उसका भावार्थ यह है कि मेरा खादी का बुनना मेरी दृष्टि में केवल एक बाह्य क्रिया नहीं है, यह तो मेरी उपासना है। यह ध्यानयोग है। बीच-बीच में तागों के टूटते रहने से मेरा ध्यानयोग भंग होने लगता है, इसका मुझे दुःख है। इसलिए यह इच्छा होती है कि तागे नहीं टूटने चाहिये। लेकिन यह इच्छा उचित होते हुए भी प्रार्थना का विषय नहीं हो सकती। उसके लिए सूत सुधारना चाहिये और उसे मैं सुधार भी लूंगा। लेकिन जब तक सूत कच्चा रहेगा, तब तक वह टूटता तो रहेगा ही। इसलिए अब यही प्रार्थना है कि सूत के साथ-साथ मेरी अंतर्वृत्ति का, मेरे ध्यान का तागा न टूटे।

गृत्समद अखंड अंतर्मुख वृत्ति रखने का प्रयत्न करता हुआ भी प्रतिदिन कोई-न-कोई शरीर-परिश्रमात्मक और उत्पादक कार्य करता ही रहता था। "माऽहं अन्य-कृतेन भोजम्"...दूसरों के परिश्रम का उपभोग करना मेरे लिए उचित नहीं–यह उसका जीवन-सूत्र था। वह लोकसेवा-परायण था। इसलिए उसके योग-क्षेम की चिंता लोग किया करते थे। लेकिन वह अपने मन में सदा ही चिंतन किया करता कि लोगों से जितना मिलता है, क्या उसका सौ गुना उन्हें लौटाता भी हूं और उसमें भी क्या नवीन उत्पादन का कोई अंश होता है?

मानो इसी चिंतन के फलस्वरूप एक दिन उसे अचानक गुणाकार की कल्पना स्फुरित हुई। गणितशास्त्र को लोकव्यवहार-सुलभ बनाने की दृष्टि से फुरसत के समय वह उसमें संशोधन करता रहता था। तब तक लोग षड्विधियों में से सिर्फ जोड़-बाकी ये दो विधियां ही जानते थे। जिस दिन गृत्समद ने गुणनविधि का आविष्कार किया, उस दिन उसके आनंद की सीमा न रही। उसने दो से लेकर दस तक के नौ पहाड़े बनाये और फिर तो वह बांसों उछलने लगा।

पहाड़े रटने वाले लड़कों को कहीं इस बात का पता लग जाये, तो वे गृत्समद को बिना पत्थर मारे नहीं रहेंगे। लेकिन गृत्समद ने आनंद के आवेश में आकर इंद्रदेव का आवाहन पहाड़ों से ही करना शुरू किया–"हे इंद्र! तू दो घोड़ों के, चार घोड़ों के, छः घोड़ों के, आठ घोड़ों के और दस घोड़ों के रथ में बैठकर आ। जल्दी-से-जल्दी आ। तेरी मर्जी हो, तो दो के पहाड़े के बदले दस के पहाड़े से काम ले। दस घोड़ों के, बीस घोड़ों के, तीस घोड़ों के और चालीस घोड़ों के... और सौ घोड़ों के रथ में बैठकर आ।"

गृत्समद चौमुखी आविष्कारक था। पौराणिकों ने उसके इस महान आविष्कार

का लेखा किया है कि चंद्रमा का गर्भ की वृद्धि पर विशेष परिणाम होता है। वैदिक मंत्रों में भी इसका संकेत मिलता है। चंद्रमा में मातृवृत्ति रख गयी है। फिर कलावान तो वह है ही, इसलिए सूर्य की ज्ञानमय प्रखर किरणों को पचाकर और उन्हें भावनामय सौम्य रूप देकर माता के हृदय में रहने वाले कोमल गर्भ तक उस जीवनामृत को पहुंचाने का प्रेमल और कुशल कार्य चंद्र कर सकता है और वह उसे निरंतर करता रहता है—यह गृत्समद का आविष्कार है।

आधुनिक विज्ञान ने अब तक इस विषय पर विशेष प्रकाश नहीं डाला है। परावृत्तकिरण-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान और मनोविज्ञान इन तीनों का यहां मिलाप होने के कारण प्रश्न कुछ पेचीदा और सूक्ष्म है।

चंद्र की कलाओं की पूर्णता पूर्णिमा को ही होती है। पूर्णिमा को उद्देश्य करके गृत्समद कहता है—"हे पूर्णिमे, गर्भ के टांके तू खूब मजबूत सूई से सी और सौ गुना देने वाला पराक्रमशाली, प्रशंसनीय सेवक निर्माण कर ..ददातु वीरं शतदायम् उक्थ्यम्।

ꣳ ꣳ ꣳ

मैंने पूरे दिन बैठकर संपूर्ण प्रार्थना-पुस्तक का पारायण करने का निश्चय किया था। शाम को पारायण समाप्त होने को ही था कि गुरुजी ने एक शिष्य द्वारा मुझे बुलवा भेजा। मैंने विनम्रता से कहा कि जाकर गुरुजी से निवेदन कर दो कि पारायण थोड़ा-सा ही शेष है, उसके पूरा होते ही आ जाऊंगा। शिष्य गया और वापस आकर बोला कि तुरंत चलना होगा। मैं गया, तो गुरुजी ने पूछा—"पहली बार कहने पर क्यों नहीं आये?" मैंने कारण बताया। वे बोले—"मैंने तुम्हें एक गरीब आदमी के लिए कुछ पैसों का प्रबंध करने के लिए बुलाया था। प्रार्थनाएं तो फरिश्ते भी पढ़ सकते हैं, किंतु अकिंचनों की सहायता तो मनुष्य ही कर सकते हैं। सेवा प्रार्थना से अधिक ऊंचा कर्तव्य है; क्योंकि फरिश्ते सेवा नहीं कर सकते।"

—एक हसीदी धर्मगुरु



डा० संपूर्णानंद

धर्म : अर्थ : काम : मोक्ष

हमारी एषणाओं में एक ऐसी है, जो यावज्जीवन बनी रहती है। इसका रूप है–मैं न मरूं। कीटाणु से लेकर मनुष्य तक में यह पायी जाती है और प्रतिक्षण विद्यमान रहती है। साधु हो या राक्षस, कोई यह नहीं सोचता कि मेरे जीने से क्या लाभ है। बस, जीता रहना चाहता है। जीवन-प्रदीप का जलता रहना कुछ उपकरणों पर निर्भर करता है। इसमें भोजन, वस्त्र और घर मुख्य हैं। इन्हें सामूहिक रूप से धन या सपत्ति कह सकते हैं। सपत्ति आकर भी छिन सकती है, इसलिए स्वभावतः यह इच्छा होती है कि सामाजिक व्यवस्था ऐसी हो, जिसमें जीवन और संपत्ति की रक्षा हो, और सपत्ति उपार्जित की जा सके। स्वास्थ्य, संपत्ति, सामाजिक व्यवस्था इन सबका अधिक-से-अधिक उपयोग और उपभोग मैं करूं, यह मनुष्य मात्र की प्रबलतम इच्छा रहती है। सपत्ति और व्यवस्था के रूप में परिवर्तन होता रहता है, परंतु इच्छा का मूल रूप ज्यों-का-त्यों रहता है। इस पुरुषार्थ–पुरुष के अर्थ या लक्ष्य को–ही 'अर्थ' कहते हैं।

मनुष्य में प्रायः इतनी ही प्रबल एक दूसरी एषणा भी है। इसकी पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति प्रायः चौदह से अठारह वर्ष के वय में आरंभ होती है। इसे रति-एषणा या काम-वासना कह सकते हैं। वयस्क पुरुष को स्त्री की और वयस्क स्त्री को पुरुष की खोज होती है। यह वासना बहुत-से पशु-पक्षी-कीटादि में भी पायी जाती है और कभी-कभी तो जीवितेच्छा से भी प्रबल हो उठती है। इसी से सलग्न सतानेषणा होती है। पुरुष को और पुरुष से भी बढ़कर स्त्री को सतान की भूख होती है। स्त्री-पुरुष का मिलना केवल दो शरीरों का मिलना नहीं होता, दो चित्त मिलकर एक होते हैं। एक की कमी दूसरे से पूरी होती है। दोनों मिलकर एक अपूर्व योग प्रस्तुत करते हैं। इस पुरुषार्थ को 'काम' क़हते हैं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सबको अपना हित, अपना ही अर्थ और काम भले ही अभीष्ट हो, परतु इस इच्छा की पूर्ति भी समुदाय में अच्छी होती है।

शत्रुओं पर आक्रमण और उनसे बचाव, जंगल काटकर खेत और घर बनाना, घड़े बनैले पशुओं को भगाना—यह सब काम मिलकर ही किये जा सकते हैं। इसके अलावा मनुष्य के स्वभाव की कई ऐसी प्रवृत्तियां हैं, जो समाज में ही सफल हो सकती हैं। यदि उन्हें प्रस्फुटित होने का अवसर न मिले, तो मनुष्य का चरित्र अपूर्ण रह जायेगा। दया, करुणा, सहानुभूति, उदारता, त्याग, क्षमा, सहिष्णुता ने मनुष्य को मनुष्य बनाया है, पर इन गुणों का विकास समाज में ही हो सकता है। जब कई मनुष्य एक साथ रहेंगे, तो यह उनके लिए असम्भव है कि सब केवल अपने-अपने 'अर्थ' और 'काम' की ही बात सोचा करें।

'समाज' शब्द का संकीर्ण अर्थ भी लिया जा सकता है। परंतु वे सब प्राणी, जिनके सहयोग से हमारी जीवन-यात्रा हो रही है, हमारा 'अर्थ' और 'काम' सिद्ध हो रहा है, हमारे समाज के अंग हैं। उन सबका हमारे ऊपर उपकार है, उन सबके हमारे प्रति अधिकार हैं, उन सबके प्रति हमारे कर्तव्य हैं। जहां तक हम उन कर्तव्यों को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते, वहां तक हमारी कृतघ्नता है और हम चोरी के अपराधी हैं। यदि एक बार यह भाव दृढ़ हो जाये, तो बुद्धि में अधिकारों का, अपने अर्थ और काम का स्थान गौण हो जाता है और कर्तव्यों का, पूर्णरूपेण सर्वतोमुख कर्तव्य-पालन का स्थान श्रेष्ठ हो जाता है। कर्तव्य-पालन अधिकार-प्राप्ति के साधन के पद से उठकर स्वतः साध्य बन जाता है।

परंतु यदि अपना कर्तव्य सम्यक्‌रूपेण पहचाना जा सके और उसका पालन सम्यक्‌रूपेण किया जाये, तो जगत् में निःसीम सुख-समृद्धि का राज्य हो और प्रत्येक व्यक्ति का अनायास सर्वतोमुख अभ्युदय हो। जो अपने 'अर्थ' और 'काम' को जितना ही भुला सकेगा, वह कर्तव्य को पहचानने और उसका पालन करने में उतना ही सफल होगा। इसलिए कर्तव्य को पहचानना और उसका पालन करना जीवन का प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। इस पुरुषार्थ को 'धर्म' कहा करते हैं।

'धर्म' का पालन करना दुष्कर होता है। पदे-पदे विघ्न-बाधा पड़ती है। हम इतने दुर्बल हैं कि इन विघ्नों से दब जाते हैं और अनिच्छन्नपि अधर्म कर बैठते हैं। इस अशक्ति के मूल में भी अज्ञान है। ज्यों-ज्यों मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है, त्यों-त्यों वह परिस्थितियों को स्ववशवर्ती बनाने में समर्थ होता है। जो पूर्ण ज्ञानी होगा, वह सर्वशक्त भी होगा। ज्यों-ज्यों जगत् के स्वरूप का ज्ञान बढ़ेगा, त्यों-त्यों धर्म का ज्ञान बढ़ेगा और उसका पालन करने की क्षमता बढ़ेगी। यह निश्चित है कि जो पहले के तीनों पुरुषार्थों को जितना ही भुला सकेगा, वह ज्ञान-संपादन में उतना ही सफल होगा।

हम देख चुके हैं कि मनुष्य चाहे 'अर्थ' और 'काम' को ही लक्ष्य मानकर चला हो, परंतु ज्यों-ज्यों उसकी बुद्धि में यह बात बैठती जाती है कि धर्म के बिना

'अर्थ' और 'काम' सिद्ध नहीं हो सकते, त्यों-त्यों उसका ध्यान इनकी ओर से हटकर 'धर्म' की ओर लग जाता है और क्रमशः 'धर्म' साधन न रहकर साध्य बन जाता है। सस्कृत बुद्धि की यह पहचान है। इसी प्रकार जब यह बात समझ में बैठ जाती है कि अज्ञान से छुटकारा पाये बिना धर्म का सपादन सभव नहीं है, तो क्रमशः अज्ञान-निवृत्ति स्वयं साध्य हो जाती है। इस स्थिति के उत्पन्न होने में और बातें भी सहायक होती हैं। जिज्ञासा हमारे चित्त का स्वाभाविक धर्म है। मै क्या हूं? जगत् क्या है? मेरे अलावा और भी चेतन व्यक्ति है या नहीं? इस प्रकार के प्रश्न चित्त में उठते हैं। इनके उत्तर जानने की उत्कट इच्छा होती है। वैयक्तिक और सामूहिक धर्म का पालन, उसका व्यावहारिक परिणाम है। परतु अज्ञान-निवृत्ति से अर्थात् ज्ञान से एक अपूर्व आनंद और शांति की प्राप्ति होती है। वह उसका सबसे बडा फल है। जिस किसी को विज्ञान के अध्ययन के द्वारा कभी जगत् के रहस्य का थोड़ा-सा भी परिचय मिला होगा, उसे इस अपूर्व आनंद और शाति की एक झलक दीख पडी होगी।

अतः अज्ञान से छुटकारा पाना और ज्ञान के द्वारा जगत् के स्वरुप और अपने स्वरुप को पहचानना, मनुष्य का श्रेष्ठतम लक्ष्य होना चाहिये। और मनुष्य के इस पुरुषार्थ को ही 'मोक्ष' कहते हैं। [लेखक के ग्रंथ 'चिद्विलास' से]

❀ ❀ ❀

अगर दुनिया की तवारीख पर नजर डालें, तो हम यह पाते हैं कि बड़े-बड़े संकट के दौर दुनिया के सामने आये हैं और हर जमाने में लोगों ने यही समझा है कि उनका जमाना संसार के इतिहास का सबसे खतरनाक जमाना है। फिर भी दुनिया कायम रही—न सिर्फ कायम रही, बल्कि कई दिशाओं में आगे भी बढ़ी है।

सो हम लोग भी, जो आज के जमाने में जीते हैं, हो सकता है, इसके बुरे और दर्दनाक पहलुओं को उचित से ज्यादा अहमियत दे रहे हों और इस बात को समझ न पा रहे हों कि बुराई और दर्द की इस परत के नीचे शायद कुछ अच्छी चीजें भी कुलबुला रही हैं और मुमकिन है कि उनके अकुर फूट निकलें और इंसान को आगे बढ़ायें।

ऐसी आस्था रखना अच्छा है; और कोई लंगर हो, जो हमें बहुत ज्यादा बह जाने, भटक जाने से रोक सके, यह अच्छा है।

—जवाहरलाल नेहरू



डा० जाकिर हुसैन

पुस्तकें : हमारी अंतरंग सखियां

"आज का असली विश्वविद्यालय है–पुस्तकें।".. ...यह बात बिल्कुल ठीक कही गयी है। पुस्तकें हमें जीवन के नये रूप दरशाती हैं, जीने का सही ढंग सिखाती हैं। दुखियों को वे ढाढस बधाती हैं, जिद्दियों को दंड देकर राह पर लाती हैं। मूर्खों की वे लानत-मलामत करती हैं, बुद्धिमानों को बल देती हैं। "एकांत में वे हमें सहारा देती हैं, संसार और मनुष्य-जीवन की क्षणभंगुरता को भुला पाने में हमारी मदद करती हैं, हमारी निराशाओं को थपकियां देकर सुलाती हैं।"

पुस्तकें आत्मा को विचारों का खाना खिलाती हैं, चिंतन के चश्मों का पानी पिलाकर उनकी प्यास बुझाती हैं। जैसा कि महान यहूदी विद्वान जुडा इब्नेन तिब्बन ने कहा है–" पुस्तकों से भरी अलमारियां तुम्हारे बगीचे हैं, सैरगाहें हैं। वहां लगे फल तोड़ो, वहां खिले गुलाब चुनो, वहां से पराग और लोबान बटोरो।"

सभी जमानों में सभी पीढ़ियों के बड़े आदमियों ने यही पाया है कि पुस्तकें "विवेक, सदाचार, आनंद और लाभ देती हैं।" लेकिन आधुनिक समाज में तो वे एकदम अनिवार्य हो चली हैं। यह कैसा व्यंग्य है कि उद्योग-धंधों के साथ ज्यों-ज्यों लोग बड़ी तादाद में बड़े शहरों में जमा होते जाते हैं, अपने को ज्यादा-ही-ज्यादा अकेला महसूस करते जा रहे हैं। समाज उनके लिए जाने-पहचाने लोगों का समुदाय न रहकर, अपनत्वहीन भीड़ बन जाता है। ऐसे में पुस्तक लगभग दोस्त का स्थान ले लेती है।

पुस्तक तो मानो आज मनुष्य की जीवन-सहचरी है। और बड़ी गजब की सहचरी है यह–बड़ी ही शिष्ट। हम जब और जिस 'मूड' में भी पास बुलावें, यह आ जाती है, सब कुछ साफ-साफ कह देती है, लेकिन बड़ी ही शिष्टता के साथ। हम बातचीत छेड़ें, तभी यह बोलती है, अनंत काल तक हमारे बुलावे का इंतजार कर सकती है, हमेशा मदद करने को, अपना सर्वस्व देने को तैयार रहती है।

पुस्तक सीख देती है, सलाह देती है, बढ़ावा देती है, झिड़कती है, लेकिन उतना ही जितना कि हमारे लिए आवश्यक है, उससे एक अक्षर भी ज्यादा नहीं। कभी-

कभी हम जो अटपटे और मूर्खता-भरे सवाल पूछ बैठते हैं, उनसे यह खफा नहीं होती, बल्कि मुस्करा-भर देती है और चुप्पी साध लेती है। जो लोग एकाकी हैं, उनके लिए तो पुस्तक सचमुच बेजोड़ संगिनी है और आनंद का बेजोड साधन है।

और जो लोग चाहते हैं कि कुछ सीखें-सिखायें, उन्हें तो किताबों के साथ जीवन-भर का रिश्ता जोड़ लेना चाहिये। सीखने का भी कोई अंत है! इस प्रसंग में आइये टी. एच. व्हाइट का यह छोटा-सा उद्धरण मिलकर पढ़ें।

"शायद आप बूढ़े हो गये हैं और शरीर की कमजोरियों ने आपको धर दबोचा है। शायद आप रात-भर बिस्तर पर पड़े-पडे अपनी आंतों की गुड़गुडाहट सुनते रहते हैं। शायद आप अपने एकमात्र प्रियजन से बिछुड गये हैं। शायद आप अपना संसार दुष्टों और पागलों के हाथों उजडते हुए देख रहे हैं।...ऐसे में आपके लिए एक ही चीज रह जाती है–सीखना, इल्म हासिल करना।

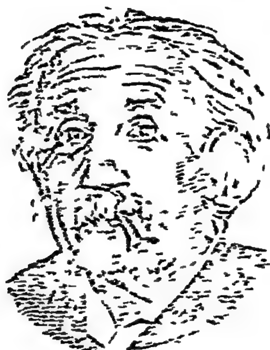
"जरा देखिये तो, सीखने के लिए कितना कुछ पडा है। विशुद्ध विज्ञान है, जो कि शायद दुनिया में एकमात्र विशुद्ध चीज है। एक जिंदगी में आप खगोल सीखिये, तीन जिंदगियों में पदार्थपाठ और छः जिंदगियों में साहित्य। और जब आप जीवशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, भूगोल, इतिहास और अर्थशास्त्र के अध्ययन में लाखों जिंदगियां खपा चुकें, तो उसके बाद बढ़िया-सी लकड़ी चुनकर बैठ जाइये बैलगाड़ी का पहिया गढ़ने। या चाहें तो अगले पचास साल आप तलवारबाजी में अपने दुश्मन को शिकस्त देने के गुर सीख सकते हैं। इसके बाद आप चाहें तो गणित सीखना शुरू कर दें और सीखते ही रहें, जब तक हल चलाना सीखने का वक्त न आ जाये।"

हां, सीखने का कोई अंत नहीं है। और सीखने के लिए आदमी को पुस्तकों के ही पास जाना पड़ेगा। लेकिन पुस्तकों की सोहबत हम सिर्फ सीखने के लिए ही नहीं ढूंढ़ते। आनंद के लिए भी हम उनके पास जा सकते हैं। मैंने जान-बूझकर ही 'आनंद' कहा, न कि 'दिलबहलाव'; क्योंकि ये दोनों जुदा चीजें हैं। अलबत्ता कुछ लोग दिलबहलाव के लिए भी पढ़ते हैं। वे पढ़ते हैं ऐसे किस्से और अफसाने, जो आज हैं और कल न रहेंगे, जो आज नये हैं और कल बासी पड़ जायेंगे।

साहित्य आनंद देता है, वह दिलबहलाव नहीं करता। साहित्य दर्दनाक हो सकता है, फिर भी उसमें आनंद होता है–ऐसा आनंद जिसे समझ पाना मुश्किल है। और साहित्य यह आनंद देता है अपने सत्य और सौंदर्य के द्वारा, जो कि कवि कीट्स की राय में एक ही हैं–"सौंदर्य ही सत्य है, और सत्य ही सौंदर्य।"

लेकिन जैसे आनंद दिलबहलाव नहीं है, वैसे ही सौंदर्य भी मोहकता नहीं है। संसार के श्रेष्ठ साहित्य के अधिकांश पात्र और प्रसंग मोहक नहीं हैं, लेकिन उनमें सौंदर्य है। उनमें सत्य का सौंदर्य है, साहस पूर्वक जीवन का सामना करने का सौंदर्य है।

❀ ❀ ❀



जेरोम वीडमान

सौंदर्य के क्षितिज पर नया झरोखा

मेरी युवावस्था की बात है। एक दिन मैं एक अभिजात और रसज्ञ महिला के घर पर आमंत्रित था। खाने के बाद हमारी मेजबान हमें एक लंबे-चौड़े हाल में ले गयी। दूसरे भी बहुत-से मेहमान आये हुए थे। अंदर प्रवेश करते ही मैंने दो दृश्य देखे। नौकर-चाकर बड़ी तत्परता से कुर्सियां लंबी पंक्तियों में लगा रहे थे और सामने दीवार के साथ वाद्य रखे थे। स्पष्ट था कि मैं एक संगीत-गोष्ठी में आ फंसा था।

मैंने 'आ फसने' का प्रयोग जान-बूझकर ही किया है; क्योंकि सगीत मेरे लिए एक निरर्थक चीज थी। मेरे कान गीत और लय के प्रति लगभग बहरे थे। बिल्कुल साधारण स्वर भी मैं बड़े प्रयत्न के बाद ही समझ पाता था, फिर शास्त्रीय या गंभीर सगीत तो मेरे लिए शोर-शराबे से अधिक महत्त्व नहीं रखता था। इसलिए जब कभी मैं ऐसे आयोजनों में फंस जाता, तो तन्मयता से सुनने का 'पोज' बनाकर बैठ जाता और आतरिक तौर पर अपने कान बंद करके निजी विचारों में डूब जाता।

उस दिन भी यही हुआ। सगीत शुरू हो चुका था और मैं अपने विचारों मे निमग्न था। एकाएक मुझे यह लगा कि मेरे इर्द-गिर्द लोग वाह-वाह कर रहे हैं। और तभी मैंने अपनी दायीं ओर एक शिष्ट लेकिन पैनी आवाज सुनी—"क्या आप बाक का सगीत पसद करते हैं?"

बाक से मैं उतना ही परिचित था, जितना कि खगोल-विद्या से। लेकिन मैं दुनिया के प्रसिद्ध चेहरों में से एक चेहरे से अवश्य परिचित था, जिस पर अस्त-व्यस्त सफेद बालों की लटें थीं और दांतों में हमेशा की तरह दबा हुआ पाइप। मैं आल्बर्ट आइंस्टाइन के पास बैठा हुआ था।

मैंने उनकी असाधारण दृष्टि के अंदाज से यह समझ लिया था कि यह प्रश्न केवल औपचारिक ही नहीं था। अत: मैंने सकपकाते हुए उत्तर दिया—"मुझे बाक के बारे में कुछ भी नहीं मालूम है। मैंने उसकी रचनाएं नहीं सुनीं।"

"आपने बाक को कभी नहीं सुना?" उन्होंने यह वाक्य कुछ इस तरह कहा, जैसे पूछ रहे हों, आपने कभी स्नान नहीं किया? मैंने सफाई दी—"बात यह है कि लय और सुर के बारे में मेरे कान बहरे हैं। इस कारण मैंने कभी संगीत सुना ही नहीं है।"

अब तो आइंस्टाइन के बूढ़े चेहरे पर चिंता उभर आयी। उन्होंने सहसा कहा—"कृपया मेरे साथ चलिये।" वे खड़े हो गये और हाथ पकड़कर मुझे भी उठा दिया। वे बड़े दृढ़ निश्चय के साथ सीढ़ियों पर चढ़कर ऊपर की मंजिल पर मुझे ले गये। मकान उनका जाना-पहचाना मालूम होता था। ऊपर जाकर उन्होंने अध्ययन-कक्ष का दरवाजा खोला, मुझे अंदर खींचा और दरवाजा बंद कर लिया।

अब उन्होंने मीठी मुस्कराहट के साथ कहा—"कृपया यह बताइये कि संगीत के बारे में आपकी यह अरुचि कब से है?"

"एक अर्से से यही हाल है।" मैंने उत्तर दिया।

"अच्छा, इतना और बताइये कि संगीत का कोई ऐसा रूप भी है, जो आपको पसंद हो?"

मैंने कहा—"जी हां, मुझे वह संगीत पसंद है, जिसमें शब्द हों, ऐसी लय हो, जो सरल हो और गुनगुनायी जा सके।"

इस पर उन्होंने मुस्कराहट और प्रसन्नता से सिर हिलाया—"कोई उदाहरण भी दे सकते हैं?"

मैंने तनिक साहस से काम लेते हुए कहा—"जैसे बिंग क्रास्बी की गायी हुई कोई चीज।"

"बहुत खूब!" उन्होंने धीरे-से फिर सिर हिलाया और कमरे के एक कोने में गये। ग्रामोफोन निकालकर उन्होंने रिकार्ड निकालने शुरू किये। मैं बेचैनी से देखता रहा। आखिरकार उनके चेहरे पर चमक आ गयी और बोले—"ये हैं!"

ग्रामोफोन बजने लगा। कमरा बिंग क्रास्बी की शांतिमय ठहरी हुई आवाज से गूंज उठा। गीत के बोल थे—जहां रात की नीलिमा दिन के रुपहले से मिलती है!

आइंस्टाइन मुस्कराते रहे और अपने पाइप के द्वारा लय का साथ देते रहे। तीन या चार पंक्तियों के बाद उन्होंने ग्रामोफोन बंद कर दिया और मुझसे पूछा—"क्या आप बता सकते हैं कि आपने क्या सुना?"

इसका सबसे सरल उत्तर यह था कि उन पंक्तियों को गाकर सुना दिया जाये। मैंने बड़ी कठिनाई से उन पंक्तियों को ऐसे सुनाया कि लय भी कायम रहे और आवाज में खरखराहट भी न आये। आइंस्टाइन के चेहरे पर उस समय सूर्योदय की-सी आभा थी।

उन्होंने खुशी में भरकर कहा—"आपमें संगीत के प्रति रुचि है!" मैंने आदर-

पूर्वक उत्तर दिया—"यह मेरा मनपसन्द गीत है। मैंने इसे सैकड़ों बार सुना है। अत. मेरे गुनगुनाने से कोई बात सिद्ध नहीं होती।"

आइंस्टाइन ने कहा—"यह गलत है। इससे सब कुछ सिद्ध हो जाता है। कल्पना कीजिये कि अंक लिखना सिखाते ही आपके अध्यापक ने आपको भाग या घटाने का प्रश्न दे दिया होता, तो क्या आप उसे हल कर पाते?"

"बिलकुल नहीं।"

आइंस्टाइन ने खुशी के अंदाज में पाइप लहराया और बोले—"यदि ऐसा होता तो आपको गणित से वितृष्णा हो जाती, और अध्यापक की उस छोटी-सी गलती से आप जीवन-भर के लिए भाग और घटाने के सुंदर रस से वंचित हो जाते।"

वे फिर कहने लगे—"लेकिन कोई अध्यापक ऐसी मूर्खता नहीं करता। वह पहले मूलभूत बातें आरंभ करता है। जब इनका अभ्यास हो जाता है, तो फिर आसान प्रश्न देता है। और धीरे-धीरे आपको लंबे भाग देने और घटाने की मंजिल तक लाता है। यही बात संगीत के बारे में है।" उन्होंने बिंग क्रास्बी वाला रिकार्ड उठाया और कहना जारी रखा—"यह सादा-सा गीत सरल जोड़ और घटाने की तरह है। आपको इसका अभ्यास हो गया। अब हम जरा कठिन कदम उठायेंगे।"

उन्होंने दूसरा रिकार्ड शुरू किया। जान मैकार्मे की सुनहरी आवाज संगीत की लहरों पर थिरक रही थी। कुछ पंक्तियों के बाद उन्होंने रिकार्ड बंद करके कहा—"कृपया इतना अंश मुझे गाकर सुनाइये।" मैंने बड़े प्रयत्न से उसे गाया। लेकिन मुझे आश्चर्य हुआ कि मेरी आवाज और लय में काफी संतुलन और शुद्धता थी।

"बहुत खूब, बहुत खूब!" कहते हुए आइंस्टाइन ने तीसरा रिकार्ड निकाला। यह कैरूसो के गाये हुए एक जटिल मास्टर-पीस का एक अंश था। इसके बावजूद मैंने लय के उतार-चढ़ाव को लगभग ठीक-ठीक सुनाने का प्रयत्न किया जैसा कि इस प्रसिद्ध कलाकार ने गाया था। मुस्कराहट की किरणें बिखेरते हुए आइंस्टाइन ने मेरी खूब प्रशंसा की।

कैरूसो के बाद लगभग एक दर्जन और संगीतकारों की बारी आयी। मैं इस सारे समय में इस तीव्र अनुभूति को किसी तरह दूर न कर सका कि इस महान व्यक्ति ने मेरी साधारण-सी समस्या को इस समय इस प्रकार अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य बना लिया है, जैसे उसे और कुछ भी याद ही नहीं।

अंत में हम शब्दहीन धुनों के संगीत तक आ पहुंचे। मुझे यह आदेश दिया गया कि उनकी नकल ओंठ बंद करके गुनगुनाहट से करूं। जब तान का प्रश्न आता था, तो आइंस्टाइन का मुंह खुलता और उनका सिर इस तरह उठ जाता, जैसे मुझे अपनी पहुंच से बाहर किसी चीज पर कमंद डालने में सहायता दे रहे हों और ऐसा महसूस होता था कि मैं संगीत की सीमाओं से भी परे पहुंच गया हूं।

अब उन्होंने ग्रामोफोन बंद करके रख दिया और मेरी बांह पकड़कर कहा—"चलिये, अब हम बाक को सुनने के लिए तैयार हैं।"

जब हम अपनी सीटों पर वापस पहुंचे, तो संगीतकार एक नये गीत के लिए वाद्यों को मिला रहे थे। आइंस्टाइन मुस्कराये और प्रोत्साहन के लिए हल्के से मेरी पीठ ठोंकी—"बस अब अपने कानों को सुनने की अनुमति दीजिये, यही काफी है।"

उस रात मैंने जीवन में पहली बार बाक की रचना 'भेड़ें अब सुरक्षित चरें' को सचमुच सुना। इसके बाद मैंने उसे कई बार सुना है। मेरा विचार है कि अब मैं कभी उससे नहीं उकता सकता। उसे सुनते समय मैं कभी तन्हाई नहीं महसूस कर सकता। मुझे महसूस होता है कि मैं एक ऐसे व्यक्ति के साथ बैठा हूं, जिसके चेहरे पर अस्तव्यस्त बालों की एक लट झूल रही है, ओंठों में बुझा हुआ पाइप दबा है और वे आंखें मेरे सामने हैं, जिनकी ऊष्मा में दुनिया के सारे चमत्कार समाये हुए हैं।

जब संगीत खत्म हुआ, तो दूसरों की प्रशंसा-ध्वनि में मेरी आवाज भी शामिल थी। सहसा हमारी मेजबान हमारे सामने आ गयीं और बोलीं—"डा० आइंस्टाइन, मुझे खेद है कि आप बहुत-से सुंदर गीतों से वंचित रहे।" साथ ही उन्होंने मुझे कुछ आक्रोश की दृष्टि से देखा।

हम दोनों जल्दी से खड़े हो गये। आइंस्टाइन ने कहा—"मुझे भी इसका खेद है। परंतु मैं और मेरे ये नवयुवक मित्र एक ऐसे महान कार्य में व्यस्त थे कि उससे अधिक महान कार्य आदमी कर ही नहीं सकता।"

मेजबान चकित रह गयी—"वह कौन-सा महान कार्य था ?"

आइंस्टाइन मुस्कराये और मेरे कंधे पर अपना हाथ रख दिया और फिर उन्होंने वे दस शब्द कहे, जो मेरे खयाल से उनकी कब्र पर अंकित करने के योग्य हैं :

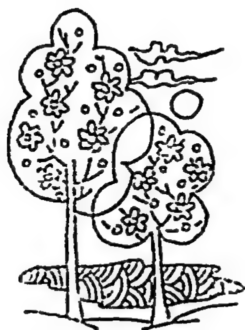
"सौंदर्य के क्षितिज पर एक और झरोखा खोल रहा था।"

❀ ❀ ❀

जब मैं यहां से प्रस्थान करने लगूं, तो मेरे अंतिम शब्द ये हों कि जो कुछ मैं देख चुका हूं, वह अद्वितीय है। मैंने आलोक-सागर में विकसित सहस्रार कमल के अदृश्य मधु का रसास्वादन किया है और इसलिए मैं धन्य हूं—ये मेरे अंतिम शब्द हों।...अनंत आकारों के इस क्रीड़ा-भवन में जी-भर खेल चुका हूं और इसमें मैंने निराकार की झांकी देखी है। मेरा समस्त शरीर, मेरा अंग-अंग उस स्पर्शातीत के स्पर्श से पुलकित है। सो यदि मेरा अंत आता है, तो आने दो—ये मेरे अंतिम शब्द हों।

—रवींद्रनाथ ठाकुर

डा० सी वी. रामन्



फूलों में वर्णभेद

फूलों के सौंदर्य ने अनादि काल से मानव को मुग्ध कर रखा है। हार्दिक भावनाएं गुलदस्ते या फूलमाला के विनिमय से जिस सुंदरता से अभिव्यक्त की जा सकती हैं, वैसी शब्दों द्वारा नहीं की जा सकतीं। प्रकृति-रानी ने विविध आकर्षणों से फूलों की झोली भर दी है—मनमोहक रूप और अद्भुत रचना, मधुर मकरन्द और मीठी सुवास, और इन सबसे बढ़कर प्यारे-प्यारे रंग! वैसे तो बिना रंग के भी फूल सुहावने हो सकते हैं, होते भी हैं।

वनस्पति-जगत् में फूल देने वाले पौधों की किस्में फूल न देने वाले पौधों से, जिनमें फफूंद, सिवार और काई सरीखी निम्नवर्गीय वनस्पतियां भी शामिल हैं, बहुत ज्यादा हैं। आज हम फूल देने वाले पौधों की लगभग ढाई लाख किस्मों से परिचित हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि पौधों की आबादी बढ़ाने और उनकी नस्ल को कायम रखने में फूल कितने कारगर साधन सिद्ध हुए हैं।

इस प्रकार प्रकृति ने हमें भरपूर पुष्प-संपत्ति दे रखी है। लेकिन मानव का मन इतने से भी नहीं भरा और उसे कुदरत की दस्तकारी में सुधार करने की सूझी। उसने बढ़िया किस्में चुनकर उनमें संकरण (क्रासिंग) किया और नयी-नयी किस्में पैदा कीं जो ज्यादा बड़ी तादाद में और ज्यादा बड़े फूल देती हैं, जिनमें रंगों की विविधता और विचित्रता भी अधिक है। इस मानवीय पुष्पसृष्टि का बड़े चाव से स्वागत हुआ है। अब तो यह एक विशाल उद्योग ही बन गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि फूलों के रंगों के विषय में यदि कोई अनुसंधान करना चाहे तो उसे हजारों रंग मिलेंगे। और यह विषय है भी बड़ा दिलचस्प। लेकिन एक बात हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। फूलों के रंगों के उद्गम और स्वरूप को ठीक समझना हो, तो हमें सजीव पुष्पों को परखना होगा। यंत्रों द्वारा निचोडकर रासायनिक प्रक्रिया से निकाले गये पुष्परसों से काम नहीं चलेगा।

किसी फूल को देखते समय जो चीज हमें उसके रंग का बोध कराती है, वह है—

प्रकाश। यह प्रकाश बाहर के किसी स्रोत से फूल पर पड़ रहा होता है और फूल पर पड़कर यह उसकी पंखड़ियों में स्थित तत्त्वों में प्रवेश कर जाता है। जब यह प्रकाश वहा से फिर बाहर निकलता है, तो पंखड़ी के भीतर स्थित रग सोखने वाले रजक तत्त्वों (एब्सार्बिंग पिग्मेंट) के कारण उसका रग बदला हुआ होता है। अततः यह प्रकाश हमारी आंखों तक पहुंचता है। अब फूल का रंग हमारी आखों को कैसा दिखाई देता है, यह हमारी आंखों की दर्शन-प्रक्रिया पर निर्भर है।

फूल को धूप में या दिन की तेज रोशनी में रखिये और उसमें से निकलते हुए प्रकाश को दस्ती वर्णक्रमदर्शक (स्पेक्ट्रोस्कोप) द्वारा देखिये। इस प्रकार आप फूल की पंखड़ियों में से छनकर आ रहे प्रकाश को भी देख सकते हैं और पंखड़ियों से टकराकर छिटकते हुए प्रकाश को भी। प्रयोग की यह विधि बहुत सरल है। इसलिए इस विधि से बहुत किस्म के फूल बहुत बडी सख्या में व थोडे समय में परखे जा सकते हैं।

एक प्रसिद्ध वृक्ष है मोटा बोंदडा (प्राइड आफ इंडिया), जिसे वनस्पतिशास्त्री 'लेगरस्ट्रोमिया फ्लास रेगिनी' के नाम से जानते हैं। हर साल अप्रैल से लेकर जुलाई तक इस वृक्ष में बड़े फूलों के सैकड़ों गुच्छे लगते हैं, जो देखने में बड़े सुहावने होते हैं। इसकी दो किस्में है—एक में सुर्ख फूल लगते हैं, दूसरे में गुलाबी।

इनमें से सुर्ख फूलों की चर्चा विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। वर्णक्रमदर्शक में रंग इस क्रम में दृष्टिगोचर हुआ करते हैं—बैंजनी, आसमानी, नीला, हरा, पीला, नारंगी और लाल। सुर्ख रग के मोटे बोंदड़े को वर्णक्रमदर्शक द्वारा देखने पर फूल में से निकलते इंद्रधनुषी रगों में पीला भाग काफी हल्का दिखाई देता है और शेष वर्णक्रम में कोई अंतर नहीं होता।

एक और वृक्ष है—जैकराडा मिसोसिफोलिया। यह मूलतः ब्राजील का पौधा है और 'जैकरांडा' नाम भी वहीं की भाषा का है। मार्च से मई तक यह वृक्ष मानो रग की दुकान ही लगा देता है। नील-बैंजनी फूलों के गुच्छों से पूरी तरह ढंके जैकरांडा वृक्षों से सुशोभित राजपथ अविस्मरणीय दृश्य उपस्थित करता है। वर्णक्रमदर्शक से जांचने पर ज्ञात होता है कि वर्णक्रम के पीले तथा नारंगी-लाल भाग मे अवशोषण होने के कारण ही जैकरांडा फूलों का रग नील-बैंजनी होता है।

पीले फूल अनेक वृक्षों पर लगते हैं। उनकी पीतिमा हलके पीले से लेकर सुनहरे पीले तक कई प्रकार की होती है। उदाहरण के लिए 'पेल्टोफोरम पेरुजिनियम' को लीजिये। फूलने के मौसम में यह वृक्ष स्वर्णिम फूलों से छा जाता है। बाद मे जंग खाये लोहे के रग की फलियां फूलों का स्थान ले लेती हैं। वर्णक्रमदर्शक से देखने पर इन फूलों के पीलेपन का रहस्य खुल जाता है। बात यह है कि जब प्रकाश इनकी पंखड़ियों में से निकलता है, तो वर्णक्रम के नीले और बैंजनी भाग का पूर्णतः विलोप हो जाता है, शेष भाग यथावत् रहते है।

अब लें फूलों के शहंशाह गुलाब को। इस फूल की विविध किस्में तैयार करने में उद्यान-विशेषज्ञों ने जितना ध्यान लगाया है, उतना ध्यान और किसी फूल पर नहीं दिया है। आज हम गुलाब की सैकड़ों किस्मों से परिचित हैं। फिर भी भारत में सबसे लोकप्रिय है मीठी महक वाला वह गुलाब, जिसे 'तंजौरी गुलाब' कहा जाता है। इसी का रंग गुलाबी रंग कहलाता है। यों दूसरे गुलाब भी हैं, जिनमें किसी का रंग गहरा लाल होता है, तो किसी का सिंदूरी या किरमिजी।

स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि गुलाब का रंग लाल क्यों है? उत्तर के लिए हमें फिर वर्णक्रमदर्शक (स्पेक्ट्रोस्कोप) की शरण में जाना पड़ेगा। लाल रंग का उद्भव वर्णक्रम के हरे भाग का विलोप होने के कारण होता है। हरे भाग का जितना ही अधिक विलोप होगा, गुलाब की लाली भी उतनी ही गहरी होगी।

गुलाब की जांच द्वारा एक और विस्मयकारी तथ्य का पता लगा है। गुलाब की पंखड़ी से जो प्रकाश हमारी आंखों तक पहुंचता है, उसके वर्णक्रम में नीला और बैंजनी भाग मौजूद तो रहते हैं, किंतु आंखें उन्हें ग्रहण नहीं करतीं और हमें दिखाई देने वाले लाल रंग पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

मैंने और भी सैकड़ों किस्म के फूलों के रंगों की इस प्रकार जांच की है। उनमें से कितने ही फूलों की अपनी-अपनी खासियतें हैं, जो बड़ी रोचक हैं और महत्त्वपूर्ण भी। लेकिन यहां मैं सिर्फ चंद महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर इशारा करूंगा।

एक तथ्य है रंगबोध में वर्णक्रम के पीले भाग का असाधारण महत्त्व। समूचे वर्णक्रम में पीला भाग अपेक्षाकृत छोटा और हरे व लाल रंगों के बीच दबा हुआ होता है। किंतु उसकी उपस्थिति-अनुपस्थिति फूलों के रंग पर ज़बर्दस्त असर डालती है। हल्के पीले से लेकर गहरे नारंगी रंग तक के फूलों के वर्णक्रम में पीला भाग पूर्ण रूप में विद्यमान रहता है। इन फूलों के रंग खूब चमकदार रहते हैं और आस-पास की पृष्ठभूमि से उठकर अलग दिखाई देते हैं। दूसरी ओर जिन फूलों का रंग नीली या सुर्ख आभा लिये होता है, उन सबके वर्णक्रमों में पीला भाग या तो कमज़ोर होता है, या बिलकुल नदारद। चमक तो इन फूलों में कम होती है, लेकिन ये होते हैं खूब रंगीन।

अब प्रश्न उठता है इन तथ्यों की व्याख्या का। वर्णदर्शन और वर्णबोध (कलर परसेप्शन) के संबंध में पिछले सौ साल से जो मान्यताएं चली आ रही हैं, उनका इन तथ्यों से मौलिक विरोध है—खासकर वर्णक्रम के चमकीले भागों द्वारा दूसरे भागों के ढंके या दबा दिये जाने की बात का।

अंत में मैं यही कहूंगा कि जीवित पुष्पों का वर्णक्रमदर्शक द्वारा अध्ययन करने से अनेक तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, जो रोचक हैं और फूलों में उपस्थित रंजक द्रव्यों (पिग्मेंट) के संबंध में नयी शोध की राह खोलते हैं। साथ ही यह अध्ययन देखने और वर्णबोध की प्रक्रिया को ठीक से समझने के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। [illegible]



आंद्रे मोरवा

सुख : मेरा नुस्खा

एक अखबार ने मुझसे पूछा था—"सुख के लिए आपका नुस्खा क्या है?" मैं चकित-सा सोचता रहा—"सुख के लिए मेरा नुस्खा क्या है?"

फिर अपने आप ही उत्तर मिल गया—मैं उस समय अपने को सुखी और प्रसन्न अनुभव करता हूं, जब मैं अपने लिए नहीं, बल्कि अपने प्रियजनों के लिए, अपने काम के लिए जी रहा होता हूं। हां, सुख के लिए मेरा यह नुस्खा है—अपने बाहर जियो; अपने बारे में जितना कम हो सके, उतना कम सोचो।

हम सभी ऐसे नर-नारियों को जानते हैं, जो बस अपने ही बारे में सोचते रहते हैं। उन्हें हरदम अपने स्वास्थ्य की चिंता लगी रहती है—ओह, दिल बहुत तेज धड़क रहा है; हाजमा बहुत धीमे काम कर रहा है; दिन के अंत में बहुत थकावट अनुभव होती है! कैसे खतरनाक लक्षण! अपना रोग-निदान भी वे लोग स्वयं करते हैं; और यह बड़ी ही डरावनी बात है। अगर उनके पास अपनी शारीरिक अनुभूतियों की इतनी बारीक छानबीन के लिए फुरसत न होती, तो वे काफी स्वस्थ रहते।

या वे इस चिंता में पड़े रहते हैं कि लोग हमारे बारे में क्या सोचते होंगे। क्या सचमुच लोग हमसे प्यार करते हैं और हमारी इज्जत करते हैं? क्या हमारे मित्र सचमुच अच्छे मित्र हैं? क्या लोग हमारे काम का उचित सम्मान करते हैं? यही चिंताएं उन्हें हरदम लगी रहती हैं।

मैं कुछ लोगों को जानता हूं, जो इसी बात से बेचैन रहते हैं कि उनका कोई सहकर्मी उनसे ज्यादा कमा लेता है। मैं ऐसे लेखकों को जानता हूं, जिनकी ईर्ष्या-भरी नजर अन्य लेखकों की पुस्तकों की बिक्री पर ही लगी रहती है। मैं ऐसी औरतों को जानता हूं, जो दूसरी औरतों के गहनों की कीमत आंकने से बाज नहीं आ सकतीं।

इन तमाम लोगों के पास यह सब चिंता करने का कोई सच्चा कारण नहीं है। उन्हें किसी चीज का अभाव नहीं। वे ससार में इतने सफल तो हैं ही कि सुखी रह

सकें। उनकी मुसीबत सिर्फ यह है कि वे अपनी हालत की तुलना ऐसी परिस्थितियों में करते हैं, जिनका उनसे कोई संबंध नहीं। महत्त्व की बात यह नहीं है कि लोग हमारे बारे में क्या सोचते हैं, बल्कि महत्त्व की बात यह है कि हम क्या हैं और क्या करते हैं!

सुख के लिए मेरा नुस्खा!...जो चीज आपके पास नहीं है और न कभी हो सकेगी, उसके बारे में दिवास्वप्न देखने के बजाय, जो कुछ आपको उपलब्ध है, उसका आनंद लीजिये। काम करना, प्रेम करना, अपने अस्तित्व को बिसरा देना—यह है सच्चा सुख। अपने प्रियजनों के जीवन को आनंद-भरा और आसान बनाने का प्रयत्न करने वाले नर-नारियों का सुख यही तो होता है।

और यही होता है उस अन्वेषक का सुख, जो नये राष्ट्र की नींव डालता है और जिसके पास अपनी अनुभूतियों का विश्लेषण करने की फुरसत ही नहीं होती। और उस कलाकार का भी, जो कलाकृति की सृष्टि के लिए वास्तविक दुनिया को भूल जाता है, सुख यही होता है।

कुछ लोग कहेंगे—"क्या!...आपका यह मतलब है कि मनुष्य को अपने आचरण पर गंभीरता से सोचने की फुरसत कभी नहीं निकालनी चाहिये? क्या सचमुच आप सोचते हैं कि मनुष्य को अपनी भीतरी सचाई से मुंह फेर लेना चाहिये?"

नहीं। परतु मैं जानता हू कि ऐसा आत्मनिरीक्षण अपवाद ही रहना चाहिये। जब आत्मनिरीक्षण आवश्यक हो जाये, पूरी तरह और ईमानदारी से आत्मनिरीक्षण कीजिये। जब वह पूरा हो जाये, उसके निष्कर्ष निकालिये; और फिर अपने आपको प्रेम और कर्म में डुबा दीजिये।

उन्हीं लोगों में से अपने सलाहकार चुनिये, जो जीवन को सरस बनाते हैं; जो जीवन को हानिकारक बनाते हैं, उनमें से नहीं। यही है सुख के लिए मेरा नुस्खा।

ॐ ॐ ॐ

यद्यपि आदमी का चंद्रमा पर पहुंचना अपने आपमें एक बड़ी बात है, तथापि हमें यह नहीं भुलाना चाहिये कि बुद्ध-जैसे व्यक्ति ने मनुष्य की जीवन-मृत्यु संबंधी दुविधा का सुलझाव खोजकर और मनुष्य को अपनी मुक्ति अपने भीतर और अपने परिवेश में खोजना सिखाकर मानव-जाति का और विज्ञान का शायद कहीं अधिक उपकार किया था।

—प्रो० सत्येंद्रनाथ बोस



श्रीगोपाल नेवटिया

मीनाक्षी-सुंदरेश्वर

भारत का प्राचीन शिल्प दक्षिण के मंदिरों में आज भी अपने वैभव की गाथा कह रहा है। दूर से दीखते गोपुरम् और मंदिर के भीतर की पाषाण-प्रतिमाएं बोलकर बताती हैं कि एक काल था, जब देश की अतुल समृद्धि इस रूप में प्रकट हुई थी।

दक्षिण के इन मंदिरों में सबसे भव्य है, मदुरै का मीनाक्षी-मंदिर। यों दक्षिण के सभी मंदिर देवता के नाम से प्रसिद्धि पाते हैं; पर मदुरै का यह मंदिर भक्तों की कृपा से देवी के नाम से ही पुकारा जाता है।

मदुरै दक्षिण की अति प्राचीन नगरी है। श्रीलंका के बौद्ध पुराण 'महावंश' में मदुरै के पांड्य-राजा की पुत्री से लंका के राजा विजय (५०० ई. पूर्व) के विवाह का उल्लेख है। मेगास्थनीज ने भी मदुरै और उसके पांड्य-राजाओं का उल्लेख किया है। ईसा-पूर्व के वर्षों में मदुरै का यूनान और रोम के साथ संबंध रहा था, इसके भी प्रमाण मिलते हैं।

पाड्य-शासकों में सबसे पहला उल्लेख मिलता है राजा उग्रपेरुवलुदि (दूसरी सदी ईसवी) का। १० वीं शताब्दी ई० में पाड्य-शासकों को चोल-शासकों ने पराजित करके यहां १२ वीं शताब्दी तक शासन किया। १४ वी शताब्दी में दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के एक सेनापति मलिक काफूर ने संपूर्ण पांड्य-राज्य को जीता और उस पर ४८ वर्ष तक अपना आधिपत्य रखा। बाद में विजयनगर-सम्राट् ने उसे पराजित कर पांड्य-राज्य को पुनः जिलाया।

सन १५५९ से १७८१ के बीच का यह नायक-वंश का शासन ही मदुरै का सर्वश्रेष्ठ जीवन-काल रहा है। आज जिस मदुरै के दर्शन मिलते हैं, वह नायक-वंश के शासकों की देन है, और मीनाक्षी-सुंदरेश्वर मंदिर उसकी सबसे श्रेष्ठ निधि है।

प्रसंग है कि जब मलयध्वज पाड्य ने पुत्रकामेष्टि नामक यज्ञ किया, तो होमाग्नि

से तीन स्तनों वाली मीनाक्षी प्रकट हुई। राजा विषादग्रस्त हो गये· परंतु उन्हें यह जानकर सांत्वना हुई कि भावी पति का दर्शन करते ही पुत्री का यह तीसरा स्तन लुप्त हो जायेगा। राजा मलयध्वज की उत्तराधिकारिणी यही कुमारी मीनाक्षी हुई। अनेक राजाओं को उन्होंने पराजित किया। अंत में, उन्हें मिले सुंदरेश्वर, जिनके दर्शन-मात्र से मीनाक्षी लज्जा एवं आदर से आपूरित हो गयीं और तत्काल उनका तीसरा स्तन तिरोहित हो गया। मंदिर के अष्टशक्ति-मंडप के एक भाग में उत्कीर्ण एक अत्यंत आकर्षक मूर्ति-पुंज में मीनाक्षी और सुंदरेश्वर के विवाह का निरूपण किया गया है।

१६ वीं सदी के मध्य से १८ वीं शताब्दी तक के २०० वर्ष मदुरै राज्य के भाग्याकाश में मध्याह्न के समान थे। नायक-घराने के योग्य शासकों ने मदुरै को सुराज्य, सुख-शांति और समृद्धि प्रदान की। नायक-घराने के प्रतिष्ठापक विश्वनाथ ने मदुरै नगरी का पुनर्निर्माण किया। किंतु १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तिरुमल नायक के शासन-काल में मदुरै ने जो समृद्धि प्राप्त की, वह नगरों के इतिहास में अद्वितीय है।

आज से तीन सौ वर्ष पहले जिसकी वार्षिक आमदनी डेढ़ करोड़ रुपया हो, जनता के लिए कुछ खर्च करने की जिसकी कानूनी जवाबदारी न हो, शत्रु के भय से जिस पर सेना का व्यय-भार न हो और जिसके मन में हो कलाकृतियों के निर्माण की महत्त्वाकांक्षा, वह क्या नहीं कर सकता था? उसे ७२ विशाल गोपुरम बनवाने की साध थी; किंतु वह एक भी पूरा नहीं करवा पाया। पर मीनाक्षी-मंदिर के विविध मंडपों, उनके स्तंभों और उनमें उत्कीर्ण मूर्तियों में तिरुमल नायक की कलाप्रियता पूर्ण रूप से मूर्त हुई है।

उसके जीवन का सबसे बड़ा सुख था, कलाकार को छेनी चलाते और एक-एक चोट के साथ अपने मनोभावों को मूर्त रूप में प्रकट होते देखना। वह कारीगरों को एकत्र करता, उन्हें उत्साहित करता, उन्हें धन देता और स्वयं अपने हाथ से पान खिलाता। उसने उनसे वह कला प्रसूत करवायी, जो सैकड़ों वर्ष बाद आज भी कला-जगत् में भारत का मस्तक उन्नत किये हुए है।

किंतु जीवन तो विडंबनाओं की निष्करुण क्रीडा है। कहते हैं, कला को कालजयी बनाने वाला तिरुमल स्वयं ही अकाल-मृत्यु का ग्रास बना था। इस प्रसंग में कई प्रकार की जनश्रुतियां प्रचलित हैं। एक के अनुसार, राजा तिरुमल अपनी २०० राजमहिषियों से भी संतुष्ट न रहकर एक परकीया की आसक्ति में पड़ा और दुर्योग से गिरकर मर गया। दूसरी जनश्रुति के अनुसार, राजा ख्रिस्तियों के प्रभाव में आ गया और उसने हिन्दूधर्माचार्यों की अवहेलना की। फलतः उसे कुएं में धकेल दिया गया और वह डूबकर मर गया।

प्रधान द्वार के पश्चात् मीनाक्षीनायकम्-मंडप है। तिरुमल नायक के सचिव

और मंदिर-निर्माण के प्रधान अधिकारी मीनाक्षीनायकन् के नाम पर यह मंडप बना है। इसके आगे का मंडप है, मुदलि-मंडप। यहां सदा छाये रहने वाले अंधेरे के कारण इसे 'अंध-मंडप' भी कहते हैं। आश्चर्य होता है कि इतना कलापूर्ण यह मंडप इतना अंधकारपूर्ण क्यों है। परंतु भारतीय कला एवं देवाराधना का अंधेरे से गहन संबंध होने की बात भी नयी नहीं है।

इस मंडप की आठ मूर्तियां पौराणिक गाथाओं को अभिव्यक्त करती हैं। भिक्षुक-वेश में शिव एवं मोहिनी-रूप में विष्णु मूर्तिशिल्प के उत्कृष्ट नमूने हैं। एक ओर नाट्यशास्त्र-निर्धारित रूपसज्जा-विभूषित नृत्य-सुंदरी का अप्रतिम शिल्प है; उसके सम्मुख एक तपस्वी की मूर्ति भी है, जो सम्मोहित-सा उसे एकटक निहार रहा है।

इस मोहिनी के सम्मुख ही है सती अनसूया की मूर्ति। अनसूया के जिस महोज्ज्वल चरित्र को प्रकट करने के लिए यह मूर्ति उत्कीर्ण की गयी है, वह मननीय है। सतियों में शिरोमणि तो अनसूया है, ऐसा कहकर नारद ने पार्वती, लक्ष्मी और सरस्वती के मन में ईर्ष्या की अग्नि प्रज्वलित कर दी। तीनों ने अपने पतियों को अनसूया की परीक्षा लेने के लिए बाध्य किया। तीनों भिखमंगे बनकर पहुंचे; परतु भीख के साथ उन्होंने यह शर्त भी रखी कि अनसूया नग्न होकर भीख दे। अनसूया बड़ी उलझन में पड़ गयीं। अंततः उनकी सतीत्व-शक्ति उदित हुई और उन्होंने तीनों को बालक बनाकर दूध पिला दिया।

मुदलि-मंडप के आगे स्वर्णकमल-सरोवर है। नाम को सार्थक करने के लिए उसमें सुनहरे तांबे का एक बड़ा सुंदर कमल बनाया गया है। सरोवर के आगे ही है किलिक्काट्टु-मंडप—तोतों का मंडप। कहते हैं, यहां देवी मीनाक्षी के प्रिय पक्षी तोते रखे जाते थे।

इन सब मंडपों के बाद, सबसे भीतर का मंडप आता है अर्ध-मंडप, और उसमें विराजमान हैं देवी मीनाक्षी। इतने विशाल गोपुरों और मंडपों के बाद इस छोटी-सी मूर्ति के सामने पहुंचकर अपनी श्रद्धा में तृप्त भक्त अनुभव करने लगता है कि इस समस्त वैभव की स्वामिनी देवी मीनाक्षी भुवन-स्वामिनी भी हैं।

मंदिर के दूसरे प्रधान कक्ष में शिव-मंदिर है। शिव यहां 'सुंदरेश्वर' नाम से लिंग-रूप में विराजमान हैं। सुंदरेश्वर-मंदिर में प्रवेश करते ही दायीं ओर नटराज की बड़ी भव्य मूर्ति मिलती है। पुराण-वर्णित शिव के नृत्यों की सात मुद्राओं में से आनंद-तांडव मुद्रा इस मूर्ति में अंकित है। नटराज की मूर्तियों में सर्वत्र शिव बायें पांव पर नृत्य करते दिखाये जाते हैं; किंतु यहां वे दायें पाव पर नृत्य कर रहे हैं।

इसका कारण स्थल-पुराण में इस प्रकार है। भक्तवर पांड्य-राजा राजशेखर नृत्य-कला-पारगत थे। शिव को निरंतर वाम पाद पर नृत्य करते रहने से जो श्रम होता है, उससे भक्त के हृदय को बड़ी पीड़ा पहुंची। उन्होंने शिवजी से प्रार्थना की—

"हे भगवन, यहां तो वाम पाद को विश्राम दीजिये।" शिव ने भक्त की प्रार्थना स्वीकार कर ली और वे यहा दक्षिण पाद से नृत्य करने लगे।

सुंदरेश्वर-मंदिर के सम्मुख का 'कंबट्टादि-मंडप' मदुरै के ही नहीं, दक्षिण के सभी मंदिरों में संभवतः श्रेष्ठ मंडप है। इसके स्तंभों पर उत्कीर्ण मूर्तियों की तुलना नहीं की जा सकती। वृषभारूढ़ शिव-पार्वती, लिंग में से उद्भूत होते शिव, विष्णु को वर देते अनुग्रह-मूर्ति शिव, अर्धनारीश्वर, हरिहर, त्रिपुरारि शिव, शिष्यों-सहित योग-संगीत-शिक्षक दक्षिणामूर्ति शिव आदि मूर्तिया कला के उत्कृष्ट नमूने हैं।

किंतु इनमें सर्वोपरि है, मीनाक्षी-सुंदरेश्वर के विवाह का मूर्तिपुंज। विष्णु पाणिग्रहण करवा रहे हैं। मनोनीत श्रेष्ठ पति की प्राप्ति पर नववधू के मन के सलज्ज आह्लाद को कलाकार ने मीनाक्षी की मुद्रा में बड़ी निपुणता से उत्कीर्ण किया है। शिव भी यहां अवधूत नहीं, वे राजसी ठाठ वाले हैं। रूप-गुण-सुंदरी वधू को पाकर पुरुष के मन में जिस गौरव का उदय होता है, वह शिव-वदन पर जैसे सजीव हो उठा है। शिव-शक्ति के इस परिणय से मुदित विष्णु की मुखश्री तो देखते ही बनती है।

'कंबट्टादि-मंडप' से परे, पूर्वी द्वार की मूर्तियों में तीन शिव-रूप हैं और चौथा काली का स्वरूप है। कलाविदों का कहना है कि पाषाण में विविध अंगों व आभूषणों की गति और न्यास का इतनी सजीवता के साथ अंकन और कहीं नहीं हुआ है। किंतु इन सबमें महत्त्वपूर्ण है—ऊर्ध्व-नृत्य की मुद्रा में स्थित शिव। उनका दक्षिण पाद ऊपर कान को छू रहा है। कथा है कि काली शिव के प्रत्येक नृत्य की सफलता-पूर्वक नकल करती चली गयीं, तब शिव ने ऊर्ध्व-नृत्य के द्वारा उन्हें पराजित किया। दूसरी कथा यह है कि ललाट-तिलक नृत्य की भांति इस नृत्य में कर्णाभूषण के गिर जाने पर शिव उसे पांव के अंगूठे से उठाकर पहन रहे हैं।

मीनाक्षी-सुंदरेश्वर के इस भौतिक निवास का यह संक्षिप्त परिचय यहां के सहस्र-स्तंभ-मंडप के उल्लेख के बिना अपूर्ण ही रहेगा। वास्तुकला एवं मूर्तिकला का यह उत्कृष्ट नमूना है। यहा कला ने कुछ स्वच्छंदता भी दिखायी है। देवताओं तक ही सीमित न रहकर, वह यहा मानव-जीवन में भी उतरी है। इस मंडप का निर्माण १६ वीं शताब्दी में आर्यनाथ मुदलि ने करवाया था। उनकी बड़ी ही मुंह-बोलती मूर्ति यहा बनी हुई है।

इस मंडप के प्रवेश में कतिपय बड़ी महत्त्वपूर्ण मूर्तिया है—राजा हरिश्चंद्र की गाथा, मदुरै में पधारे कौतुकी शिव द्वारा पत्थर के हाथी को गन्ना खिलाये जाने की कथा, एक संतान को पीठ पर लादकर एक को टोकरी में लिये और एक को दूध पिलाती हुई गरीब माता और पास ही आभूषणों से लदे धनी पुरुष, कलियुग के प्रतीक स्त्री को कंधे पर लादे पुरुष आदि चित्रण अपनी अभिव्यक्ति में अनुपम हैं। सुरसुन्दरी की मूर्ति भी विशेष उल्लेखनीय है—पतली कमर, उन्नत उरोज, सुडौल हाथ

वीणावादन के लिए ही बढ़ाये हुए नख, वीणा के तार, सभी कुछ बड़ी सावधानी से उत्कीर्ण किये गये हैं।

सहस्र-स्तंभ-मंडप के अनेक स्तंभों पर कामकला के चित्र भी उत्कीर्ण हैं। और भी कई मंदिरों में ऐसा पाया जाता है। सम्भवतः बुद्धिवादी बड़ों ने जीवन के सर्जन-सत्य को निर्विकार रूप से प्रकट करने की आज्ञा दी होगी; किंतु क्या छेनी चलाने वाले कलाकारों ने भी उस सत्य को उसी निरपेक्षता से हृदयंगम किया होगा, यह विचारणीय है। चरम सत्य-प्रेरित धर्मानुभूति लाखों में किन्हीं एक-दो को उपलब्ध होती है। अतः उसका तदनुरूप प्रबोध सार्वजनिक नहीं हो सकता। सामान्य स्तर पर तो उसके प्रवाह की दिशा को प्रायः विकृति ही स्पर्श करने लगती है।

यह मंदिर नृत्य की मुद्राओं का कोष है। मीनाक्षी-सुंदरेश्वर का यह स्थायी निवास है; परंतु यहां का पत्थर-पत्थर नृत्य से अनुप्राणित है। मंदिर के एक कक्ष में रखी हुई छोटी मूर्तियां भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इनमें से एक है, सुंदरेश्वर की स्वर्ण-प्रतिमा। इस मूर्ति पर एक नृत्य-कुमारी के चुंबन का चिह्न भी अंकित है।

स्थल-पुराण में इसकी कथा यों है—श्रीपुष्पवन की नृत्य-कुमारी हेमा अपनी प्रत्येक प्राप्ति अपने आराध्य सुंदरेश्वर को अर्पण करती थी। उसकी सबसे बड़ी आकांक्षा यह थी कि वह सुंदरेश्वर की स्वर्ण-प्रतिमा का निर्माण कराये; परंतु इतना धन जुटा पाना उसके लिए असंभव था। निरुपाय, उसकी भक्ति उमड़ी और सुंदरेश्वर ने उसके बर्तनों को सोने का बना दिया। आराध्य के ही अनुग्रह से बनी आराध्य की इस मूर्ति के प्रति हेमा के मन में इतना अनुराग उमड़ा कि उसने उसे चूम लिया।

यह मंदिर वास्तु और मूर्तिकला का ही नहीं, अपितु साहित्य का भी लोकविश्रुत केंद्र रहा है। सुंदरेश्वर मंदिर के एक भाग में तमिल संघम् का स्थान है। संघम् की स्थापना की रोचक गाथा स्थल-पुराण में दी गयी है। ब्रह्माजी के शाप से सरस्वती को पृथ्वी पर ४८ जन्म लेने थे, पर दया करके ब्रह्मा ने सभी जन्म एक साथ ही दे दिये। इस प्रकार सरस्वती ४८ मानव-शरीरों में एक साथ ही प्रकट हुई—सब प्रकांड पंडित, रससिद्ध कवि! तत्कालीन पाण्ड्य-शासन के संरक्षण में इन कवियों का संघ स्थापित हुआ, जो तमिल में 'संघम्' कहलाया।

जलप्लावन के कारण संघम् बार-बार नष्ट होता रहा। यह माना गया है कि तीन बार संघम् की स्थापना हुई। कवियों और साहित्याचार्यों के संघटन 'संघम्' द्वारा प्रशंसित हुए बिना कोई भी साहित्यिक कृति सम्मान नहीं पाती थी। उसी प्राचीन संघम् का अर्वाचीन उत्तराधिकारी नया संघम् सन १९०९ से अब भी यहां पर चल रहा है।

❀ ❀ ❀



मौलाना अबुल कलाम आजाद

अहमदनगर के किले में

हम जब पिछले साल अगस्त में यहां आये थे, तो सहन बिल्कुल सफाचट मैदान था। बारिश ने हरियाली पैदा करने की बार-बार कोशिशें कीं, लेकिन मिट्टी ने बहुत कम साथ दिया। इस बेरंग मंजर (दृश्य) से आंखें उकता गयी थीं। खयाल हुआ कि आखिर बागबानी ही क्यों न शुरू की जाये। जवाहरलाल, जिनका जौहरे-मुस्तैदी (काम में जुटने की तत्परता) हमेशा ऐसी तज्वीजों की राह तकता रहता है, फौरन कमरबस्ता हो गये और इस वीराने में रंगो-बू की तामीर (निर्माण) शुरू हो गयी।

दिल के वीराने में भी हो जाये दम-भर चांदनी।

बीज के लिए चीता खान को कहकर पूना लिखवाया गया। लेकिन जमीन की दुरुस्तगी का मुआमिला इतना आसान न था। अहाते की पूरी जमीन दरअसल किले की पुरानी इमारतों का मलबा है। जरा खोदिये और पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े व चूने और रेत का बुरादा हर जगह निकलने लगता है। दरमियानी हिस्सा तो गोया गुंबदों और मकबरों का मदफन (दफनाने की जगह) है। नहीं मालूम कैसे-कैसे परीचेहरों की हड्डियों से इस खराबे की मिट्टी गूंधी गयी है और जो जबाने-हाल से कह रही है :

कदह ब-शर्ते अदब गीर जां कि तरकी बश
जकासये सर जमशेदो बहमनस्तो कबाद।

—तू जो प्याला थाम रहा है, उसे अदब से सम्भाल, क्योंकि यह मामूली मिट्टी से नहीं, बल्कि जमशेद, बहमन व कबाद के सिरों की मिट्टी से बना है।

और, दिसंबर के शुरू होते ही सारे मैदान की सूरत बदल गयी। जनवरी का महीना तो इस आलम में आया कि हर कोना मालिन की गोदी था।

वक्त की रिआयत से अक्सर फूल मौसमी थे। चालीस से ज्यादा किस्में गिनी जा सकती थीं। सबसे पहले 'मार्निंग ग्लोरी' ने इस बेरंग व उजाड़ जमीन को

रंगीन किया। जब सुबह के वक्त आसमान पर सूरज की किरनें मुस्कराने लगतीं, तो जमीन पर 'मार्निंग' की कलियां खिलखिलाकर हंसना शुरू कर देतीं। अब्बूतालिब कलीम को क्या खूब उपमा सूझी थी—"कली-कली में मुस्कराहट की जो शीरनी (मिठास) पैदा हो गयी है, उसका कारण मुझसे पूछो। उसकी वजह यह है कि सुबह के दूध में इन फूलों की हंसी ने शक्कर डाल दी है।"

'मार्निंग ग्लोरी' की बेलें बरामदे की छत तक पहुंचाकर अंदर की तरफ फैला दी गयी थीं। चंद दिनों के बाद नजर उठायी, तो सारी छत पर फूलों से लदी हुई शाखें फैल गयी थीं। लोग फूलों की सेज बिछाते हैं और अपनी करवटों से उसे पामाल करते रहते हैं। हमारे हिस्से में कांटों का फर्श आया, तो हमने फूलों की सेज बिस्तर से उठाकर छत पर उलट दी :

गुज़र चुकी है यह फस्ले बहार हम पर भी।

इन फूलों को मौसमी कहा जाता है, क्योंकि इनकी पैदाइश और जिंदगी सिर्फ मौसम ही तक महदूद रहती है। इधर मौसम खत्म हुआ, उधर इन्होंने भी दुनिया को खैरबाद कहा। गोया जिंदगी का एक ही पेराहन (पोशाक) इनके हिस्से में आया था और वही इनके लिए कफन का भी काम दे गया :

"चांद की तरह मेरा लिबास भी दाग के सिवा और कुछ नहीं। मरने की घडी तक हम दोनों को एक लिबास पहनना है।"

बहार (वसंत) में फूलों से दरख्त लद जाते हैं और खिज़ां (पतझड़) में गायब ही हो जाते हैं। फिर ज्यों ही मौसम का दौर पलटता है, दुबारा आ मौजूद होते हैं। मगर मौसमी फूलों के पौधों का रंग-ढंग ही ऐसा है कि जब एक मर्तबा पीठ दिखा दी, तो फिर दुबारा मुड़कर देखना नहीं चाहते। गोया अब्बूतालिब कलीम का इशारा इन्हीं की तरफ था :

बज़मे ज़माना क़ाबिले दीदन दोबारा नेस्त
रूपस न कर्द हर कि अज़ीं ख़ाकदां गुज़िश्त।

—जमाने की हालत दुबारा देखने के काबिल ही नहीं है। इसलिए जो दुनिया से गुजर गया, उसने दुबारा लौटकर आने की कोशिश नहीं की।

फरवरी में बादल और हवा के आने-जाने से मौसम का उतार-चढ़ाव जारी रहा। मगर ज्यों ही महीना खत्म होने पर आया, मौसमे-बहार के आने की खबरें मिलने लगीं और एक दिन क्या देखते हैं कि बहार आ मौजूद हुई :

नफ़स बादे सबा मुश्क फ़शां खाहद शुद
आलमे पीर दगर जवां खाहद शुद।

—बादे-सबा (प्रातः-समीर) की सांस कस्तूरी फैलाने लगी है, जिससे यह बूढ़ी दुनिया दुबारा जवान हो जायेगी।

उसी जमाने का जिक्र है। एक दिन दोपहर के वक्त मैं कमरे में बैठा था। अचानक क्या सुनता हूं कि बुलबुल की नवाओं (बुलबुल का रोना, जिसे लोग गीत कहते हैं) की सदाएं (आवाजें) आ रही हैं। बाहर निकलकर देखा, तो फूलों के हुजूम में एक जोड़ा बैठा है और गीत बरसा रहा है। बेइख्तियार ख्वाजा शीराज की गजल याद आ गयी।

सफीर मुर्ग़ बर आमद, बते शराब कुजा बस्त
फ़ुग़ां फतादज़ बुलबुल नकाब्रे गुल के दरीद।

—सफीर मुर्ग (एक पक्षी) आ रहे हैं, मगर शराब की सुराही कहा है? बुलबुलों का शोर सुनाई दे रहा है और फूलों ने अपने चेहरे से नकाब दूर कर दिया है।

दोपहर की चाय का आखिरी प्याला बाकी था। मैंने उठाया और इस नग्मये अंदलीब (बुलबुल के गीत) पर उसे ओंठों से लगाकर खाली कर दिया।

दूसरे दिन सुबह बरामदे में बैठा था कि बुलबुल के तराने की आवाज फिर उठी। मैंने एक साहब का ध्यान खींचा कि सुनना, बुलबुल की आवाज आ रही है। एक दूसरे साहब, जो सहन में टहल रहे थे, कुछ देर के लिए रुक गये और कान लगाकर सुनते रहे। फिर बोले कि हां, किले में कोई छकड़ा जा रहा है, उसके पहियों की आवाज आ रही है। सुब्हान अल्ला! जरा देखिये तो बुलबुल की नवाओं और छकड़े के पहियों की 'रें-रें' में इन्हें कोई फर्क ही महसूस नहीं होता!

खुदा के लिए इन्साफ कीजिये, अगर ऐसे दो कान एक पिंजरे में बंद कर दिये जायें कि एक में तो बुलबुल की नवाएं बसी हों और दूसरे में छकड़े की 'रें-रें' तो आप उसे क्या कहेंगे?

मगर हिन्दुस्तान का आम जौक (रुचि) बुलबुल की नवाओं से नहीं, बल्कि कोयल की कूक से ज्यादा आशना (परिचित) है। यहां के परिंदों की शोहरत तोता और मैना के परों से उडी और दुनिया के अजायब में शुमार हो गयी।

शकर शिकन शवंद हमा तूतियाने हिन्द
जीं क़न्दे पारसी कि बंगाला मी रवद।

—हिन्दुस्तान के सारे पक्षी ही ऐसी मिठास बरसाते हैं, जो ईरानी मिस्त्री से भी ज्यादा मीठी है, जिसे बंगाल भेजा जाता है।

बुलबुल की नवाओं का जोश तो वाकई ईरान के हिस्से में आया है। मौसमे-बहार में जंगल और बाग ही नहीं, बल्कि हर घर के सामने का बगीचा इनकी नवाओं से गूंज उठता है। बच्चे झूले में इनकी लोरियां सुनते-सुनते सो जायेंगे और माताएं इशारा करके बतलायेंगी कि देख, यह बुलबुल है, जो तुझे अपनी कहानी सुना रही है।

इंसान अपने जिस्म के अंदर देखता है, तो जिंदगी का ताजा खून एक-एक रग

के अंदर उबलता दिखाई देता है। अपने से बाहर देखता है, तो फिजा का एक-एक जर्रा विलास के अनंत आनंद में नाचता हुआ नजर आता है। आंखें खोलिये तो हुस्न की दिलफरेबी है, कान लगाइये तो गीतों की महफिल है; और सूंघिये तो चारों तरफ खुशबू-ही-खुशबू है।

इस वक्त इंसानी भावनाओं में भी तहल्का मचने लगता है। शायर पहले तो बेचैन होगा कि इस आलम की तस्वीर खींच दे। जब नहीं खींच सकेगा, तो खुद इसकी तस्वीर बन जायेगा। रगो-बू और नग्मे के इस समंदर को पहले वह किनारे पर खड़ा होकर देखेगा, लेकिन फिर कूद पड़ेगा और खुद अपनी हस्ती को भी इसी की एक मौज (लहर) बना देगा।

बया ता गुल बर अफशानेम व मैदर साग़र अन्दाजेम
फ़लक रा सक्फ बशिगाफैम व तरह नो दर अन्दाजेम
चूं दर दस्त अस्त रूदये खुश बज़न मुतरिब सरूदे खुश
कि दस्त अफ़शां गज़ल ख़ानेम व पाको बांसुर अन्दाजेम।

–आओ, हम सब मिलकर फूल बरसायें और प्यालों में शराब उडेलें। सब मिलकर आसमान की इस छत को फाड डालें और एक नयी दुनिया बसा दें। ऐ गाने वाले, जब तुम्हारे हाथों में एक सुदर साज है, तो क्यों न एक ऐसा सुर मिलाओ कि मतवाले बनकर हम अपने हाथ-पाव पटककर बेसुध हो जायें?

हिन्दुस्तान में सिर्फ कश्मीर ही एक ऐसी जगह है, जहां इस आलम की झलक दिखाई देती है। इसलिए फैजी को कहना पड़ा था :

हज़ार क़ाफलिये शौक़ मी कशद शबगीर
कि बार ऐश कुशायद बख्तिये कश्मीर।

–शौक के हजारो काफिले डेरा डालते हैं, इसलिए कि कश्मीर की भूमि पर अपनी जिंदगी का बोझ हल्का कर लें।

लेकिन अफ़सोस है कि लोगों को फल खाने का शौक हुआ। आलमे-बहार की जन्नत-निगाहियों का शौक न हुआ। कश्मीर जायेंगे भी तो बहार के मौसम मे नहीं, बारिश के बाद फलों के मौसम में। मालूम नहीं, दुनिया अपनी हर बात में इतनी शिकमपरस्त (पेट-भरू) क्यों हो गयी है, हालांकि इंसान को पेट के साथ दिलो-दिमाग भी दिया गया है।

इस वक्त तक बुलबुल के तीन जोड़े यहां दिखाई देते हैं। दोपहर के पहले खामोशी रहेगी, फिर ज्यों ही मै कुछ देर लेटने के बाद उठूंगा और लिखने के लिए बैठूंगा, तो साथ-साथ इनकी नवाएं भी शुरू हो जायेंगी। गोया इन्हें मालूम हो गया है कि यही वक्त है, जब एक हमसफीर (एक-सी आवाज वाला) अपने दिलो-जिगर के जख्मों की पट्टिया खोलता है।

❀ ❀ ❀



डा० ताहा हुसैन

नारी

थका-हारा और निराश अब्दुल अब शीराज के निकटस्थ उस गांव के अंतिम मकान के सम्मुख खडा था। उसके पीछे उसकी पत्नी माँ लडखडाती, हाफती खडी थी। अब तक गाव के सभी घरों से उन्हें तिरस्कार-भरी प्रताडना ही मिली थी, सो यहा भी निराशा ही मिलने की उम्मीद उन्होंने की थी। फिर भी जब तक सास तब तक आस! परिस्थितियों से समझौता करने के उद्देश्य से वे बूढे रफीक के मकान के सामने खडे थे—आशा की एक क्षीण ज्योति अब भी बाकी थी।

और सचमुच, उनकी दयनीय अवस्था देखकर रफीक का मन करुणा से द्रवीभूत हो उठा। उसने गाव वालों के विरोध के बावजूद, उन्हें आश्रय दे दिया।

...पर कुछ रात जाने पर जब रफीक की पत्नी दीना काम पर से लौटी, तो उसे अपने पति की यह करतूत बर्दाश्त नहीं हुई। वह क्रोध में फट पडी—"आवारा लोगों को ठहराने के लिए मेरा ही घर है! कोई दूसरा खैरातखाना नहीं है? अगर वे इतने भले आदमी थे, तो साहूकार ने उन्हें अपने यहा जगह क्यों नहीं दी! तुम्हारी अक्ल पर तो पत्थर पड गये हैं। दुनिया क्या कहेगी, कुछ सोचा भी?"

बूढे रफीक ने दबे स्वर मे कहा—"अरी, जरा धीरे बोल! वे लोग सुनेंगे, तो क्या समझेंगे?"

"मैं क्या किसी की दबैल हूं? वाह रे!......एक तो चोरी, ऊपर से सीनाजोरी!" दीना के क्रोध में और उबाल आ गया—"इतने बूढे हो गये, मगर अक्ल से अब भी तुम्हारा कोई सरोकार नहीं। खुद तो डूबोगे ही, साथ में मुझे भी ले डूबोगे। उसने कह दिया कि वह उसकी बीवी है, और तुमने मान लिया! मैं पूछती हू, इसका क्या सबूत है उसके पास? ऐसे बदजातों और फटेहालों को घर में पनाह देते हुए तुम्हें जरा लाज भी नहीं आयी! छि:..."

पर रफीक ने उन दोनों को घर के भीतर स्थान दिया ही कहा था! उसने तो

उन्हें घर के बाहर अस्तबल में जगह दी थी। यह बात उसकी पत्नी भी जानती थी। तो भी बड़बड़ाये जा रही थी। रफीक ने अधिक बोलना ठीक़ नहीं समझा। दीवार की ओर मुंह फेरकर कुछ ही क्षणों में वह खर्राटे भरने लगा। पर वास्तव में वह सोया नहीं था। वह मन-ही-मन सोच रहा था–"यह भली औरत इसी प्रकार रात-भर बकती रहेगी क्या? एक संकटग्रस्त दंपति को मैंने आश्रय दिया–वह भी अस्तबल में, घर में नहीं–इसमें भला इतना भड़क उठने की क्या बात थी? आदमी आदमी के काम न आये, तो कौन आयेगा?......"

दूसरी ओर, रफीक को इस प्रकार खर्राटे भरते देख, दीना की क्रोधाग्नि में जैसे तेल पड़ गया। वह और तैश में आकर बोलने लगी–"तुम्हारी आंखें तो नहीं फूट गयी थीं? उसकी कितनी बुरी हालत है, यह भी नहीं सूझा तुम्हें? अगर कुछ कम-ज्यादा हुआ, तो लोगों के मुंह पर ढक्कन कौन रखेगा? अक्ल की बलिहारी है! या खुदा! गांव में किसी ने उन्हें आसरा नहीं दिया; पर ये बेचारे तीसमारखां बन बैठे!"

बूढ़ा रफीक चुपचाप पड़ा रहा, मानो उसके कानों तक दीना के शब्द पहुंच ही नहीं रहे थे। उधर दीना अब भी बड़बड़ाये जा रही थी–"उसकी भोली-भाली सूरत देखकर पिघल गये! यही बात है। मैं तुम्हें अच्छी तरह जानती हूं। मगर यह मत समझना कि मैं तुम्हारे पाखंड को चुपचाप बर्दाश्त कर लूंगी!...न जाने कहां के उचक्के घुस आये हैं घर में। कहीं कुछ ले न भागें।...मैं तो इधर फिक्र के मारे मरी जा रही हूं और आप साहब घोड़े बेचकर सो रहे हैं!...एक तो दिन-भर काम करते-करते अधमरी होऊं और रात को दो घड़ी चैन से सो भी न सकूं! ...या खुदा!"

पर दीना भी आखिर कब तक अकेली बकती रहती। कुछ ही देर बाद, नींद के जादू ने उसे काबू में कर लिया। रफीक भी न जाने कब अपनी बीवी की जली-कटी सुनते-सुनते सो गया और उसके खर्राटे नकली से असली बन गये।

अचानक आधी रात को किसी स्त्री की दर्द-भरी चीख सुनाई पड़ी और रफीक की नींद टूट गयी। इसके साथ ही सारी पुरानी बातें उसके दिमाग में कौंध उठीं और वह मन-ही-मन अल्लाह-ताला से प्रार्थना करने लगा कि वह कृपा करके दीना की नींद न तोड़े, अन्यथा पल-भर में प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जायेगा।

परंतु अल्लाह-ताला ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। दीना अपने बिस्तर पर उठ बैठी। कुछ देर तक वह शांत, परिस्थिति का अनुमान-सा लगाती हुई बैठी रही और फिर जिधर से दिल को टूक-टूक करने वाली चीखें आ रही थीं, उस ओर बढ़ने लगी। अस्तबल की ओर उसके कदम बढ़ने के साथ ही रफीक का मन आशंका से कांप उठा–"अब खैरियत नहीं है।"

पर वह करता क्या ! चुपचाप असहाय-सा अपने बिछौने पर लेटा, अस्तबल की ओर से आने वाली हर छोटी-बडी ध्वनि को सावधानीपूर्वक सुनने लगा, मानो उन ध्वनियों पर ही उसका भविष्य निर्भर हो। "तुम यहा से हटो, बाहर जाओ!" यह कर्कश आदेश कान में पडते ही रफीक के पावों-तले से धरती खिसक गयी। पर वह अपनी जगह से उठा नहीं। उसके कान अस्तबल की ओर लगे रहे। इसके बाद कुछ-एक क्षण शांति रही और फिर लकडिया तोडने की आवाज सुनाई पड़ने लगी। रफीक ने अनुमान लगाया कि टीना हाथ-पाव सेकने के लिए अंगीठी जला रही है।

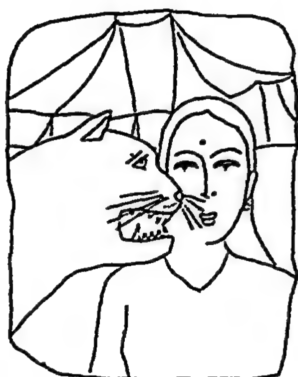
जब लकडिया टूटने की आवाज को समाप्त हुए काफी देर हो गयी, तब उसने गर्दन उठाकर अधखुली आखों से उस ओर देखा। टीना शायद बाहर आयी थी और अब हाथ में एक हाडी लिये अस्तबल की ओर बढ रही थी। तभी चूल्हे पर भी रफीक की दृष्टि गयी, जो जल रहा था और उस पर एक बडी हाडी चढी थी।

यह सब क्या है?......रफीक टीना की गूढ हलचल का अर्थ लगाने की भरसक चेष्टा करने लगा, किंतु कुछ समझ न सका। आखिर, जब दूसरी बार उसने टीना को गर्म पानी की हाडी उठाये हुए अस्तबल की ओर जाते देखा, तब उससे नहीं रहा गया। वह उसके पीछे-पीछे अस्तबल की ओर बढा। परन्तु शायद टीना को इसकी आहट मिल गयी। उसने तुरत पलटकर कहा—"तुम इधर कहा आ रहे हो! जाओ, सोओ चुपचाप।" और रफीक मन मारकर अपने कमरे में वापस आ गया। पर मन का कौतूहल अब भी उसे बेचैन बनाये हुए था। इसी बीच टीना कमरे में आयी और चिथडों का एक बड़ा-सा गट्ठर बगल मे दबाकर अस्तबल की ओर बढ गयी। रफीक ने चाहा कि उससे कुछ पूछे, पर साहस न बटोर सका।

अभी रफीक जिज्ञासा के इस झंझावात में डोल रहा था कि अपने दरवाजे पर उसे अब्दुल दिखाई पडा। वह बहुत ही उदास और घबराया हुआ था। रफीक का हृदय भर आया, उसकी दयनीय अवस्था देखकर। वह अपने बिस्तर से उठकर उसके पास पहुंचा और उसके कंधे पर हाथ रखकर स्नेह से बोला—"क्या हुआ भाई? क्या तुमको बाहर निकाल दिया? ओह! मैं खूब जानता हू इन औरतों को! संसार की सब औरतें एक-सी होती हैं!...

पर इससे आगे वह कुछ न बोल सका। अस्तबल में अचानक ही नवजात शिशु के रोने की आवाज गूज उठी।

❖ ❖ ❖



शिवाजी शं. कार्लेकर

ताराबाई

पूर्ण निस्तब्धता व्याप्त थी। सब सांस रोके बैठे थे। सर्कस का वह खेल जितना दर्शनीय था, उतना ही रोमांचकारी भी था। एक बाघ के साथ जालीदार घेरे में बंद एक तरुणी! लोग पलकें झपकाना भी भूल गये, पर तरुणी के चेहरे पर भय की शिकन तक न थी। देखते-ही-देखते उसने बाघ का मुंह दोनों हाथों से पकड़कर खोल दिया और उसके खुले मुंह में अपना सिर डाल दिया।

दूसरे ही क्षण अप्रत्याशित घटना घटी। बाघ ने अपना मुंह बंद कर लिया। फौरन घेरे के एक कोने में खड़े आदमी की पिस्तौल गरज उठी। निशाना अचूक था। बाघ ने मुंह खोल दिया और पीड़ा से छटपटाता हुआ जमीन पर जा गिरा। साथ ही, एक ओर वह तरुणी भी गिरी—रक्तरंजित, बेसुध। सर्कस का खेल बंद कर दिया गया। दर्शकों की रुकी सांस जैसे फिर से चलने लगी और चारों ओर कोलाहल मच गया।

यह भयंकर दुर्घटना आज से अनेक वर्ष पूर्व विश्वविख्यात 'कार्लेकर ग्रैंड सर्कस' में घटी थी। बाघ के मुंह में यों निर्भीक-निश्चिंत होकर सिर डाल देने वाली तरुणी थी ताराबाई, जिसके सर्कस का नाम आज भी पुराने जमाने के लोग विस्मय-मिश्रित आदर के साथ लेते हैं...और बाघ पर गोली चलाने वाले थे, स्वयं 'कार्लेकर ग्रैंड सर्कस' के स्वामी शंकरराव कार्लेकर।

ताराबाई का जन्म कोल्हापुर जिले के खडकलाट नामक गांव में हुआ था। उसके पिता गुलाबराव शिंदे को मल्लयुद्ध का बड़ा शौक था और वे उसी गाव के चंद्रभान पाटील से इसकी तालीम लिया करते थे। लगन और श्रम के कारण, अल्पकाल में ही गुलाबराव की ख्याति चारों ओर फैलने लगी। चंद्रभान पाटील सर्कस के भी शौकीन थे—भोंसले के सर्कस में कुछ समय काम भी कर चुके थे। उन्होंने अपनी एक छोटी-सी सर्कस-पार्टी भी बनायी थी।

उन्हीं दिनों ताराबाई का जन्म हुआ। तारा अपने पिता की शक्ति और माता

का सौंदर्य लेकर पैदा हुई थी। अडाकृति चेहरा, चंपाकली-सी नासिका, रक्तिम अधर, केतकी-सा गौर वर्ण, हिरनी के-से नेत्र और ठुड्डी पर काला तिल। देखने वाले की आखें बरबस टिकी रह जाती थीं उस पर। तारा जब छः वर्ष की हुई, तो उसे गाव की पाठशाला में भेजा गया।

गाव-भर मे एक ही मराठी पाठशाला थी और वहा भी केवल चौथी कक्षा तक पढाई चलती थी। लेकिन तारा का मन कभी पढ़ने-लिखने मे नहीं लगा। बचपन से ही उसकी रुचि खेल-कूद और शरारतों की ओर अधिक थी। थोड़े ही दिनों में उसकी उम्र के बच्चे उससे डरने लगे और उनके मा-बाप तारा के घर उसकी शिकायतें लेकर पहुचने लगे। राव-दपति उन्हे आश्वासन देते, तारा को दंड देने का निश्चय करते, परतु तारा सामने आती तो वे सब कुछ भूल बैठते।

गुलाबराव तारा को पुत्र के समान ही प्यार करते थे। उन्होंने उसी ढंग से उसकी परवरिश भी की। स्वयं पहलवान थे ही, तारा को भी अखाडे मे ले जाने लगे।

गुलाबराव पाटील के स्वभाव मे एक बड़ी कमजोरी थी। मद्यपान का उन्हे व्यसन था और पीने के बाद वे होशो-हवास खोकर राक्षस बन जाते थे। उनके नशे का प्रसाद तारा की मा को मिला करता था। ऐसे मौकों पर तारा कमर पर दोनों हाथ रखकर दरवाजे पर खडी हो जाया करती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई खूख्वार सिहनी खडी हो। पत्नी पर रोष उतारने वाले पहलवान गुलाबराव उस वक्त बेटी को देखते ही ठंडे पड़ जाते थे।

खडकलाट के पास चिंचली गाव में हर साल देवी का मेला भरा करता था। गुलाबराव सदा इस मेले में जाया करते थे। तारा जब थोड़ी बड़ी हुई, तो वे उसे भी साथ ले जाने लगे। उस साल भी वे हमेशा की तरह घर की बैलगाड़ी मे मेला देखने चले। तारा उस समय आठ साल की थी।

मेले में गुलाबराव ने जी भरकर शराब पी और गाव को लौट चले। बैलगाड़ी मे बैठे, और बैलों को चाबुक मारा। बैल सधे हुए थे, चाबुक पड़ते ही हवा से बातें करने लगे। नशे मे चूर गुलाबराव से बैलगाड़ी न सभली। बैल छूटकर निकल भागे। बाप-बेटी दूर-दूर जा गिरे। मेले से वापस आने वाले कुछ यात्री बेहोश बाप-बेटी को अस्पताल ले गये। गुलाबराव के कसरती शरीर को तो अधिक आघात नहीं पहुंचा, परंतु तारा को भयंकर चोट आयी। उसे चार-पांच महीने अस्पताल में रहना पड़ा। किंतु इस दुर्घटना का एक लाभ भी हुआ। गुलाबराव ने कसम खायी—"शराब कभी छुऊगा भी नहीं।"

तारा जब घर आयी, तो गुलाबराव ने उसका स्कूल जाना बंद कर दिया और उसे पाटील के अखाडे में भेजने लगे। तारा को प्रसन्नता ही हुई। चंद्रभान भी बडे प्रेम से तारा को तालीम देने लगे। उन्होंने उसे मर्दन के विभिन्न पेच सिखाये

और कुछ दिनों बाद तारा के नाम से एक सर्कस भी स्थापित किया। परंतु तारा के जीवन में अभी कई मोड़ आने थे। एक दिन सर्कस में अचानक छाती पर लोहे का कड़ा लगने से चंद्रभान की मृत्यु हो गयी। तारा तब केवल चौदह वर्ष की थी।

चंद्रभान की मृत्यु के बाद गुलाबराव सर्कस का सारा सामान समेटकर अपने गांव वापस आ गये। उन दिनों कोल्हापुर में 'कार्लेकर सर्कस' का बड़ा नाम था। गुलाबराव ने इस सर्कस में शामिल होने का निश्चय किया। कंपनी के मालिक शंकरराव तारा की ख्याति से परिचित थे ही। उन्होंने बड़े प्रेम से दोनों को अपनाया।

तारा को यहां मलखारी उस्ताद कुंजब्बू ने नये-नये खेल सिखाये। झूले पर बोतल का खेल तो अद्‌भुत था। पचास फुट ऊंचे झूले पर कांच की एक बोतल रखी जाती थी। उस पर एक तख्ता रखा रहता था। तारा उस तख्ते पर दोनों हाथ छोड़कर बैठती थी। फिर तारा के सिर पर एक लड़की सिर नीचे और पांव ऊपर करके खड़ी हो जाती थी। दर्शक सांस रोककर देखते रह जाते थे। कुंजब्बू ने तारा को पत्थर उठाना, छाती पर पत्थर तुड़वाना, चलती मोटर दोनों हाथों से रोकना, छाती पर हाथी का वजन झेलना आदि खेल भी सिखाये।

परतु खूंख्वार जानवरों को वश में करने की तालीम तारा को स्वयं शंकरराव ने दी। बाघ के मुंह में निस्संकोच सिर डाल देने का खेल भी तारा ने उन्हीं के पास सीखा और इस खेल ने उसे बड़ी प्रसिद्धि दिलायी।

शंकरराव तारा को अधिकाधिक मानने लगे। किंतु सर्कस में काम करने वाले एक कलाकार भुजंगराव की ईर्ष्यालु प्रवृत्ति को यह सहन नहीं हुआ। सयोग से एक दिन तारा से भुजंगराव की पत्नी की किसी बात पर झड़प हो गयी। तब से तो पति-पत्नी दोनों तारा से बदला लेने के मौके की तलाश में रहने लगे।

जानवरों को खाना खिलाने वाले मोमिन नामक आदमी को भुजंगराव ने अपनी ओर मिला लिया। जिस बाघ के मुंह में तारा सिर डालकर खेल दिखाती थी, उसे मोमिन ने एक मादक द्रव्य गोश्त के साथ खिला दिया।

उस दिन तंबू दर्शकों से खचाखच भरा था। प्रतिदिन की भांति बाघ को पिंजरे से घेरे के अंदर लाया गया। पर उस दिन वह नशे में धुत्त था। उसकी आंखों में नशे की लाली छायी थी। उसे देखते ही तारा और शंकरराव के मन में शंका के बादल मंडरा उठे। शंकरराव ने खेल बंद करने की बात सोची। लेकिन सर्कस की प्रतिष्ठा का प्रश्न था; अतः खेल दिखाना जरूरी था।

इस खेल के समय शंकरराव सदा पिस्तौल लेकर घेरे के बाहर खड़े रहते थे। किंतु उस दिन उनका मन नहीं माना और वे पिस्तौल लेकर घेरे के अंदर ही आ गये। हमेशा की तरह ताराबाई ने बाघ का जबड़ा खोलकर उसमें अपना सिर डाल दिया। परंतु तुरंत उसे लगा कि वह साक्षात् मृत्यु का आलिंगन कर रही है। जबड़े में

सिर डालते ही नशे में धुत्त बाघ ने एकदम मुंह बंद कर लिया। साथ ही शंकरराव की पिस्तौल भी गरज उठी। मृत बाघ एक ओर लुढ़क पड़ा और दूसरी ओर गिरी बेहोश ताराबाई। उसके गले और चेहरे पर गहरे घाव थे। तत्काल उसे सरकारी अस्पताल भेजा गया। सौभाग्य से जख्म खतरनाक नहीं थे।

इधर शंकरराव की शंका दृढ हो गयी और उन्होंने बाघ को पोस्टमार्टम के लिए भेजा। परीक्षा से पता चल गया कि उसे मादक द्रव्य खिलाया गया था। मोमिन ने पुलिस को भुजंगराव का भेद बता दिया। दोनों बंदी बने और उन्हें सजा मिली।

किंतु इस दुर्घटना के फलस्वरूप ताराबाई को छः महीने अस्पताल में रहना पडा। शंकरराव ने उसकी देखभाल में कोई कसर नहीं उठा रखी। पूरे वेतन के अलावा, उन्होंने उसे पुरस्कार भी दिया। स्वस्थ होने के बाद तारा तीन वर्ष तक 'कार्लेकर ग्रेंड सर्कस' में काम करती रही। उसी समय उसकी मा बहुत बीमार पड़ी और बाप-बेटी गाव आ गये। कुछ दिनों बाद मा चिरनिद्रा में सो गयी।

अब तक गुलाबराव के पास काफी धन संचित हो चुका था। उन्होंने 'ताराबाई सर्कस' नाम से अपनी ही सर्कस-कंपनी खोल ली। ताराबाई भी अब बीस वर्ष की हो गयी थी। धीरे-धीरे सर्कस बढ़ता गया और गुलाबराव अपना सर्कस लेकर कोल्हापुर आ गये। कोल्हापुर में तब छत्रपति शाहू महाराज का राज्य था। वे बड़े गुणग्राही थे। जब उन्हें सूचना मिली कि ताराबाई उन्हीं के इलाके की लडकी है, तो उन्होंने उसे पर्याप्त आर्थिक मदद दी। इससे ताराबाई को बढ़ावा मिला और 'ताराबाई सर्कस' उत्तरोत्तर उन्नति करने लगा।

किंतु सर्कस को पूरे दो वर्ष भी न हो पाये थे कि गुलाबराव की मृत्यु हो गयी। पिता की मृत्यु से तारा को बडा आघात पहुचा। फिर भी उसने बडी हिम्मत और सब्र से काम लिया। बारह वर्षों तक लगन के साथ अपनी मंजिल की ओर बढ़ती रही। अततः सफलता ने चरण चूमे। ताराबाई सफलता और सम्मान के चरम शिखर पर जा पहुंची। भारत में ही नहीं, बल्कि श्रीलंका, मलय, जावा, सुमात्रा फिलिपाइन, स्याम आदि सुदूर देशों में भी उसके सर्कस की धूम थी। किंतु तारा की जीवन-अवधि जैसे समाप्त होने को आ गयी थी। मृत्यु अपना जाल फैला रही थी। सन १९३५ में भुजंगराव ने तारा के पास आकर नौकरी की याचना की। तारा जितनी उदार थी, उतनी ही भोली थी। उसने उसे नौकर रख लिया।

साल-भर भुजंगराव ने बड़ी ही ईमानदारी से काम किया और संतुष्ट होकर तारा ने उसे मैनेजर बना दिया। भुजंग ने इसका लाभ उठाया और डंसने की तैयारी शुरू कर दी। उसने धीरे-धीरे कर्मचारियों के वेतनों में वृद्धि की, पशु-पालकों के वेतनों में तो विशेषतः। तभी श्रीलंका से आमंत्रण आया। भुजंगराव के मन में जो पाप पनप रहा था, उसके फलित होने का समय आ पहुंचा था।

श्रीलंका में सर्कस का खेल शुरु हुआ। पिछला नाटक आज फिर दुहराया जा रहा था। भुजंगराव ने बाघ को वही मादक द्रव्य खिला दिया था। सदा की भांति तारा ने बाघ के खुले जबड़े में अपना सिर डाला ही था कि नशे में धुत्त बाघ ने अपना विशाल जबड़ा बंद कर लिया। और दुर्भाग्य से आज तारा के अमूल्य जीवन की रक्षा के लिए पिस्तौल तानकर खड़ा रहने वाला कोई वहां न था। ताराबाई की करुण चीख पंडाल में गूंज उठी। चारों ओर भयंकर कोलाहल मच गया। दर्शकों में से एक पुलिस-अफसर ने आकर बाघ को पिस्तौल का निशाना बनाया; लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी।

सर्कस के कर्मचारियों को भुजंगराव के विश्वासघात का पता चल गया। उन्होंने उसे पुलिस को सौंप दिया और तारा की स्मृति में एक सुंदर-सा स्मारक बनवाया, जो आज भी भारत की उस विशिष्ट बेटी की कहानी मूक भाषा में दुनिया को सुना रहा है।

❀ ❀ ❀

मैं देख रहा था कि मेरी नन्हीं भतीजी बड़ी देर से बहुत व्यस्त है; वह आंगन में जाकर हवा में हाथ मारती है और दौड़कर कमरे में जाकर हवा में मुट्ठी खोलती है। आखिर मैंने उससे पूछा कि तू यह क्या कर रही है? बोली—"धूप को पकड़कर कमरे में ला रही हूं।" मैं उसकी उस ताजी, मीठी अबोधता का आनंद लेता रहा और सोचता रहा—यदि कोई चिन्मय परम सत्ता है, तो वह प्रकाश को पकड़ने के मानव-प्रयत्नों को इसी प्रकार विनोद-पूर्वक ही तो देख रही होगी। मैं यह भी सोचता रहा कि बच्ची ने धूप देखी है; मगर मैंने तो अभी प्रकाश नहीं देखा है। अभी तक जो कुछ देखा है, उससे अंधेरे के स्वरूप का मोटा अंदाज-भर मुझे हो पाया है।

मैं समझता हूं—दिल और दिमाग को बंद कर लेना अंधेरा है; सर्वदा 'मैं-मेरा' के परकोटे में ही घिरे रहना अंधेरा है; शुभ में अनास्था और अशुभ का आतंक अंधेरा है; अस्थान में निहित श्रद्धा और सत्य-निरपेक्ष तर्क अंधेरा है; अपने प्रति अतिमृदुता और दूसरों के प्रति अतिकठोरता अंधेरा है; न हंसना और न मुस्कराना अंधेरा है: सुंदर-असुंदर, सुरीला-बेसुरा में अंतर न कर पाना अंधेरा है; उद्यम-अभय-मैत्री-आनंद के चतुर्वर्ग से विमुख होना अंधेरा है; जी लगाकर न जीना अंधेरा है: मुरझाकर मरना अंधेरा है। सोचता हूं, शायद अंधेरे की यह मोटी पहचान मुझे समय आने पर प्रकाश को चीन्हने की शक्ति दे।

—दत्तोपंत (नारायण दत्त)



लू कास्टेलो

दुःख की अचूक दवा

कुछ साल पहले मैं संधिवात से पीड़ित हुआ था। लगातार कई हफ्तों तक 'चैरिटी-शो' करके धर्मार्थ कार्य के लिए कुछ रुपया इकट्ठा कराने के एकदम बाद मैं इस रोग का शिकार हुआ था इसलिए मुझे और भी अधिक दुःख था। मैं रो पडता—"हे भगवान! यह उलटा फल कैसा? मैंने तो कुछ बुरा नहीं किया, फिर मुझे यह दंड क्यों?" बड एबट के साथ सात साल तक बडी मेहनत करने के बाद मुझे अभिनय और मनोरंजन के क्षेत्र में कुछ सफलता मिली थी। लेकिन अब मैं फिर काम के लायक हो सकूंगा या नहीं?

एक दिन सवेरे जब मेरी पत्नी एन नाश्ते के साथ अखबार लायी, तो मेरी नजर अखबार के मुडे हुए पृष्ठ पर पडी। उसमें एक ऐसी लडकी का समाचार था, जिसके केवल छः महीने तक जीवित रहने की आशा थी। लडकी का नाम गोल्डी था और वह अभी बिलकुल बच्ची थी। जिंदगी से वह अभी परिचित भी नहीं हो पायी थी कि मौत ने अपनी काली छाया उस पर डाल दी थी। मैं दिन-भर इस खयाल से काफी दुःखी और उदास रहा। अंत में मुझसे न रहा गया, तो मैंने अपने डाक्टर को फोन करके बच्ची को विश्वविख्यात मेयो क्लिनिक में भरती करवा दिया। सौभाग्य से वहां कुछ महीनों की चिकित्सा के बाद गोल्डी बिलकुल ठीक हो गयी।

किसी ने मुझे गोल्डी की मदद करने के लिए धन्यवाद दिया। उत्तर में मैंने कहा—"मैं स्वयं ही कृतज्ञ हूं कि उसकी मदद करने के लायक शक्ति मुझमें थी।" और इस 'कृतज्ञ' शब्द ने मानो मेरी आंखें खोल दीं। दुःख को मिटाने की यह कितनी अचूक दवा है! हमारे पास क्या-क्या नहीं है, इसके बजाय अगर हम यह देखने का प्रयास करें कि हमारे पास क्या-क्या है, तो हमें अपनी जिंदगी से ज्यादा शिकायत न रह जायेगी।

मेरा एक बहुत बडा सौभाग्य था मेरा बच्चा लू जूनियर। उसे पाकर मैं अपने को खुशकिस्मत समझता था। उसकी वजह से मेरी बीमारी के दिन भी आसानी से कट गये। जब मैं रेडियो पर काम करने लायक हो गया तो एक दिन दोपहर

को रिहर्सल के लिए मुझे रेडियो-स्टेशन जाना पड़ा। जाते वक्त मैंने अपनी पत्नी से कहा कि बच्चे को प्रोग्राम अवश्य सुनाना। देखें, वह मेरी आवाज पहचानता है या नहीं।

रेडियो-स्टेशन पर जब मैं और बड एबट हास्य-अभिनय की रिहर्सल कर रहे थे, तो मेरे घर से फोन आया कि मेरा लडका मर गया। मेरे दुःख और आश्चर्य का ठिकाना न रहा। यह कैसे हो सकता है? वही बच्चा, जो दो घंटे पहले मेरे साथ खेल रहा था, नहाने के हौज में गिरकर मर गया? नहीं, जरूर इसमें कहीं कुछ गल्ती है।

मैं फौरन घर पहुंचा और मेरी पत्नी ने बिलखते हुए मुझे बताया कि बच्चा सचमुच मर चुका है। सदेह की कोई गुंजाइश न थी। मैं सिर पकड़कर वहीं बैठ गया। कुछ भी सोचने-समझने की शक्ति मुझमें नहीं रह गयी थी।

किंतु प्रोग्राम के ठीक समय पर मैं रेडियो-स्टेशन पहुंच गया। इतने बडे दुःख के बाद भी मैं अपना हास्य-अभिनय किस प्रकार कर सका, यह मैं स्वयं नहीं जानता। उस दिन मैंने अपना काम सिर्फ इसलिए नहीं किया कि काम नहीं रुकना चाहिये, बल्कि इसलिए भी कि मेरा लड़का जहां भी हो, वह मेरी आवाज सुन सके।

इस दुःखद घटना के बाद मुझे यह गिनने का अभ्यास नहीं रहा कि हमारे पास क्या-क्या है और हम किस-किस सौभाग्य के अधिकारी हैं। इतने बड़े दुःख के बाद यह सभव भी न था। लेकिन कुछ दिनों के बाद ही मैंने सोचा कि जो-जो बातें मैं अपने लड़के के लिए करना चाहता था, उसकी जरूरत और बच्चों को भी तो हो सकती है। हमारे पास-पड़ोस में ही ऐसे सैकड़ों बच्चे थे, जिनके लिए मैं कुछ कर सकता था। बड एबट के साथ मैंने अपने लड़के के नाम पर एक सस्था स्थापित की, जो जरूरतमंद बच्चों की मदद करती थी। इन अनाथ बच्चों के लिए पुस्तकालय, औषधालय, व्यायामशाला और खेल के मैदान की भी व्यवस्था सस्था ने करवायी।

आज यह सस्था बड़ी सफलता से अपना कार्य कर रही है और इसका एक-एक बच्चा हमें प्यारा है। क्रिसमस के दिनों में उन्हें भेंट देने के लिए हम केवल खिलौने नहीं ले जाते, बल्कि प्रत्येक से पूछते हैं कि उसे कौन-सी वस्तु पसद है और उसे वही चीज देने का प्रयास करते हैं। उन्हें उनकी जरूरत या पसद की चीज देकर मुझे जो आनंद मिलता है, वह मेरा दुःख मिटाने की अचूक दवा है।

मेरे जन्मस्थान में लकडी का बना एक गिरजाघर था, जो बहुत पुराना हो चुका थ और गिरने ही वाला था। वहां का पादरी उसकी जगह ईंट-चूने का पक्का गिरजाघर बनवाना चाहता था। जब उसने मेरे सामने यह प्रस्ताव रखा, तो यथाशक्ति सहायता करने के लिए मैं सहर्ष तैयार हो गया। लेकिन पादरी इससे सतुष्ट न हुआ। उसने कहा—"यदि तुम-जैसे कुछ लोगों के चंदे से मैं नयां गिरजा बनवा लूं, तो इससे सबको कैसे सतोष होगा? मैं चाहता हूं कि यहां का प्रत्येक

आदमी इसमें सक्रिय सहयोग दे। तुम एक 'चैरिटी-शो' की व्यवस्था करो, दूसरे लोग घूम-घूमकर टिकट बेचेंगे। इस प्रकार इस 'शो' में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति गिरजे के नवनिर्माण में हाथ बंटायेगा।" मै तैयार हो गया। 'शो' हुआ और लकड़ी के गिरजे की जगह वहां अब ईंट-चूने का बना गिरजाघर खड़ा है।

मेरी मां एक लंगडे बालक का कई वर्षों तक पालन-पोषण करती रही। उस बालक के माता-पिता मर चुके थे और इतनी बड़ी दुनिया में उनसे स्नेह जताने वाला कोई न था। मेरी मां से उसे अपनी मां का-सा प्यार मिला। जैसे-जैसे हमारी आर्थिक स्थिति सुधरती गयी, हमने उसके विशेष इलाज की भी व्यवस्था की।

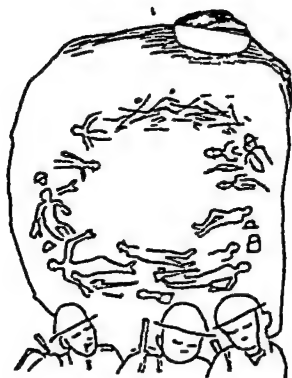
हालिवुड में अपनी फिल्मों के काम में फंसे रहने के कारण कई साल तक मैं उस लड़के को नहीं देख पाया। फिर एक बार जब मैं घर गया, मा मुझे उनके पास ले गयी। मेरी खुशी और आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब वह अपंग लड़का मेरे पास दौडकर आया। उसके पैर बिलकुल ठीक हो चुके थे।

मैं उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसके लिए कुछ भी करने को तैयार हो गया। मोटर, मकान या जो कुछ भी वह चाहता, मैं उसे खरीद देता। लेकिन उसने सिर्फ एक सूट खरीद देने के लिए मुझे कहा। उसे अपने पैरों पर खड़ा कर देने के खयाल से मैंने उसके लिए अखबार बेचने की एक दुकान भी खरीद ली। लेकिन उसने वह दुकान लेने से इन्कार कर दिया। मै भौचक रह गया। दुःख भी कम नहीं हुआ। पर उसने मुझे बताया कि जिस अस्पताल में वह इतने दिनों से रह रहा है, वहीं उसने लिफ्ट चलाने की नौकरी कर ली है।

और आज वह लड़का चिकित्साशास्त्र पढ़कर उसी अस्पताल में डाक्टर है। मेरी खरीदी हुई दुकान लेने से जब उसने इन्कार कर दिया था, तब मुझे कुछ बुरा भी लगा था, लेकिन आज मैं उसके दृढ़ आत्मविश्वास की सराहना करता हूं।

विपत्ति पड़ने पर मनुष्य या तो दुःख से कातर होकर स्वयं अपना और दूसरों का मन खट्टा कर देता है, या अपने दुःख की तुलना दूसरों के दुःख से करके उनके प्रति दया व सहानुभूति से भरकर अपना दुःख भूल जाता है। मैं तो अपने दुःखों के लिए भी परमात्मा का उतना ही कृतज्ञ हूं, जितना कि अपनी अभिनय करने की क्षमता के लिए। जब कभी मैं किसी फिल्म में या टेलिविज़न प्रोग्राम में काम करता हू, तो सोचता हूं—"मेरी तरह और भी तो कई लोग हैं, जिनके मन में किसी-न-किसी बात का दुःख है। अगर मेरे अभिनय ने थोडी देर के लिए भी वे अपना दुःख भुला सके, तो मैं अपने को धन्य समझूंगा।"

के के के



लेफ्टि० जनरल एस. पी. पी. थोरात

वह रक्तरंजित रात

युद्धभूमि में क्या होता है, इसका अंदाज मैं आपको कराना चाहता हूं। इसके लिए मैं कंगाव की लड़ाई का हाल सक्षेप में सुनाऊंगा। यह लड़ाई हमने जनवरी १९४५ मे जापानियों से लडी थी। लार्ड लुई माउंटबैटन उस समय दक्षिण-पूर्वी एशिया कमान के सर्वोच्च सेनापति थे और उन्होंने इसे 'अराकान की सबसे रक्तरंजित लड़ाई' कहा था। निस्सदेह यह रक्तरंजित थी—मैंने जितनी लडाइयो में भाग लिया है, उनमे सर्वाधिक रक्तरजित। इस अकेली लडाई मे ३,००० भारतीय और जापानी मारे गये या घायल हुए।

सन १९४४ के अत में जापानियों ने अपनी सेनाएं दक्षिण बर्मा में समेटनी शुरू कर दी। यह बात हमारे सर्वोच्च सेनापति को गवारा नहीं हुई, क्योंकि वे तो इन सेनाओं को खत्म कर डालना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपनी सेना को शत्रु-अधिकृत इलाके में गहरे घुसकर शत्रु का रास्ता काट देने और उसे अधिक-से-अधिक क्षति पहुंचाने का आदेश दिया।

५१ वीं भारतीय इन्फेंट्री ब्रिगेड के हम लोग इस काम के लिए चुने गये। हमे यह आत्महत्या-जैसा प्रतीत हो रहा था, क्योंकि यह शेर की मांद में घुसकर उसे ललकारने जैसा था। परिस्थितियां हमारे बहुत प्रतिकूल थीं और इसमें बहुत कम सदेह था कि अगर हम अपने उद्देश्य में सफल हो गये, तो भी हममें से बहुत थोडे ही जीवित या सही-सलामत लौट पायेंगे।

फिर भी ५१ वीं ब्रिगेड ने बड़ी ललक के साथ इस चुनौती-भरे काम का बीडा उठाया; क्योंकि उसे अपने नाम की शान रखनी थी। उसे उन दिनों 'द आल इंडियन ब्रिगेड' यानी पूर्णतया भारतीय ब्रिगेड कहा जाता था।

भारतीय सेना के इतिहास में यह पहला ही अवसर था कि इस ब्रिगेड की तीनों बटालियनों का नेतृत्व भारतीय अफसरों के हाथ में था। ८ वीं कुमाऊं के कमांडर थे लेफ्टिनेंट कर्नल तिम्मैया, जो बाद में देश के स्थल-सेनाध्यक्ष बने। १६ वीं

बलूच का नेतृत्व कर रहे थे लेफ्टिनेंट कर्नल सेन। और स्वयं मुझे सौभाग्य प्राप्त था २री पंजाब रेजिमेंट की २री बटालियन के नेतृत्व का। यह बटालियन अब गार्ड्स की पहली बटालियन कहलाती है। हमारे कमांडर ब्रिगेडियर हटन अनुभवी सैनिक थे। उन्हें तिम्मी (तिम्मैया), सेन और मुझ पर पूरा भरोसा था और हमें अपने सैनिकों पर पूरा विश्वास था। हमारे जवान भी जापानियों से पुराना हिसाब चुकता करने को उत्सुक थे।

निदान, जब हमें निचले बर्मा के उत्तर-पश्चिमी छोर पर अक्याब बंदरगाह में जमा होने की आज्ञा मिली, हम लोग उत्साह से रवाना हो गये। राह में हमें मायू पहाड़ी-श्रृंखला में जापानियों की चौकियों का सफाया करना पड़ा। इसमें उनके साथ हमारी कई तेज झड़पें हुईं। मगर हमें विलंब नहीं हुआ और मेरा खयाल है, २५ जनवरी १९४५ को हम अक्याब पहुंच गये। यहां से हमें जलयानों में लादकर माइबान नामक स्थान पर पहुंचाया गया, जो हमारे मुख्य अभियान का स्थायी केंद्र होने वाला था।

२७ जनवरी १९४५ को ८ वीं कुमाऊं ने एक नाके पर, जिसे 'टन्स' कहा जाता था, धावा बोला और कब्जा कर लिया। मगर जापानियों ने तुरंत जवाबी हमला करके उन्हें पीछे हटने के लिए विवश कर दिया। अगले दिन १६ वीं बलूच ने मेलरोस नाम के नाके पर आक्रमण कर दिया। यह एक लंबी तंग पहाड़ी थी और जापानी जिस रास्ते से जा रहे थे, उस पर पड़ती थी। अतः उनके लिए इसका सैनिक महत्त्व था। बलूचों ने इस पहाड़ी के एक हिस्से पर अधिकार कर लिया। मगर उन पर भी जवाबी हमला हुआ और उन्हें भी पीछे हटा दिया गया। उसी रात मुझे आदेश मिला कि सवेरे मेलरोस पर हमला करके उसे सर करो।

१६ वीं बलूच के हमले से हमें पता चल गया था कि शत्रु के पड़ाव कहां तक हैं। इस बहुमूल्य जानकारी से मुझे विश्वास हो गया कि अगर हम चक्कर काटकर पड़ावों के पीछे पहुंच जायें और वहां से उन पर हमला करें, तो हमारे जीतने की संभावना अधिक होगी। योजना में एक ही खराबी यह थी कि इसके लिए हमें २०० गज की खुली और गोलाबारी-युक्त जगह पार करनी पड़ती, तब कहीं हमारी आक्रमण-रेखा आरंभ होती थी।

मैं पसोपेश में था। परंतु पक्ष-विपक्ष में सब बातों को मन में तौलकर मैंने यह सुविचारित खतरा उठाने और पीछे से पहाड़ पर आक्रमण करने का फैसला किया। गोलाबारी की मेरी योजना यह थी कि जमीन पर और समुद्र में स्थित हमारी तोपें गोले दागें और हवाई जहाज भी उड़कर बम गिरायें और गोलियां चलायें।

हमारा आगे बढ़ना शुरू होने की देर थी कि जिस खुली जमीन में से होकर हमें आगे बढ़ना था, उस पर दुश्मन की मशीनगनों ने गोलियों की बौछार

बौछार शुरू कर दी। इसका मुझे पहले से ही अंदाज था और मैंने तोपखाने को आदेश दिया था कि धुएं का गुबार (स्मोक-स्क्रीन) पैदा कर दें। इससे बड़ी मदद मिली। हवा हमारे अनुकूल थी और दुश्मन की मशीन-गनों और हमारी टुकड़ियों के बीच धुएं का खासा घना परदा पैदा हो गया था। इस परदे की ओट में हमने पेट के बल रेंगते हुए मैदान पार कर लिया और बिना विशेष क्षति के हम उस जगह पहुंच गये, जहां हमें हमले के लिए जमा होना था।

मेरी योजना के अनुसार तोपखाना गोलाबारी करता रहा। मगर मौसम की खराबी के कारण वायुसेना आक्रमण में भाग नहीं ले सकी। यह बुरी बात थी। मगर पासा पड़ चुका था और मैंने हवाई मदद के बिना ही धावा बोलने का निश्चय कर लिया। जापानियों की तोपों, मशीन-गनों और बंदूकों ने आग बरसाना आरंभ कर दिया था; मगर हमारे जवान बिना रुके या झिझके थोड़ी-थोड़ी दूर दौड़कर आगे बढ़ते रहे और अंत में पहाड़ी की तलहटी में पहुंच ही गये। यहां उन्हें दुश्मन की चौकियां मिलीं, जिनका थोड़ी देर की तेज भिड़ंत द्वारा सफाया कर दिया गया। मृतकों और घायलों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी; मगर जवानों के खून में जोश लहरें मार रहा था। हमारा आगे बढ़ना जारी रहा।

सौभाग्य से ठीक तभी वायुसेना ने भी हमला शुरू कर दिया और पहाड़ी के मुख्य हिस्से पर बम-वर्षा आरंभ कर दी। हमें मनचाहा मौका मिल गया। हम दौड़कर आगे धंसते रहे, यहां तक कि हमें दुश्मन दिखाई देने लगे, जो हम पर कहर बरपा कर रहे थे। लोग मक्खियों की तरह मरकर गिर रहे थे। हमारा धावा शिथिल पड़ने लगा, मेरे दिल की धड़कन मानो रुक गयी। स्थिति बड़ी गंभीर थी; क्योंकि यदि हमारी टुकड़ियां लड़खड़ा जातीं, तो आक्रमण निश्चय ही विफल हो जाता।

तभी अचानक सिक्खों और डोगरों के युद्धघोषों से आकाश गूंज उठा—सत श्री अकाल!......माताजी की जय!......बिजली का-सा असर हुआ इसका। मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा। पासा पलट गया और लड़ाई के शोर-शराबे को चीरती हुई पल्टन-कमांडरों की आवाजें सुनाई दे रही थीं—"चार्ज!" और जवान चिल्ला रहे थे—"चार्ज!......चार्ज!" हमले की लड़खड़ाती चाल संभल गयी।

उसके बाद जो हुआ, उसे पहाड़ी पर अंधाधुंध दौड़ ही कहना चाहिये। कई जगह चढ़ाई इतनी सीधी थी कि हम हाथ-पांव टेककर चौपायों की तरह ही आगे बढ़ सकते थे; मगर हम आगे धंसते ही चले गये और शत्रु की खंदकों पर पहुंचकर ही दम लिया। फिर हमारे जवान खून के प्यासे हो उठे और चीखते-चिल्लाते हुए टूट पड़े अपने शत्रुओं पर।

मगर जापानी कायर नहीं थे। हमारे धावे का उन्होंने भी उतनी ही उग्रता से मुकाबला किया। पाइंट ब्लैंक रेंज से गोलियां दागी गयीं; छुरियां और किरचें घोंपी

गयीं, बंदूक के कुंदे से खोपड़िया फोड़ी गयीं। बस घायलों की आहें सुनाई देती थीं, या मरते हुओं की कराहें। ऐसी भीषण लड़ाई मैंने जीवन में दूसरी नहीं देखी, जैसी उस पहाड़ी की चोटी पर लड़ी गयी थी। न किसी ने रियायत मांगी, न किसी ने लिहाज किया।

वीर जापानी वीरता से लड़े और लड़ाई का पलड़ा कभी इस ओर झुकता, तो कभी उस ओर; कभी हमारा, तो कभी उनका। जवान जानते थे कि अगर जरा भी चूके तो गये। झल्लाते हुए बाघों की तरह वे शत्रु की खंदकों में कूद पड़े। जापानी गजब की शान से लड़े, मगर हमारे धावे की उग्रता से वे लड़खड़ा गये और पीछे हटने लगे। विजय की आशा में उन्मत्त हमारे जवानों ने उन्हें खाइयों से भगा दिया। विजेताओं के उन्मुक्त कंठों से निकले युद्धघोषों से आकाश शीघ्र ही गूंज उठा। मिनिट-भर में वायरलेस से संदेश रवाना हो गया कि २/२ पंजाब ने अपना लक्ष्य सर कर लिया है।

बेशक लक्ष्य हमने सर कर लिया था, मगर हम अच्छी तरह जानते थे कि शीघ्र ही हम पर जवाबी हमला होगा। इसलिए हम जी-जान से जुट गये खंदकें खोदने में, क्योंकि खंदकों से ही हमारा बचाव संभव था। निरीक्षण के लिए घूमते हुए मैंने एक जवान को सिर्फ एक हाथ से खुदाई करते देखा। मैंने उसे गाली दी और कहा कि दोनों हाथ क्यों नहीं इस्तेमाल करता?

उस लड़के ने कहा कुछ भी नहीं, सिर्फ दूसरी बांह ऊंची कर दी। देखकर मेरा दिल भर आया। मैंने देखा कि हथगोले ने उसके हाथ को चकनाचूर कर डाला था। "जाओ, तुरत मरहम-पट्टी कराओ।" मैंने कहा। वह मुस्कराते हुए बोला—"हां सर! मगर अपने हिस्से की जितनी ड्यूटी कर सकूं, उतनी तो मुझे कर लेने दीजिये सर!" मैंने उसकी क्षत-विक्षत बांह देखी, उसके किशोर मुखड़े को देखा, जो विजयोल्लास से दमक रहा था—और मैं आगे बढ़ गया।

युद्धभूमि मुर्दों से पटी पड़ी थी; मगर उनका शोक करने के लिए समय कहां था! तुरंत आवश्यक यह था कि विक्षत टुकड़ियों को पुनः संगठित किया जाये, चुक गये शस्त्रास्त्रों की भरपाई की जाये, और सुनिश्चित रक्षा-व्यवस्था की जाये।

अपनी क्षति का हिसाब लगाने का मुझे अभी अवसर नहीं मिल पाया था, मगर मैं जानता था कि भारी क्षति हुई है। मायूसी की लहर मुझे दबोचने की कोशिश कर रही थी और मैं उससे जूझ रहा था; क्योंकि बहुत-सा काम करना था। अफसर और जवान थकान से चूर-चूर हो गये थे। मगर न मैं उन्हें जरा भी आराम करते देख सकता था, और न मृत साथियों के बारे में सोचने दे सकता था। जो जाने वाले जा चुके थे, और अगर रक्षा की व्यवस्था तुरंत नहीं की जाती, तो बचे हुओं को भी उसी राह जाना पड़ता। युद्ध की निष्ठुरता ने मैं अफसरों और जवानों

को हांकता रहा, गुलामों की तरह उनसे काम कराता रहा, ताकि दुश्मन का जवाबी हमला होने से पहले हमारी स्थिति काफी सुदृढ़ हो जाये।

और जवाबी हमला हुआ। उससे पहले ऐसी जोरदार गोलाबारी हुई, जैसी मैंने कभी नहीं देखी थी, और उसी की आड़ में बड़ा दृढ़तापूर्ण आक्रमण हुआ। जापानी जानते थे कि यदि वे हमें उस पहाड़ी पर से खदेड डालें, तो ही उनकी खैरियत है; क्योंकि पहाडी उनके रास्ते के नाके पर थी। लहर-दर-लहर वे हम पर धावा बोलते रहे। हम प्राणों का मोह छोडकर उनसे लड़ते रहे।

मैंने आदेश जारी कर दिया था कि जब तक एक भी आदमी और एक भी गोली बाकी रहे, लडाई जारी रखनी है। और चारा ही क्या था! पहाड़ी को जीत लेने के बाद अब मैं हर तरह से उसे अपने कब्जे में रखने को कृतसकल्प था। और क्या शानदार उत्तर दिया हमारे अफसरों और जवानों ने! कर्तव्य के प्रति उनकी अंधभक्ति और साहस के बल-बूते पर ही हम जापानियों को पीछे खदेड़ पाये। इस हमले के बाद, छः-सात हमले और हुए। मगर हम यमराज की तरह चिपके रहे और सारी रात लडते रहे।

उषा की धूमिल रोशनी ने देखा कि पलकों पर नींद लिये, भूखे व प्यासे २/२ पंजाब रेजिमेंट के अफसर और जवान उकड़ूं बैठे हुए हैं, किसी भी चुनौती का सामना करने को तैयार! हर एक के हृदय की अतल गहराई में मंद-मंद टीस उट रही थी अपने मृत साथियों के लिए। मगर हर एक के मुखड़े पर दमक रहा था—कृतकार्यता का भाव, अभी बहुत कुछ कर सकने का विश्वास!

ॐ ॐ ॐ

जीवन ताश के खेल की तरह है। हमने खेल का आविष्कार नहीं किया है और न ताश के पत्तों के नमूने ही हमने बनाये हैं। हमने इस खेल के नियम भी खुद नहीं बनाये और न हम ताश के पत्तों के बंटवारे पर ही नियंत्रण रख सकते हैं। पत्ते हमें बांट दिये जाते हैं; चाहे वे अच्छे हों या बुरे। इस सीमा तक नियतिवाद का शासन है। परंतु हम खेल को बढ़िया ढंग से या खराब ढंग से खेल सकते हैं। हो सकता है कि किसी कुशल खिलाड़ी के पास बहुत खराब पत्ते आये हों और फिर भी वह खेल में जीत जाये। यह भी संभव है कि किसी खराब खिलाड़ी के पास अच्छे पत्ते आये हों और फिर भी वह खेल का नाश करके रख दे। हमारा जीवन परवशता और स्वतंत्रता, दैवयोग और चुनाव का मिश्रण है।

—डा० राधाकृष्णन्

परमानंद



क्रांति का घायल सिपाही

पेनांग की घटना है। नवंबर १९१४ के अंतिम दिन होंगे। अमरीका से गदर पार्टी के बहुत-से लोगों को क्रांति के उद्देश्य से पंजाब भेजा जा चुका था। मैं गदर पार्टी के अंतिम दल के साथ 'तोसा मारू' जहाज से स्वदेश लौट रहा था। उस दल में गदर पार्टी के पदाधिकारी और प्रमुख कार्यकर्ता शामिल थे। हमने अपना कार्य हांगकांग व शंघाई से ही शुरू कर दिया था। इस कारण हम पर तिरछी नजर थी।

कलकत्ता के पास बजबज में बाबा गुरदित सिंह के 'कोमागाता मारू' जहाज के साथ कुछ ही दिन पहले गोलीकांड हुआ था। इसलिए हमें भी दुर्घटना की आशंका बनी हुई थी और वह सही भी निकली। हमारा जहाज पेनांग में रोक लिया गया और उस पर कड़ा पहरा लग गया। हमने सोचा कि जो कुछ पंजाब पहुंचकर करना है, वह यहां से ही क्यों न शुरू कर दिया जाये? यदि इस ढंग से गिरफ्तार कर लिये गये, तो आगे की सारी योजना यों ही रह जायेगी।

रविवार को हम सब गुरुद्वारे गये। वहां कुछ भाषण हुए। कुछ लोगों से परिचय भी हुआ। गुरुद्वारे में ज्यादातर फौजी सिक्ख आते थे। दूसरे दिन जहाज पर यह योजना बनायी गयी कि यहां की फौजी छावनी का ठीक-ठीक भेद लिया जाये और देखा जाये कि क्या किया जा सकता है। मुझे और मेरे साथी सरदार रोडासिंह को यह काम सौंपा गया। हम दोनों पहरेदारों की आंख बचाते हुए किसी तरह किले के घेरे में पहुंच गये। आगे बढ़ने के बारे में अभी हम सोच ही रहे थे कि अंदर से एक नौजवान अफसर निकला और उसने मेरा नाम लेकर आवाज दी। मैं हक्का-बक्का रह गया।

वह नौजवान अफसर और आगे बढ़ा और उसने मेरे कंधे पर हाथ रखकर अपना परिचय दिया।

वह कलकत्ता से अमरीका जाने के लिए मेरे साथ एक ही जहाज पर सवार

हुआ था। वह मेरा हाथ पकड़कर किले के भीतर अपने दफ्तर में ले गया। बिना किसी भूमिका के उसने कहा—"कहिये, क्या योजना है? क्या कुछ साथी आपके साथ हैं?" यह कहते-कहते उसने चाबियों का एक गुच्छा मेरे हाथ में रख दिया। फिर उसने बताया कि दस हजार फौजियों के लिए एक वर्ष की सैन्य-सामग्री इस किले में जमा है। कुछ करना हो, तो इससे काम लिया जा सकता है।

उसका नाम सरदार इंद्रसिंह था। जैसे ही उसने चाबिया मेरे हाथ में रखीं, मेरी प्रसन्नता का वारापार न रहा। मेरे क्रांतिकारी जीवन की वह सबसे बड़ी सफलता थी। मुझे ऐसा लगा, जैसे कि सारा किला ही मेरे हाथ में आ गया हो। परतु मुझे इस बात का भी पूरा भान था कि हम जहाज पर सवार मुट्ठी-भर साथी वहां कुछ अधिक काम नहीं कर सकेंगे। इसलिए मैंने सरदार इंद्रसिंह से कहा—"अभी तो हमें इस घेरे से निकलकर स्वदेश पहुंचने का रास्ता बताओ। अपना काम लाहौर पहुंचने के बाद ही शुरू करना बेहतर होगा।"

उसने बड़े सरल भाव से उत्तर दिया—"यहां का गवर्नर बड़ा कमजोर है। उसे जाकर किसी तरह घेर लो और डरा-धमकाकर उससे कह दो कि यदि हमें हिन्दुस्तान नहीं जाने दिया गया, तो हम यहीं बगावत का झंडा फहरा देंगे।"

वहां से लौटकर गवर्नर के यहां जाने की योजना बनायी गयी। हममें से कुछ लोग बाजार जाने के बहाने उसके बंगले पर जा पहुंचे। बातचीत चल ही रही थी कि हमारे एक साथी ने रिवाल्वर निकालकर कुछ गर्मी दिखायी कि गवर्नर एकदम ढीला पड़ गया। उसने कहा—"जर्मनी के 'एमडन' जहाज के कारण आगे का रास्ता सुरक्षित न होने से तुम्हारे जहाज को यहां रोका गया है। यदि तुम लोग जोखिम उठाकर भी आगे जाना चाहते हो, तो जा सकते हो।" साथ ही उसने रास्ते के लिए हमारे राशन आदि का भी इंतजाम कर दिया।

इस आशातीत सफलता को अपने लिए शुभ मानकर हमने पेनाग से स्वदेश के लिए प्रस्थान किया।

पेनांग से रगून होते हुए कलकत्ता में खिदरपुर बंदरगाह पहुंचकर जहाज से उतरना भी मामूली समस्या न थी। जहाज किनारे पर लगा, तो सामने बिलकुल वही दृश्य उपस्थित था, जो 'कोमागाता मारू' के साथ घटा था। हम सबको गिरफ्तार करके जेलों में पहुंचाने के लिए फौज के सिपाही और स्पेशल गाड़ी मौजूद थी। मेरे पास जापान के जर्मन दूतावास से प्राप्त किये गये भारत के वे जंगी नक्शे थे, जिनके आधार पर यहां देशव्यापी क्रांति की योजना बनायी जाने वाली थी। मैंने तुरंत कुलियों का वेश पहन लिया। अपने कुछ कपडे, नक्शे और जूते एक बाल्टी में रखकर उसे हाथ में लटकाये एकाएक उन कुलियों में शामिल हो गया, जो रगून से जहाज पर सवार किये गये थे। मैं चुपके से उन्हीं के साथ नीचे उतर

गया। बाकी साथी गिरफ्तार करके स्पेशल ट्रेन से लाहौर व मुलतान आदि पहुंचाकर वहा की जेलों में बंद कर दिये गये।

मेरे सक्रिय क्रांतिकारी जीवन की यह मुहूर्त-वेला थी। मुझमें क्रांति की यह भावना कब व कैसे पैदा हुई और क्यों मैंने अपने जीवन को उसमें लगा दिया, इन प्रश्नों का उत्तर थोड़े में नहीं दिया जा सकता। मेरे दादा १८५७ की महान क्रांति में शहीद हुए थे। चरखारी राज्य ने अंग्रेजों का साथ दिया था, और मेरे दादा ने चरखारी को लूटने में नेतृत्व किया था। उन्हें २० वर्ष की सजा हुई और जेल में छः वर्ष के बाद उनका देहांत हो गया। इसी प्रकार स्वेच्छा और [illegible] के आपसी संघर्ष में मेरे पिताजी को भी जेल की सजा हुई थी और मेरे जन्म के एक ही वर्ष पहले वे रिहा हुए थे। मेरी मा मुझे गोद में लेकर जो लोरिया सुनाया करती थीं, उन्होंने भी मेरे जीवन-निर्माण में बड़ा योग दिया।

कुछ पढ़-लिख जाने के बाद बड़े भाई ने मुझे लोकमान्य तिलक के 'केसरी' पत्र का श्री माधवराव सप्रे द्वारा संपादित हिन्दी संस्करण दिखाना और पढ़ाना शुरू कर दिया। उसके लेख व कवित्त आग बरसाया करते थे। हमारे गाव के ठाकुर मनराखनसिंह महाभारत सुनने के बड़े शौकीन थे। मुझे बुलाकर वे सबलसिंह चौहान की दोहे-चौपाई में लिखी हुई महाभारत सुनाया करते थे। उनका मुझ पर गहरा असर पड़ा और गीता का आत्मा की अमरता का पाठ मेरे मन में बस गया।

मेरे जन्म से कुछ ही दिन पहले मा के साथ एक दुर्घटना घटी थी। मा छज्जे पर भाभी के साथ बैठी खाना बना रही थीं। छज्जा टूट गया। वे नीचे गिरीं और मलबे में दब गयीं। बेहोशी की हालत में उन्हें बाहर निकाला गया। उनकी तीन दिन की बेहोशी के बाद मैं पैदा हुआ। वे भी ठीक हो गयीं। इससे बचपन में ही मैंने यह कहना शुरू कर दिया था कि मौत मुझे नहीं खा सकती।

बड़े भाई के साथ मैं इलाहाबाद आया और कायस्थ पाठशाला में भर्ती हो गया। १९०७ की घटना है। पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय मांडले की नजरबन्दी से लौटे थे। इलाहाबाद में उनके स्वागत का विराट् आयोजन किया गया। उनका व्याख्यान सुनकर मैं कुछ विद्यार्थी साथियों के साथ लौट रहा था। हम गवर्नर की कोठी के सामने पहुंचे। गवर्नर बगीचे में सेक्रेटरी के साथ खड़े कुछ बातचीत कर रहे थे। उन्हें देखकर मैं बोल उठा—"यू आर सन्स आफ सिन्स" (तुम पाप के बच्चे हो)। सेक्रेटरी ने सुन लिया और मुझे पकड़ना चाहा। विद्यार्थियों ने हमें घेर लिया और गिरफ्तारी से बचा लिया।

दूसरे दिन सवेरे ही पाठशाला में इस घटना की चर्चा शुरू हो गयी और तीसरे दिन मुझे पाठशाला से निकाल दिया गया। पंडित सुन्दरलाल जी उन्हीं दिनों म्योर कालेज से एल-एल. बी. की अन्तिम कक्षा में [illegible] रहे थे।

इलाहाबाद से उन दिनों श्री शांतिस्वरूप भटनागर ने सरकारी नौकरी छोड़कर और अपनी पत्नी के सारे गहने बेचकर १८५७ की अर्ध-शताब्दी के उपलक्ष्य में 'स्वराज्य' नाम का एक उर्दू साप्ताहिक निकाला था। पं० सुंदरलालजी हिन्दी में 'कर्मयोगी' निकाला करते थे। मैं दोनों पत्र बड़े चाव से पढ़ा करता था। एक दिन भटनागरजी के दफ्तर में एक साथी के साथ पहुंचा। मैंने उनसे कहा कि हमें भी देशसेवा का कोई काम बताइये। उन्होंने एक कमरे मे रखी चक्की दिखायी और बोले-"रोज आकर यहां चक्की पीसा करो और १० सेर तक हर रोज पीसने का अभ्यास करो। बस, देशसेवा का यही पहला पाठ है। दो मास तक चक्की चलाकर उसमें पास हो जाओगे, तो दूसरा पाठ सिखाया जायेगा।"

दूसरा पाठ यह था कि हाथ में घंटी लेकर बाजार में जाकर 'लो स्वराज्य' के नारे लगाकर अखबार बेचो। सभवतः सारे हिन्दुस्तान में 'स्वराज्य' ही ऐसा पत्र था, जिसके नौ सपादकों को एक के बाद एक गिरफ्तार किया गया। उनमें से कई को कालेपानी की सजा दी गयी।

कायस्थ पाठशाला में पढ़ते हुए एक बार बम बनाने की भी सूझी। लेकिन बीच में ही विस्फोट हो गया। सारा हाथ झुलस गया, चेहरे पर भी कुछ असर हुआ। डर के मारे मैं हाथ पर कपड़ा लपेटकर पं० सुंदरलालजी के पास पहुंचा। उन्होंने अपने पास रखकर मेरा उपचार किया।

इलाहाबाद से बनारस जाकर श्री केशवदेवजी शास्त्री, श्री रामनारायण मिश्र, बाबू शिवप्रसाद गुप्त और पंडित बालकृष्ण भट्ट आदि के सपर्क में आया। बाबू शिवप्रसादजी की प्रेरणा, प्रोत्साहन और सहायता से ही मुझे अमरीका जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। वे स्वयं मुझे कलकत्ता ले जाकर जहाज पर बैठाकर आये थे।

* * *

तो पेनांग से कलकत्ता और कलकत्ता से लाहौर पहुंचकर मैं साथियों के साथ छावनियों में क्राति की तैयारी में लग गया। पेनांग की सफलता के कारण हमने यह समझ लिया था कि भारत में भी क्राति की भूमिका बन चुकी है-केवल कुछ प्रयत्न करने की आवश्यकता है। श्री शचींद्र सान्याल को कलकत्ता भेजकर श्री रासबिहारी बोस को लाहौर बुला लिया गया। कपूरथला के महारानी मंदिर में श्री रासबिहारी बोस, सरदार करतारसिंह सराबा, श्री विष्णु गणेश पिंगळे, श्री शचींद्र सान्याल और मैंने बैठकर जापान के जर्मन दूतावास से प्राप्त किये गये जंगी नक्शों को सामने रखकर क्रांति की सारी योजना तैयार की। २१ फरवरी १९१५ को देशव्यापी क्रांति का श्रीगणेश करने का निश्चय किया गया। पर भेद खुल जाने के कारण जहां-तहां गिरफ्तारियां शुरू हो गयीं।

लाहौर सेंट्रल जेल के ११ नंबर अहाते में ६३ प्रमुख क्रातिकारियों पर षड्यंत्र

करने का मुकदमा चला। मेरे सहित २७ को फांसी की सजा हुई। सजा सुनाये जाने के बाद मुझे हंसते देखकर सरकारी वकील पिटमैन ने ट्रिब्यूनल के प्रेसिडेंट मि० ए. आर्विन से कहा था—"सी मिलार्ड, ही इज लाफिंग एट हिज डैथ!" (देखिये साहब, यह अपनी ही मृत्यु पर हंस रहा है!)

इसके बाद हममें से सात को तो फांसी पर लटका दिया गया और मेरे समेत बीस की सजाएं कालेपानी में बदल दी गयीं।

वहां पहुंचते ही जेल के डिप्टी सुपरिंटेंडेंट मि० बैरे के साथ मेरी जो गुत्थमगुत्था हुई, उससे सारी जेल में सनसनी फैल गयी। वह वहां तीन वर्ष से था और अपने को जेल का खुदा मानता था। मुझे दफ्तर में बुलाकर उसने कुछ भला-बुरा कहा कि मैंने उसकी कुर्सी की टांग पकड़कर उलट दी और छाती पर सवार हो उसकी गर्दन दबोच ली, मुंह पर चपत जमाये और पेट पर घूंसों से वार किये। मुझे इस पर २० बेंत लगाये गये और एक साल के लिए १० सेर की बेड़ियां पहनाकर कालकोठरी में बंद कर दिया गया। इससे इतना लाभ अवश्य हुआ कि उस दिन से मुझ-सरीखे कैदियों से चक्की पिसवाना और कोल्हू चलवाना बंद कर दिया गया।

मैंने २३ वर्ष कालेपानी की सजा में काटे, जबकि सामान्य रूप से १३-१४ वर्ष के बाद छोड़ दिया जाता था। १९३७ में इस सजा के बाद जेल से छूटने पर आठ वर्ष और जेलों में काटने पड़े। सत्तर वर्ष की आयु में से ३१-३२ वर्ष जेलों में बिताने के बाद भी देश के भविष्य में मेरा विश्वास वैसा ही बना हुआ है। मैं यह अनुभव करता हूं कि देश के भाग्य में अभी एक और क्रांति से गुजरना लिखा है। उसके बिना आज के प्रजातन्त्र का रूप निखर ही नहीं सकता। २३ वर्ष बाद जब मैं लाहौर जेल से छूटा था और ब्रैडला हाल में मुझे अभिनंदन-पत्र देने का आयोजन किया गया था, तब मैंने यह कहते हुए उसे लेने से इन्कार कर दिया था कि मैं एक घायल व पराजित सिपाही के रूप में, अंग्रेजों की कृपा के फलस्वरूप जेल से छोड़ा गया हूं। यदि विजयी सिपाही की तरह स्वतंत्रता प्राप्त करके आया होता, तो आप द्वारा किया गया मेरा यह सम्मान और अभिनंदन कुछ सार्थक होता।

दूसरे दिन गांधीजी ने वर्धा में आश्रम की प्रार्थना में कहा था—"मुझे परमानंद के रूप में मेरा पहला भाई मिला है, जिसने अपने को घायल व पराजित सिपाही मानकर अभिनंदन-पत्र लेने से इन्कार कर दिया है। देश को ऐसे ही सिपाही चाहिये।"

और आज भी मैं अपने को वैसा ही घायल सिपाही मानता हूं, क्योंकि हम स्वतन्त्र देश को अभी तक अपने सपनों का भारत नहीं बना सके हैं।



वर्नान पाइज़र

ग्लेन कनिंग्हम

साल १९१६, मौसम सर्दी का। सात वर्ष का बालक ग्लेन और उसका भाई फ्लायड रोज की तरह उस दिन भी सबसे पहले स्कूल पहुंचे और कक्षा की दीवार-अंगीठी सुलगाने लगे। लकड़िया तेजी से आग पकड़ें, इसके लिए उन्होंने पास ही पडे कनस्तर में से मिट्टी का तेल अगारो पर उड़ेलना चाहा। मगर वे नहीं जानते थे कि कनस्तर में पेट्रोल भरा है। ज्यों ही वे उसे आग के पास ले गये, कनस्तर फट पड़ा और स्कूल में आग लग गयी। जैसे-तैसे दोनो घायल बालक घर पहुंचे।

एक घंटे तक बच्चों के घावों के साथ जूझने के बाद डाक्टर ने माता-पिता से साफ कह दिया—"फ्लायड के बचने की कोई उम्मीद नहीं। ग्लेन जी जायेगा; मगर शायद जिंदगी-भर चल-फिर न सके।" इसके कुछ ही घटे बाद माता-पिता को फ्लायड की अंत्यक्रिया संपन्न करनी पड़ी।

ग्लेन की टागें बुरी तरह जल गयी थीं। डाक्टर को अदेशा हुआ कि शायद टांगें काट ही डालनी पड़ेंगी। फिर भी बच्चे को ढाडस बंधाने के लिए उसने कहा—"ज्यों ही बर्फ जरा कम होगी, तुम्हें बाहर धूप में कुर्सी पर बैठाया करेंगे।" ग्लेन का जवाब था—"नहीं, मुझे कुर्सी पर नहीं बैठना है। मैं तो चलूंगा और दौडूंगा।"

घाव के भरने में महीनों लग गये और उसके बाद भी पिंडलियों एवं नसों में चेतना नहीं लौटी। उनकी आकृति भी बहुत बेडौल हो गयी थी। मगर बालक ग्लेन को पूरा विश्वास था कि वह जरूर चलने-फिरने लगेगा। उसकी बुद्धिमान माता इस बात को समझती थी कि बेटे की यह सकल्प-शक्ति दुनिया के सबसे कीमती हीरे से भी ज्यादा कीमती है। वह रोज घंटों उसकी टागों की मालिश किया करती। जब मां थक जाती, तो बेटा झुककर स्वयं मालिश करने लगता और तब तक करता रहता, जब तक उसकी नन्ही उंगलियां दुखने न लग जातीं।

दुर्घटना के चार महीने बाद ग्लेन को चलते देखकर डाक्टर स्तब्ध रह गया। चाल उसकी जरूर बेढब थी, मगर वह बिना किसी सहारे के चल रहा था। उसने

डाक्टर से कहा–"देखना डाक्टर, मैं दौडने लगूंगा।" धीरे-धीरे वह सचमुच दौडने लगा और क्रमेण उसकी चाल ठीक होती गयी।

जब ग्लेन बारह साल का था, तो एक दिन गाव की एक दुकान के शो-केस में रखे चमचमाते हुए तमगों पर उसकी नजर पड़ी। पास रखी तख्ती पर लिखा था कि अगले दिन स्कूल में होने वाली खेल-प्रतियोगिता के विजेताओं को ये तमगे मिलेंगे। ग्लेन ने दौड़-प्रतियोगिता में भाग लेने का निश्चय कर लिया। प्रतियोगिता हुई और परिणाम घोषित हुआ–"पहला नबर ग्लेन कनिंग्हम का।"

अब ग्लेन हाईस्कूल में था। उसने शारीरिक दुर्भाग्य पर ही विजय नहीं पा ली थी, बल्कि स्वानुभव से जीवन की एक बडी गहरी सचाई को भी पा लिया था। और वह सत्य यह था कि सहारा, प्रोत्साहन एवं अवसर दिया जाये, तो बच्चे बडे-से-बडे विघ्नों को जीत सकते हैं। ग्लेन ने इस सत्य का दर्शन दूसरे बच्चों को भी कराने का सकल्प कर लिया था।

माता-पिता कालेज का खर्चा देने में समर्थ नहीं थे; इसलिए ग्लेन को खुद ही इंतजाम करना था। फुरसत के घंटों और छुट्टी के दिनों में नौकरी करके वह पैसे जुटाता, और जो कुछ कमाता, उसमें से ९९ प्रतिशत बैंक में जमा करा देता। मगर जब १९२९ में मंदी छा गयी, तो ग्लेन ने निःसकोच सारा पैसा बैंक से निकालकर उन्हीं किसानों को कर्ज में दे दिया, जिनके यहां मजदूरी करके उसने यह पैसा जुटाया था; और स्वयं मेहनत व मितव्यय के बल पर कालेज की पढ़ाई जारी रखी।

सिर्फ पढ़ाई नहीं, क्रीडा-साधना भी जारी रही। सन १९३२ में ग्लेन ने अमरीका की ओर से लास एंजल्स की ओलिंपिक में दौड-प्रतिस्पर्धा में भाग लिया। वे चौथे स्थान पर आये। अगले साल उन्हें सर्वश्रेष्ठ गैरपेशेवर खिलाडी के रूप मे सुप्रसिद्ध 'सलीवन क्रीडा-सेवा पुरस्कार' मिला।

वे १९३४ में बी. ए. और १९३६ में एम. ए. पास हुए। फिर शिक्षा-शास्त्र में पी-एच. डी. के लिए पढ़ना शुरू किया। उसी साल वे बर्लिन में हुई ओलिंपिक की दौड-प्रतियोगिता में शरीक हुए। इस बार दूसरे नंबर पर तो आये ही, १९३२ का कीर्तिमान भी उन्होंने तोड़ दिया। दो साल बाद सन १९३८ में उन्होंने ४ मिनिट ४·४ सेकेंड में एक मील की दौड लगाकर 'इन्डोर' दौड का अपने समय का नया कीर्तिमान स्थापित किया। कल्पना कीजिये, यह वही व्यक्ति था, जिसके चल-फिर सकने में भी डाक्टरों को शक था।

पी-एच. डी. की उपाधि भी उसी साल मिल गयी और उन्हें अयोवा के कार्नेल कालेज ने अपने यहा शारीरिक शिक्षण का निदेशक नियुक्त किया। यहां उन्होंने खेलों व व्यायाम की जो योजना तैयार की, उसे अनेक शिक्षणालयों ने अपनाया।

इस बीच अमरीका मंदी के चंगुल से निकल चुका था और जिन किसानों को

ग्लेन ने कर्ज दिया था, उनमें से प्रत्येक ने पाई-पाई चुकता कर दी थी। ग्लेन ने यह सारा पैसा लाभप्रद शेयरों तथा जायदाद में लगा दिया। अपने और पत्नी रुथ के गुजारे के लिए कालेज का वेतन था ही। रुथ से परिचय कार्नेल में ही हुआ था।

द्वितीय विश्वयुद्ध मे नौसेना में काम करके १९४७ मे ग्लेन कनिंग्हम सेवामुक्त हुए। चाहते तो वे कार्नेल कालेज की नौकरी में निश्चिंतता और आराम से जिंदगी काट सकते थे। किंतु उन्हें तो विपन्न और भाग्यहीन बच्चों व किशोरों के लिए कुछ करना था। पत्नी रुथ भी पति की इस आदर्शवादी आकांक्षा में हिस्सेदार थी।

शेयर और जायदाद अब काम आये। कनिंग्हम-दंपति कन्सास राज्य में अपनी ८४० एकड में फैली जायदाद पर आकर बस गये, जो उन्होंने कुछ साल पहले खरीदी थी। ग्लेन सारे देश में घूम-घूमकर स्कूल-कालेजों, क्लबों और गिरजों में बालकों एवं किशोरों की समस्याएं, नैतिक मूल्य आदि विषयों पर भावपूर्ण भाषण देने लगे।

ऐसा ही भाषण समाप्त करके वे एक गिरजे के मंच से उतरे ही थे कि वहां के पादरी ने उन्हें अलग ले जाकर एक बालक को आगे करते हुए कहा—"बिली अपने मां-बाप का छठा और अनचाहा बच्चा है। माता-पिता को इसमें कुछ भी दिलचस्पी नहीं है। खाने-कपडे की भी तंगी है। बच्चा भीतर से बुरी तरह घुट रहा है और सबसे अलग-थलग रहता है। आप कुछ कर सकेंगे क्या इसके लिए?"

"हां, क्यों नहीं।"....और उस रात ग्लेन जब अपने घर लौटे, तो बिली उनके साथ था। बच्चे से जुदा होते समय निर्मोही मां-बाप ने उसे कपड़ा-लत्ता तो क्या, आशीर्वाद तक नहीं दिया था। ग्लेन ने उसके लिए नये कपड़े बनवाये और एक दिन उसे अपनी घुड़साल में ले जाकर कहा—"देखो बिली, इन घोड़ों में से जो भी तुम्हें पसंद हो, उसे चुन लो। घोडा तुम्हारा होगा और सच मानो, तुमसे बिना पूछे कोई उसके हाथ भी नहीं लगायेगा। मगर उसकी देखभाल, चारे-पानी की व्यवस्था आदि सबकी जिम्मेदारी तुम्हीं पर होगी।......ठीक है?"

घोड़ा गजब की दवा सिद्ध हुआ। मनुष्य के तिरस्कार ने बिली के मन में जो बीमारी भर दी थी, पशु के प्रेम ने दूर कर दी। आज बिली एक चुस्त पशु-पालक है।

और बिली तो मानो पौधे का पहला फूल था। इसके बाद एक-पर-एक फूल खिलता गया। आखिर समाज में ऐसे बच्चों की क्या कमी! प्रायः हर बार भाषण देकर लौटते समय ग्लेन के साथ कोई बिली या पीट होता, कोई पेगी या सूसन होती।

सन १९४७ से लेकर अब तक न्यायालयों, गिरजों और समाज-सेवकों ने ८,००० से ज्यादा बच्चे कनिंग्हम-दंपति के पास भेजे हैं। कई बच्चे महीनों तक, तो दूसरे बरसों तक उनके पास रहे हैं। उन्होंने कभी किसी से फीस नहीं ली। बच्चा आता है और घर का सदस्य बन जाता है। कनिंग्हम-दपति उसे भोजन और वस्त्र ही नहीं, प्यार और प्रोत्साहन भी देते हैं, जीवन में उसे उद्देश्य और उत्साह देते हैं।

परतु ग्लेन और रुथ बच्चों पर कोरा दुलार नहीं बरसाते। बच्चों को वे कर्तव्य और दायित्व भी सौंपते हैं। सबको स्कूल जाना ही पडता है और परिश्रमपूर्वक पढ़ना पड़ता है। घर, खेत और पशु-बाडे आदि में सबको काम-धाम भी करना पड़ता है। बच्चों की जन्मजात क्षमताओं और सीमाओं को पहचानने में ग्लेन बहुत दक्ष हैं। वे यह माग नहीं करते कि हर लडका या लड़की कक्षा में प्रथम आये। लेकिन हर बच्चे में वे ज्ञानवर्धन के प्रति आसक्ति पैदा कर देते हैं।

और ऐसी भी बात नहीं कि दूसरों के बच्चों की देखभाल करने में ग्लेन और रुथ कनिंग्हम ने अपने बारह बच्चों की उपेक्षा कर दी हो। एक बार एक मित्र ने मजाक में पूछा–"इतने सारे बच्चों के बीच अपने बच्चों को अलग से कैसे पहचान पाते हो भला?" उत्तर मिला–"अलग से पहचानने की जरूरत हो, तब न! सभी बच्चों की अपनी-अपनी खूबिया हैं और सभी हमें एक-से प्यारे और कीमती लगते हैं। कितने ही दंपतियों के ले-देकर एक ही सतान होती है, फिर भी वे समझ नहीं पाते कि बच्चा एक दैवी चमत्कार है। यह भगवान की असीम कृपा है कि मुझे और रुथ को ८,००० चमत्कार मिले हैं। इसके लिए हम उसके कृतज्ञ हैं।"

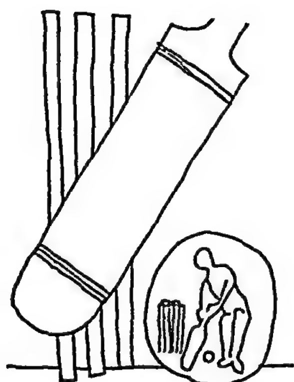
ये ८,००० बच्चे 'दैवी चमत्कार' भले हों; मगर खाना कपडा, खिलौने, दवा-दारू और किताबें तो उन्हें भी चाहिये ही। और यह सब कुछ अपनी ही जेब से मुहैया करना कितना बडा आर्थिक बोझ है, सोचिये तो! वर्षों तक यह भारी व्यय उठाते-उठाते कनिंग्हम-दंपति के आर्थिक साधन छीजते गये। आखिर उन्हें ८४० एकड का वह पशु-क्षेत्र (राच) बेचकर विचिटा के पास छोटे खेत में बसना पडा। मगर नये बच्चों के लिए उनका हृदय और घर अब भी उसी तरह खुला है।

वे कहा करते हैं–"हर बच्चे को उपयोगी, सुखी और सामंजस्यपूर्ण नागरिक बनने का अवसर मिलना चाहिये।...कोई बच्चा मूलत. बुरा नहीं होता। बुरा होता है वातावरण, और बड़ों का उदाहरण। ये चीजें बदल दीजिये, बच्चे के भीतर की अच्छाई उजागर हो उठेगी।"

कुछ वर्ष पूर्व विचिटा के प्रमुख नागरिकों ने मिलकर कनिंग्हम-दंपति के खेत को 'कनिंग्हम इन्कार्पोरेटेड' नामक अव्यावसायिक सस्था का रूप देकर उसके लिए पैसे जुटाने की जिम्मेदारी स्वयं उठा ली है, ताकि ग्लेन और रुथ कनिंग्हम चितामुक्त होकर अपना सारा समय और ध्यान बच्चों पर लगा सकें।

अपनी जली-झुलसी टागों में प्राणों का सचार करके ओलिंपिक में विजय पाने वाले ग्लेन कनिंग्हम अब अभागे बच्चों के जले-झुलसे दिलों में स्नेह उडेलकर उन्हें जीवन की दौड़ में ससम्मान भाग लेने के योग्य बना रहे हैं। मनुष्य की वैयक्तिक विजय और सामाजिक सार्थकता का कैसा सुंदर निदर्शन है। ('रोटेरियन' से साभार)

❖ ❖ ❖



सुशील कुमार दोषी

महानतम बल्लेबाज कौन?

क्रिकेट के इतिहास का सर्वश्रेष्ठ बल्लेबाज कौन हुआ है? यह एक ऐसा दिलचस्प प्रश्न है, जिसका समाधान कई क्रिकेट-प्रेमी चाहते होंगे। परंतु समाधान खोजना आसान काम नहीं है। प्रत्येक युग का महान खिलाड़ी अपने समय की अलग-अलग किस्म की गोलंदाजी पर प्रभुत्व जमाकर क्रिकेट-प्रेमियों के मन में बस जाता है। उनकी परस्पर तुलना करके एक क्षण में निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उनमें कौन ज्यादा महान है।

डा० डब्ल्यू. जी. ग्रेस महान खिलाड़ी थे—अपने व्यक्तित्व के कारण भी तथा क्रिकेट पर अपने गहरे प्रभाव के कारण भी। इसी तरह अपने-अपने समय में विक्टर ट्रंपर, जैक हाब्स तथा ब्रैडमन भी सर्वश्रेष्ठ बल्लेबाज थे। रणजीतसिंहजी (यानी नवानगर के जामसाहब, जिनके नाम से भारत की प्रसिद्ध रणजी ट्राफी चलती है) के उच्चस्तरीय खेल का एक जमाना था और यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सन १८९६ से १९०० तक वे विश्व के सर्वश्रेष्ठ बल्लेबाज थे।

रणजीतसिंहजी और बहुचर्चित डब्ल्यू. जी. ग्रेस के खेल को तुलनात्मक दृष्टि से देखने के पहले दो महत्त्वपूर्ण बातें गौर करने योग्य हैं। पहली तो यह कि ग्रेस के खेल का तरीका रणजी से कुछ भिन्न था और दूसरी यह कि जिस नयी शैली का प्रवर्तन ग्रेस ने किया था, उसी को अपनाकर रणजी क्रिकेट-जगत् में चमके। ग्रेस को अपनी तकनीक ईजाद करनी पड़ी थी; रणजी को बनी-बनायी तकनीक मिल गयी थी।

प्रथम श्रेणी के क्रिकेट-अपायर राबर्ट टाम्स सन १८७० से १९०० तक के दौर के क्रिकेट के अनुभवी प्रत्यक्षदर्शी थे। उन्होंने एक बार कहा था—"रणजी ग्रेस से ज्यादा अच्छे बल्लेबाज थे, क्योंकि वे ज्यादा किस्म के स्ट्रोक लगा सकते थे।"

ई. वी. लुकास ने लिखा है—"यों तो डब्ल्यू. जी. ग्रेस ने क्रिकेट का रणजी से ज्यादा उपकार किया है और वे एक अच्छे गोलंदाज भी थे। लेकिन जहां तक केवल बल्लेबाजी का सवाल है, रणजी सबसे बड़े जादूगर थे। वैसे विक्टर ट्रंपर,

मेकार्टनी तथा जक हाब्स भी महानता में उनसे ज्यादा पीछे नहीं थे।"

अपने समय के बल्लेबाजों की योग्यता की तुलना करने के बाद आर्थर लिली इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे :

१. डा० डब्ल्यू. जी. ग्रेस–क्रिकेट की दुनिया के सर्वोत्तम आलराउडर।

२. आर्थर श्रूजबरी–पेशेवर बल्लेबाजों में मूर्धन्य।

३. विक्टर ट्रूंपर–आस्ट्रेलिया में पैदा हुए सबसे महान बल्लेबाज।

४. क्लेम हिल–उलटे हाथ से खेलने वाले बल्लेबाजो में अतुल्नीय।

५. रणजीतसिंहजी–जहा तक सिर्फ बल्लेबाजी का सवाल है, निर्विवाद विश्व के सर्वोत्तम खिलाडी।

सन १९०५ से १९३३ तक अपनी काउंटी टीम ससेक्स की ओर से खेलने वाले क्रिकेट-खिलाडी राबर्ट रेल्फ का यह दृढ मत था कि रणजी दुनिया के सर्वश्रेष्ठ बल्लेबाज थे।

ऐसा ही मत था ए. सी. एम. क्रूम का। सन १९३० में मैनचेस्टर मैदान में आस्ट्रेलिया-इंग्लैंड के बीच टेस्ट मैच चल रहा था। मैच के दौरान जब बारिश हुई, तो सभी खिलाडियों को पैवेलियन मे लौटना पडा। खाली समय में आर्थर गिलिगन, सर होम गार्डन और क्रूम के बीच रणजी के खेल की चर्चा चली।

"क्या आप रणजी को ऐसा बल्लेबाज मानते हैं, जिन्होंने बल्लेबाजी की तकनीक में प्रयोगों द्वारा क्रातिकारी परिवर्तन किये?" आर्थर गिलिगन ने क्रूम से प्रश्न किया।

"मैं रणजीतसिंहजी को सर्वकालीन सर्वश्रेष्ठ बल्लेबाज मानता हूं, भले ही आप उनकी तुलना किसी भी अन्य खिलाडी से क्यों न कर लें।" क्रूम ने तुरत उत्तर दिया।

प्रसिद्ध खिलाडी फ्राय ने अपनी जीवनी 'लाइफ वर्थ लिविंग' में सर्वकालीन महान खिलाडियों की तुलना बडे ही दिलचस्प ढंग से की है। उन्होंने लिखा है– "मैंने जितने बल्लेबाज देखे, उनमें रणजीतसिंहजी को छोडकर केवल ट्रूपर ही एक ऐसे बल्लेबाज थे, जिन्होंने हर प्रकार की गोलंदाजी को सरल एवं साधारण साबित कर दिया था। फिर भी न तो वे रणजी जितने ठोस बल्लेबाज थे और न ही बल्ले को घुमाने में उनकी तरह फुर्तीले थे। रणजी अपने खेल में गोलंदाज के लिए बेहद निर्दय व घातक होते थे, जबकि ट्रूंपर के खेल में कुछ दया-माया-सी रहती थी।

"श्रेष्ठ बल्लेबाजों की तुलना करके किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुंचना तो असभव-सा ही है। क्रिकेट के कई जानकार शैली और कार्यक्षमता के आधार पर ट्रूंपर को श्रेष्ठतम बल्लेबाज ठहराते हैं। मै सोचता हूं, विवाद केवल डब्ल्यू. जी. ग्रेस, ट्रूंपर, रणजीतसिंहजी और डान ब्रैडमन इन चार दिग्गजों को लेकर हो सकता है।

"मेरा अपना मत यह है कि ग्रेस के स्ट्रोक्स की शक्ति अन्य तीनों खिलाडियों की सम्मिलित शक्ति से भी ज्यादा थी और वे एक ही किस्म का स्ट्रोक लगाने की क्षमता रखते थे। विक्टर ट्रूंपर के खेल में आकर्षण सबसे ज्यादा था और प्रत्येक गेंद

पर वे दो तरह के स्ट्रोक लगाने की क्षमता रखते थे।

"रणजीतसिंहजी के खेल में सफाई व सुंदरता सबसे ज्यादा थी और प्रत्येक गेंद पर वे तीन तरह के स्ट्रोक लगाने की क्षमता रखते थे। डान ब्रैडमन ने सबसे ज्यादा रन अर्जित किये और उनके पास ऐसे स्ट्रोक्स भी थे, जिनकी समता तीनों नहीं कर सकते थे। स्ट्रोक्स की नियमबद्धता के कारण ही ब्रैडमन को स्वभावसिद्ध खिलाडी ठहराया गया है। पर जहा तक खेल में मौलिकता का सवाल है, केवल ब्रैडमन ही रणजीतसिहजी की बराबरी कर सकते हैं।"

अपना तुलनात्मक विवेचन रणजी और ब्रैडमन पर ही केंद्रित करते हुए फ्राय ने लिखा है–"जहां तक प्रतिष्ठा का सवाल है, रणजी और ब्रैडमन क्रिकेट-जगत् में समान रूप से प्रसिद्ध थे। दोनों महान खिलाड़ी शतक बनाते समय गोलंदाज की धुर्रियां जिस निर्ममता से उड़ाते थे, उसका कोई सानी नहीं। दोनों के खेल में अंतर यह था कि जहां रणजीतसिहजी रेजर-ब्लेड-सी तीखी धार से गोलंदाजी के बारीक टुकड़े करते दिखाई पड़ते थे, वहीं डान ब्रैडमन उसे छड से धुनते प्रतीत होते थे।

"डान ब्रैडमन की रन-संख्याएं रणजीतसिंहजी से कहीं ज्यादा बड़ी थीं; पर यह नहीं भूलना चाहिये कि रणजी का क्रिकेट तीन दिनों के मैचों की आवश्यकता के अनुरूप ढला था। यही नहीं, रणजी ऐसी गोलंदाजी के भी खिलाफ खेले थे, जो ज्यादा घातक थी और जिससे आउट होने का अंदेशा कहीं अधिक था। फिर भी रणजीतसिहजी ने इस पैनी गोलंदाजी का जिस सफाई व सुंदरता से भरे स्ट्रोक्स से स्वागत किया, उसकी कोई तुलना ही नहीं।

"मैंने ब्रैडमन द्वारा बड़े आश्चर्यजनक ढंग से गोलंदाजी के टुकड़े-टुकडे किये जाते देखा है; लेकिन मैंने उन्हें कभी ऐसे भयावह विकेट पर शतक अर्जित करते नहीं देखा, जिस पर गेंद बुरी तरह उछलती हो। लेकिन रणजी को मैंने ऐसे ही भयावह विकेट पर गुड लेंग्थ गेंदों पर शतक बनाते आश्चर्य से निहारा है। यही नहीं, ब्रैडमन को रणजी की तरह मैंने ऐसे कीचड़-भरे विकेट पर २६० (नाट आउट) बनाते भी नहीं देखा, जिस पर उनकी टीम का दूसरा कोई भी बल्लेबाज १० रन भी नहीं बना पाया हो।"

वैसे दृढ़तापूर्वक यह कहना कि रणजी ही सर्वश्रेष्ठ बल्लेबाज थे, जल्दबाजी होगी। मैं तो यह मानता हूं कि किसी बल्लेबाज की इससे बडी इज्जत क्या हो सकती है कि उसे डब्ल्यू. जी. ग्रेस, हाब्स व ब्रैडमन की श्रेणी में गिना जाये। वैसे इनकी ही श्रेणी मे जेसप, मेकार्टनी, हेमंड, वूली, सी. के. नायडू, वारेल आदि कुछ नाम और जोड़े जा सकते हैं। पर यह बात निश्चित है कि संसार के सर्वश्रेष्ठ बल्लेबाजों की सूची में रणजी का नाम किसी भी हालत में नहीं छोडा जा सकता।

❀ ❀ ❀

अचिंत्य कुमार सेनगुप्त

मातृमंत्र

"कौन है रे?"–विशाल, निर्जन मैदान
आवाज सुनाई पड़ी और दूर-दूर तक गूंज
के नक्षत्र भी सिहर उठे, संध्या का अंधकार
खूंख्वार 'बाग्दी' डाकू की।

"मैं, तुम्हारी बिटिया हूं!"–स्नेहसिक्त

"मेरी बिटिया?"–डाकू अचमे में पड़
विशाल ऊसर में मेरी यह कौन-सी बिटिया
उसने मृदुल स्वर की ओर पैर बढ़ाये।

श्रीरामकृष्ण परमहंस की सहधर्मचरी
पास, दक्षिणेश्वर के मंदिर की ओर। रास्त
पैदल चलने का। इसी कारण कई दिनों से
अंत में सौभाग्य से उन्हें कुछ साथी मिल
के लिए जा रही थीं और उन्हीं के साथ
पड़ी थीं।

कामारपुकुर से आरामबाग तक आठ
'तेलो-भेलो' का भयानक और बदनाम मै

सगिनियां उन्हें बार-बार उलहना दे रही थीं–"अरी, जल्दी-जल्दी चलेगी कि यहां पड़ी रहेगी? अंधेरा होने के पहले ही इस मैदान से निकल जाना है।" इधर सूर्य भगवान भी न जाने किसके डर से तेजी के साथ पश्चिम की ओर भागे जा रहे थे। पर शारदा के पैरों में तेजी आ ही नहीं रही थी।

"क्या तुम्हारे लिए हम सबको डाकुओं के हाथ जान देनी पड़ेगी?" अंत में खीझकर साथ की महिलाओं ने शारदा से कहा। परंतु शारदा ने शांतभाव से उत्तर दिया–"तुम लोग जाओ। मेरे लिए मत रुको। हो सकेगा, तो मैं तुम्हारे पीछे-पीछे आ जाऊंगी।.....अगर चाहो, तो तारकेश्वर की धर्मशाला में मेरी प्रतीक्षा करना।"

शारदा का यह स्पष्ट जवाब सुन, वे सब उन्हें उस भयंकर स्थान में छोड़कर चली गयीं। उस निर्जन, डरावने ऊसर में संध्या की आतंक-भरी निस्तब्धता घनी होती जा रही थी। नवयौवना शारदा अकेली खड़ी अपने जाने वाले साथियों की ओर ताकती रहीं। फिर धीरे-धीरे चलने लगीं। और कुछ ही देर बाद उन्हें 'बाग्दी' डाकू की वह भयानक आवाज सुनाई पड़ी, जिसके उत्तर में उन्होंने अपने को उसकी 'बिटिया' बतलाया।

भगवान श्रीरामकृष्ण परमहंस के मातृमंत्र का जीता-जागता विग्रह थीं शारदा–मंत्र की साक्षात् प्रतिमूर्ति। डाकू ने उन्हें देखा। वे उसे परिचित-सी लगीं। "यह कोमल-सुकुमार मुखड़ा, थकावट से भरी मीठी आवाज। मेरी किस जन्म की बिटिया है यह!"–डाकू मंत्रमुग्ध-सा खड़ा सोचने लगा। "मैं, तुम्हारी बिटिया" इन तीन शब्दों की झनकार ने उसे विभोर कर दिया। निःशब्द, विशाल ऊसर मैदान की समस्त निस्तब्धता और अनंत आकाश की शून्यता एक अपूर्व रुदन से परिपूर्ण हो गयी–"मैं, तुम्हारी बिटिया...मैं, तुम्हारी मां"–इस प्रथम रुदन से, इस परम रुदन से!

इसी रुदन को सुनने के लिए उसका हृदय प्यासा बैठा था। विवाह के बाद बिटिया जाती है पति के घर। बाजा बजता है। किंतु समस्त बाजे-गाजे के अंतराल में नववधू की मां का रुदन बजता है और वधू का हृदय बाजे वालों से बिनती करता है–"भाई, जरा बाजा बंद करो। मुझे अपनी मां का रुदन तो सुन लेने दो।" यह संसार भी नाना प्रकार के वाद्यों से अहर्निश अपना बाजा बजाता जा रहा है। हम पुकारकर कहते हैं–"संसार, जरा अपना बाजा बंद करो। विश्वजननी के रुदन को तो जरा सुनने दो।"

निस्तब्ध मैदान में खड़े उस बाग्दी डाकू ने भी जननी का ही रुदन सुना। सुनते ही वह लपककर पास आ गया। भयंकर सूरत, सिर पर बड़े-बड़े बाल, हाथ में लंबी लाठी, कंठ में सिंहनाद। पर शारदा डरीं नहीं। उन्होंने बड़ी आत्मीयता से, मानो

किसी बहुत ही परिचित व्यक्ति से बोल रही हों इस तरह, कहा—"जा रही थी दक्षिणेश्वर, तुम्हारे जमाई के पास। मेरी संगिनियां मुझे छोड़कर आगे चली गयीं। तुम अगर पहुंचा दो, तो..."

"कहां है जमाई? क्या करता है?"—आत्मीयता-भरा ही प्रश्न भी हुआ।

"दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि के काली-मंदिर में रहते हैं..." पति के घर जाने वाली बिटिया के इस उत्तर को एक और व्यक्ति ने भी सुना। वह थीं बाग्दी डाकू की पत्नी। वह भी आ गयीं सामने—पथ भूल जाने वाली बेटी को अपने आंचल के नीचे आश्रय देने के लिए।

"मैं तुम्हारी बिटिया शारदा हूं।" बाग्दी-पत्नी के हाथों को अपने हाथों में लेकर दुलार के साथ शारदा बोलीं—"बस, अब मुझे डर किस बात का! बाप-मां दोनों मिल गये। अब मेरी सारी आफत दूर हो गयी।"

रक्षक भक्षक बनता है, यह बात प्रायः सुनी जाती है, पर भक्षक का रक्षक बन जाना शायद ही कभी सुना जाता है। डाकू-दंपति शारदा को गांव की एक छोटी-सी दुकान में ले गये और वहां से चने-कुरमुरे खरीदकर उन्हें खाने को दिये। फिर डाकू-पत्नी ने उन्हें छोटी-सी बच्ची की तरह बड़े प्यार से अपने पास सुलाया। लाठी लेकर रात-भर पहरा देने का काम किया स्वयं बाग्दी डाकू ने। लुटेरा, खूनी डाकू पहरेदार बना।

दूसरे दिन सवेरे शारदा को लेकर वे दोनों तारकेश्वर की ओर रवाना हुए। रास्ते के खेतों से शारदा बच्चों की तरह मटर की फलियां तोड़-तोड़कर खाती गयीं। तारकेश्वर पहुंचकर डाकू-पत्नी ने अपने पति से कहा—"रात-भर मेरी बिटिया ने कुछ खाया नहीं है। जाओ, जल्दी से तारकेश्वरजी की पूजा चढ़ाकर अनाज-सब्जी ले आओ। मैया को जरा ठीक से भोजन तो करा दूं।"

पूजा संपन्न हुई। अनाज-सब्जी आदि खरीदी गयी और डाकू-पत्नी अपनी बिटिया के लिए रसोई पकाने बैठ गयी। जननी का संपूर्ण स्नेह मिल गया उस भोजन में। मिठास का पूछना ही क्या! शारदा ने बड़े प्रेम से मांग-मांगकर भोजन किया और उसके बाद उन्हें डाकू-दंपति धर्मशाला में उनकी संगिनियों के पास ले गये।

कुछ देर तक तो संगिनियां विस्मय-विमूढ़ बनी रहीं, फिर पूछा—"अरी, तू अभी तक जीवित कैसे रह गयी! तेरे साथ ये कौन हैं?"

"ये रहीं मेरी मां और ये मेरे बाप! 'तेलो-भेलो' के मैदान में ये न मिल गये होते, तो पता नहीं, मेरी क्या हालत होती।"

और जब यात्रियों के साथ शारदा आगे चलने लगीं, तो बाग्दी डाकू और उसकी पत्नी दोनों रोने लगे, बिटिया के बिछोह की वेदना से तड़पने लगे। शारदा भी रोने लगीं।

जब श्रीरामकृष्ण ने सब-कुछ सुना, तो बोले–"वह डाकू नहीं था, स्वयं नारायण थे। डाकू क्या नारायण नहीं बन सकता? तुम सिर्फ उसकी डकैती देखोगे, उसका पितृत्व नहीं देखोगे? उसकी निठुराई तो देखते हो, उसकी मातृभक्ति नहीं देखोगे? डाकू के अंदर भी नारायण सतत विराजमान हैं। अगर तुम्हें उन्हें पुकारना नहीं आता, तो इसमें नारायण का क्या दोष? तुम्हीं तो नारायणत्व की उपेक्षा करके डाकूपन को प्रोत्साहन देते हो।"

कुछ काल बाद, डाकू-दंपति पहुंचे दक्षिणेश्वर–बेटी-जामाता के पास। साथ में लाये लाई और लड्डू। डाकू-पत्नी शारदा को देखते ही फूट-फूटकर रो पड़ी। डाकू ने भी सबसे नजर छिपाकर अपनी आंखों के आंसू पोंछ लिये, बेटी को गले लगा लिया।

❀ ❀ ❀

एक औरत मंदिर के द्वार के बाहर खड़ी रो रही थी। उसे मंदिर में जाने नहीं दिया जा रहा था। तभी चुपचाप एक व्यक्ति आकर उसके पास खड़ा हो गया। वह न जाने कहां से अकस्मात् आ पहुंचा था। वह सीधा-सादा था, शांत था, मितभाषी था। वह भी मंदिर के बाहर उस स्त्री के संग खड़ा रहा। भीतर मंत्रपाठ जोर-शोर से जारी था और बाहर वह औरत रोये जा रही थी।

"रोती क्यों हो?" उस व्यक्ति ने बड़ी ही मृदुता से पूछा। उसका प्रत्येक शब्द मानो किसी अदृश्य तुला पर हीरे-मोती से तोला हुआ था। सिसकियों के बीच औरत ने उत्तर दिया–"मुझे मंदिर में नहीं जाने देते।" शांत व्यक्ति ने उसे सांत्वना देते हुए कहा–"यह तो कोई ऐसी बात नहीं कि जिस पर रोया जाये। मुझे भी अंदर नहीं जाने दिया जाता। सो बहन, अकेली तुम ही बहिष्कृत नहीं हो।"

"पर तुम कौन हो?" औरत पूछ बैठी।

"मैं वह हूं, जिसे ये लोग समझते हैं कि हमने गर्भगृह में कैद कर लिया है, और जिसे ये लोग समझते हैं कि हम पूज रहे हैं।"

–हरींद्रनाथ चट्टोपाध्याय



वैद्य त्रिगाखदत्त

मिट्टी से महौषध

द्वितीय महायुद्ध शुरू हो चुका था। न्यू ब्रंसविक (न्यूजर्सी, अमरीका) के रटूर्जर्स विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों की संख्या बहुत घट गयी थी। इसलिए निश्चय किया गया कि अध्यापकों की संख्या भी कम की जाये। विभिन्न विभागों के अध्यापकों की योग्यता और उपयोगिता पर विचार करके उनकी छंटनी प्रारम्भ कर दी गयी। कृषि-कालेज के माइक्रोबायोलाजिस्ट डा० सेल्मन ए. वाक्समन के विषय में भी विचार किया गया। प्रबंध-समिति का मत था कि युद्ध की अवधि के लिए तो वे अलग किये ही जा सकते हैं।

और इसके कई कारण थे। सन १९११ में शिक्षार्थी के रूप में कालेज में भर्ती होने के बाद से आज तक वाक्समन ऐसी कोई खोज नहीं कर पाये थे, जिसकी कोई व्यावहारिक उपयोगिता हो। काम भी वे अजीब ही करते थे। घूरे पर से मिट्टी के नमूने उठा लाते थे और उन्हें टेस्ट-ट्यूबों में डालकर न जाने क्या जांचते-परखते रहते थे। गरज यह कि बिलकुल बेकार आदमी थे। परन्तु कृषि-कालेज के अध्यक्ष का कहना था कि डा० वाक्समन का कार्य बहुत मूल्यवान है। अधिकारियों को विश्वास तो नहीं हुआ, पर उन्होंने डा० वाक्समन को नौकरी से हटाया नहीं।

कुछ ही वर्ष बाद इसी 'बेकार' आदमी ने एक महौषध की खोज करके चिकित्सा-विज्ञान में एक नया युग प्रारम्भ कर दिया। वह दवा थी स्ट्रेप्टोमाइसीन, जिसने क्षय के रोगियों के लिए आशा की पहली किरण प्रस्तुत की।

डाक्टर वाक्समन नोबेल पुरस्कार (१९५२) से विभूषित हो चुके हैं और एंटी-बायोटिक्स के जनक माने जाते हैं। परन्तु उन्हें देखकर कोई उनकी विलक्षण प्रतिभा का अनुमान भी नहीं लगा सकता। तेजाब के दागों से भरा और कुहनियों पर फटा हुआ पुराना कोट, सलवटों वाली टाई, ठिगना कद और गोल-मटोल शरीर—यह है उनका बाहरी रूप। परन्तु हृदय में एक अखंड लौ जल रही है—एंटी-बायोटिक्स। घंटों उनसे बातें कीजिये, वे इसी की चर्चा करते रहेंगे।

वाक्समन का जन्म यूक्रेन (रूस) के एक यहूदी परिवार में २ जुलाई १८८८ को हुआ। बचपन से ही उन्हें मिट्टी से बड़ा लगाव था। मिट्टी की सोंधी सुगंध का आनंद लेने के लिए वे घंटों खेतों में बैठे रहते थे। पौधे कैसे पैदा होते हैं और क्यों सड़ जाते हैं, यह प्रश्न यहीं से उनके मन में पैदा हुआ। उनकी रसायनशास्त्र की प्रारंभिक शिक्षा ओडेसा में हुई। उच्च शिक्षा के लिए वे ज्यूरिच जाना चाहते थे। तैयारी भी हो गयी; पर तभी अमरीका में बसे हुए कुछ संबंधियों ने वहां आने की सलाह दी और वाक्समन अपनी कुल जमा पूंजी (३०० रुपये) लेकर सन १९१० में न्यूजर्सी चले गये।

वे चाहते तो थे डाक्टर बनना; परंतु अपने एक संबंधी के सुझाव पर भर्ती हो गये रट्जर्स विश्वविद्यालय के कृषि-कालेज में, जिसके अध्यक्ष डा० जेकब लिपमन भी रूसी थे। कालेज ने उन्हें छात्रवृत्ति दी और प्रो० हाल्सटेड के साथ वे काम करने लगे। प्रयोगशाला में काम करने के लिए उन्हें २० सेंट प्रतिघंटा मिलता था। डा० हाल्सटेड उन्हें शनिवार को भी बुलाते थे और काम के बाद घंटों उनके साथ बातें करते रहते थे। और वे थे इतने दयालु कि बातचीत का यह समय भी काम के घंटों में शामिल करवा देते थे, ताकि निर्धन युवक वाक्समन को ७०-८० सेंट अधिक मिल जायें और उसका रविवार के भोजन का खर्च निकल आये। आज भी वाक्समन बिना गद्गद हुए प्रो० हाल्सटेड का नाम नहीं ले सकते।

धरती की उर्वरता का श्रेय जिन तत्त्वों को है, उनमें माइक्रोब भी शामिल हैं। डा० लिपमन ने १९०१ में इनका अध्ययन शुरू किया था। वाक्समन ने उसे जारी रखा। धरती की इस अज्ञात आबादी में उन्होंने अनेक ऐसे जीव देखे, जो आचरण तो बेक्टीरिया की तरह करते थे, लेकिन दिखते थे फफूंद-जैसे।

ये जीव 'एक्टिनोमाइसिटेस' कहलाते हैं। मिट्टी की सोंधी महक के लिए यही जिम्मेवार होते हैं। स्नातक हो जाने के बाद, सहायक अनुसंधानकर्ता के रूप में वाक्समन इनका अध्ययन करते रहे और उन्होंने इनकी कई उपजातियां खोज निकालीं। 'स्ट्रेप्टोमाइसीन' और 'नियोमाइसीन' नामक दवाओं के निर्माण में उपयोग होने वाली दो उपजातियां भी इनमें थीं। अपने अनुभव के परिणाम डा० वाक्समन ने लगभग ९०० पृष्ठों की एक पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स आफ सॉइल माइक्रो-बायोलाजी' में प्रकाशित किये। यह पुस्तक आज भी अपने विषय में परम प्रमाण मानी जाती है।

चम्मच-भर मिट्टी में लाखों माइक्रोब रहते हैं और उनके अलावा असंख्य बेक्टीरिया भी। डा० वाक्समन ने देखा कि मिट्टी के इन नागरिकों में हरदम गृहयुद्ध चलता रहता है। १९३२ में उनके प्रयोगों ने सिद्ध किया कि क्षय के रोगाणुओं को जमीन में दबा दिया जाये, तो वे बहुत समय तक जीवित नहीं रह

पाते। परतु उन्हें खयाल तक नहीं आया कि बाइबल में मिट्टी से औषध के उत्पन्न होने की जो बात कही गयी है, उसका यह जीता-जागता प्रमाण है। वे तो माइक्रोबों के अध्ययन में तन्मय थे।

उन्हीं के एक प्रिय शिष्य रेने दयुबो ने एक ऐसा माइक्रोब खोज निकाला, जो निमोनिया के रोगाणु के बाह्य आवरण को गलाने में समर्थ था। जब १९३६ में दयुबो ने यह सिद्ध किया कि इस माइक्रोब द्वारा तैयार किया गया औषध मनुष्य के शरीर में निमोनिया के रोगाणुओं को मार सकता है, तब डा० वाक्समन एंटी-बायोटिक औषधों की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने अपने तीस वर्ष के अर्जित ज्ञान को नयी दिशा में मोड़ा। एक नया अध्याय प्रारभ हुआ।

स्ट्रेप्टोमाइसीन के अन्वेषण की कहानी वाक्समन के ही शब्दों में पढ़िये— "यह १०,००० माइक्रोबों की कहानी है। हमने १०,००० माइक्रोबों को छाटकर उनकी रोगाणुओं को मारने की शक्ति जांची। १० प्रतिशत में यह सामर्थ्य पाया गया। उन १,००० माइक्रोबों के सवर्ध (कल्चर) तैयार करने का यत्न किया गया, तो उनमें से सिर्फ १० प्रतिशत ऐसे निकले, जिनके सवर्ध (कल्चर) बन सकते थे। उन १०० माइक्रोबों से हमने रसायन निकालने के प्रयोग किये और १० रसायन बनाने मे सफल हुए। उन्हीं दस में से ही एक का नाम है—स्ट्रेप्टोमाइसीन।"

इन प्रयोगों में लाखों माइक्रोबों की 'बस्तियां' पैदा की गयीं, प्रत्येक के गुण-अवगुण जांचे गये, एक माइक्रोब को दूसरे से 'लड़ाया' गया और 'विजयी' माइक्रोब से रसायन बनाने के प्रयोग किये गये। पर अभी एक प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना शेष था—क्या ये माइक्रोब मानव-शरीर में भी इसी प्रकार सक्रिय रहेंगे? मनुष्य-शरीर पर उनका कोई हानिकर प्रभाव तो नहीं होगा?

वाक्समन की छोटी-सी प्रयोगशाला इस विशाल कार्य का व्यय उठाने में असमर्थ थी। उन्होंने अमरीकी सरकार की औषध-अनुसधान समिति से सहायता मांगी, परतु उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं हुई। अत में कामनवेल्थ फंड ने उन्हें ९,६०० डालर की सहायता दी, जो पर्याप्त सिद्ध हुई।

१९४३ में स्ट्रेप्टोमाइसीन का आविष्कार हुआ। फिर तो चमत्कारी एंटी-बायोटिक औषधों की खोज के लिए औषध-निर्माता सस्थाओं में होड़-सी लग गयी। कुछ ही वर्षों में अनेक एंटी-बायोटिक औषध तैयार हो गये।

उधर प्रतिवर्ष २५ करोड़ रुपये की स्ट्रेप्टोमाइसीन बनने लगी थी। उसके निर्माण का एकाधिकार मर्क कंपनी को था; परतु उसने अपना एकाधिकार समाप्त कर दिया।

डा० वाक्समन को ४॥ करोड़ रुपये रायल्टी के मिले। परतु उन्होंने यह कहकर कि "मेरा रटुजर्स विश्वविद्यालय मुझे भूखा नहीं मरने देगा," रायल्टी का ८२॥ प्रतिशत भाग विश्वविद्यालय को माइक्रो-बायोलाजी अनुसधानशाला की स्थापना के

लिए दे दिया। ७॥ प्रतिशत भाग उन्होंने अपने उन सहायकों, विद्यार्थियों और टेक्निशियनों को प्रदान किया, जिन्होंने इस अनुसधान में उनके साथ काम किया था। ५ प्रतिशत माइक्रो-बायोलाजी की पुस्तकों के प्रकाशन के लिए देने के पश्चात् बचा हुआ ५ प्रतिशत ही उन्होंने अपने परिवार के लिए रखा।

परंतु वाक्समन इस धन को अथवा नोबेल-पुरस्कार को सच्चा इनाम नहीं मानते। सच्चा इनाम तो है आशीर्वाद और धन्यवाद के वे असख्य पत्र, जो क्षय से मुक्ति पाने वालों ने उन्हें लिखे हैं। समस्त विश्व से सम्मान पाकर भी गर्व तो उन्हें छू तक नहीं गया है। वे मानते हैं कि अभिमान और वैज्ञानिक अनुसधान एक साथ नहीं चल सकते।

१९५८ में डा० वाक्समन रट्जर्स विश्वविद्यालय के माइक्रो-बायोलाजी विभाग के अध्यक्ष-पद से निवृत्त हुए; परतु विज्ञान से उन्होंने छुट्टी नहीं ली है। वे अपने कार्यकाल में अपने चपरासी से भी पहले अपनी प्रयोगशाला में पहुंचा करते थे। आज भी वे प्रतिदिन प्रयोगशाला में सबसे पहले पहुंचते हैं और चपरासी उनके बाद ही पहुंचता है। उनका कहना है—"मेरे विचार से तो हम जीव-विज्ञान के प्रवेश-द्वार पर भी नहीं आये हैं, प्रवेश करना तो अभी दूर की बात है।"

❀ ❀ ❀

विज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि प्रकाश-किरण लगभग १,८६,००० मील प्रति सेकेंड की गति से चलती है। प्रकाश की यह गति सबसे पहले रोमर ने सन १६७५ में ज्ञात की थी। फिर सन १९२५ में माइकलसन ने प्रकाश की ठीक-ठीक गति १,८६,८६४ मील प्रति सेकेंड निकाली।

स्वामी शंकराचार्य ने प्रकाश की गति के बारे में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—"एक निमिष के आधे भाग में प्रकाश २,२०० योजन चलता है।" मुनि आत्रेय ने भागवत में इन इकाइयों का मान ज्ञात किया है, जिनका उपयोग करने पर प्रकाश की गति १,८७,६७० मील प्रति सेकेंड के लगभग आती है। यह आधुनिक प्रयोगात्मक तरीकों से निकाली गयी संख्या के अत्यंत निकट है।

—विजयकुमार वर्मा



प्रो० फ्रेड हायल

अणुशस्त्रों से धरती को कोई खतरा नहीं

सूर्य में शक्ति या ऊर्जा किस प्रकार उत्पन्न होती है ?

रसायनशास्त्र में मूलतत्त्वों का वर्गीकरण उनके परमाणुओं की नाभि में स्थित कणों की संख्या के आधार पर किया जाता है। वर्गीकरण की इस तालिका में सबसे नीचे का स्थान मिला है साधारण हाइड्रोजन को, जिसकी नाभि में केवल एक ही कण–एक प्रोटान–होता है। और सबसे ऊपर नाम आता है युरेनियम का, जिसकी जटिल नाभि में ९२ प्रोटान और १४६ न्यूट्रान होते हैं।

इस सदी के तीसरे दशक में कैंब्रिज के विज्ञानी एस्टन ने गणना करके यह दिखाया कि जो मूलतत्त्व इस तालिका के ऊपरी भाग में आते हैं, उनसे ऊर्जा प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि उन्हें दो टुकड़ों में–यदि हो सके तो दो समान भागों में–बांटा जाये। आप शायद जानते हैं कि प्राकृतिक रूप से मिलने वाले केवल दो मूलतत्त्वों को अब तक इस प्रकार विभाजित किया जा सका है। वे हैं–युरेनियम और थोरियम।

जिन परमाणुओं की नाभि में कणों की संख्या ५० से कम हो, उन पर इससे उलटा ही क्रम लागू होता है। उनसे ऊर्जा प्राप्त करने के लिए उनमें कुछ और कण जोड़ने पड़ते हैं। कण जोड़ने की कई विधियां सम्भव हैं। मगर सूर्य की दृष्टि से उनमें से एक ही विधि महत्त्व की है।

मूलतत्त्वों की तालिका में हाइड्रोजन से ठीक ऊपर नाम है हीलियम का, जिसकी नाभि में चार कण होते हैं। अगर चार परमाणु-कण इस प्रकार जोड़े जा सकें कि उनसे मिलकर आल्फा-कण (हीलियम की नाभि) बनाया जा सके तो बहुत-सी ऊर्जा निकलेगी। सूर्य तथा उसके जैसे प्रत्येक सामान्य तारे के मध्यभाग में इसी प्रक्रिया से हाइड्रोजन निरंतर हीलियम में परिणत हो रहा है और इसी से सूर्य तथा तारे ऊर्जा पाते हैं।

अब यह सवाल उठ सकता है कि क्या मनुष्य ऐसा परमाणु-विस्फोट कर सकता,

है, जिससे पृथ्वी में परमाणु-अभिक्रिया (चेन-रीएक्शन) शुरू हो जाये? क्या यह सभव है कि कोई मानव-निर्मित अभिक्रिया (रीएक्शन) पानी में—खासकर महासागरों के पानी में स्थित हाइड्रोजन में विकिरण का सिलसिला पैदा कर दे?

अगर महासागरों के पानी में का सारा ही हाइड्रोजन एकबारगी हीलियम में बदल जाये, तो हमारी पृथ्वी तत्क्षण भाप बन जायेगी। इससे विकिरण की ऐसी जबर्दस्त लपट उठेगी, जिसकी ऊर्जा सूर्य से साल-भर में बाहर निकलने वाली तमाम ऊर्जा के योगफल के बराबर होगी। अगर मंगल पर सचमुच कोई जीव है, तो वे सब इस लपट की चपेट में आकर राख हो जायेंगे।

मगर हाइड्रोजन में परमाणु-अभिक्रिया शुरू हो सके, इसके लिए बहुत ही ऊंचे तापमान की आवश्यकता होती है। पृथ्वी पर अभी तक जो उच्चतम तापमान पैदा किया जा सकता है, वह युरेनियम-बम अथवा प्लूटोनियम-बम के विस्फोट के दौरान चंद सेंटिमीटर व्यास के क्षेत्र में एक सेकेंड के एक करोड़वे हिस्से जितने समय के लिए उत्पन्न होता है। यह तापमान १५ करोड़ अंश शतांश के लगभग होता है, जो सूर्य के मध्यभाग के तापमान से करीबन दस गुना अधिक है।

अब पूछा जा सकता है कि यदि ऐसा बम पानी में फोड़ दिया जाये, तो क्या वह पानी में स्थित हाइड्रोजन में प्रस्फोट पैदा कर देगा? मुझे याद आता है, १९४५ में मैंने बड़ी व्यग्रता से इसका हिसाब लगाया था। उस गणना से मुझे मालूम हुआ (और राहत भी मिली) कि बम से उत्पन्न गर्मी इतने कम समय टिक पाती है कि उससे प्रस्फोट नहीं हो सकता। अन्यथा, अब तक शायद प्रस्फोट हो भी चुकता।

मगर युरेनियम-बम से अधिक शक्तिशाली बम भी तो पानी में फोड़े जा सकते है! और हाइड्रोजन-बम उससे अधिक शक्तिशाली है भी। हाइड्रोजन-बम के मूल में यह गुर है कि हाइड्रोजन को अत्यंत तीव्रता से हीलियम में बदल दिया जाये—यानी जो काम सूर्य अपने भीतर करता है, वही काम उससे कहीं अधिक तीव्र गति से धरती पर किया जाये।

इसके लिए दो बातें जरूरी हैं। एक है, बहुत ऊंचा तापमान। प्रस्फोटक (डिटोनेटर) के रूप में परमाणु-बम का प्रयोग करके यह ऊंचा तापमान पैदा किया जाता है। दूसरी आवश्यकता है, सूर्य और तारों में चलने वाली प्राकृतिक अभिक्रिया (रीएक्शन) से अधिक तेज अभिक्रिया खोज निकालना।

पहली नजर में यह चीज असम्भव लगती है; क्योंकि पृथ्वी पर जो 'रीएक्शन' काम में लाया जा सकता है, वह सूर्य में भी प्रकट हो ही सकता है। लेकिन एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात आप भूल रहे हैं। वह यह है कि जिन पदार्थों में सबसे अधिक तेजी से अभिक्रिया (रीएक्शन) होती है, वे सूर्य में एकदम ही दुर्लभ हैं। कभी ये

पदार्थ सूर्य में थे तो अवश्य, लेकिन सूर्य उन्हें खर्च कर चुका है। किंतु धरती पर ये पदार्थ मनुष्य को उपलब्ध हैं।

सब पदार्थों में से सबसे अधिक तेजी से परमाणु-अभिक्रिया (एटामिक रीएक्शन) एक प्रकार के हाइड्रोजन में होती है, जिसे ट्रीशियम कहा जाता है। साधारण हाइड्रोजन और ट्रीशियम इन दोनों की नाभि में कुछ अंतर होता है। साधारण हाइड्रोजन की नाभि में एक ही कण–एक प्रोटान–होता है, जबकि ट्रीशियम की नाभि में तीन कण होते हैं–एक प्रोटान और दो न्यूट्रान। सबसे अधिक तेज अभिक्रिया ट्रीशियम को ड्यूटेरियम नामक विशेष हाइड्रोजन से मिलाने से होती है, जिसकी नाभि मे दो कण–एक प्रोटान एक न्यूट्रान–होते हैं।

और अब अपने असली प्रश्न पर लौटें कि क्या हाइड्रोजन बम महासागरों मे विस्फोट शुरू कर सकता है? उत्तर है–नहीं।

हाइड्रोजन-बम का सैनिक महत्त्व इस कारण है कि उसे चाहे जितना बड़ा बनाया जा सकता है। अगर कोई बंधन है, तो व्यावहारिक साध्यता का है। मगर परमाणु-बम का आकार बहुत सीमित होता है। सो अगर हम किसी प्रकार पर्याप्त ट्रीशियम तैयार कर लें, तो अत्यधिक प्रचंड विस्फोट-शक्ति वाला हाइड्रोजन-बम बनाया जा सकता है।

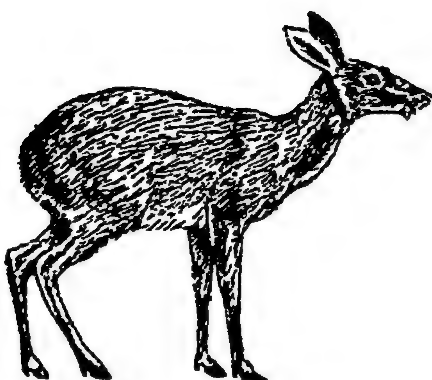
मगर उससे भी महासागरों मे विस्फोट नहीं होगा। क्योंकि महासागरों में विस्फोट का होना इस बात पर निर्भर नहीं होता कि हाइड्रोजन-बम से कितनी ऊर्जा निकली। वह निर्भर होता है, बम से उत्पन्न होने वाले तापमान पर। और बड़ी ही विचित्र बात है कि हाइड्रोजन-बम से भी लगभग उतना ही तापमान उत्पन्न होता है, जितना कि परमाणु-बम से।

इसलिए हम कह सकते हैं कि अणुशस्त्रों द्वारा मनुष्य अपना सर्वनाश भले ही कर ले, मगर धरती तो सुरक्षित ही रहेगी।

❀ ❀ ❀

सुना है, जब चिन्मय शिशु ने अपना छोटा-सा मुंह खोल दिया, तब एक ग्वालन ने उसके भीतर इस संपूर्ण विकट-मनोहर विश्व की झांकी देख ली, और वह क्षण-भर हर्ष एवं आश्चर्य से मूक होकर खड़ी रह गयी। उसी प्रकार मेरी विवश जिज्ञासा खड़ी है। मेरी प्रार्थना यही है कि सामने दिखाई देने वाला सत्य कभी छिप न जाये।

—जी. शंकर कुरुप



रामेश वेदी

कस्तूरी-मृग

कस्तूरी तथा कस्तूरी-मृग (कस्तूरा) के संबंध में विचित्र धारणाएं फैली हुई हैं, जिनकी सचाई पर सहसा विश्वास नहीं जमता।

ऋषीकेश से आये कस्तूरी के एक व्यापारी मुझे बता रहे थे कि कस्तूरा कभी लेटता ही नहीं। उनका कहना था कि उसकी अगली टांगों में एक ही सीधी हड्डी होती है, इसलिए वह टांगें मोड़कर लेट नहीं पाता और नींद आने पर किसी तिरछी टहनी के सहारे सिर टेककर सो लेता है। यह सब कोरी गप है।

ऐसी ही गप्पों से हैरान एक प्राध्यापक ने मुझसे पूछा था कि क्या सचमुच कस्तूरी नामक द्रव्य होता है? गजमुक्ता व सर्पमणि की भांति कस्तूरी भी कवि-मानस उपज मात्र ही तो नहीं?

एक वैद्य महाशय की दृष्टि में कस्तूरी इतना गर्म और तेज पदार्थ है कि उससे मृग स्वयं परेशान और सदा चक्कर में रहता है। कवियों की मान्यता के अनुसार, हिरन के नाफे में से निकलकर सुगंध दूर-दूर तक फैलती रहती है और उस गंध की तलाश में हिरन वनों में भटकता रहता है। वह नहीं जानता कि मादक सुगंध तो उसकी नाभि में ही रखी है।

संत कबीर कहते हैं कि इसी तरह हर मनुष्य के अंदर रामजी बसते हैं; परंतु उन्हें कोई देखता ही नहीं।

> **कस्तूरी कुंडल बसे मृग ढूंढ़े वन माहिं।**
> **ऐसे घट-घट राम बसें दुनिया देखे नाहिं॥**

मध्य-काल में आत्मतत्त्व के उपदेष्टाओं की यह प्रिय उपमा थी। हमारे युग में रवींद्रनाथ टाकुर ने इसी बात को अपनी बंगला कविता 'मरीचिका' में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :

> **पागल होइया वने-वने फिरि आपन गंधे मम कस्तूरीमृग सम।**

फिर जयशंकर प्रसाद ने 'लहर' में इसी उपमा को इन शब्दों में दोहराया है :

> पागल हुई मैं अपनी ही मृदु गंध से कस्तूरी-मृग जैसी।
> नाक में से खून टपक आता है ?

कुछ ठग कस्तूरी-व्यापारियों को मैंने एक विचित्र प्रदर्शन करते देखा है। एक आदमी की मुट्ठी में कस्तूरी का नाफा रखकर वे उससे कहते हैं—अब हाथ की बाहरी सतह सूंघो। उनका कहना है कि कस्तूरी की गंध हथेली को पार करके दूसरी तरफ चली आती है। वे तो यह भी कहते हैं कि अगर दस आदमी बांहें फैलाकर एक दूसरे के हाथों को छूते हुए एक कतार में खड़े हो जायें और पहले आदमी की एक मुट्ठी में कस्तूरी थमा दी जाये, तो उसकी सुगंध अंतिम आदमी के हाथ में भी पहुंच जाती है। दरअसल चालाकी से वे अपने हाथ में लगी हुई खुशबू हाथों पर लगा देते हैं और लोगों को चकमा देते हैं।

मैंने ऐसे कई नाफों को देखा है। इनकी कीमत महज पंद्रह पैसे से दो रुपये तक कुछ भी हो सकती है। लोगों के कस्तूरी-विषयक अज्ञान का वे किस हद तक लाभ उठाते हैं, इसका प्रमाण यह है कि जिस सुगंध का वे प्रदर्शन कर रहे होते हैं, प्राय. वह कस्तूरी की नहीं, बल्कि किसी सस्ते इत्र की होती है।

ये ठग व्यापारी प्राय. दो रुपये से पंद्रह रुपये तक में एक नाफा बेचते हैं। मैंने ध्यान से देखने पर पाया है कि इन नाफों की खाल भी कस्तूरी-मृग की नहीं होती। कस्तूरी-मृग की खाल इतने बड़े पैमाने पर नहीं मिलती कि इतने सस्ते नाफे बनाये जा सकें। बेचारे खरीदारों ने न कस्तूरी-मृग की खाल देखी होती है, न वे उसे पहचान सकते हैं; सो चतुर व्यापारी किसी भी मृग की खाल से नकली नाफे बना लेते हैं।

बचपन से मैं सुनता रहा हूं कि असली कस्तूरी कोई सूंघ ले, तो उसकी नाक से खून टपकने लगता है। हकीम आजम खान ने बताया है कि अगर गर्म-मिजाज लोग इसे लगातार सूंघें, तो नाक से खून आ जाता है। मुझे इसमें कोई सचाई नहीं दिखती। हां, इतना अवश्य है कि कस्तूरी की महक गंधग्राही तंत्रिकाओं को जल्दी ही थका देती है। इसीलिए कहा जाता है कि ताजी कस्तूरी की तेज गंध से बहुधा शिकारियों का तंत्रिका-संस्थान प्रभावित हो जाता है, जिससे सिर चकराने लगता है, आंखों के आगे अंधेरा छा जाता है और कुछ देर के लिए उन्हें कम सुनाई देने लगता है।

प्राचीन भारतीय आस्था के अनुसार कस्तूरा एक दिव्य मृग है, जो इंद्र के नंदनवन में रहता है। गजचर्म पहनने वाले इंद्रियजयी भगवान शंकर हिमालय की एक ऐसी सुंदर चोटी पर तप करते थे, जहां देवदार वृक्षों को गंगा की धारा सींचती थी और जहां कस्तूरी की सुगंध फैली हुई थी :

स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गंगाप्रवाहोक्षितदेवदारु।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि किंचित्क्वणत्किन्नरमध्युवास॥

(कुमारसम्भव १.५४)

वर्तमान हरसिल से ऊपर भागीरथी की घाटी तथा जाह्नवी (जाड़ गंगा) की घाटी ही यह प्रदेश हो सकता है, जिसका इस श्लोक से मेल बैठता है। अभी सौ साल भी नहीं हुए, विल्सन नामक एक अंग्रेज को यहां के कस्तूरी-मृगों ने आकृष्ट किया था। विल्सन हरसिल में आकर बस गये थे। देवदार की लकड़ी से निर्मित उनके किलेनुमा बंगले में एक बार मैं सर्दियों में ठहरा था।

आसमान से बर्फ गिर रही थी। देवदार के वन और सभी पर्वत-शिखर बर्फ से ढंक गये थे। यही समय है, जब कस्तूरी-मृग ऊपर के वनों को छोड़कर नीचे के कम ठंडे प्रदेश में उतर आते हैं।

कभी यहां कस्तूरी-मृगों की कितनी बहुतायत रही होगी, इसका अंदाज आपको एक चीज से हो जायेगा। मुखबा गाव के लोगों ने मुझे बताया था कि विल्सन साहब के बंगले के अहाते में कस्तूरी के नाफे इतनी बड़ी तादाद में सूख रहे होते थे, मानो अनाज के दाने सुखाये जा रहे हों।

उन दिनों यहां दैनिक मजदूरी की दर एक आना थी। लेकिन विल्सन साहब उन्हें दो आना प्रतिदिन देकर सारे-के-सारे मुखवा गांव को हाके के लिए साथ ले जाते थे। गांव वाले भी कस्तूरी के इस शिकार में गहरी दिलचस्पी लेते थे, क्योंकि उन्हें दुगुनी मजदूरी भी मिल जाती थी और मारे गये मृग का मांस तथा खाल भी पुरस्कार में मिल जाते थे।

गढ़वाल-हिमालय में कस्तूरा निम्नलिखित स्थानों में पाया जाता है—यमुना की घाटी में यमुनोत्री के आस-पास, भागीरथी की घाटी में हरसिल और गंगोत्री के समीप, भिलंगना घाटी के ऊपर पंवाली से त्रियुगी नारायण के मार्ग में, काली नदी की घाटी में मध्यमहेश्वर में, तुंगनाथ में और नीति में। बदरीनाथ से चार मील ऊपर लगभग चार-पाच मील लंबा एक मैदान है, जिसे राज खर्क कहते हैं। यहा कस्तूरी-मृग चरता है।

राजशेखर (८८०-९३० ई०) ने कुल्लू घाटी मे कस्तूरे का निवास बताया है। उसने लिखा है—लंपाक देश की सुंदरियों की केश-रचना को बिखेरती हुई, रल्लक मृगों को आनंदपूर्वक नचाती हुई, चंद्रभागा नदी के शीतल जल का चुंबन करती हुई, भूर्ज वृक्षों की शाखाओं को मर्मर ध्वनि के साथ भंग करती हुई, कस्तूरी-मृगो के प्रणय से सुरभित, वल्हव देश की रमणियों की प्यारी और कुल्लू की कामिनियो से क्रीड़ा करती हुई उत्तर दिशा की वायु बह रही है :

लम्पाकीनां किरन्तश्चिकुरविरचनां रल्लकोल्लासयन्तः
चुम्बन्तश्चन्द्रभागासलिलमविकलं भूर्जकाण्डैकचण्डा ।
एते कस्तूरिकैणप्रणयसुरभयो वल्लभा वाल्हवीनां
कौलूतीकेलिकाराः परिचयितहिमं वायवो वान्त्युदीच्या ॥

(काव्यमीमांसा, अध्याय १८)

गढ़वाल-हिमालय में मध्यमहेश्वर का मंदिर ११,४७५ फुट की ऊंचाई पर स्थित है। यहां पर एक पुजारी तथा दो-तीन सेवक रहते हैं। इधर यात्री कम ही जाते हैं; क्योंकि एक तो इसकी चढ़ाई कठिन है और दूसरे यह अंतराल में अवस्थित है। इसीलिए अभी तक यहां के वन्य पशुओं को अधिक नहीं सताया गया है।

दीवाली के आस-पास सर्दियों में जब मंदिर के पट बंद होते हैं, तो अक्सर आस-पास के पहाड़ों पर बर्फ गिर चुकी होती है। इससे वहां रहने वाले कस्तूरे नीचे उतर आते हैं और मध्यमहेश्वर के चारों ओर नजर आने लगते हैं। इनमें छोटे बच्चे भी रहते हैं। यही मौका होता है, जब इन्हें पकड़ा जा सकता है। यहां के रावलजी (पुजारी) के हाथ कई बार कस्तूरी-मृग लग गये हैं। मुझे बताया गया कि एक बार तो पचास रुपये में एक बच्चा बिक रहा था।

एक बार मई के आरंभ में मंदिर के कपाट खोलने रावलजी मध्यमहेश्वर गये थे। मंदिर के पास खरसू और मौरु के वन में उन्होंने मां के साथ एक बच्चे को देखा। स्वभाव से भीरु होने के कारण दोनों जीव मनुष्य को देखकर भाग खड़े हुए। पुजारीजी ने कौतुकवश उनका पीछा किया। ज्यादा भागने में असमर्थ होने के कारण बच्चा मां से अलग छूट गया। बस, रावलजी उसे उठा लाये। लगभग छः महीने वह मध्यमहेश्वर में उनके पास रहा। वे उसे थोड़ा दूध पिलाते थे, जंगल की घास-पत्ती को भी वह चरता था।

सर्दियों में रावलजी ऊखीमठ आ गये। कस्तूरा यहां पर मजे में रहा। अप्रैल १९६८ में रावलजी उसे हरिद्वार ले गये। भीमगोड़ा के पास एक महंतजी के बगीचे में उसे रखा गया। मूली के पत्ते वह शौक से खाता था। पर दूध की खुराक उसकी कम हो गयी थी, आधा लिटर से अधिक दूध वह नहीं पी पाता था। उसका स्वास्थ्य गिरने लगा।

हरिद्वार उसे बहुत गर्म लगता था। लगभग एक महीने बाद वह मर गया। हिमालय की पवित्र गोदी में पैदा हुए इस नन्हे जीव के प्रति महंतजी के हृदय में श्रद्धा का भाव था। उन्होंने इसके पार्थिव शरीर को हिमालय की पुत्री गंगा मैया को समर्पित कर दिया।

कस्तूरी-मृग जंगल में छिपकर रहने वाला शर्मीला हिरन है। सुन्दर और शान

खाने के लिए यह अपने डेरे से बाहर निकलता है। अधिकतया यह किसी एक निश्चित जगह पर रहता है। उच्चतर हिमालय में सभी जगह वृक्षों और झाड़ियों पर उस्नेआ नामक कवाश्य (लिचन) की उलझी हुई झालरें लटकी रहती हैं। कहते हैं कि यह उन्हें खाता है। नाना प्रकार की झाड़ियों के पत्ते व फूल तथा कई प्रकार की घासें व जड़ें इसका आहार हैं। जुगाली करने वाले जानवरों में यह सबसे कम खाने वाला बताया जाता है।

यह जिस प्रकार का भोजन करता है, उसका कस्तूरी की उत्पत्ति के साथ क्या संबंध है, यह अज्ञात है। व्यापारियों में यह आम धारणा है कि खुले चट्टानी प्रदेश में जो कस्तूरी-मृग मिलता है, उसकी अपेक्षा वनाच्छादित इलाकों का मृग अधिक बढ़िया होता है। रुटेसी वंश का एक सुगंधित पौधा 'नेयर पाती' समुद्र-तल से नौ हजार फुट की ऊंचाई पर पैदा होता है। गढ़वाल-हिमालय के सीमावर्ती प्रदेशों में रहने वाले मार्च्छा और भोट व्यापारियों ने मुझे बताया कि कस्तूरा इस पौधे के सुगंधित पत्तों को बड़े चाव से खाता है।

पहाड़ी लोगों की यह भी धारणा है कि ऐसी सुगंधित पत्तियां, फूल व जड़ियां खाने से ही इस मृग में कस्तूरी-जैसा सुगंधित पदार्थ पैदा करने की क्षमता आती है। इनके सुरभिमय क्रियाशील उड़न-तैल कस्तूरे के नाफे में घनीभूत हो जाते हैं। इसलिए यह हिमालय की तमाम दिव्य ओषधियों का सार है।

शाहजहां के दरबारी कवि पंडितराज जगन्नाथ ने भी प्रकृतिविदों की इस उलझन पर विचार किया था। वे मानते थे कि कस्तूरी को पैदा करने वाला मृग सुरभिमय सुंदर फूलों को ही खाता है :

कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः।

❀ ❀ ❀

एक महिला अपने कुत्ते को लेकर बस में चढ़ी। कंडक्टर ने बड़े ही शिष्टता-पूर्वक उसे टोका। मगर वह रुकी नहीं, त्योरिया चढ़ाकर बोली—"पूरी एक सीट का किराया दूंगी, तब भी तुम्हें एतराज होगा क्या?"

कंडक्टर ने भी तपाक से कहा—"बेशक नहीं होगा...मगर अपने कुत्ते से इतना कह दीजिये कि वह दूसरे सभी यात्रियों की तरह, पैर नीचे लटका-कर बैठे।"



कर्नल महादेव सिंह

स्पीती

"विधाता ने जब धरती को बनाया, तो सबसे पहले उसने हिमालय पर्वत की रचना की। यहा का एक सुरम्य स्थान उन्हें बड़ा प्रिय लगा—इतना प्रिय कि स्वर्ग-वैभव त्याग कर, वे खुद यहीं रहने लगे। अपनी सुख-सुविधा के लिए वे अपने साथ एक सेवक और सेविका भी लाये थे। दोनों ने विधाता की बड़ी भक्ति के साथ सेवा-चाकरी की।

"काफी वर्षों तक हिमालय के इस खंड में रहने के बाद एक दिन विधाता को स्वर्ग के देवताओं के विजयोत्सव मे सम्मिलित होने के लिए स्वर्ग जाना पड़ा। उन सेवक-सेविका पति-पत्नी को वे वहीं छोड़ गये, कह गये कि जब तक मैं न आऊं तुम यहीं रहना और मेरे निवास की देखभाल करना। किंतु स्वर्ग में पहुचकर, देवताओं की प्रार्थना के अनुसार विधाता फिर सृष्टि बनाने में लग गये। तब से आज तक हिमालय के अपने इस निवास में वापस आने का अवकाश उन्हें नहीं मिला। किंतु विधाता के वचन तो कभी मिथ्या नहीं होते। सृष्टि-रचना का काम समाप्त करके एक-न-एक दिन ससार के इस परम सुंदर स्थान में वे आवेंगे अवश्य।

"विधाता के उस सेवक का नाम 'स्पी' और सेविका का नाम 'ती' था। उन्हीं दोनों के सयुक्त नाम पर इस अंचल का नाम 'स्पीती' पड़ा। हम सब यहा के निवासी उन्हीं दोनों की सतान हैं। विधाता के आदेशानुसार हम आज तक उनके इस निवास की देखभाल करते आ रहे हैं और जब तक वे लौटकर नहीं आ जायेंगे हम लोगों को यहीं प्रहरी बनकर रहना होगा।"

स्पीती के एक टूटे-फूटे चैत्य में एक बूढ़े लामा ने इस प्रकार स्वयं अपने अपने देश के विषय में यह पुराण-गाथा सुनायी। साथ ही. उन्होंने हमें यह भी बताया कि यह परम गोप्य रहस्य है. स्वप्न में जिसके लिए विधाता अनुमति देते हैं, केवल उसे ही यह सुनाया जाता है!

हिमालय की गोद में बसे भारत के इस दुर्लभ अंचल में जब हम पहुंचे, तो

हमें लगा कि जैसे हम आधुनिक सभ्यता से एकदम परे, काफी सदियों पीछे के युग में ढकेल दिये गये हों। यहां हमारे सामने तिब्बत के लामा-जीवन की वे सारी रहस्यमयी कहानियां साकार हो गयीं, जिन्हें हम कई वर्षों से रोमांच के साथ पढ़ते आये थे।

हमने यहां-वहां सर्वत्र घूम-फिरकर देखा, लोगों के जीवन-क्रम को परखा। पाया कि संस्कृति एवं सभ्यता की दृष्टि से स्पीती भारत के बजाय तिब्बत का ही एक छोर है। किसी अत्यंत प्राचीन युग में स्पीती बौद्ध धर्मयात्रियों के तिब्बत-प्रवेश का तोरण-द्वार रहा होगा और फिर तिब्बत से भी आगे कोरिया तक, हमारे भिक्षु-गण अमिताभ की धर्म-पताका लेकर गये होंगे। धर्मास्था का यह बल मनुष्य के अतीत पर कितने विस्मयजनक चमत्कार लिख गया है! हिमालय की गगनचुंबी पर्वतश्रेणियां, हिंसक पशुओं से आच्छन्न जंगल एवं प्रकृति के निर्मम प्रकोप—सबको पराजित कर मनुष्य आत्मा के घोष पर आगे-आगे बढ़ता गया।

स्पीती भारत का एक अत्यंत अगम छोर है। चंद्राघाटी में, १३,५०० फुट रोहतंग और १४,९५० फुट कुंजुम दर्रों को पार करके स्पीती की भूमि में प्रवेश मिलता है। तिब्बत को जाने वाले व्यापारी-काफिलों के मार्ग पर चलते हुए, जब जुलाई में हम लोग इस इलाके में पहुंचे, तो हिमालय का संपूर्ण सौंदर्य अपनी विविध व्यंजनाओं में हमारी मुग्ध आंखों के सामने था। प्रकृति के शिल्प-कुशल हाथों से तराशे गये बर्फ के अभ्रभेदी शिखर, विविध आकृतियों में अपने-आप कटे-छंटे बड़े-बड़े शिलाखंड हमें बेलूर और मदुरा की मूर्तियों की याद दिला रहे थे। तेजी से बहते वे ग्लेशियर, हरियाली में लहराती वह ऊंची-नीची पर्वतीय भूमि और जहां नजर पहुंच जाये, वहीं मोहक आमंत्रण देता-सा, एक नया फूल—सब मानो हमारी प्रतीक्षा में वर्षों से खड़े थे। देखकर हम आत्मविस्मृत हो गये।

किंतु इन तीन-चार महीनों में ही स्पीती को प्रकृति अपना सुरम्य क्रीड़ांगन बनाती है। बाकी महीनों में तो यह भूभाग मानो ठंडा बंजर रेगिस्तान ही है, जहां वृक्षों के दर्शन भी प्रायः नहीं होते। पानी के बादल यहां तक मुश्किल से पहुंचते हैं। नाममात्र की बारिश हो जाती है। गर्मी में जब ग्लेशियर पिघलते हैं, तभी पानी के विविध प्रवाह इस क्षेत्र में सुलभ होते हैं।

ऐसी स्थिति में यहां का जीवन बड़ा ही कठिन और श्रमसाध्य है। किंतु श्रम अधिकांशतः यहां नारी के ही हिस्से में बदा है। हल जोतना, बीज बोना, फसल काटना आदि खेती के सारे श्रमसाध्य काम यहां पर औरतें ही करती हैं। यहां का पुरुष-समाज खेती-बाड़ी को 'अधम' काम समझता है। पुरुष ईंधन के लिए झाड़ियां एकत्र करता है, उन्हें सुखाकर हिफाजत के साथ रखता है। किंतु उसका सबसे प्रधान काम है, याकों को पालना। याक यहां का कामधेनु मवेशी है।

स्पीतियों को याक से घी, मक्खन और दूध तो मिलता ही है, वज़न ढोने के लिए भी, तिब्बत की तरह, उनका यहां बहुतायत से उपयोग होता है।

भोटियों और तिब्बतियों की भांति स्पीती लोग भी घर में कई प्रकार की शराब बनाते हैं और पर्व-उत्सवों पर दिन-रात पीते रहते हैं।

धर्मास्था की दृष्टि से स्पीती बौद्ध हैं और दलाई लामा को अपना धर्मगुरु मानते हैं। भाषा उनकी भूटिया है। शरीर-आकृति की दृष्टि से मंगोलों के साथ ही उनका विशेष साम्य है। दुनिया के साथ स्पीतियों का संपर्क बिल्कुल ही नहीं है—वैसे भी आकृति, वेश-भूषा, भाषा और रीति-रिवाजों की दृष्टि से वे देशी की अपेक्षा विदेशी अधिक लगते हैं।

स्पीती में प्रवेश करने से पूर्व हमें बता दिया गया था कि गांव को आप लोग सूंघ पहले लेंगे, देखेंगे बाद में। बात यह है कि स्पीती-जीवन में केवल दो बार स्नान करते हैं—जन्म के समय और मृत्यु के बाद। इन दोनों के बीच के समय वे अपने शरीर और बालों में याक का मक्खन लपेटे रहते हैं।

हिमालय के इस भाग में जैसी प्रखर शीतवाहिनी हवाएं चलती हैं, वैसी शायद ही कहीं चलती हों। बेचारे पेड़-पौधे तो क्या, शिलाएं तक अपने रूपों में विकृत हो जाती हैं। उधर गर्मियों में खुश्की भी कम नहीं होती।

किंतु यहां की सर्वाधिक मार्के की बात तो है, यहां की अर्थव्यवस्था और यहां का अजीबो-गरीब समाज-तंत्र। खेती-बाड़ी के लिए ज़मीन यहां बहुत कम है। कमाई के अन्य साधन-स्रोत भी नहीं हैं। अतः यदि जनसंख्या बढ़ती जाये, तो सामूहिक भुखमरी का आक्रमण यहां सुनिश्चित है। यहां के किसी अति पुरातन-कालीन समाजशास्त्री ने शायद इस दुर्दैव को पहले से ही भांप लिया था। अतः उसने यहां की भावी पीढ़ियों के लिए ऐसे समाजतंत्र की रचना की कि आज तक जनसंख्या में कोई भयप्रद अभिवृद्धि नहीं हुई। और उसके फलस्वरूप दुर्भिक्ष के दुःस्वप्न भी यहां चरितार्थ नहीं हुए।

यहां के नियम के अनुसार, परिवार का बड़ा पुत्र ही बाप की जायदाद का वारिसदार होता है। उससे छोटे भाई आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर भिक्षु हो जाते हैं और इस अंचल में बहुलता से फैले मठों में जाकर रहने लगते हैं। यहां की भाषा में इन मठों को 'गोम्पा' कहते हैं। पुरुषों की भांति, अतिरिक्त नारियां भी भिक्षुणियां हो जाती हैं और अलग बने आश्रमों में रहती हैं; क्योंकि यहां की सामाजिक मर्यादा के अनुसार एक पुरुष की एक ही पत्नी हो सकती है।

बाप की जायदाद का मालिक बड़ा भाई यदि मर जाता है, तो उससे छोटा भाई मठ के भिक्षु-जीवन को त्याग कर पैतृक संपत्ति का वारिसदार और भाई की विधवा पत्नी का पति बनता है। इस प्रकार जायदाद संबंधी झगड़े यहां कभी खड़े नहीं होते हैं।

अधिकांश लामा और भिक्षु अपढ़ होते हैं। दिन में एक बार ये लोग प्रार्थना करते हैं। 'ओम् मणिपद्मे हुं' की ध्वनि से हिमालय के शिखर प्रतिध्वनित हो उठते हैं। उनकी शेष प्रार्थनाएं वास्तव में बड़ी रोचक होती हैं। एक लकड़ी या धातु की तख्ती पर 'ओम् मणिपद्मे हुं' शब्द लिख लिये जाते हैं और एक रस्सी में बांधकर उस तख्ती को गोल-गोल घुमाया जाता है। जितनी आवृत्तियां तख्ती की होती हैं, उतने ही प्रार्थना-सदेश आराध्य तक पहुंचते हैं। धनी लामाओं के पास तो पनचक्कियां भी होती हैं और उनकी शक्ति का उपयोग इन तख्तियों के घुमाने के लिए होता है। दूसरा तरीका और भी आसान है। एक कपड़े पर उपर्युक्त मंत्र लिख लिया जाता है और उस कपड़े को एक लंबे बांस में टांगकर हवा में फहराने के लिए छोड़ देते हैं। बस, वह हवा में उड़ता रहता है और लामा का मंत्रजाप होता जाता है। अपने अनुयायियों के उद्धार के लिए भी लामा लोग प्रायः मंत्रजाप की ऐसी व्यवस्था करते हैं। बांस पर कपड़ा टागकर चले जाओ, कपड़ा हवा में उड़ता रहेगा, मंत्र की आवृत्तिया होती रहेंगी और दाता की सात पीढ़ियां तरती रहेंगी।

नवीन भारत के सामने यह चुनौती है कि नवनिर्माण के विशाल यज्ञ में स्पीतियों को भी पूरा-पूरा हविष्य मिलना चाहिये। किसी जमाने में यह भूमि इमारती लकड़ी के लिए प्रख्यात थी; किंतु आज तो स्वयं यहां के निवासी भी अपने निवासों के लिए पचास-पचास मील दूर से लकड़िया लाते हैं। यदि यहां फिर से जंगल लगवाये जायें, तो अगले दस वर्षों में ही यहां के निवासियों को जीविकोपार्जन का एक नया एवं अतिसमृद्ध साधन मिल सकता है। खनिज-शास्त्रियों के अनुसार चादी, लोहा, जिप्सम और सीसे की खानों के मिलने की यहा सभावनाएं हैं।

मगर इन सबके अलावा स्पीती का अपना भौगोलिक एवं सैनिक महत्त्व भी है। चीन और भारत के मिलन-द्वार पर स्थित यह इलाका आर्थिक एवं बौद्धिक दृष्टियों से विकसित होकर भारतीय सस्कृति का प्रकाशस्तंभ होगा।

❀ ❀ ❀

आदमी तारों को पकड़ने के लिए हाथ फैलाता है और अपने ही कदमों में उगे हुए फूलों को भूल जाता है।

—जर्मी बेंथैम



श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

यह देह देव-मंदिर है

यजुर्वेद में शिवसंकल्प सूक्त है। उसके प्रत्येक मंत्र के अन्त में "तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु" अर्थात् मेरा मन शिवसंकल्प करने वाला बने, ऐसा कहा गया है। यदि मन बुरे भाव धारण करने लग जाये, तो उसका परिणाम शरीर पर बुरा होता है; और मन में अच्छे विचार रहें, तो उसका परिणाम शरीर पर अच्छा होता है। इसी कारण कहा गया है कि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" अर्थात् मन ही मानवों के बंधन का और मुक्ति का कारण है। इसीलिए वेदों में कहा है कि मेरा मन शिवसंकल्प करने वाला हो।

किंतु क्या हमारा मन शिवसंकल्प कर रहा है? आज हम क्या बोलते हैं और क्या मानते हैं? "सर्वं क्षणिकं, सर्वं दुःखं" अर्थात् सब कुछ क्षणिक और दुःखमय है; संसार असार है, "आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टकारिणः" अर्थात् धन के आय-व्यय दोनों में दुःख है, अतः धन को धिक्कार है—ऐसे विचार हम दिन-रात बोल रहे हैं, दिन-रात सुन रहे हैं। कीर्तनों और प्रवचनों में यही विचार बारबार बोले जाते हैं। क्या ये विचार सत्य और शुभ हैं? क्या ये विचार हितकारी हैं?

यदि यह सब विश्व दुःखरूप है और इससे कष्ट के सिवा कुछ प्राप्त नहीं हो सकता है, तो इस विश्व का त्याग कर देना ही उचित है। परन्तु जब तक मनुष्य जीवित है, तब तक विश्व का त्याग करना उसके लिए असंभव है। दूसरी बात यह है कि यह विश्व केवल दुःख ही देता है, ऐसी भी बात नहीं है। प्रतिदिन मनुष्य हिसाब करके देखे, तो पायेगा कि दुःख के क्षण कम हैं और सुख का समय उसकी तुलना में अधिक है।

पृथ्वी हमें आश्रय दे रही है; जल हमारी तृषा शांत कर रहा है; अग्नि हमारे लिए शीत को दूर कर रही है; वायु हमारा प्राण बना हुआ है; और आकाश हमें अवकाश दे रहा है। अर्थात् यह विश्व हमारी सहायता कर रहा है, हमें सुख दे

रहा है। अतः "सर्व दुःख" कहकर इसकी निंदा करना अयोग्य है तथा असत्य भी है।

श्रीमद् भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय में "विश्वरूप-दर्शन" है। यह विश्व परमेश्वर का रूप है, इस सत्य का वहां दर्शन कराया गया है। यदि यह सपूर्ण विश्व परमेश्वर का रूप है, तो यह विश्व सच्चिदानंद रूप है। उपनिषदों में भी "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् यह सब विश्व ब्रह्म है, ऐसा कहा है। वेद में भी कहा है:

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

(वाजसनेय यजु० ३२।१)

अर्थात् इस विश्व में अग्नि, वायु, जल आदि जो नाना पदार्थ हैं, वे सबके सब ब्रह्म के रूप हैं। प्रभु ही विश्वरूप हुआ है। प्रभु में दुःख नहीं है, इस कारण इस विश्व में भी दुःख नहीं है।

परतु इस समय तो हम "सर्वं दुःखं" अर्थात् यह विश्व दुःखमय है, ऐसी विपरीत बात मान रहे हैं। क्या यह हमारा मन शिवसकल्प कर रहा है? 'शिव-सकल्प' का अर्थ 'प्रभु का सकल्प' है। विश्व को देखकर हमें 'परमेश्वर का सकल्प' करना चाहिये। उसके स्थान पर हम दुःख का सकल्प कर रहे है!

इस समय हम लोग अपने शरीर के विषय में भी बहुत बुरे विचार धारण करते हैं। शरीर पीब-विष्ठा-मूत्र का गोला है, शरीर पिंजरा है, शरीर जेलखाना है इत्यादि कुविचार आजकल हमारे देश में प्रचलित हैं। "नात्मानमवमन्येत" अर्थात् अपने विषय में अपमान की भाषा बोलना योग्य नहीं, ऐसा सदेश हमारे धर्म ने दिया है। पर हम हैं कि अपने शरीर की निंदा करना ही पसद करते हैं।

वेद हमारे शरीर के विषय में क्या कहता है, देखिये:

सप्त ऋषयः प्रति हिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जाग्रतावस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥

(वाजसनेय यजु० ३४।५५)

१. यह शरीर सात ऋषियों का पवित्र आश्रम है; ये सात ऋषि प्रमाद न करते हुए, इस शरीर रूपी आश्रम का संरक्षण कर रहे हैं।

२. यह शरीर सात नदियों का पवित्र तीर्थस्थान है; ये सात नदियां जागने के समय बाहर जाती हैं और सोने के समय वापस आती हैं।

३. यह शरीर पवित्र यज्ञशाला है; इस यज्ञ का सरक्षण दो देव दिन-रात जागकर कर रहे हैं।

ये तीनों वर्णन सुंदर, रमणीय और पवित्र हैं। सप्त ऋषियों के पवित्र आश्रम में आप सौ वर्ष आनंद से रह सकेंगे, सप्त नदियों के पवित्र तीर्थक्षेत्र में आप दीर्घकाल तक विचरना चाहेंगे, यज्ञशाला में आप दीर्घकाल रह सकेंगे।

जब तक ऐसे वैदिक विचारों की जागृति थी, तब तक भारतीय दीर्घायु बनने का यत्न करते थे और दीर्घायु बनते थे। परंतु जब से अपने शरीर को पाखाना मानने का अशुभ संकल्प भारतीयों में घुसा, तब से भारतीय क्षीणायु होने लगे और अब हमारे यहां शतायु विरले ही होते हैं।

यह शरीर देवताओं का मंदिर है। यहां सूर्य आंख के स्थान में आकर अंश रूप से रहा है; वायु प्राण बनकर छाती में निवास कर रही है; अग्नि वाणी के रूप में मुख में तथा जठराग्नि के रूप से पेट में है। इस तरह ३३ देवता अंश रूप में इसमें आकर रह रहे हैं।

यह शरीर ईश्वर ने अपने पुत्र जीवात्मा के रहने के लिए बनाया है। ईश्वर विश्व का सम्राट् है। उसका पुत्र इस शरीर में १२० वर्ष रहेगा। इनमें सर्व-प्रथम बीस वर्ष तक विद्याध्ययन करके, पश्चात् सौ वर्षों में सौ 'क्रतु' (यज्ञ) करके उसे 'शतक्रतु' बनना है। ईश्वर-पुत्र जीवात्मा इस शरीर में आकर श्रेष्ठ पुरुषार्थ करने की इच्छा करता है।

मुझे उस क्षण का भान नहीं है, जब मैंने पहली बार इस जीवन की देहरी पार की।

वह कौन-सी शक्ति थी, जिसने इस विराट् रहस्य में मुझे ऐसे खोल दिया जैसे आधी रात में, वन में कली खिलती है?

जब प्रभात में मैंने उस आलोक पर दृष्टि डाली, तो अनुभव हुआ कि इस विश्व में मैं अजनबी नहीं हूं. ..कि अनाम-रूप अज्ञेय ने मेरी मां बनकर मुझे अंक में भर लिया है।

सो मृत्यु में भी वही अज्ञेय प्रकट होगा, जो मेरा चिरपरिचित है। और क्योंकि मुझे इस जीवन से प्रेम है, इसलिए मैं जानता हूं, मैं मृत्यु से भी प्रेम करूंगा।

—रवींद्रनाथ ठाकुर



डा० सूर्यनारायण व्यास

वेधशालाओं का व्यसनी जयसिंह

जयपुर नगर का निर्माता महाराजा सवाई जयसिंह एक यशस्वी, साहसी एवं निर्भीक नरेश ही नहीं, खगोलशास्त्र का प्रथित पंडित और कलाप्रेमी भी था। उसने अपने समय में ज्योतिर्विज्ञान के प्रचार-प्रसार का बहुत काम किया।

मुगल काल में वह उज्जैन का राज्यपाल रहा और अपने कार्यकाल में उसने वहा वेधशाला का निर्माण कराया था, जो आज भी बनी हुई है। अपनी गुणग्राहकता और योग्यता से उज्जैन में वह इतना जनप्रिय बन गया था कि वेधशाला के पास का एक भाग 'जयसिंहपुरा' नाम से आज भी उसकी स्मृति दिलाता है।

महाराजा जयसिंह ने अपने नवनिर्मित नगर जयपुर में भी एक विशाल वेधशाला बनवायी। काशी, दिल्ली एवं मथुरा में भी उसने एक-एक वेधशाला स्थापित की थी। अवश्य ही उन दिनों ये वेधशालाएं अंतरिक्ष का अनुसधान करती होंगी, ग्रहों की गति का सूक्ष्म निरीक्षण करके खगोल-ज्ञान की प्रगति में सहायता करती होंगी। आज तो वे महाराजा जयसिंह का स्मारक मात्र रह गयी हैं।

केवल उज्जैन की वेधशाला में ग्रहों का नियमित रूप से वेध लिया जाता है। केंद्रीय प्रशासन उसका थोड़ा-बहुत उपयोग उठा लेता है। एक पंचांग (एफेमेरिस) भी यहां से प्रकाशित होता है।

औरंगजेब के शासन के चालीसवें वर्ष में सन १६९९ में जयसिंह ने आमेर का राज्य-शासन हाथ मे लिया था। १७०७ में औरगजेब की मृत्यु हो गयी। जयसिंह ने दक्षिण के अभियान में भाग लेकर बहुत शौर्य दिखाया था।

राजस्थान के प्रथम इतिहासकार टाड ने लिखा है कि औरगजेब की मृत्यु के पहले ही मुगल शहजादों में सिंहासन को लेकर सघर्ष आरंभ हो गया था। उस समय जयसिंह ने आजमशाह के पुत्र बेदारबख्त का साथ दिया था और उसकी मदद के लिए वह धौलपुर की चढ़ाई में भी गया था। किंतु उस संग्राम में बेदारबख्त मारा गया। फलतः जब शाहआलम दिल्ली के सिंहासन पर बैठा, तो

बेंगरवख्त का साथ देने के अपराध में आमेर का राज्य मुगल साम्राज्य से पृथक् कर दिया गया और शाहआलम की ओर से दूसरा व्यक्ति उसका शासक बनाकर बैठाया गया

मुगल बादशाह के इस कृत्य को जयसिंह सह न सका। उसने कछवाहों की सैन्यशक्ति लेकर मुगलों का मुकाबला किया और सम्राट को पराजय का सामना करना पड़ा। स्वाभाविक ही था कि इससे जयसिंह और सम्राट में घोर विरोध उत्पन्न हो जावे। किंतु शूर जयसिंह ने इसकी जरा भी चिंता न करके मारवाड़ के राजा अजीतसिंह से संधि-संबंध स्थापित कर लिया।

आमेर के सिंहासन पर चालीस वर्ष तक शासन करते हुए उसे अनेक बार युद्ध का सामना करना पड़ा; लेकिन उसने स्वाभिमान के साथ अपना गौरव बनाये रखा और मुगल साम्राज्य उसे नष्ट नहीं कर सका।

जयसिंह बहुत ही नीति-परायण और न्यायप्रिय शासक था। इस बात को उसके विरोधी भी स्वीकार करते थे। आमेर से छः मील की दूरी पर उसने जयपुर की प्रतिष्ठा की। शिल्प, सुंदरता और व्यवस्थितता की दृष्टि से यह नगर भारत की सब राजधानियों में सर्वथा अनोखा ही बनाया गया। इसके निर्माण-कार्य में जयसिंह को एक बंगाली विद्वान विद्याधर की सूझ-समझ से बड़ा सहयोग मिला।

उस युग के और भी कई राजा ज्योतिष में अभिरुचि रखते थे। किंतु जयसिंह का ज्योतिष-ज्ञान बहुत सूक्ष्म और प्रौढ़ था। इस विषय में भी विद्याधर का सहयोग कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। खगोल-विज्ञान में जयसिंह की योग्यता की इतनी प्रसिद्धि हो गयी थी कि दिल्ली के सम्राट मुहम्मदशाह ने पंचांग-संशोधन का कार्य उसके सुपुर्द किया।

खगोल के निरीक्षण-परीक्षण के लिए जयसिंह ने कई यंत्रों का निर्माण किया था, जिनकी प्रशंसा अनेक विदेशी विद्वानों ने भी की थी। इसके लिए उसने समरकंद के उलूगबेग के यंत्रों को भी देखा और सात वर्ष तक परीक्षण किये और बाद में उनसे भी अधिक सूक्ष्म और उपयोगी नये यंत्रों का निर्माण कराया।

उन्हीं दिनों पुर्तगाल का एक पादरी मेन्युअल भारत आया था। जयसिंह ने पुर्तगाल में किये गये ज्योतिष के प्रयोगों का परिचय प्राप्त किया और अपने विद्वानों को पादरी के साथ पुर्तगाल भिजवाया। महाराजा को सहयोग देने के लिए पुर्तगाल के नरेश ने खगोलज्ञ जेवियर डि सिल्वा को भारत भेजा, जिसने जयपुर आकर पुर्तगालवासी डि-ला हायर द्वारा निर्मित यंत्र महाराजा को दिये। इन यंत्रों में चंद्र की गतिविधियों का ठीक निरीक्षण नहीं हो पाता था आधी डिग्री की भूल रह जाती थी। इसी प्रकार की भूल तुर्किस्तान के यंत्रों में भी थी। जयसिंह ने उनका भी परीक्षण किया था।

उन दिनों मुगल साम्राज्य में आतरिक विग्रह चल रहा था और निर्बलता भी पैदा हो गयी थी। परतु जयसिंह ने उसमें कोई दिलचस्पी नहीं ली। वह ज्योतिष और खगोल-विज्ञान की प्रगति मे लगा रहा। दिल्ली के इन विप्लवों का शमन हो जाने पर बादशाह ने जयसिंह को दिल्ली बुलवाया और आगरा तथा मालवे का प्रशासक बनाकर भेजा। उसी काल में जयसिंह ने मथुरा और उज्जैन में वेधशालाएं बनवायीं।

जयसिंह ने अपने कागज-पत्रों में यह स्वीकार किया है कि सन १७२८ तक उसने वैज्ञानिक यंत्रों का निर्माण लगातार जारी रखा था। जब डा० डब्ल्यू. हंटर नाम का विद्वान भारत आया, उसने जयपुर और उज्जैन के यंत्रों को देखा और उनका प्रयोग करके उनकी बहुत प्रशंसा की।

उज्जैन में ज्योतिष के एक युवक पंडित से भी डा० हंटर ने शास्त्रचर्चा की थी। इस युवक का प्रपिता सवाई जयसिंह का निकट मित्र था और उसे सम्राट की ओर से 'ज्योतिष-राय' की पदवी भी प्राप्त थी। जयसिंह की ओर से उसे पांच हजार रुपये वार्षिक की जागीर मिली थी। डा० हंटर उज्जैन के उस युवक पंडित से बहुत प्रभावित हुआ था।

हंटर के लौटने के बाद १७४३ मे जयसिंह की मृत्यु हो गयी। वह एक ज्ञान-विज्ञान-सपन्न, सुयोग्य, नीति-परायण, सफल शासक था। उसने सम्राट से कहकर हिन्दुओं पर लगा जजिया कर समाप्त कराया था। वह अच्छा लेखक और ग्रंथकार भी था।

भारत में वेध लेने की प्रथा पुरातन काल से चली आ रही थी। ई० पू० ३२२ में चंद्रगुप्त मौर्य मगध का शासक हुआ। उसने सेल्युकस की पुत्री से विवाह किया। उस समय भारतवासियों और यूनानियो में शास्त्रों का आदान-प्रदान होने लगा था और भारत में वेधशालाएं स्थापित की गयी थीं।

उज्जैन भारत के समय-मान का माध्यम था—मानो भारत का ग्रीनविच। बहुत समय से वहां वेधकार्य होता था। कालगणना का प्रमुख माध्यम होने के कारण ही वहां के प्रमुख देवता का नाम 'महाकाल' था। उज्जैन को मध्यरेखा-स्थानीय मानकर उसी आधार पर सिद्धांतों की रचना हुई है। वराहमिहिर के अनुसार भी आद्य 'सूर्यसिद्धांत' के प्रणेता ने अपना समस्त गणित उज्जैन-स्थित याम्योत्तर को शून्य रेखांश मानकर किया है। यह प्रमाणित करता है कि ग्रहों की गतिविधियों के सूक्ष्मावलोकन के लिए उज्जैन में पुराकाल में वेधशाला का अस्तित्व रहा है।

जयसिंह के आश्रित पंडित जगन्नाथ ने, जो सस्कृत का विद्वान था, उर्दू और फारसी में भी योग्यता प्राप्त की थी। जयसिंह ने 'जिज मुहम्मद' नाम का ग्रंथ फारसी में तैयार कराया था, उसका अनुवाद पं० जगन्नाथ ने ही किया। सस्कृत में इस ग्रंथ का नाम 'सम्राट्-सिद्धांत' रखा गया। इसकी भूमिका में लिखा है :

"इस समय जिन गणित ग्रंथों का पर्याप्त प्रचार है, जैसे सैयद गुरगानी और खयानी आदि के ग्रंथ, इब्न शिल अल मूलचंद अकबर, हिन्दू ग्रंथ, यूरोपी ग्रंथ, उन पर से गणित करने पर दृक्-प्रत्यक्ष नहीं होता—विशेष रूप से दूज का चंद्र-दर्शन, ग्रहों के उदय-अस्त, ग्रहयुति आदि वेध से ठीक नहीं मिलती।

"जब यह बादशाह मुहम्मद शाह को बताया गया, तब बादशाह ने इन गणित-संबंधी उलझनों के निर्णय के लिए जयसिंह को आदेश दिया कि समरकंद की वेधशाला की तरह ही दिल्ली में यंत्रों का निर्माण कराया जाये।"

समरकंद में तैमूरलंग के नाती मिर्जा उलूगबेग ने एक वेधशाला बनवायी थी। किंतु बादशाह की आज्ञा से जयसिंह ने जो वेधशालाएं बनवायीं वे समरकंद की नकल नहीं थीं। अपने ज्ञान, मौलिक सूझबूझ और अन्वेषण के आधार पर उन्होंने इनका निर्माण कराया। धातु के बजाय, ईंट-चूने से बनी होने पर भी ये वेधशालाएं बहुत सूक्ष्म कार्य कर सकती हैं, करती रही हैं।

जयसिंह के बाद उज्जैन की वेधशाला दो सौ साल तक उपेक्षित पड़ी रही। सन १९०४ में मेरे स्वर्गीय पिताश्री ने लोकमान्य तिलक के सहयोग से इसकी ओर ग्वालियर राज्य का ध्यान आकर्षित किया और स्वर्गीय महाराजा माधवराव जी सिंधिया ने इसका पुनरुद्धार कराया। आज यह वेधशाला सक्रिय है।

जयपुर की वेधशाला बहुत विशाल है। उसमें अनेक यंत्र बने हुए हैं। दिल्ली की वेधशाला (जंतर-मंतर) भी कई यंत्रों से सज्जित है। परन्तु ये दोनों अब निष्क्रिय-उपेक्षित हैं।

यदि सरकार इन सब वेधशालाओं का उचित उपयोग करे और योग्य आधुनिक उपकरणों से इन्हें सज्जित करे, तो ये सैनिक-असैनिक और हवाई मार्गदर्शन सफलता से कर सकती हैं। आवश्यकता है महाराजा जयसिंह की स्थापित परंपरा के पुनरावर्तन की, और अंतरिक्ष-अनुसंधान में प्रगति करने की।

—: ० :—

दुकान के व्यवस्थापक ने संचालक के समक्ष अपनी चिंता व्यक्त की—"आखिर समर के साथ क्या किया जाये? वह पूरी तरह बहरा हो गया है—जरा भी नहीं सुन पाता। अब किसी 'काउंटर' पर इसे लगाएं तो ... गया वह,..." संचालक ने बीच में ही बात काट दी—"अरे, तो शिकायत वाले 'काउंटर' पर क्यों नहीं भेज देते?



प्रो० जी. एस. परमशिवय्या

रामन् : मेरे गुरु

तब मैं बारह बरस का था। बेंगलूर के कोलिजियेट हाईस्कूल मे पढ़ता था। विज्ञान से मुझे तभी से गहरा लगाव हो चला था। सी. वी. रामन् को तब तक नोबेल पुरस्कार तो नहीं मिला था, लेकिन उनकी ख्याति काफी फैल चुकी थी। विज्ञान से प्रेम रखने वाले युवकों को वे देश के कोने-कोने से कलकत्ता की ओर खींच रहे थे, यह भी मुझे मालूम था। मैं भी रामन् का शिष्य बनूं, उनके जैसा विज्ञानी बनूं, और उनकी भाति प्राध्यापक बनकर विज्ञान की प्रगति का निमित्त बनूं, यह चाह मुझ पर हावी हो गयी थी।

उसी साल (१९२२) बेंगलूर में इंडियन सायन्स कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसके लिए सेंट्रल कालेज के मैदान में शानदार शामियाना लगाया गया था। एकलव्य की भांति रामन् का अनधिकृत मानस-शिष्य मैं अपने गुरुवर्य को आंखों देखने की अदम्य लालसा लिये पंडाल में जा घुसा। मगर प्रबंधकर्ताओं ने मुझे बाहर निकाल दिया और फाटक के पास उन्हें दूर से ही निहारकर मैं तृप्त हुआ।

फिर सुना कि कोलिजियेट हाईस्कूल में वे 'व्हिस्परिंग गैलरियों' पर भाषण देंगे। अपने गुरु की वाणी को सुनने की लालसा मुझसे रोकते नहीं बनी। अपने मन की बात सहपाठियों को बतायी, तो सब खिल्ली उड़ाने लगे। कहां रामन्, कहा केवल प्रौढ़ विज्ञान-स्नातकों की ही समझ में आ सकने वाला उनका भाषण, और कहा मेरे जैसा छोकरा! परतु उनके उपहास और मनाही को अनसुना करके मैंने सभा शुरू होने से चंद मिनिट पहले वहां घुसपैठ की। मगर यहां भी प्रबंधकर्ताओं ने मुझे देख लिया और गाल पर तमाचा जड़कर बाहर खदेड़ दिया।

मार के दर्द से भी ज्यादा, निराशा के दर्द से रोता हुआ मैं बाहर आया। आंगन पार करके तीन ही कदम रखे होंगे कि रामन् अपनी कार से उतरे। सदा की तरह चुस्त चाल से सीढ़ियां चढ़ने लगे, फिर सहसा रुके। बोले—"हू इज क्राइंग देअर?" (कौन रो रहा है?) और मुझे सिसकते देखकर मेरे पास आ गये

और (अंग्रेजी में ही) पूछने लगे—"रोते क्यों हो बच्चे!" उस उम्र के लिए स्वाभाविक ढिठाई से मैंने उन्हें आपादमस्तक देखा और अंग्रेजी में ही कहा—"आप ही मेरे रोने का कारण हैं।"

महाविज्ञानी को विस्मय हुआ। बोले—"वाह, मेरा तो तुमसे परिचय भी नहीं है। मेरे हाथों तुम्हारा भला क्या बिगाड़ हुआ होगा?" मैंने अपना शिष्य बनने की अपनी कामना कह सुनायी, उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ता आने की अभिलाषा बतायी और उनका भाषण सुनने आने पर मुझ पर जो बीती, उसकी शिकायत भी की।

आगे जो कुछ हुआ, उसकी मैं सपने में भी कल्पना नहीं कर सकता था। मेरा हाथ पकड़कर उन्होंने सभास्थल में प्रवेश किया। मुझे साथ लिये ही वे मंच पर चढ़े। प्रबंधकर्ताओं को बुलाकर मेरे लिए एक कुर्सी रखवायी। कार्यक्रम की समाप्ति तक मैं भौंचक्का-सा वहीं बैठा रहा।

सभा समाप्त होने पर सी. वी. रामन् ने मुझसे नाम पूछा। "धर्मशिवप्पा।" मैंने उन्हें नाम बताया। बोले—"ठीक! मगर तुम्हारी मां तुम्हें क्या कहकर बुलाती है?" मैंने कहा—"शिवण्णा।" बोले—"मैं भी यही कहकर बुलाऊं तो मंजूर है?" खुशी से फूलकर कुप्पा होते हुए मैंने कहा—"जरूर।" वे बोले—"हर तीसरे महीने यहां इंडियन इंस्टिट्यूट आफ साइन्स की बैठक के लिए आता रहता हूं, मिला करो।"

यह थी सी. वी. रामन् से मेरी पहली मुलाकात। उसकी याद को अपनी अमूल्य निधि के रूप में मैंने अब तक अपने हृदय में सजो रखा है।

उनके आदेश के अनुसार मैं उनसे मिलता रहता था। शिवण्णा को वे पुत्र की तरह वात्सल्य से देखते थे। एक-एक मिनिट का हिसाब रखने वाले विज्ञानाचार्य हर बार मेरे लिए ज्यादा नहीं तो पांच मिनिट अवश्य ही निकाल लेते थे। विद्याध्ययन में उनका बढ़ावा मुझमें उत्साह भरा करता था।

सन १९२८ में बी. एस-सी. के अंतिम वर्ष में मैं कालेज के विज्ञान-संघ का मंत्री था। उसका समापन-भाषण रामन् से दिलवाने की धुन मुझ पर सवार हुई। कालेज के प्राध्यापक रायबहादुर वेंकटेशाचार्य के सामने अपना यह विचार रखा, तो वे हंस दिये—"बौरा गया है तू!"

उस बार रामन् के बैंगलूर आने पर मैं सदा की भांति उनसे मिलने गया। "हेलो शिवण्णा?" उन्होंने कहा। मैं दबी जबान से बोला—"मेरी एक कामना पूरी करें।" पूछने लगे—"कौन-सी?" मैं सकुचाता हुआ बोला—"आप हमारे कालेज के साइन्स एसोसिएशन का समापन-भाषण आप दें।" [illegible] वे बोले—"ऐसा करो, कल मैं साउथ इंडियन साइन्स एसोसिएशन में भाषण दे रहा हूं। अपने कालेज का समापन-भाषण भी उसी में सम्मिलित कर लो।"

रामन् कुछ कह दें, तो फिर अपील की गुंजाइश नहीं रहती थी। दोनों कार्यक्रम एक साथ संपन्न हुए। रामन् ने अपना भाषण इन शब्दों से आरंभ किया—"आज मैं एक सर्वथा नया विषय आपको बताऊंगा, जिसे दुनिया में कोई नहीं जानता।" और वे 'नवीन विकिरण प्रभाव' (न्यू रेडिएशन इफेक्ट) पर दो घंटे तक बोलते रहे। सभा स्तब्ध होकर सुनती रही।

उसी वर्ष बी. एस-सी. का परिणाम घोषित होते ही मैं कलकत्ता जाकर बाकायदा उनके शिष्यवृंद में सम्मिलित हो गया। तब रामन् के 'नवीन विकिरण प्रभाव' ने विज्ञान-जगत में तहलका मचा रखा था। उसी साल अगस्त में बर्लिन विश्वविद्यालय के प्रो० पिंगशाइम ने जर्मन विज्ञान अकादमी की पत्रिका में एक लेख लिखकर रामन् की शोध को 'देर रामन् इफेक्ट' (रामन् प्रभाव) कहा। इस प्रकार 'रामन् इफेक्ट' शब्द पहले-पहल प्रयोग में आया और आगे चलकर विज्ञान में चिरस्थायी हो गया।

बाद में किस तरह रामन् प्रभाव पर भौतिकी की एक विशाल शाखा ही विकसित हो गयी और उस पर सैकड़ों विज्ञानियों ने काम किया, वह सब बताना अनावश्यक है। मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि हम अर्थात् बैंगलूर के लोग 'रामन् प्रभाव' के प्रथम प्रतिपादन के साक्षी थे, यह हमारे लिए अभिमान की बात है। रामन् इफेक्ट के पीछे-पीछे रामन् स्पेक्ट्रा, रामन् बैंड, रामन् शिफ्ट आदि अनेक शब्द विज्ञान के शब्दकोश में सम्मिलित हो गये।

रामन् की भांति भावपूर्ण होकर विद्यार्थियों को पढ़ाने वाला मैंने दूसरा व्यक्ति नहीं देखा। चाहे कोई भी विषय समझा रहे हों, प्रमाणरूप वाणी, परिपूर्ण ज्ञान। विद्यार्थियों पर उनके प्रेम की सीमा नहीं थी। उनकी सुविधा के लिए वे कितना भी कष्ट उठाने के लिए तैयार रहते थे।

डा० रामन् अपनी राय दो टूक शब्दों में कह दिया करते थे। स्वयं अपने विषय में भी कभी छिपाव-दुराव न करते। उनकी एकाग्रता ऐसी तीव्र थी कि जब मस्तिष्क में एक विचार भरा हो, दूसरा विचार वहां पैठ ही नहीं सकता था। १९२८ में एक दिन वे हमें उच्चतर गतिशास्त्र पढ़ाने वाले थे। ठीक समय पर वे कक्षा में आये। दस मिनिट तक बिलकुल गूंगे की तरह स्तब्ध खड़े रहे।

फिर उन्होंने कहा—"नवयुवको, आज मुझे आय्लर का समीकरण आप लोगों को समझाना था। मगर इस समय मैं ऐसी मनोदशा में नहीं हूं कि उस विषय पर कुछ भी कह सकूं। मेरे मस्तिष्क में और ही कोई विषय भरा हुआ है। कल रात एक बजे से सवेरे छः बजे तक मैं कार्बन यौगिकों की 'आप्टिकल एनिसोट्रोपी' की एक समस्या हल करने में लगा था। अंत में हल कर ही डाली। मैं उसी जोश में हूं। वही बताऊंगा।" और घंटे-भर उन्होंने उसी विषय पर भाषण दिया।

जिनसे प्रेम करते, उन पर वे अनुग्रह की तरह अधिकार भी चलाते थे। उनके पढ़ाते समय एक बार उत्साह में आकर अन्य चार सहपाठियों के साथ मैंने भी आइ. सी. एस. के लिए अर्जी भर दी। उन्हें पता चल गया। क्लास समाप्त होते ही मुझे कान पकड़कर घसीटते हुए अपने कमरे में ले गये और पीठ पर तीन घूँसे जमाकर बोले—"बैठ।" और मेरे बैठते ही गरज उठे—"घोंचूदास! जब तू बारह साल का था, तब तूने मुझे क्या वचन दिया था? अब वह वचन तोड़ने चला है?"

मैंने कहा—"गलती हो गयी।"

पहले से टाइप करवाकर रखा हुआ एक पत्र मेरे सामने रखकर आज्ञा दी—"कर इस पर हस्ताक्षर।" मैंने वैसा ही किया। उन्होंने तुरन्त उसे लिफाफे में डालकर डाक में डलवा दिया। वह आइ. सी. एस. की अर्जी वापस लेने की चिट्ठी थी।

मेरे साथ अर्जी भरने वाले शेष चारों सहपाठी आइ. सी. एस. की परीक्षा देकर, उत्तीर्ण होकर सरकारी यंत्र के पुर्जे बन गये। रामन् की कठोर कृपा केवल मुझ पर रही। और उसके लिए मुझे पछताना नहीं पड़ा। उनका वरद हस्त अन्त तक मुझ पर रहा।

बेंगलूर में कई वर्ष प्राध्यापक रहकर मैं १९३८ में हैदराबाद के निज़ाम कॉलेज में चला आया। १९४४ में उसमें बी. एस-सी. की कक्षा आरम्भ होने वाली थी। मेरी इच्छा थी कि उसका प्रथम लेक्चर मेरे गुरु के श्रीमुख से हो। प्रिंसिपल की सलाह ली तो उन्हें सन्देह हुआ कि क्या इतने बड़े आदमी आयेंगे? मैंने कहा कि मैंने पत्र भेज दिया है। बोले—"लाइये, देखूं चिट्ठी।" मैंने बताया कि हाथ से ही लिख दी थी, नकल नहीं है। "हाथ से घसीटे हुए निमंत्रण पर रामन् कैसे आयेंगे!" कहकर वे मुझ पर हँसे। मगर तीसरे दिन रामन् का स्वीकृति-पत्र मुझे मिल गया। सदा यही होता था।

शास्त्र-विवेचन में बहुत कठोर, पर व्यवहार में बहुत सरल—औपचारिकता से सर्वथा मुक्त। पतलून, कोट और पगड़ी से मंडित रामन् की मूर्ति सर्वपरिचित थी। वेश में वे बहुत ही सादे थे—लापरवाह कहे जा सकें, इस हद तक सादे।

भोजन के संबंध में भी यही। घर पर बहुत सादा खाते थे। मगर सदा शास्त्र में खोये रहने वाले रामन् को दावतों में पता ही न चलता कि क्या खाना और क्या नहीं। उम्र ढलने के बाद उन्हें मीठे की शिकायत रहने लगी थी। इसलिए दावतों में लेडी लोकसुंदरी रामन् का ध्यान सदा उन पर ही रखतीं। उनका हाथ निषिद्ध भोजन की ओर बढ़ता, तो वे फ़ौरन उन्हें टोक देतीं।

मगर वचन-निष्ठा में रामन् की समता कर सकने वाले विरले ही होंगे। [illegible] से पहले की घटना है। रामन् के एक [illegible] की [illegible], मैसूर [illegible] के [illegible] उच्च अधिकारियों में से एक बनने वाले थे। [illegible] हो चुकी थी। रामन ने

मिनिट पहले आये और वेदिका पर पहुंच गये। अध्यक्ष महोदय अभी नदारद थे। छः का घंटा बजा। व्यवस्थापकों के दिल धड़कने लगे।

रामन् ने चंद मिनिट तक बेचैनी से प्रतीक्षा की। फिर चट-से उठकर "अभी तक दर्शन न देने वाले अध्यक्ष महोदय!" कहकर सूने सभापति-आसन पर नजर डालते हुए भाषण आरंभ कर दिया। कई मिनिट बाद अध्यक्ष पधारे। चुपचाप आकार वेदिका पर विराजमान हुए। मुझे राजाओं के भी आगे न झुकने वाले ऋषियों की याद हो आयी।

उनके समवयस्क और उनसे कम उम्र के वैज्ञानिक शोध के क्षेत्र से निवृत्त होकर अपने पुराने कार्यों का सिंहावलोकन करने में ही तृप्त रहने लगे थे, मगर अस्सी पार करने लेने पर भी मेरे गुरु श्रम करते रहे।

यह नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि उन्होंने अंत समय तक कैसे बचाये रखी है?—मैं अक्सर आश्चर्य किया करता। विज्ञान की हलचलों की नयी-से-नयी खबर की जानकारी रखना ही शायद उनकी दृष्टि की इस ताजगी का कारण रहा होगा। रात को सोने से पहले भौतिकी की कोई नयी पुस्तक पढ़ने का उनका नियम कभी नहीं टूटा। जब वे बेल्गाम आये, तो रोटरी में भाषण समाप्त करके घर लौटने में रात के एक बज गये। मैं सीधा सोने चल दिया। तुरत गुरुजी का दंड-प्रहार हुआ—"क्यों, बहुत बड़े आदमी हो गये हो? रोज रात को भौतिकी की कोई नयी पुस्तक पढ़नी चाहिये, मेरा यह कहना भूल गये?" यह कहकर उन्होंने स्लेटर और फ्रांक रचित और हाल में ही प्रकाशित 'इंट्रोडक्शन टु थियोरेटिकल फिजिक्स' नामक पुस्तक अपने संदूक से निकालकर मेरे हाथ में थमा दी। स्वयं भी एक किताब लेकर बैठ गये। जब हमारी पढ़ाई खत्म हुई, पौ फट रही थी।

सी. वी. रामन् के शोध मुख्यतया आधारभूत शोध थे। उनके व्यावहारिक उपयोग की चर्चा करना व्यर्थ है। ज्ञान की सीमा का जब भी विस्तार होता है, तब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से और कई बार अप्रत्याशित रूपों में उसका व्यावहारिक लाभ मिलता ही है। उदाहरणार्थ, कुछ समय के लिए 'रामन् प्रभाव' मानो पृष्ठभूमि में दब गया था, मगर अब लेजर-युग में फिर से विज्ञान के हरावल में आ गया है।

परपरागत अर्थ में रामन् को धार्मिक नहीं कहा जा सकता था। परतु विश्व के कण-कण की वृत्ति-प्रवृत्तियों का नियमन करने वाली कोई परमशक्ति है, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास था। उनकी मान्यता थी कि नास्तिक तो कोई हो ही नहीं सकता।

रामन् की वैज्ञानिक महिमा अप्रतिहत थी। परंतु उससे भी बड़ा था वह शाश्वत साम्राज्य, जो उन्होंने अपने शिष्यों के हृदय में स्थापित किया था।

(कन्नड 'कस्तूरी' से साभार)

❀ ❀ ❀



बर्ट्रंड रसेल

मेरी राय में बुढ़ापा यों बितायें

बुढ़ापे के प्रति लोगों की भीत दृष्टि ने ही आज मुझे लिखने को विवश किया है और मैं यहां बताना चाहता हूं कि हम बूढ़े होने से कैसे बच सकते हैं, या बुढ़ापे में पहुंचकर भी हम कैसे उसकी क्लान्ति-श्रान्ति से बच सकते हैं। ८६ वर्ष की उम्र में यह दावा करना मेरे लिए अनुचित नहीं है कि मैंने भी बुढ़ापा बिताने की कला में कुछ-न-कुछ दक्षता अवश्य प्राप्त की है।

इस प्रसंग में मेरी प्रथम सलाह तो यह है कि आप अपने पूर्वजों में से केवल उन्हीं व्यक्तियों को अपने सामने आदर्श के रूप में रखें, जो दीर्घायु रहे हों। मैंने भी यही किया। यद्यपि मेरे माता-पिता दोनों ही बहुत कम उम्र में मर गये, पर मेरे अन्य पूर्वज काफी लंबी उम्र तक जीवित रहे थे। मेरे नाना तो ६७ वर्ष की कम उम्र में ही मर गये थे, लेकिन मेरे दादा-दादी और नानी ८० वर्ष से अधिक उम्र तक जीवित रहे। अपने दूर के पूर्वजों में मुझे केवल एक ही व्यक्ति के बारे में यह बात ज्ञात है कि वे बहुत लंबी उम्र तक नहीं जिये थे। वास्तव में ही वे एक ऐसे रोग से मर गये थे, जिसका प्रचलन अब बहुत ही कम है—किसी ने उनका सिर काट दिया था।

मेरी एक परदादी, जो सुविख्यात इतिहासकार गिब्बन की मित्र थीं, ९२ वर्ष की उम्र तक जीवित रहीं और अन्तिम काल तक अपने पूरे परिवार पर उनका रौब गालिब रहा।

मेरी नानी के नौ बच्चे जीवित रहे। उनका एक बच्चा बचपन में ही मर गया था और तीन-चार गर्भ गिर गये थे। विधवा होने के बाद उन्होंने [illegible] उच्च शिक्षा के कार्यों में अपना समय लगाया। वे गिर्टन कॉलेज के संस्थापकों में से थीं और स्त्रियों के लिए चिकित्सा-व्यवसाय की दिशा खुलवाने के लिए उन्होंने बहुत परिश्रम और प्रचार किया था। वे बताया करती थीं—एक बार इटली में उन्हें एक वृद्ध व्यक्ति मिला। वह बहुत ही दुःखी दिखाई देता था। और

उसके दुःखी होने का कारण पूछा, तो उसने बताया कि हाल ही में वह अपने पौत्रों से विलग हुआ है। उसके इस उत्तर पर मैं बोली– मेरे ७२ पौत्र हैं। यदि प्रत्येक पौत्र के वियोग पर मैं भी तुम्हारी तरह दुःखी होने लगूं, तो मेरा क्या हो?"

उन ७२ पौत्रों में से मुझे भी एक पौत्र होने का सौभाग्य प्राप्त है। और मैं उनके इस विवेकपूर्ण उत्तर का पूर्ण समर्थक भी हूं। ८० वर्ष की उम्र पार कर चुकने के बाद, जब मेरी नानी को निद्रा कम आने लगी, तो अर्द्धरात्रि से लेकर तीन बजे तक का समय वे विज्ञान के अध्ययन में बिताने लगीं। मेरा ऐसा विश्वास है कि उनके पास यह सोचने का समय ही नहीं था कि वे वृद्ध हो रही हैं। मेरी राय में सदैव और विशेषतः बुढ़ापे में भी युवा बने रहने का यही सर्वश्रेष्ठ तरीका है। मैं तो मानता हूं कि यदि आपकी रुचियां तथा आपका कार्यक्षेत्र काफी व्यापक एवं वैविध्यपूर्ण हैं और आप उनमें रम जाते हैं, तो कोई कारण नहीं कि आप बैठकर अपनी उम्र के आंकड़े गिनें कि कितने वर्ष आप बिता चुके हैं, और ज्यों-ज्यों आंकड़े बढ़ते जायें, अपने भविष्य के बारे में शंकालु होते जायें।

अपने स्वास्थ्य के संबंध में मुझे कुछ भी नहीं कहना है; क्योंकि मुझे बीमारी का बहुत ही कम अनुभव है। जो इच्छा होती है, मैं खाता-पीता हूं; और तभी सोता हूं, जब मेरे लिए जगे रहना कठिन हो जाता है। मैं कोई भी काम इसलिए नहीं करता कि वह स्वास्थ्य के लिए हितकर है, यद्यपि यह सच है कि मैं जो काम पसंद करता हूं, उनमें से अधिकतर अहितकर नहीं होते।

जहां तक मेरा अनुभव है, दो खतरे ऐसे जरूर हैं, जिनके प्रति वृद्धावस्था में अवश्य सतर्क रहना चाहिये। उनमें से एक यह है कि अतीत की स्मृतिया बहुत अधिक एकत्र नहीं करनी चाहिये। बीते दिनों पर खेद प्रकट करने से, अथवा जो शेष नहीं हैं उनके लिए दुःखी रहने से सचमुच कोई लाभ नहीं है। इसके बजाय विचारों को भविष्य पर केंद्रित करना चाहिये और नये कामों को उठाने की प्रवृत्ति जगानी चाहिये।

लेकिन अतीत से सहसा मुक्त हो जाना भी इतना सरल नहीं होता; क्योंकि आत्मविकास के साथ अतीत भी हमारा एक अविभाज्य अंग होता जाता है। अतः अतीत का मोह बड़ा स्वाभाविक है। वर्ड्स्वर्थ ने एक कविता में लिखा है कि कल्पना की रंगीनी ही एक ऐसी लुभावनी वस्तु है, जहां आदमी अतीत को भूल सकता है। मैं कवि की इस अनुभूति को सत्य मानता हूं और चाहता हूं कि हम लोग, अर्थात् हम बूढ़े, यदि शेखचिल्ली की तरह कल्पनाएं किया करें, दिवास्वप्न देखा करें, भविष्य की अनकही-अनदेखी रंगीनियों में बालकों-जैसे खो जाया करें, तो भी यह सब हमारे लिए हितकर ही है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि भविष्य अतीत से सदैव सुंदर घटता है।

दूसरी बात, जो ऊपर की बात से भी ज्यादा जरूरी है, यह है कि आप बड़ी उम्र वालों की सन्तान का विशेष आग्रह कभी मत दिखाइये। शादी के बाद से उनके समय और शिक्षण पर भार मत डालिये। स्मरण रखिये, जब आपके बच्चे बड़े हो जाते हैं, तो वे स्वाभाविक स्वातंत्र्य से ही अपना जीवन बिताना चाहते हैं। यदि आप उनकी चिंता वैसे ही करना शुरू करें, जैसे कि आप उनके बचपन में करते थे, तो आप उनके लिए बोझ बन जायेंगे।

मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि आपको उनसे बिलकुल अलग हट कर रहना चाहिये। बल्कि यह कि आप उनके बारे में उतनी ही चिंता कीजिये, जितनी कि उनके लिए सुखावह एवं पोषक हो। आपकी चिंता का अर्थ, कहीं [illegible] न हो जाये! आपने भी देखा होगा कि जैसे ही पशु-शावक अपनी देखभाल करने में सक्षम हो जाता है, उसके माता-पिता उसकी चिंता करना बंद कर देते हैं लेकिन मनुष्य—जो बचपन के दिन को अपेक्षाकृत अधिक लम्बा मानता है—ऐसा करने में न जाने क्यों कठिनाई अनुभव करता है।

मेरा ऐसा मत है कि वृद्धावस्था उसी व्यक्ति की सफल हो सकती है, जो निष्काम-भाव से काम में लीन रहता हो। वास्तव में, इस अवस्था में जितना ही निष्काम-भाव रखेंगे, उतना ही सुख आपको मिलेगा। निष्कामता का मतलब है—उत्तरोत्तर धीरे-धीरे मुक्त होकर, 'स्व' का मोह त्यागकर 'पर' से अनुराग रखना। यह परानुराग ही बुढ़ापे का अमृत है। व्यक्ति से हटकर आप व्यक्तियों से जुड़िये। स्त्रियों के लिए तो यह और भी जरूरी है। वृद्धावस्था में अपने अनुभवों से [illegible], जैसे अन्य किसी क्षेत्र में नहीं—ऐसा मानिये।

मैंने देखा है कि कुछ बूढ़े आदमी मृत्यु के भय से त्रस्त रहते हैं। इस भावना के लिए युवावस्था में तो कुछ औचित्य भी है। मगर बुढ़ापे में बिलकुल नहीं। जिन्हें युद्ध में मारे जाने की आशंका हो [illegible] धोखा देकर वे जीवन के आनंदों से वंचित कर दिये जाते हैं, तो यह उचित है पर ऐसा वृद्ध, जो जीवन के सुख-दुख को भोग चुका है और जीवन के कर्मों को जिसने पूरा कर लिया है, उसके लिए मृत्यु का भय कुछ लज्जास्पद-सा ही है। इस भय का [illegible] है। [illegible] इस भय पर विजय पाने का [illegible] मैं [illegible] आप अपनी रुचियों का क्षेत्र [illegible] करने की चेष्टा करें।

मेरी नजर में, मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन एक नदी के समान होना चाहिये, नदी प्रारम्भ में छोटी होती है, [illegible]

आती है, एक क्रम से उसका विस्तार होता है; फिर वह बड़ी मंथर गति से बहती है और बिना क्रमभंग किये अंत में समुद्र में विलीन हो जाती है। समुद्र में अपने अस्तित्व को समाप्त करते समय वह किसी भी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं करती। जो वृद्ध पुरुष जीवन को इस रूप में देखता है, मृत्यु के भय से मुक्त रहता है। यदि बल घटने से थकान बढ़ती है, तो विश्राम की कल्पना ऐसी नहीं है कि उसका स्वागत न किया जा सके।

मैं ऐसे समय मरना चाहूंगा, जब कि मैं काम करता रहूं। उस वक्त मैं सोचूंगा कि जो कुछ करना मेरे लिए सम्भव था, मैंने कर लिया है; और जो मैं नहीं कर सका हूं, उसे आगे की पीढ़ी पूरा करेगी।

❀ ❀ ❀

बुढ़ापे और बूढ़े होने के एहसास को एक ही चीज न समझिये। बूढ़े होने का एहसास किसी भी उम्र में हो सकता है। यह एहसास मुझे २५ और ३० वर्ष की उम्र में हुआ था।

—ई. एम. फार्स्टर

जब कभी अपने हृदय को प्रफुल्लित करना चाहो, अपने निकटवर्तियों के शुभ गुणों को चित्त में लाओ—जैसे कि एक की स्फूर्ति, दूसरे की विनम्रता, तीसरे की उदारता, चौथे की ऐसी ही कोई अच्छाई। अपने साथी-संगियों के चरित्र में प्रतिबिंबित सद्गुणों से बढ़कर हृदय को हर्षित करने वाली दूसरी चीज नहीं है। और ये प्रतिबिंब जितने अधिक हों, उतना ही अच्छा। सो इन प्रतिबिंबों को सदा अपनी आखों में संजोये रहो।

—मार्कस ओरेलियस



के. आर. एन. स्वामी

शाहजहां के खजाने में कुबेर का कोष

यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि पंचम मुगल सम्राट् शाहजहां के समान रत्नों का पारखी उस युग में दूसरा नहीं था। उसे रत्नों के सचय में इतनी रुचि थी कि गोलकुंडा की खान के केवल वही हीरे बाजार में पहुंच पाते थे, जिन्हें वह नापसंद कर देता था। यहां पर यह बात भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि १७२६ तक गोलकुंडा की खान ही विश्व की सबसे बड़ी हीरे की खान थी। पिट, रीजेंट, कोहेनूर आदि कितने ही ऐतिहासिक हीरे गोलकुंडा से ही प्राप्त हुए थे।

शाहजहां की परख और रत्न-सचय की उसकी रुचि के फलस्वरूप, पूर्वी देशों के प्रायः सभी बड़े-बडे जौहरी रत्न और रत्नों की बनी वस्तुएं बेचने के लिए शाहजहा के दरबार में आया करते थे।

जब शाहजहां वृद्धावस्था में अपने पुत्र औरंगजेब द्वारा बंदी बना लिया गया, तो खजाने की पूरी रत्न-राशि उसके पास मूल्य आंकने के लिए भेजी गयी थी। शाहजहां एक-एक चीज देखता और उसका मूल्य बताता चलता। बड़े-बड़े जौहरी उस समय वहां पर मौजूद थे। किसी की जबान न खुली। सभी सिर हिला-हिलाकर स्वीकारोक्ति देते रहे।

मूल्य आंकने मे शाहजहां को धोखा देना असभव था। कथा है कि उसके दरबार में रहने वाले अंग्रेज राजदूत सर टामस रो के पास एकशृंग (यूनिकार्न) के सींग की तरह की एक चीज थी। सर टामस को यह बात ज्ञात थी कि शाहजहां को अद्भुत वस्तुओं के सग्रह का बड़ा शौक है, अतः उसने एक दिन बात-बात में उसे बेचने की चर्चा चलायी। उस सींग के सबंध में उसने शाहजहां से कहा कि यदि इसमें कोई तरल विष रखा जाये, तो उसका जहर समाप्त हो जायेगा। उसका जो दाम बताया गया, शाहजहां को वह ठीक नहीं जंचा। अत' उस बात को वह बड़ी मधुरता से टाल गया। सर टामस रो को इससे बड़ी निराशा हुई और अत मे उसने उसे बड़े सस्ते मूल्य में एक उच्च सैन्याधिकारी के हाथ बेच दिया।

पर शाहजहां में एक अनोखा गुण यह भी था कि वह सचय को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देता था, बल्कि बड़ी-बड़ी चीजें लोगों को प्रायः पुरस्कार में या भेंट के रूप में दे देता था। एक दिन उसके पास गोलकुंडा से एक हीरा आया, जिसमें ध्रुवतारे से भी अधिक चमक थी। उस हीरे को देखकर उसकी इच्छा उसे मक्का-स्थित नबी की मस्जिद को भेंट कर देने की हुई। अतः उसने सात सेर सोने के एक शमादान में उस हीरे को जड़ने की आज्ञा दी और उसे मक्का भिजवा दिया। यदि उस शमादान का मूल्य लगाया जावे, तो कम-से-कम एक करोड रुपया होगा।

शाहजहां को युद्धों से भी बड़ी सपत्ति मिली। उसके शासन के प्रारंभ के ही दिनों में जब शाही सेना ने गोलकुंडा पर आक्रमण किया, तो सुलह करने के लिए वहां के शासक ने दो सौ थाल रत्न भेजे। किंतु इतनी बड़ी भेंट देखकर शाहजहां की तृष्णा और बढ़ी, और उसकी सेना वहां से तीस करोड़ से अधिक की संपत्ति लूट कर ही हटी।

आज तक कोई इतिहासकार शाहजहां के खजाने का मूल्य कूत नहीं सका है। कहा जाता है कि उसके खजाने में फ्रांस तथा ईरान दोनों देशों के सयुक्त राजकोषों से अधिक धन था। उसके रत्न-भंडार में रत्नों का संचय इस कदर था कि एक बार कोषाध्यक्ष को शाहजहां से प्रार्थना करनी पड़ी कि कोषागार की दीवारें तोड़कर उसे और बड़ा करना होगा।

कोषागार की समस्या सुलझाने के लिए ही शाहजहां ने 'तख्ते-ताऊस' बनवाया, जिसका मूल्यांकन उस समय ५.३ करोड़ रुपये किया गया था। एक इतिहासकार ने लिखा है–"तख्ते-ताऊस के लिए आज्ञा जारी हुई कि बड़े-बड़े माप के मानिक, रक्तमणि, मोती, हीरे, पन्ने आदि ७ मन तथा सोना ३५ मन स्वर्णकार-विभाग के अधिकारी को दे दिया जाये।" राज्य के सबसे कुशल कारीगरों ने उस तख्त को सात वर्षों में तैयार किया था।

शाहजहां ने अपने शासन-काल में बहुत-सी इमारतें बनवायीं तथा वह स्वयं भी बड़े ठाट-बाट से रहता था; लेकिन कहा जाता है कि जब वह तख्त से उतारा गया, तो उसके कोष में उस समय की अपेक्षा अधिक धन था, जब वह गद्दी पर बैठा था। रत्नों में बिना तराशे हीरे लगभग अस्सी रतल (लगभग ५० लाख कैरट), मानिक सौ रतल, पन्ना सौ रतल तथा मोती ६०० रतल थे। इनके अतिरिक्त छोटे-मोटे अथवा कम मूल्य के रत्नों की सख्या बताना ही कठिन है।

उसके शस्त्रागार में दो हजार तलवारें ऐसी थीं, जिनकी मूठों में हीरे जड़े थे। दरबार में १०३ कुर्सियां ठोस चांदी की तथा पांच ठोस सोने की थीं। इनके अलावा दो सोने के और तीन चांदी के सिंहासन राजकुमारों के लिए और 'तख्ते-ताऊस' के अतिरिक्त बहुमूल्य हीरे-जटित सात सोने के सिंहासन शाहजहां के

लिए थे। उसके स्नान करने के टब का ही मूल्य आज १० अरब रुपये होता। सात फुट लंबा और पाच फुट चौडा वह टब बहुमूल्य हीरों से ऐसा जडा हुआ था कि सोना नजर ही न आता था।

शाहजहा के महल में २५ टन (लगभग ७०० मन) सोने के बरतन थे तथा ५० टन (लगभग १,४०० मन) चांदी के चाकू, सरौते आदि सामान थे। तोशाखाने के अधिकारी के पास उसके महल के इन बरतनों आदि की पूरी सूची थी। हर चीज पर शाही मुहर लगी होती थी और उसकी सुरक्षा का पूर्ण दायित्व उस अधिकारी के ऊपर था। केवल कपडे ही शाहजहा के पास एक करोड रुपये से अधिक के थे और ३५ लाख से अधिक के चीनी मिट्टी के बरतन।

इन रत्नों आदि के अतिरिक्त शाही महल में बड़े ही महत्त्व की वस्तु थी—पुस्तकालय। उसमें २४ हजार हस्तलिखित ग्रंथ थे। उस समय पुस्तकें इतनी सस्ती तो थीं नहीं, अतः कहना चाहिये कि उनका भी मूल्य १ करोड रुपये से कम नहीं था।

यह ध्यान रखने की बात है कि ये आंकड़े अधिकागतः १७ वीं शताब्दी के हैं। तब से रुपये का मूल्य बहुत घट गया है।

शाहजहां की सपत्ति का कुछ अदाज, ब्रिटिश नरेश की सपत्ति से उसकी तुलना द्वारा किया जा सकता है। फरवरी १९५२ में ब्रिटिश नरेश की निजी सपत्ति लगभग ७५ करोड रुपये आकी गयी थी, जो शाहजहा की सपत्ति की तुलना में नगण्य है। यदि 'बैंक आव इग्लैंड' की सपत्ति भी ब्रिटिश नरेश की निजी सपत्ति मान ली जाये, तो भी शाहजहा की सपत्ति उससे किसी प्रकार कम नहीं थी!

❀ ❀ ❀

जो समय चिंता मे गया, समझो कूडेदान मे गया। जो समय चिंतन में गया, समझो तिजोरी मे जमा हो गया।

—चिंग चाओ



परशुराम

उर्वशी में उर्वशी कहां है

देवराज इंद्र बोले–"तुम्हारा अभिप्राय नहीं समझा, उर्वशी! यहां स्वर्ग में तुम्हें क्या कष्ट है? अच्छा आवास है, मनोरम उपवन है, बहुमूल्य वेशभूषा है, इतना अधिक वेतन पाती हो, सारे भोग उपलब्ध हैं। फिर भी तुम मर्त्यलोक में क्यों जाना चाहती हो? आजकल वहां पुरूरवा तो हैं नहीं, जो तुम्हें सिरमाथे रखेंगे। यहां तुम चिरयौवना, अनिंद्य सुंदरी और देवेंद्र-वंदिता हो; किंतु मर्त्यलोक में जाने पर तो थोड़े दिन बाद बूढ़ी हो जाओगी। तब कितना ही शृंगार करो या कितना ही अंगराग चुपड़ो, तुम्हारी ओर कोई भूलकर भी नहीं देखेगा।"

उर्वशी ने सिर नंवाकर कहा–"देवराज, मुझे यहां रहते-रहते अरुचि हो गयी है। यहां के सभी पुरुष तो मेरे वशंवद हो चुके हैं, उनकी एक-सी चापलूसी अब मुझे अच्छी नहीं लगती। पृथ्वी पर अवतीर्ण हो गयी, तो मेरे असख्य भक्त आ जुटेंगे, बहुत धन भी मिलेगा। बुढ़ापे के लक्षण दिखने लगे, तो फिर यहीं आपके समीप चली आऊंगी।"

"अच्छा, तुम्हें इतना अभिमान हो गया है! यहा तुम्हें क्या कम स्नेह-प्रेम या आदर मिलता है?"

"मनुष्य मुझे और भी अधिक प्यार करेंगे देवराज! मर्त्यलोक के एक कवि ने मेरे लिए लिखा है–'तुम्हारे कटाक्ष-मात्र से तीनों लोक चंचल हो उठते हैं, तुम्हारी पगध्वनि सुनते ही ऋषि-मुनियों के ध्यान-धारण खंडित और तपस्या के फल विनष्ट हो जाते हैं।' भला, अमरावती का कौन-सा कवि ऐसी कविता कर सकता है?"

"कविगण प्रायः मिथ्या लिखते हैं। यदि यह प्रमाणित कर दो कि तुमने यहां के सारे पुरुषों को जीत लिया है, तो मैं तुम्हें मुक्त कर दूंगा। क्या तुम देवर्षि-महर्षि सबको वश में कर सकती हो?"

"ये लोग बहुत पहले ही मेरे वश में आ चुके हैं महाराज!"

"अच्छा, तुम्हारी परीक्षा करूंगा। दिव्य मानव कौन होता है, जानती हो?

जो स्वर्ग और मर्त्यलोक दोनों जगह बिना किसी बाधा के सशरीर आ-जा सकते हैं, जैसे सनत्कुमार, सनातन और सनक तथा सनंदन। ये ब्रह्मा के मानस-पुत्र हैं। इन्हें नहीं छेड़ना चाहता–बड़े ही क्रोधी मुनि हैं। किंतु और भी तीन दिव्य मनुष्य यहां विचरने आये हुए हैं–कुतुक, पर्वत और कर्दम ऋषि। ये तीनों सर्वथा शांत, शिष्ट तथा निर्विकार हैं। इन्हें वश में कर सकोगी तुम?"

"यदि वे सचमुच पुरुष होंगे, तो क्यों नहीं कर पाऊंगी?"

"ये पुरुष ही नहीं, महापुरुष हैं।"

"तब मैं भी इन पर महा-नियंत्रण कर दिखाऊंगी।"

"अच्छी बात है। ये लोग देवर्षि नारद के मित्र हैं। नारदजी से कहूंगा। उन्हें तुम्हारा नृत्य देखने के लिए मेरे दरबार में आने का न्योता देकर, वे उन्हें साथ ले आयेंगे।"

नारदजी का निमंत्रण पाकर तीनों ऋषि बहुत प्रसन्न हुए। बोले–"हमने मयूर-नृत्य और खंजन-नृत्य देखे हैं, बब्बर-भालुओं के भी नाच देखे हैं; किंतु नारी-नृत्य कभी नहीं देखा। देखने का कौतूहल है। किंतु सुना है, उर्वशी तो अप्सरा है। वह नारी है या नहीं?"

नारदजी ने उत्तर दिया–"ऐसी नारी है कि जिसके लिए पुरुष का हृदय अपना आपा खो बैठता है और उसकी धमनियों में रक्त तीव्र गति से बहने लग जाता है। उसका नृत्य देखकर तुम लोग मुग्ध हो जाओगे। बस, अब इंद्रसभा में जाने की तैयारियां कर डालो।"

पर्वत ऋषि की दाढ़ी थी गले तक, कर्दम की छाती तक, और कुतुक की घुटनों तक। ये लोग यथासाध्य भव्य वेश धारण कर देवसभा में उपस्थित होने के लिए प्रस्तुत हो गये। पर्वत ने एक वल्कल पहना। कर्दम ने केवल कौपीन बांधा; उनके पास वल्कल था ही नहीं। महामुनि कुतुक एकदम सर्वस्वत्यागी और अकिंचन थे, उनके पास वल्कल भी नहीं था, लंगोटी भी नहीं थी। अतः उन्हें दिगंबर ही रहना पड़ा। नारदजी ने कहा–"भाई कुतुक, न हो तो तृणगुच्छों की एक मेखला ही पहन लो।" कुतुक ने उत्तर दिया–"कोई आवश्यकता नहीं, आजानुलंबित श्मश्रु ही मेरा वस्त्र है।"

पाद्य, अर्घ्य, आसन इत्यादि देकर देवराज इंद्र ने तीनों नवागत ऋषियों का यथाविधि सत्कार किया और कहा–"हे महातेजस्वी, तपःसिद्ध, जितेंद्रिय महर्षि-त्रय! स्वर्ग की प्रधान अप्सरा उर्वशी आपके मनोरंजनार्थ एक अभिनव नृत्य दिखायेगी–निर्मोक-नृत्य, मर्त्यलोक में प्रातीच्य खंड के मर्त्य-गण जिसे 'स्ट्रिप-टीज' कहते हैं। यहां अग्नि, वायु, वरुण आदि देव-गण, नारदादि देवर्षि-गण, अगस्त्यादि ब्रह्मर्षि-वृंद सभी उपस्थित हैं, मेनका, रंभा आदि प्रसिद्ध अप्सराएं भी हैं। आपके

आगमन से हम सब कृतार्थ हुए हैं। सो अब यदि अनुमति दें, तो उर्वशी अपना नृत्य आरंभ कर दे।"

समागत महर्षि-त्रय के अगुआ होकर महामुनि कुतुक ने कहा—"हां-हां, विलंब की क्या जरूरत है! हम लोग नृत्य देखने के लिए गर्दन ऊंची किये बैठे हैं।"

लास्य-नृत्य के उपयुक्त वेशभूषा के ऊपर एक लबादा ओढ़े उर्वशी इंद्रसभा में प्रविष्ट हुई। सबको प्रणाम करके करबद्ध निवेदन किया—"हे महाभाग देव-गण एवं अग्निकल्प महर्षि-गण! मैं आपको जो निर्मोक-नृत्य दिखाऊंगी, उसमें क्रमशः मेरी देहयष्टि अनावृत होती जायेगी। आपको इसमें कोई आपत्ति तो नहीं है?"

कुतुक ने अपना सिर और दाढ़ी हिलाकर कहा—"आपत्ति किस बात की! सारे जंतुओं की भांति, तुम्हारी देह भी तो पंचभूत की समष्टि ही है। उसमें नारीत्व कहा है, हम यही तो देखना चाहते हैं।"

उर्वशी ने फिर एक बार सविनय कहा—"मेरे नृत्य में यदि आपको कुछ अशिष्ट अथवा कुत्सित दिख पड़े, तो कृपया उसी क्षण टोक दें; मैं नृत्य रोक दूंगी।"

लबादा फेंककर उर्वशी ने मणि-मुक्ता-स्वर्ण-मंडित, आंखों को चौंधिया देने वाला अपना रूप-विलास प्रकट किया। उसके बाद कुछ देर तक वह नाची और फिर उसने अपना दुपट्टा खोलकर फेंक दिया।

पर्वत ऋषि ने हाथ उठाकर कहा—"उर्वशी, बंद करो अपना यह नाच! शालीनता की सीमा लांघ रही हो। इस चित्त-पीड़क नृत्य को हम अब और अधिक नहीं देखना चाहते।"

महामुनि कुतुक ने धमकी देकर कहा—"तुम्हारा चित्त पीड़ित होता है, तो हमें इससे क्या! तुम आंखें बंद किये बैठे रहो। नृत्य चलता रहेगा।"

उर्वशी ने चुपके से इंद्र से कहा—"देवराज, पर्वत ऋषि को वश में कर लिया!"

नृत्य चलता रहा। पर्वत ऋषि ने दोनों हाथों से आंखें ढंक लीं; किंतु वे कौतूहल रोक नहीं सके, अतः उंगलियों के बीच से देखते भी रहे उर्वशी को।

क्रमशः उर्वशी ने अपनी देह का ऊपरी भाग भी अनावृत कर दिया। तब कर्दम ऋषि ने आंखें बंद करके कहा—"उर्वशी, तुम्हारा यह जुगुप्सित नृत्य देखकर हमारी तपस्या नष्ट हो जायेगी। बस, अब बंद करो यह नृत्य।"

कुतुक ने भर्त्सना के साथ कहा—"क्यों बंद करे! तुम्हें यदि नहीं रुचता है, तो उठ जाओ न यहां से।"

सहास-नयन उर्वशी ने संकेत से इंद्र को बता दिया कि कर्दम भी वश में आ गये।

उसके बाद क्रमशः उर्वशी ने अपने सारे आवरण, सारे आभरण उतारकर, खोलकर जमीन पर फेंक दिये, कुंद-शुभ्र निर्वसन देहछवि प्रकट कर दी तथा पत्थर की प्रतिमा की तरह वह निश्चल-निःस्पंद खड़ी हो गयी।

इंद्रसभा के देवर्षि-गण और महर्षि-गण एक स्वर में बोल उठे—"वाह! वाह!"

कुतुक ने कहा—"रुक क्यों गयी, उर्वशी? और भी निर्मोक (केंचुल) त्यागो।"

नारदजी ने कहा—"अब और कौन-सा निर्मोक शेष है? उर्वशी ने सभी तो त्याग दिये!"

कुतुक ने कहा—"वह जो उसके सारे शरीर पर पद्म-पलाश-सम श्वेतारक्त चिकना-सा आवरण ढंका है?"

"अरे, वह तो उसकी देह की त्वचा है!"

"उसे भी उतार दे न।"

"पागल हो गये हो क्या कुतुक? गात्र की त्वचा तो शरीर का ही एक अंग है, वह आवरण नहीं।"

"आवरण न सही, निर्मोक तो है ही। उर्वशी को यह खोल भी उतार फेंकना चाहिये, जिससे उसके नीचे क्या है, यह हम देख सकें।"

नारदजी बोले—"क्या है? सुनिये, मैं बताता हूं। चमड़े के नीचे चर्बी है और उसके नीचे मांस और उसके नीचे हाड का निरा कंकाल।"

"और उसके नीचे क्या है?"

"कुछ भी नहीं।"

"जिसके प्रभाव से अकस्मात् पुरुष का हृदय अपना आपा खो बैठता है और उसकी धमनियों में रक्त लहराने लगता है, उर्वशी का वह सर्व-विमोहक नारीत्व कहां है?"

"नारीत्व है उसके वस्त्रों में, आभूषणों में, अंग-प्रत्यंग में, भाव-भंगिमा में और अनुरागी पुरुष के चित्त में। तुम तो वीतराग हो, अपनी सारी चित्तवृत्तियों को चुन-चुनकर खा गये हो! तुम उसे कहां से, किसके माध्यम से देखोगे?"

महामुनि कुतुक ने क्रुद्ध होकर कहा—"मुझे प्रवंचित करने लाये थे तुम यहां? यह उर्वशी तो एक अंत:सार-शून्य जंतु-मात्र है, भेड़-बकरियों की देह और इसकी देह में अंतर ही क्या है? ओ रे पर्वत, ओ रे कर्दम, चलो हम लोग चलें। यहां देखने योग्य कुछ भी नहीं है।"

उर्वशी को इस तरह अपमानित देखकर मेनका, घृताची, मिश्रकेशी आदि अप्सराओं का दल आनंद से तालियां बजाने लगा।

*　　*　　*

कुतुक, पर्वत और कर्दम तथा अन्य सबके सभा छोड़कर जाने के बाद, उर्वशी मुंह नीचा किये आंसू गिराने लगी।

इंद्र ने कहा—"उर्वशी, शांत हो जाओ! निरंतर विजय करना किसी के भाग्य में नहीं लिखा। मैं भी तो एक बार वृत्रासुर से पराजित हुआ था।"

उर्वशी बोली–"इसे क्या पराजय कहते हैं, देवराज? वह कुतुक ऋषि तो एक नामर्द, तुच्छ, नष्टेंद्रिय पागल है। उसके द्वारा सुधर्मा (इंद्रसभा) में मेरा अपमान कराकर आपको क्या लाभ हुआ? मैं अब अमरावती में नहीं रहूंगी, मर्त्यलोक भी नहीं जाऊंगी–बस तपस्या करूंगी।"

इसके बाद उर्वशी ने सिर मुंडा लिया, तुलसी की माला पहन ली और माथे पर तिलक लगाकर नित्यधाम गोलोक में पहुंच गयी। उसे हरि-चरण-कमलों में आश्रय मिल गया।



प्रातःकाल सम्राट् पुष्यमित्र के अश्वमेध की पूर्णाहुति हो चुकी थी। रात को अतिथियों के सत्कार में नृत्योत्सव था। जब यज्ञ के ब्रह्मा महर्षि पतंजलि उसमें उपस्थित हुए, उनके शिष्य चैत्र के मन में गुरु के व्यवहार के औचित्य के विषय में शंकाशूल चुभ गया। उस दिन से उसका मन महाभाष्य और योगसूत्रों के अध्ययन में नहीं रमा। अंत में एक दिन जब महर्षि चित्तवृत्ति-निरोध के साधनों पर प्रवचन कर रहे थे, चैत्र ने यह प्रासंगिक प्रश्न किया–"भगवन्, क्या नृत्य-गीत और रस-रंग भी चित्तवृत्ति-निरोध में सहायक हैं?" पारद्रष्टा पतंजलि साभिप्राय मुस्कराये और बोले–"वत्स, वास्तव में तुम्हारा प्रश्न तो यह है कि क्या उस रात को मेरा सम्राट् के नृत्योत्सव में सम्मिलित होना संयम-व्रत के विरुद्ध नहीं था। संयम के सच्चे अर्थ को तुम नहीं समझे। सुनो सोम्य, आत्मा का स्वरूप है रस–रसो वै सः। उस रस को परिशुद्ध और अविकृत रखना ही संयम है। विकृति की आशंका से रस-विमुख होना ऐसा ही है, जैसे कोई गृहिणी भिखारियों के भय से घर में भोजन पकाना बंद कर दे, अथवा कोई कृषक भेड़-बकरियों के भय से खेती करना छोड़ दे। यह संयम नहीं, पलायन है–आत्मघात का दूसरा रूप है। आत्मा को रसवर्जित बनाने का प्रयत्न ऐसा ही भ्रमपूर्ण है, जैसे जल को तरलता से अथवा अग्नि को ऊष्मा से वियुक्त करने का प्रयास। इस भ्रम में मत फंसो।"

–'नवपुराण' से



डेल कार्नेगी

आराम करना सीखिये

थकान से शरीर की सघर्ष-शक्ति क्षीण हो जाती है और जुकाम आदि अनेक बीमारियां आ घेरती हैं। थकान के कारण भय और चिंता आदि मनोवेगों के विरुद्ध लड़ने की शक्ति का भी ह्रास हो जाता है। अतः थकान की रोकथाम के लिए डा० जेकब्सन का कहना है कि स्नायु अथवा मनोवेग सबंधी अवस्था कैसी ही खराब क्यों न हो, पूर्ण आराम द्वारा उसे ठीक किया जा सकता है।

इसलिए चिंता एवं थकान के निवारणार्थ पहला नियम यह है कि आराम कीजिये। थकने के पूर्व ही आराम कर लिया कीजिये, क्योंकि थकान विचित्र गति से बढ़ती रहती है।

अमरीकी सेना-विभाग ने निरतर परीक्षण करके इस बात का पता लगाया है कि वर्षों की सैनिक-शिक्षा से मजबूत बने युवक भी यदि अपने बंधन दूर करके थोडा आराम करें, तो ज्यादा अच्छी तरह से कवायद कर सकते हैं और ज्यादा देर तक मुकाबले मे टिक सकते हैं। इसीलिए सैनिक अनुशासन उन्हें आराम के लिए विवश करता है।

आपका हृदय भी उतना ही सक्रिय है, जितना कि सैनिकों का। आपका हृदय प्रतिदिन इतना खून बाहर फेंकता है कि उससे एक रेल्वे-टैंकर आसानी से भर सकता है। चौबीस घंटों में वह उतनी ही शक्ति उत्पन्न करता है, जितनी बीस टन कोयला ढोकर पहुंचाने के लिए आवश्यक है। आपका हृदय यह अपूर्व कार्य पचास, सत्तर अथवा नब्बे वर्ष तक करता रहता है। लेकिन वह इतना काम कैसे करता है?

हार्वर्ड मेडिकल स्कूल के डाक्टर वाल्टर कैनन इसके उत्तर मे बताते हैं—"बहुत-से लोगों का यह खयाल है कि हृदय यह कार्य निरंतर करता रहता है। वस्तुतः हर बार की सिकुडन के उपरात हृदय को निश्चित आराम मिलता है। वह प्रति मिनिट सामान्यतया सत्तर बार धड़कता है। चौबीस घंटों में वह केवल नौ घंटे काम करता है और पंद्रह घंटे विश्राम।"

द्वितीय महायुद्ध के दिनों में सर विन्स्टन चर्चिल सत्तर वर्ष की अवस्था में युद्ध-संचालन करते हुए प्रतिदिन सोलह घंटे कार्य करते थे। यह एक अपूर्व एवं विलक्षण बात थी। किंतु इसका रहस्य क्या था? वे प्रतिदिन सवेरे ग्यारह बजे तक बिस्तर में लेटे-लेटे ही अपना काम करते थे। वहीं वे कागजात अथवा पत्र पढ़ते, आज्ञाएं लिखवाते, टेलिफोन पर बातें करते तथा महत्त्वपूर्ण बैठकें बुलाते। दोपहर के भोजन के उपरांत वे पुनः एक घंटे के लिए सो जाते। सध्या का भोजन करने के पूर्व वे फिर दो घंटे सो जाते। उन्हें कभी थकान मिटाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ा; क्योंकि उन्होंने कभी थकान को पास फटकने ही नहीं दिया।

जान डी. राकफेलर ने जीवन में दो रेकार्ड स्थापित किये थे। एक तो उन्होंने अटूट दौलत जमा की। दूसरे, वे संसार में अपनी तरह के पहले व्यक्ति थे और वे अट्ठानवे वर्ष तक जीवित रहे। उनकी सफलता का रहस्य क्या था? सबसे प्रमुख कारण था, लंबी आयु जीने की उनकी कुल-परंपरा। दूसरा कारण था, प्रतिदिन दोपहर को अपने आफिस में आधा घंटा सो लेने की आदत। वे अपने आफिस के कोच पर लेट जाते थे और फिर चाहे राष्ट्रपति का ही फोन क्यों न आये, वे उठते नहीं थे।

डेनियल डब्ल्यू. जोसलिन का कहना है—"आराम का अर्थ बेकार पड़े रहना नहीं है। आराम का अर्थ है शक्ति का अर्जन।" थोड़े-से आराम से भी काफी शक्ति मिल सकती है। केवल पांच मिनिट की झपकी आपकी सारी थकान दूर कर सकती है। बेसबाल के पुराने खिलाड़ी कोनी मैक ने मुझे बताया कि जब कभी वह दोपहर में झपकी लिये बगैर खेलने चला जाता है, केवल पांच पारी तक खेल पाता है; किंतु जब वह पांच मिनिट के लिए भी सो लेता है, तो बिना थकान अनुभव किये पूरा खेल खेल लेता है।

एक बार मैंने श्रीमती एलीनर रूजवेल्ट से पूछा—"बारह वर्ष ह्वाइट हाउस मे रहकर आप थकाने वाले इतने बोझिल कार्यक्रम को किस प्रकार निभा सकीं?" उन्होंने उत्तर दिया—"किसी भी सभा में भाषण देने अथवा लोगों से भेंट करने के पूर्व मैं प्रायः बीस मिनिट तक अपनी कुर्सी पर आंखें मूंदकर आराम कर लिया करती थी।"

विख्यात आविष्कारक एडिसन भी जब चाहते, सो लेते थे और इसीलिए उनमें इतनी अधिक शक्ति एवं टिके रहने की क्षमता थी।

मेट्रो-गोल्डविन-मेयर के उच्च श्रेणी के निर्देशक जैक चरटोक जिन दिनों मुझसे मिलने आये, उन दिनों वे एम. जी. एम. के लघु-चित्र विभाग के अध्यक्ष थे। वे बड़े थके-मांदे और निर्बल थे। सभी पौष्टिक दवाओं एवं विटामिनों का प्रयोग वे कर चुके थे; किंतु किसी से भी कोई लाभ नहीं हुआ था। मैंने उन्हें रोज आराम

करने का सुझाव दिया। आराम कैसा हो, इस संबंध में मैंने उन्हें बताया कि वे आफिस में लेटे-लेटे अपने लेखकों तथा अन्य कर्मचारियों के साथ बातचीत करें।

दो वर्ष उपरांत जब मैं उनसे मिला, तो उन्होंने मुझे बताया–"अब मैं अपने को बीस वर्ष अधिक युवा अनुभव करता हूं। साथ ही पहले की बनिस्बत दो घंटे अधिक काम करता हूं; किंतु थकान अनुभव नहीं करता।"

अब सवाल यह उठता है कि यह सब आप पर कैसे लागू हो? यदि आप स्टेनोग्राफर हैं, तो एडिसन तथा चरटोक की भांति आफिस में सो नहीं सकते, और यदि आप एकाउंटेंट हैं, तो अपने अधिकारी के सामने लेटकर वित्तीय मसविदे पर विचार-विमर्श नहीं कर सकते। किंतु यदि आप किसी छोटे नगर में रहते हैं तथा दोपहर में भोजन के लिए घर जाते हैं, तो भोजन के उपरांत कम-से-कम दस मिनिट तो सो ही सकते हैं। जनरल जार्ज सी. मार्शल भी यही किया करते थे। युद्ध के दिनों में अमरीकी सेना का संचालन करने में इतने व्यस्त रहते हुए भी वे दोपहर को विश्राम करते ही थे।

यदि आप पचास वर्ष पार कर चुके हैं और आपको इतना करने का भी अवकाश नहीं है, तो तुरत अपना बीमा करवा लीजिये। इन दिनों अंत्येष्टि-संस्कार में काफी खर्च लगता है और मौत का भरोसा भी क्या!

यदि आप दोपहर को न सो सकें, तो कम-से-कम संध्या को आफिस से लौटने के बाद भोजन के पूर्व एक घंटा लेटने का प्रयास कीजिये। यह काफी सस्ता एवं लाभदायक उपाय है।

अतः आप भी वही कीजिये, जो सेना में किया जाता है–आराम कीजिये। जिस तरह आपका हृदय काम करता है, ठीक उसी तरह आप भी कीजिये–थकने के पूर्व ही आराम कर लीजिये। इससे आप अधिक काम कर सकेंगे।

❀ ❀ ❀

न प्राप्नुवन्ति यतयो रुदितेन मोक्षं स्वर्गायतिं न परिहासकथा रुणद्धि।
तस्मात् प्रतीतमनसा हसितव्यमेव वृत्तिं बुधेन खलु कौत्सकुचीं विहाय॥

–यतिगण रोने-कलपने से ही मोक्ष नहीं पा जाते हैं। यदि आगे स्वर्ग मिलने वाला होगा, तो हंसी-ठट्टे से उसमें बाधा नहीं पड़ने वाली है। इसलिए बुद्धिमानों को मुंह बिगाड़े रहने की आदत छोड़कर बेखटके हंसना चाहिये।

–'पादताडितकम्' से



र. शौरिराजन्

स्वरों की सम्राज्ञी

उस वर्ष मद्रास की सगीत विद्वत्-सभा के वार्षिक सगीत-महोत्सव में एक विलक्षण दृश्य उपस्थित हुआ। सभा के ४२ वर्ष के जीवन में पहली बार एक महिला को महोत्सव का अध्यक्ष बनाया गया। यह असाधारण सम्मान पाने वाली महिला थी श्रीमती एम. एस. सुब्बुलक्ष्मी, जो जीवन में अन्य भी अनेक अपूर्व सम्मान प्राप्त कर चुकी हैं।

एम. एस. सुब्बुलक्ष्मी को संक्षेपप्रिय दाक्षिणात्य 'एम. एस.' के नाम से अधिक जानते हैं। सगीत 'एम. एस.' की जीवनी है, और सजीवनी भी। वे सगीत की विरासत लेकर जनमीं, सगीत के बीच पलीं-खेलीं और सगीतमय होकर जी रही हैं।

तमिलनाडु के सास्कृतिक केंद्र, पांड्य राजाओं की प्राचीन राजधानी तथा भगवती मीनाक्षी की पुण्यनिवास-भूमि मदुरै में उनका जन्म हुआ। उनकी माता श्रीमती षण्मुखवडिवु अपने समय की मानी हुई वीणा-वादिका थीं। बालिका 'कुंजम्मा' (यह सुब्बुलक्ष्मी का लाड़ का नाम था) की प्रथम सगीत-गुरु भी वही थीं। बेटी को उन्होंने गायन और वीणा-वादन का अभ्यास बचपन से ही कराया। बाद में कर्नाटक सगीत का प्रौढ़-पाठ सुप्रसिद्ध संगीताचार्य श्रीनिवास अय्यगार से पढ़वाया।

परतु सुब्बुलक्ष्मी की कला के विकास में सबसे बड़ा प्रभाव पड़ा घर के वातावरण का। माता षण्मुखवडिवु स्वयं ही प्रसिद्ध कलाकार थीं और जो भी श्रेष्ठ गायक या वादक मदुरै आता, उसे आग्रहपूर्वक अपने घर बुलाकर उसका आतिथ्य करती थीं। ऐसे अवसरों पर नगर के सभी माने हुए सगीत-रसज्ञ और सगीतकार एकत्र होते थे। विज्ञ-जनो की इन गोष्ठियों में कलाधर अपनी समस्त कला उड़ेल देते थे। बालिका सुब्बुलक्ष्मी के चित्त-सस्कार और रुचि-परिष्कार में इन रसगोष्ठियों का बड़ा हाथ था।

दस वर्ष की अवस्था से ही वे अपनी माता के साथ सार्वजनिक संगीत-कार्यक्रमों में आने-जाने लगीं और सोलह साल की अवस्था से स्वतंत्र रूप से कार्यक्रम देने लगीं। अपनी असाधारण स्वर-संपदा की धाक श्रोताओं पर जमाने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा। लगभग बीस साल की अवस्था में ही उन्हें तमिल जनता ने 'कोकिलगानम् सुब्बुलक्ष्मी' कहना शुरू कर दिया।

कंठस्वर के वैविध्य-वैशिष्ट्य के वर्णन में समर्थ शब्दों के अभाव से पीड़ित इस आम्र-बहुल देश में 'कोकिलकंठ' स्वरमाधुरी का चरम प्रतीक है। इस अर्थ में सुब्बुलक्ष्मी को 'कोकिलगानम्' कहना गलत नहीं था। किंतु जैसा कि एक संगीत-मर्मज्ञ ने लिखा है, उनके कंठस्वर का सबसे परिपूर्ण उपमान है–शहनाई। वही स्वरपूर्णता, वही श्रुतिशुद्धता, वही थिरकन और वही मोहकता एवं मांगलिकता।

पिछले तीस वर्षों में यदि उनके स्वर में कोई परिवर्तन आया है, तो वह है–परिपक्वता, मार्दव और स्निग्धता। कंठध्वनि अधिक सुचिक्कण और प्रवाही हो गयी है, एवं रसभाव की अधिक समर्थ वाहक बन गयी है।

सुब्बुलक्ष्मी के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था विवाह। सन १९४० में बाईस वर्ष की इस जनप्रिय गायिका ने उत्साही समाज-सेवक एवं खादी-प्रचारक श्री टी. सदाशिवम् को अपना पति वरण किया। हीरे को कुशल जौहरी मिल गया। इस दांपत्य-सूत्र ने सुब्बुलक्ष्मी के गृह-जीवन को ही नहीं संवारा, बल्कि उनके कला-जीवन को भी निखारा। आज वे वैभव और विश्रुति के जिस शिखर पर आसीन हैं, वहां तक पहुंचने के लिए उन्हें प्रेरित और प्रोत्साहित करने वाले उनके पति ही हैं।

सदाशिवम् स्वयं कर्नाटक संगीत के रसज्ञ हैं। पत्नी के लिए उनमें ममता ही नहीं, महत्त्वाकांक्षा भी थी, और उसे साधने की व्यवहार-कुशलता भी थी। उन्होंने सुब्बुलक्ष्मी के संगीत-ज्ञान को व्यापक एवं गहरा, तथा उनकी प्रतिभा को प्रखर और परिष्कृत बनाने के लिए कर्नाटक संगीत के दो महाचार्य एवं सुविख्यात गायक मुदिरि सुब्रह्मण्य अय्यर और शेम्मंगुडि श्रीनिवास अय्यर से उन्हें विशेष शिक्षा दिलवायी।

माता से वीणा-वादन का जो ज्ञान प्राप्त किया था, वह उनके कला-विकास में विशेष सहायक हुआ। महर्षि भरत के काल से ही भारतीय गायन पर वीणा का गहरा प्रभाव रहा है, जो कि कर्नाटक संगीत में आज भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कर्नाटक संगीत के आचार्यों का यह मत है कि परिष्कृत राग-ज्ञान और शुद्ध स्वर-साधना के लिए वीणा-वादन का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। अपने समय की सबसे महान वीणा-वादिका श्रीमती धनम्माळ् से भी सुब्बुलक्ष्मी को प्रोत्साहन मिलता रहा। (स्व० धनम्माळ् आज की महान भरतनाट्य-नर्तकी श्रीमती टी. बालसरस्वती की नानी थीं।)

उनकी साधना का वर्णन उन्हीं के शब्दों मे सुनिये–"मैं प्रतिदिन सवेरे अपने स्वर को तानपूरे के स्वरों के साथ एकतान करके कई घंटों तक स्वराभ्यास करती थी। अभ्यास की दूसरी बैठक में मैं तानपूरे के बिना ही गाती थी। तीसरी बैठक में पहले मैं आलाप आरंभ करती, फिर तानपूरा छेड़ा जाता। मेरा स्वर और तानपूरे का स्वर पूरी तरह समस्वर हो जाते थे।"

उत्तर भारतीय श्रोताओं के समक्ष गाने का पहला बड़ा अवसर सुब्बुलक्ष्मी को १९४४ में विक्रम द्विसहस्राब्दी उत्सव के सिलसिले में बंबई में आयोजित अखिल भारतीय संगीत-सम्मेलन में मिला। उनके कोमल कंठ, परिष्कृत और अचूक राग-ज्ञान, कला-प्रतिभा और स्वर-साधना ने हिन्दुस्तानी संगीत के रसज्ञों को ही नहीं, आचार्यों को भी मुग्ध कर लिया। किंतु उत्तर भारत के कोने-कोने में उनका नाम पहुंचाया, उनके पति सदाशिवम् द्वारा निर्मित फिल्म 'मीरा' ने, जिसमें उन्होंने प्रेमयोगिनी मीरा की भूमिका बड़ी तन्मयता और भक्ति के साथ अभिनीत की थी।

यह चलचित्र तमिल और हिन्दी दोनों मे बना था और दोनों का निर्देशन उस समय के नामी निर्देशक एलिस आर. डंकन ने किया था। यों सुब्बुलक्ष्मी इससे पूर्व भी तीन तमिल फिल्मों मे अभिनय कर चुकी थीं–प्रेमचंद के उपन्यास पर आधारित 'सेवासदन', पौराणिक चलचित्र 'सावित्री' तथा 'शकुंतला' में।

मीरा के रूप में सुब्बुलक्ष्मी के भावपूर्ण अभिनय की प्रशंसा करते हुए श्रीमती सरोजिनी नायडू ने कहा था :

"उत्तर भारतवासियों से मैं सुब्बुलक्ष्मी का परिचय कराना चाहती हूं...मैं चाहती हूं, मेरे ये जीवित शब्द संसार के कोने-कोने में पहुंचें, जिससे लोग जान सकें कि किस प्रकार भारत की एक महान महिला कलाकार ने अपने गानों से लाखों-लाखों नर-नारियों के हृदयों को आप्लावित किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस अत्यंत प्रतिभाशालिनी गायिका की मोहक आवाज को जो भी सुनेगा, उसके हृदय में वही भावना-तरंगें उठेंगी, जो मेरे हृदय मे उठ रही हैं। बहुतों को शायद यह ज्ञात नहीं है कि सुब्बुलक्ष्मी का सुरीला कंठ कितने सत्कार्यों में सहायक हुआ है..."

सत्कार्यों की सहायिका के रूप में श्रीमती सुब्बुलक्ष्मी की सेवा स्तुत्य है। किसी भी जनसेवा-कार्य के लिए धन-संग्रह कराने में वे अपना संगीत-कार्यक्रम देने मे कृपणता नहीं करतीं। गांधी स्मारक निधि, कस्तूरबा निधि जैसी राष्ट्रीय निधियों से लेकर शिक्षणालयों और अस्पतालों तक अनेक सार्वजनिक संस्थाएं उनकी इस उदारता से लाभान्वित हुई हैं। अंदाज है कि इस प्रकार वे लगभग ५० लाख रुपये एकत्र करवा चुकी हैं।

दिल्ली में रामकृष्ण मिशन की सहायता के लिए आयोजित ऐसे ही एक संगीत-कार्यक्रम में अध्यक्ष-पद से बोलते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने सुब्बुलक्ष्मी को

सम्बोधित करके कहा था–"आप सम्राज्ञी हैं, संगीत की। मैं निरा प्रधान-मंत्री भला आपके सामने क्या चीज हूं!"

सन १९६३ में वे एडिनबरो के विश्वसंगीत-समारोह में कर्नाटक संगीत की प्रतिनिधि गायिका के रूप में भाग लेने पहली बार यूरोप गयीं। इस यात्रा में उन्होंने यूरोप के अनेक महानगरों के ऐसे संगीत-मंचों पर से गाया, जिन पर अब तक किसी भारतीय गायिका को अपनी कला प्रस्तुत करने का अवसर नहीं मिला था। आयोजकों को संशय था कि क्या पाश्चात्य संगीत-प्रेमी और समीक्षक भारतीय गायन में रुचि ले पायेंगे। किंतु पहली सभा में ही सुब्बुलक्ष्मी ने सबको मुग्ध कर लिया।

लंदन 'टाइम्स' के संगीत-विमर्शक ने लिखा–"इस भारतीय गायिका का गायन बहुत चित्ताकर्षक और भावनाओं को तरंगित करने वाला है। इनका कंठ इतना मधुर और सधा हुआ है कि उसमें अलौकिक नादप्रवाह द्वारा श्रोताओं को आत्मविस्मृत कर देने की क्षमता है।"

लंदन के ही एक और पत्रकार ने लिखा–"प्राय. ऐसा माना जाता है कि परायी संगीत-पद्धति के वाद्य संगीत की अपेक्षा गायन को समझ पाना अधिक कठिन होता है। परंतु यह धारणा सदा सच नहीं निकलती। श्रीमती सुब्बुलक्ष्मी कर्नाटक संगीत के सौंदर्य एवं बारीकियों की परिचयदात्री के रूप में अद्वितीय हैं।"

यूरोप से लौटते समय काहिरा में उनका एक विशेष संगीत-कार्यक्रम हुआ। यहां उनकी भेंट विख्यात अरब गायिका उम खल्थुम से हुई। दो संगीत-सम्राज्ञियों का यह मिलन अपूर्व था।

सन १९६७ की शरद ऋतु में श्रीमती सुब्बुलक्ष्मी राष्ट्रसंघ के निमंत्रण पर फिर पश्चिम गयीं। इस बार उन्होंने अपने पति के साथ अमरीका की चालीस दिन की कला-यात्रा की। २६ अक्टूबर को उन्होंने न्यूयार्क में राष्ट्रसंघ के सभा-भवन में विश्व के समस्त राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के समक्ष कर्नाटक संगीत के महान वाग्गेयकारों की कृतियां और कतिपय भजन प्रस्तुत किये।

इस अवसर के लिए उन्होंने दो विशेष गीतों का अभ्यास किया था। एक था कांची के कामकोटिपीठ के अधिपति श्रीशंकराचार्यजी का संस्कृत पद्यबंध। दूसरा गीत अंग्रेजी में था और राजाजी द्वारा रचित था।

यह स्वाभाविक ही था कि अमरीकी पत्रों में उन पर लेख छपें, टेलिविज़न पर उनके कार्यक्रम हों, उनके गायन के रेकार्ड तैयार किये जायें। राष्ट्रसंघ के फ़िल्म-विभाग ने उन पर एक छोटी फ़िल्म भी बनायी। इस कला-दिग्विजय में संगीत-कार्यक्रमों से जो भी आय हुई, उसे सुब्बुलक्ष्मी ने अमरीका की जनसेवा-संस्थाओं को समर्पित कर दिया। भारत लेना ही नहीं, देना भी जानता है–इसका यह सुंदर प्रमाण था।

सफलता के शिखर पर पहुंचकर भी उन्होंने संगीताध्ययन बंद नहीं किया है। विभिन्न भाषाओं के गीतों के अर्थसहित शुद्ध उच्चारण वे बड़ी सावधानी से सीखती हैं। हिन्दी की वे बड़ी हिमायती हैं और उन्होंने बाकायदा हिन्दी सीखी है। तमिल और हिन्दी के अलावा वे तेलुगु, कन्नड और बंगला के गीत भी गाती हैं। श्रीमती सिद्धेश्वरी देवी से उन्होंने ठुमरियां सीखी हैं और दिलीप कुमार राय से हिन्दुस्तानी संगीत का ज्ञान पाया है। दिलीप चंद्र वेदी ने भी उन्हें कुछ गाने सिखाये थे।

सुब्बुलक्ष्मी स्वभावतः भक्तिपरायण हैं। तिरुपति के भगवान वेंकटेश की स्तुति में रचित चालीस श्लोकों के 'श्रीवेंकटेशसुप्रभात' स्तोत्र का श्रीमती सुब्बुलक्ष्मी का रेकार्ड आकाशवाणी के दक्षिण भारतीय केंद्रों से प्रायः ही प्रसारित होता रहता है। संस्कृत के उच्चारण की स्फुटता, स्वर की अविश्रांत-अस्खलित विशुद्धता तथा भावपूर्णता की दृष्टि से इस रेकार्ड को चमत्कार कहना होगा। इस रेकार्ड से प्राप्त ६० हजार रुपये की रायल्टी उन्होंने तिरुपति की वेदपाठशाला को दान कर दी है।

संस्कृत की एक कहावत "दूरतः पर्वतो रम्यः" (पहाड़ दूर से ही सुंदर होते हैं), बहुधा कलाकारों पर भी लागू होती है। परंतु सुब्बुलक्ष्मी निकट से भी रम्यदर्शना हैं। उनका सौम्य-सुघड़ मुख-मंडल, चमकीली भावपूर्ण आंखें और शालीन भाव-भंगिमा आंतरिक शांति और सौजन्य को प्रतिबिंबित करती हैं। उनकी वेशभूषा में हिन्दू कुलवधू की संयत सुरुचि है। स्वभाव उनका सात्विक, सौम्य और निरहंकार है।

नारी और कलाकार के रूप में जीवन में जो कुछ स्पृहणीय हो सकता है, वह सब उन्हें उपलब्ध है—इतिहास में चिरस्मरणीय रहने वाला स्वर-माधुर्य, प्रतिभा, धन, सम्मान, अनुरूप-अनुरक्त पति, सुखमय शांत गृहजीवन। इनके अतिरिक्त एक और बड़ी संपदा उन्होंने अपनी गुणगरिमा से अर्जित की है। वह है—गुरुजनों का आशीर्वाद।

कांची के कामकोटिपीठ के जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य का विशेष कृपा-प्रसाद उन्हें उपलब्ध है। राजाजी का इस दंपति पर बड़ा वात्सल्य है, और सुब्बुलक्ष्मी एवं सदाशिवम् का भी राजाजी के प्रति वही व्यवहार है, जो कि कुलपितामह के प्रति आदर्श संतान का होता है। गांधीजी का भी सुब्बुलक्ष्मी को विशेष आशीर्वाद प्राप्त था। अपने अंतिम जन्मदिन पर गांधीजी ने सुब्बुलक्ष्मी से मीरा का पद "हरि तुम हरो जन की भीर" विशेष रूप से रेकार्ड करवाकर सुना था।

सुख-संपदा-सम्मान भाग्य की या परमेश्वर की अहेतुकी कृपा हो सकते हैं, अथवा पुरुषार्थ का न्यायोचित फल भी; परंतु इन्हें संभालने और पचाने के लिए संस्कारिता अपेक्षित है। और श्रीमती सुब्बुलक्ष्मी उस संस्कारिता की धनी हैं।

आज वे जीवन के उस चरण में हैं, जब कलाकार की साधना और तपस्या सहस्र रूपों से फलित होती है। वे संगीत नाटक अकादेमी का राष्ट्रीय पुरस्कार पा

चुकी हैं। राष्ट्रपति ने उन्हें 'पद्मभूषण' पदक से गौरवान्वित किया है। मद्रास संगीत विद्वत्सभा के वार्षिक संगीतोत्सव का अध्यक्ष-पद तथा 'संगीत-कलानिधि' की पदवी वे पा चुकी हैं, जो आज के युग में कर्नाटक संगीत के कलाधर को मिल सकने वाला सबसे ऊंचा सम्मान है।

किंतु इस पूर्णकाम कलाकार की एक कामना अभी शेष है। कर्नाटक संगीत की त्रिमूर्ति त्यागराज, मुत्तुस्वामि दीक्षितर और श्याम शास्त्री ने अपनी साधना-भूमि तिरुवारूर (जिला तंजाऊर) में जिन मकानों में नादोपासनामय जीवन बिताया था, उन्हें वे खरीदकर राष्ट्रीय निधि के रूप में सुरक्षित करना चाहती हैं। यदि कामना की निःस्वार्थता एवं सात्विकता उसके पूर्ण होने की गारंटी है, तो श्रीमती सुब्बुलक्ष्मी को उदास होने की आवश्यकता नहीं।

❀ ❀ ❀

वडिवेलु ट्रावंकोर के राजा स्वातितिरुनाळ् के दरबार के सबसे बड़े संगीतज्ञ थे। वायलिन पर उनका गजब का अधिकार था। एक बार दो डाकुओं ने उन्हें पकड़ लिया। एक ने उनकी वायलिन की पेटी छीन ली, दूसरे ने बाकी सब कुछ। वडिवेलु ने बड़ी विनय के साथ उनसे वायलिन लौटा देने की प्रार्थना की। डाकुओं ने भी सोचा, आखिर यह बाजा हमारे किस काम का, और उसे वडिवेलु के हाथ में दे दिया। वडिवेलु वहीं बैठ गये और बजाने लगे। शुरू में डाकू अनमनेपन से सुनते रहे, फिर उनकी आंखों में नरमी आ गयी। उनका चित्त संगीत की रसधार में बहने लगा। अंत में वे भाव-विभोर होकर वडिवेलु के चरणों पर गिर पड़े। उन्होंने वडिवेलु का सब कुछ वापस कर दिया। यही नहीं, उन्हें सुरक्षित जंगल के किनारे तक पहुंचा आये।

—पी. एन. कुंजन पिळ्ळै



गुजरात के एक जेलर की कलम से

जेल के सीखचों के पीछे

उसका नाम था गलिया सावकार। एक ढलती शाम को तगड़ी पुलिस-पार्टी उसे छोटा उदयपुर सब-जेल में छोड गयी और जेलर के नाते मुझे सचेत कर गयी कि गलिया बहुत खतरनाक आदिवासी है, दो खून कर चुका है; सावधान रहियेगा।

मगर कैदी की आंखें कुछ और ही कह रही थीं। गली में निर्द्वंद्व खेलने वाले बालक जैसी निर्दोष थीं उसकी आंखें। चेहरा बहुत ही दयनीय था। जैसे तेज तूफान में कोई वृक्ष जैसे-तैसे खड़ा हो, ऐसा था उसका व्यक्तित्व। दाखिले की कार्रवाई पूरी करते समय ही मैंने निश्चय कर लिया कि इससे बातचीत करूंगा।

चार-पांच दिन तक मैं गलिया के व्यवहार को बारीकी से देखता रहा। जब भी मैं उससे बातें करता, वह नजर नीची किये, दोनों हाथ जोड़े खड़ा रहता, उत्तर विवेकपूर्ण शब्दों में देता। उसके जीवन में कोई बिजली गिरी है और वह हतबुद्धि हो गया है, ऐसा प्रतीत हुआ। जब बातों का सिलसिला बढ़ा, तो निर्दोष बालक की तरह वह सारी बातें बताने लगा।

उसका वैवाहिक जीवन सुख-शांति से भरपूर था। पति-पत्नी में बहुत प्रेम था। एक बच्चा भी था। परंतु पत्नी जरा जिद्दी स्वभाव की थी। कितनी ही बार गलिया उसे समझा चुका था कि ज्यादा हट न किया करो। लेकिन इस एक बात में वह न सुधरी। फिर भी दोनों एक दूसरे पर जान छिडकते थे।

एक दिन पत्नी किसी बात पर जिद कर बैठी। गलिया के बहुत समझाने पर भी न मानी। बात बढ़ गयी, गलिया का क्रोध भड़क उठा। फिर उसे कुछ याद नहीं कि उसने कैसे मारा, पत्नी धराशायी हो गयी–निष्प्राण! बच्चा भी बीच में आ गया और मां के साथ ही स्वर्ग सिधार गया। फिर तो गलिया की वाणी ही बंद हो गयी। क्या बोले? किससे बोले? उसकी भावना, उसकी भाषा कौन समझता?

हमारी आत्मीयता बढ़ी। मुझे लगा कि बातें करने के लिए उसे कोई स्वजन चाहिये। उसे आये दो-तीन सप्ताह हो चुके थे; पर उससे मिलने कोई भी न आया

था। पूछने पर मालूम हुआ कि उसका दूर का एक संबंधी है। सोचा, शायद वह सहानुभूति दिखाये। उसे मैंने पत्र लिखा।

सचमुच एक दिन उस संबंधी का पत्र आया। फिर वह संबंधी पंचमहाल के जंगलों में कई घंटे चलकर बस और रेल की यात्रा करके जेल आया। उसने कहा कि यदि मुझे भी मुलाकात के लिए नियमानुसार चार बजे तक रुकना पड़े, तो मेरी गाडी छूट जायेगी और मुझे घर वापस लौटने में चौबीस घंटे का विलंब होगा; यदि एक बजे ही मिलने दिया जाये, तो ही मैं यहा आ-जा सकता हूं।

उससे मिलने पर गलिया में जरा चैतन्य का संचार हुआ। उस आदमी में भी गलिया के प्रति हार्दिक सहानुभूति दिखाई पड़ी। इसलिए मैंने उसे वचन दिया कि दोपहर में एक बजे ही उसकी मुलाकात करा दी जाया करेगी और उससे लगातार दो-तीन सप्ताह तक आते रहने को कहा। उसने भी इसका वचन दिया।

फिर तो यह रोज का कार्यक्रम-सा बन गया कि दोपहर को भोजन करके मैं अखबार हाथ में लेकर ज्यों ही शयन-कक्ष की खिड़की खोलता, गलिया का वह दूर का रिश्ते का भाई सामने हाथ जोडे, सिर झुकाये खडा मिलता। मैं कपड़े पहनकर आफिस जाता और गलिया से उसकी मुलाकात करवाता। कुछ मुलाकातों के बाद गलिया में बडा अंतर आने लगा। अब तो वह कभी-कभी हस भी देता था।

तभी एक दिन उसके मामले का अदालती फैसला आ गया। न्यायाधीश ने उसे फांसी की सजा दी थी। उसी शाम उसे बडौदा जेल भेज दिया गया। सजा सुनकर फिर से गलिया हतबुद्धि और निष्प्राण-सा हो गया। मन हुआ कि उसे स्टेशन तक विदा कर आऊं। गाडी छूटने तक उसे हिम्मत बंधाता रहा। गलिया चला गया।

परतु दुनिया का लेन-देन यों ही पूरा नहीं होता। दो-तीन महीने बाद मेरा भी तबादला बड़ौदा जेल में हो गया। वहां पहुचते ही फांसी वाला वार्ड मुझे सौंपा गया। पहले ही दिन राउंड के समय मुझे तीन-चार कैदियों के बीच में गलिया दिखाई दे गया। मुझे देखकर उसका चेहरा खिल उठा। हालचाल पूछा, तो कहने लगा—"साहब! अब तो आप हैं ही, इसलिए कोई चिंता नहीं। आपके सामने फांसी पर भी मैं हंसते-हंसते चढ जाऊंगा। मैं रोज भगवान से प्रार्थना करता था कि साहब की बदली यहीं करा दो और मेरी मौत सुधार दो। अब मुझे डर नहीं।"

किसी दिन कार्यव्यस्तता के कारण मै मिलने नहीं जा पाता, तो अगले दिन वह पूछता—"कल क्यों नहीं आये साहब? मैं आपकी राह देखता रहा।"

हाइकोर्ट में गलिया की अपील नामंजूर हो गयी। परतु राष्ट्रपति महोदय ने उसकी दया-प्रार्थना स्वीकार करके फांसी की सजा को आजीवन कारावास में बदल दिया। गलिया खुश हो गया। अब वह दूसरे कैदियों के बीच रहने लगा। परतु पत्नी के खून के समय उसके मस्तिष्क पर जो वज्रपात हुआ था, उसका असर नहीं

जा पा रहा था। वह किसी से विशेष बातचीत नहीं करता था। उसकी आखों से असीम वेदना झलकती थी। लगता था कि यदि कोई उसे सहारा नहीं देगा, तो वह मानसिक सतुलन खो बैठेगा।

जेल में आदिवासी कैदियों का एक नृत्य-दल था। मुझे लगा कि गलिया को उसमें शामिल करा दूं। पूछने पर पता चला कि वह ढोलक अच्छी बजाता है। परीक्षा ली गयी। सभी आदिवासी कैदी बड़े प्रसन्न हुए। पूरे दिन विषाद में डूबा रहने वाला गलिया ढोलक बजाते समय दूसरा ही आदमी बन जाता था। गुमसुम, भयभीत गलिया अदृश्य हो जाता और उसकी जगह आनंद में विभोर कोई दूसरा ही चेहरा दृष्टिगोचर होता। जैसे वह ढोलक की थापों मे अपने प्राण उडेल देता।

लगता था कि अब वह मानसिक सतुलन प्राप्त करता जा रहा है, मनुष्य बनता जा रहा है। वह नियम से काम-काज करता, ढोलक बजाकर आनंद पाता।

कुछ दिनो मे मेरी फिर बदली हो गयी। लगभग आठ महीने बाद छुट्टी मे बडौदा आया, तो जेल जाकर गलिया का पता लगाया। ज्ञात हुआ कि गलिया फिर से मानसिक सतुलन खो बैठा है और पागलखाने भेज दिया गया है। विशेष पूछताछ करने पर जानकारी मिली कि मेरे जाने के बाद कैदियों के आपसी झगड़े के कारण ढोलक बजाने का काम उससे छीन लिया गया था। पहले ही पैर घुटनो तक कटे हुए थे, अब बैसाखी भी छिन गयी। गलिया पागल हो गया।

मै भी उसके लिए पागल हो गया। उससे मिला। उसने मुझे पहचाना, परंतु उसका चेहरा घोर निराशा के गहरे रग में रगा हुआ था। जिसके लिए जिया जाये, ऐसी कोई वस्तु उसे नजर नहीं आ रही थी। अत्यंत दीन, गुमसुम दिखाई पडा वह। मैंने कहा—मैं तुझसे मिलता रहूंगा। बालक-जैसे नेत्रों से उसने कृतज्ञता व्यक्त की।

दिन गुजरे। छः-सात महीने बाद फिर बडौदा आना हुआ। पागलखाने गया। खबर मिली, कुछ महीने पहले ही गलिया आखिरी सांस ले चुका है।

श्रीअरविंद ने कहा है कि किसी दिन प्रेम मृत्यु पर विजय पा लेगा। परतु अभी तो जिस पर किसी का प्रेम न हो, उसे मृत्यु तुरत दबोच लेती है।

❀ ❀ ❀

तपेदिक और कोढ़ भयंकर रोग हैं; परंतु सबसे अधिक भयंकर रोग है—उपेक्षित होना।

—मदर टेरीसा



इला महेता

श्रमर्षि बाबासाहब आमटे

"मैं भगवान को 'शो-काज नोटिस' देने वाला हूं कि वह.....जैसे निष्ठावान, सेवापरायण व्यक्ति अधिक संख्या में क्यों नहीं पैदा करता।" इन विनोदपूर्ण किंतु भावभरे शब्दों में विनोबाजी ने जिन्हे श्रद्धांजलि दी थी, उन बाबासाहब आमटे का परिचय देने के लिए नया शब्द गढ़ना होगा, ब्रह्मर्षि-महर्षि की तुक पर–श्रमर्षि।

सूर्य की किरणों में सात रंग हैं, जो कभी-कभी स्वतंत्र रूप से गगन में अपनी छटा बिखेरते हैं, किंतु अंत में देदीप्यमान श्वेतवर्ण में समा जाते हैं। कुछ ऐसा ही बाबासाहब के जीवन में भी हुआ है। संसार के विभिन्न क्षेत्रों का दौरा करके उन्होंने एक ही व्रत में अपने जीवन को स्थिर कर दिया है। और वह व्रत है–सेवा। या नहीं, 'सेवा' जैसा बौना शब्द उनके श्रम की महिमा को नहीं छू सकता।

वस्तुतः जीवन-संघर्ष के अपराजेय सैनिक बाबासाहब के शब्दकोश में 'सेवा' शब्द है ही नहीं, और न 'दान', 'दया', 'आराम' आदि शब्द हैं। उनका तो कहना है–"दान नाश करता है, जबकि श्रम निर्माण करता है।" और उनका श्रम गीता-वर्णित कल्याण-यज्ञ का जीवंत निदर्शन है। समाज के तिरस्कृत, निराश्रित हजारों कोढ़ियों का आशीर्वाद ही इस यज्ञ का स्वस्तिवाचन है।

उन्हें देखकर महाकाव्यों के महारथी योद्धाओं की याद हो आती है–व्यूढोरस्को वृषस्कंधः। तेजस्वी आंखें और असत्य एवं अन्याय के साथ लोहा लेने के लिए लालायित रहने वाला वज्र-हृदय। ऐसा आदमी यदि अद्भुत-रम्य जीवन न जी पाता, तो यह आश्चर्य की बात होती। सचमुच किसी महान उपन्यास के नायक के जैसा है उनका जीवन। और जीवन के प्रति उनकी दृष्टि भी उतनी ही कौतुकप्रिय और उत्साहपूर्ण है। एक बार अपने एक मित्र को उन्होंने लिखा था–"इस संसार में हर क्षण को एक दिन और हर दिन को एक उम्र मानकर जीना चाहिये।"

बाबासाहब के पिता लेखा-निरीक्षक थे। वे चाहते थे कि उनका बेटा कमाऊ

वकील बने। बाबासाहब वकील तो बने; मगर कमाऊ वकील नहीं बन सके–अपनी प्रामाणिकता के कारण। लेकिन उनकी यह कामना थी ही कब?

जीवन के प्रत्येक क्षण को भरपूर जीने की अभिलाषा से प्रेरित होकर बाबासाहब ने अंधकार और प्रकाश, पवित्रता और पाप आदि सभी द्वंद्वों को भीतर घुसकर देखा-परखा है। शराब पी और छोड़ दी; बारह साल तक प्रतिदिन मांसाहार किया और फिर सदा के लिए उससे मुंह मोड़ लिया; बाघ का आमने-सामने खड़े होकर शिकार किया; ईश्वर की खोज में हिमालय की गुफाओं में छिपे आश्रमों की खाक छानी; 'गीतांजलि' का मर्म हृदयंगम करने के लिए ग्यारह वर्ष की उम्र में बंगला सीखी; गायिका मुमताज का संगीत सुनने के लिए पंद्रह साल की उम्र में कलकत्ता भाग गये; उदयशंकर के लिए नृत्य-रचना की और ग्रेटा गार्बो के चित्र की विवेचना लिखकर सदा के लिए उसकी मित्रता अर्जित कर ली। विवाह किया तो प्रेमविवाह; और उसके लिए गुंडों के छुरे भी खाये। पाणिग्रहण के समय वर महोदय के सारे शरीर पर पलस्तर पुता हुआ था और डाक्टरों का कहना था कि वे अधिक दिन जी न सकेंगे।

जैसा कि युवावस्था में प्रायः सभी मेधावी व्यक्तियों के साथ हुआ करता है, उन पर भी मार्क्स, प्रिंस क्रोपाटकिन, रस्किन का रंग चढ़ा, और कुमारप्पा का भी। अन्न ही ब्रह्म है–यह उनकी दृढ़ धारणा थी। कोई तो पांच मिनिट सलाह देने के पचास रुपये वसूल कर ले और दूसरा बारह घंटे जी-तोड़ श्रम करके भी पेट-भर खाना न जुटा सके–इस अन्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था ने उनके मन पर गहरे घाव किये। अंत में गांधी-विचारधारा के प्रभाव में आकर उन्होंने वकालत छोड़ दी और एक नया प्रयोग शुरू कर दिया। यह था–श्रमाश्रम।

'श्रमाश्रम' अर्थात् एक मित्र-बस्ती। भंगी से लेकर वकील तक अनेक पेशों के लोग सपरिवार यहां एकत्र हुए। श्रमजीवी और बुद्धिजीवी इन दोनों को तानाबाना बनाकर यहां जीवन-पट की बुनाई होने लगी। आश्रम के बगीचे में उपजी साग-भाजी स्वयं कंधे पर उठाकर बाबासाहब बाजार ले जाते और बेचने बैठते। भावताव कुछ न बताते। लोग आते और जो मन में आये, देकर सब्जी उठा ले जाते। कई बार तो यह भी होता कि कोई संपन्न आदमी कौड़ी के दाम पर बैंगन या टमाटर का टोकरा उठवा ले जाता और जाते-जाते यह भी कह जाता कि कैसा बुद्धू वकील है!

कई बार यह भी देखने में आता कि शाम को अंधेरा होने पर उसी संपन्न व्यक्ति का नौकर आता और मानो अपने मालिक का अपराध धोने के लिए एक ककड़ी के आठ आने दे जाता, जो शायद उसके एक दिन के वेतन से भी अधिक था। अंत में एक दिन जब एक सज्जन दो पैसे में अपना थैला बैंगनों से भरकर

चलने लगे, तो बगल में बैठे कुंजड़े ने डंडा उठाकर उन्हें ललकारा—"मेहनत का माल मुफ्त में खाते शरम नहीं आती!"

कुछ वक्त बाद सर्जीदा बीमारी और अनिवार्य परिस्थितियों के कारण बाबासाहब को श्रमाश्रम बंद करना पड़ा। लोगों ने तो इस प्रयोग को एक सनकी आदमी की खुराफात समझा था। परंतु इस प्रयोग से मिली जीवन-दृष्टि और शक्ति ने बाबासाहब के व्यक्तित्व को बहुत समृद्ध और गहरा बना दिया।

* * *

मूसलाधार पानी बरस रहा था। एक अपंग कुष्ठरोगी जमीन पर तड़प रहा था। आने-जाने वालों की दयादृष्टि क्षण-भर के लिए उस पर पड़ती व अगले क्षण फिसलकर दूर चली जाती। उस जीती-जागती मौत को छूने की हिम्मत भला किसमें थी! बाघ से दो-दो हाथ करने वाले, गुंडों की लाठियां खाने वाले, वकील होकर सिर पर मल की टोकरी निर्विकार भाव से उठाने वाले बाबासाहब का दिल यह दृश्य देखकर दहल गया, जैसा कि जीवन में कभी नहीं दहला था। रोग का भय! आदमी को आदमी से भय! इस भय की भयानकता की बड़ी तीव्र अनुभूति हुई उन्हें, और वे उस कुष्ठरोगी को अपने घर ले आये। यही घटना आगे चलकर एक पुनीत आयोजन का संकल्प-मंत्र सिद्ध हुई।

कुछ समय बाद चंद्रपुर जिले में वरोड़ा गांव से डेढ़ मील दूर कुछ परती जमीन खरीदकर छः कुष्ठरोगी, एक लंगड़ी गाय और अपनी मेहनत से अर्जित १४ रुपये की पूंजी लेकर बाबासाहब ने 'आनंदवन' की स्थापना की, जो नये मनुष्य गढ़ने की प्रयोगशाला है।

प्रारंभ से ही बाबासाहब की मान्यता थी कि उन्हें कुष्ठरोगियों की शारीरिक ही नहीं, सामाजिक समस्याएं भी हल करनी हैं। उन्होंने रोगियों को अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाने की दिशा में कदम उठाया। उन्होंने पंचतंत्र का यह ध्येयवाक्य उनके सामने रखा—हस्तपादादिसंयुक्ता कि यूयं व्यवसीदथ...अरे, हाथ-पांव वाले होकर तुम लोग हताश क्यों होते हो!

आज आनंदवन में बने हुए सभी कुष्ठरोगी अलग-अलग उद्योगों में लगे हुए हैं। खेती, राजगिरी, कताई व बुनाई आदि श्रमानुष्ठानों से चंद्रपुर जिले का यह पथरीला, जंगली भूमिखंड साक्षात् नंदनवन बन गया है, और जो लोग बात-बात में कहा करते हैं कि हम क्या कर सकते हैं, हमारा देश गरीब है, उनके लिए मुंहतोड़ जवाब है। सन १९५४ में 'सिविल सर्विस इंटरनेशनल' नामक अंतर्राष्ट्रीय सेवा-संगठन के कई सदस्य वहां पधारे। उन्होंने आश्रम के लिए दो बड़ी इमारतें बनवाने का खर्चा देने की इच्छा प्रकट की। इमारतों की नींव खोदने, गारा तैयार करने आदि कामों में रोगियों ने मदद की। इमारती काम के लिए ईंटें

नागपुर से बुलाने पड़े, क्योंकि स्थानीय बढ़ई कुष्ठरोगियों के साथ काम करने को तैयार नहीं थे। किंतु ईंटें ढोने आदि के लिए बहुत-से स्वयंसेवक विद्यार्थी आ गये। श्रमदानियों के भोजन की व्यवस्था वरोडा के नागरिकों ने की।

वरोडा के रेल्वे-कर्मचारियों ने संकल्प किया कि वे आश्रम के लिए एक कुआ खोदेंगे और फावड़े व कुदालिया लेकर जुट गये। काली कंकरीली जमीन। उनके धीरज और लगन की परीक्षा हो गयी। कई बार उन्हें स्थान बदलना पडा। लेकिन उन्होंने तभी दम लिया, जब पानी निकल आया। अगला इतिहास विलक्षण है। अनेक कुएं बनाये गये, खेती की उपज तिगुनी हो गयी। जहां सिर्फ एक लंगड़ी गाय थी, वहां अब बडे पैमाने पर पशु-पालन और दूध का व्यापार होने लगा।

स्विट्जरलैंड की 'स्विस एड एब्राड' नाम की संस्था ने आनंदवन को ३० हजार रुपये की लागत के टिन काटने-ढालने के औजार, रोगमुक्त लोगों के पुनर्वास के लिए २ लाख ८० हजार रुपये तथा वैज्ञानिक साधनों के लिए लगभग २ लाख रुपये की रकम दी। यह सहायता कुष्ठरोगियों को परावलंबन के अभिशाप से मुक्ति दिलाकर, समाज का स्वावलंबी एवं स्वाभिमानी सदस्य बना रही है।

आनंदवन के वातावरण में रोग की घुटन नहीं, प्रसन्नता और ताजगी है। वहां रहने वाले लगभग सात सौ कुष्ठरोगियों में से प्रत्येक का बैंक में अपना खाता है, जिसमें से वह प्रतिमास अपने कुटुंबियों को पैसे भेजता है। एक बार आश्रमवासियों ने एक नाटक खेलकर दो हजार रुपये कमाये और राष्ट्रीय सुरक्षा-निधि को दिये।

'फूड फार पीस' नामक एक संगठन ने आनंदवन को १,२०० बोरे गेहूं देने का निश्चय किया। जब बाबासाहब को इसकी सूचना मिली, तो उन्होंने उसे लिखा—"आपकी उदारता के लिए धन्यवाद। किंतु आपका गेहूं एक वर्ष के लिए ही आनंदवन को शांति दे सकेगा। अतः गेहूं भेजने के बजाय, क्या आप हमें वैज्ञानिक पद्धति से खेती करना सिखाने की कृपा नहीं कर सकते, जिससे हम अपने खेतों की उपज बढ़ा सकें? ऐसा करके आप आनंदवन के लिए चिरस्थायी शांति का निर्माण कर सकते हैं।" उत्तर में आस्ट्रेलिया से कई कृषि-विशेषज्ञ आये और उन्होंने रोगियों को खेती की नयी पद्धति तथा मधुमक्खी-पालन के तरीके सिखाये।

आनंदवन के आस-पास खडी अन्य दो इमारतें भी बाबासाहब की दीर्घ-दृष्टि की सूचक हैं। ये हैं—मुक्तिसदन और आनंदनिकेतन। जो रोगी उपचार के बाद रोग-मुक्त हो जाते हैं, उनके लिए मुक्तिसदन में व्यवस्था है। आनंदनिकेतन एक महाविद्यालय है। उसमें रोगियों और उनके बच्चों को विज्ञान, वाणिज्य, साहित्य तथा इतिहास आदि की शिक्षा दी जाती है। बाबासाहब अब जो नयी संस्था स्थापित करना चाहते हैं, वह है—श्रमिक विश्वविद्यालय (वर्कर्स यूनिवर्सिटी)। इस

विश्वविद्यालय में ऐसे वैज्ञानिक तैयार किये जायेंगे, जो कृषि-निर्भर भारतीय समाज को कृषि-उद्योग-प्रधान समाज का रूप दे सकें।

आनंदवन के इस कार्य-विस्तार एवं सात्विक वैभव का मूल है बाबासाहब की निष्काम कर्मासक्ति, तर्कशुद्ध दृष्टि और तमोमय सांसारिकता। इस समय आनंदवन में लगभग ७०० रोगी रहते हैं। उनकी दवा-दारू, खाने-पीने, उद्योग-खेती, इमारतों की मरम्मत, फैक्टरी-सचालन, आने-जाने वालों के आतिथ्य की व्यवस्था और हिसाब-किताब की जिम्मेदारी—सब कुछ बाबासाहब के सिर पर है।

और बाबासाहब के इस विश्वरूप व्यक्तित्व में सौम्य आत्मार्पण की एक सरिता विलीन हो गयी है। वह है उनकी पत्नी साधनाताई। पति के साथ उन्होंने भंगी की भांति मल-मूत्र की टोकरी सिर पर मुस्कराते हुए उठायी है, पीड़ितों को गले लगाया है। बीच में एक बार बाबासाहब को भयंकर सिरदर्द के कारण कई महीने बंबई के अस्पताल में रहना पड़ा। परन्तु बाबासाहब की अनुपस्थिति में साधनाताई ने आनंदवन को दक्षता से चलाया।

न यश का लोभ, न सत्ता की लालसा और न धन-वैभव के पीछे अंधी दौड़। केवल स्वधर्मपालन की साध, ताकि अंतिम दिन इस जीवन का मूलधन ब्याज समेत ईश्वर को लौटाया जा सके—यह है बाबासाहब आमटे का जीवन-दर्शन। उनका धर्म है मानवता। खंडहरों में नयी इमारतें खड़ी करते हुए इस श्रमर्षि को देखकर गुजराती के कवि उमाशंकर जोशी की ये प्रसिद्ध पंक्तियां याद आ जाती हैं :

धरती की गोद में पला हुआ मानव मैं, मानव हो पाऊं, यह भी बहुत है।

ꣿ ꣿ ꣿ

एक दिन हम वृक्षों की छांव में बैठे थे कि कई सन्यासी दादाजी (स्वर्गीय साधु वास्वानी) से मिलने आये। संन्यासियों ने आते ही जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति और अमरता की बातें शुरू कर दीं। कुछ देर उनकी बातें सुनने के बाद दादाजी अचानक हमारी ओर मुड़े और उन्होंने प्रश्न किया— "क्या तुममें से कोई मेरे साथ नरक चलने को तैयार है? मुझे मुक्ति नहीं चाहिये। मैं तो नरक जाना चाहता हूं, जहां इतने सारे लोग दुःख पा रहे हैं, दर्द से कराह रहे हैं।"

—जे. एल. वास्वानी



सु. वर्मा द्वारा प्रस्तुत

जहांगीर के रोजनामचे से

सम्राट जहांगीर अपने युग का अनन्य प्रकृति-विज्ञानी कहा जा सकता है। उसके आत्मचरित में अनेक जगह पशु-पक्षियों और मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति और व्यवहार विषयक घटनाओं के विचित्र विवरण दिये हुए हैं।

राजस्थान की यात्रा में देवगांव के तालाब पर पकड़े गये सारस के बच्चों का विवरण देते हुए वह लिखता है :

"इस पड़ाव पर एक विचित्र बात देखने में आयी। हमारे इस पड़ाव पर पहुंचने से पहले एक खोजा यहा के एक तालाब पर पहुंचा और उसने सारस के दो बड़े बच्चे पकड़ लिये। रात में आकर ठहरे, तो दो बड़े सारस तालाब के किनारे पर स्थित हमारे गुसलखाने के पास इस कदर चिल्लाते-चीखते आये, मानो उन पर कोई भारी जुल्म किया गया हो। वे बेखौफ आगे बढ़ते आये।

"हमारे खयाल में आया कि जरूर इन्हें सताया गया है और मुमकिन है, इनके बच्चे कोई पकड़ लाया हो। जांच करने पर उस खोजे का पता लगा। हमने फौरन बच्चे मंगवाये। बच्चों को देखते ही नर-मादा सारस उन पर टूट पडे और उन्हे भूखा समझकर उनके मुंह में चुग्गा देने लगे। साथ-साथ वे रोते-चिल्लाते भी रहे। बच्चों के खा लेने के बाद, वे उन दोनो को बीच में रखकर स्नेह दिखाते हुए, डैने फैलाकर वहां से उन्हें उडा ले गये।"

इसी प्रकार गुजरात के अपने यात्रा-विवरण में जहांगीर ने एक और विचित्र तथा मानवतामयी घटना का विवरण दिया है, जो इस प्रकार है :

"रविवार को हम पांच कोस चले और दोहद में पडाव डाला। यह मालवा और गुजरात की सीमा पर है। पहलवान बहाउद्दीन बंदूकची एक लंगूर का बच्चा और बकरी लिये हाजिर हुआ और बोला कि रास्ते में हमारे एक निशानेबाज ने पेड़ पर एक लंगूरनी को यह बच्चा गोद में लिये देखा। उस दुरात्मा ने मां को निशाना बनाया। वह बच्चे को छोड़कर नीचे गिर पड़ी तथा मर गयी।

"इतने में ब्हाउद्दीन वहां पहुंच गया। बच्चे की दर्दनाक चिल्ल-पुकार सुनकर उसे दया आयी और वह पेड पर चढ़कर उसे उतार लाया। थोड़ी देर में उस अबोध बच्चे को भूख से बिलबिलाता जानकर उसने उसे दूध पीने के लिए कैंप की एक बकरी के पास छोड़ दिया। ईश्वर ने बकरी को ऐसी स्नेह-भावना दी कि वह लंगूर के बच्चे को चाटने तथा प्यार करने लगी। जातिगत विरोध होते हुए भी वह उससे ऐसा प्यार करती, मानो वह उसी का पेट-जाया बच्चा हो। हमारे सामने ही वह उसे दूध पिलाने लगी।

"इस अनैसर्गिक प्यार और सहानुभूति की परीक्षा करने के लिए हमने उन दोनों को अलग करने की आज्ञा दी। बकरी तुरत चिल्लाने लगी और लंगूर का बच्चा भी बड़ा दु:खी मालूम पड़ा। लंगूर का स्नेह तो इतना विचित्र न था, क्योंकि उसे दूध की जरूरत थी, लेकिन बकरी का स्नेह अद्‌भुत लगा।"

सारसों के दांपत्य-प्रेम के स्थायित्व की अनेक घटनाएं लोगों ने लिखी हैं; परन्तु जहांगीर द्वारा उल्लिखित घटना अद्वितीय है। वह लिखता है :

"कयाम खां इस दरबार का एक खानजादा है। उसने हमसे कहा कि एक दिन वह शिकार खेलने गया, तो एक सारस को बैठे देखा। जब वह पास पहुंचा, तो सारस उठकर चला गया। उसकी चाल से उसने अंदाज लगाया कि उसे कुछ पीड़ा है तथा वह निर्बल भी है। जब वह उस जगह पहुंचा, जहां सारस बैठा था, तो वहां उसने कुछ पर और हड्डियां पड़ी देखीं।

"कयाम खां ने उस स्थान के चारों ओर जाल लगवा दिया तथा स्वयं एक किनारे जा बैठा। सारस ने फिर उसी जगह जा पहुंचने का प्रयत्न किया, तो उसका पैर जाल में फंस गया। कयाम खां ने सारस को पकड़ लिया। वह बहुत हल्का हो गया था और अच्छी तरह देखने पर उसकी छाती तथा पेट पर एक भी पर नहीं पाया गया। चमड़ा तथा मांस अलग हो गये थे। हड्डियों का ढांचा-भर रह गया था। स्पष्ट था कि उसकी संगिनी मर गयी थी और उसी के शोक में वह उसी दिन से उसी स्थान पर बैठा-बैठा घुल रहा था।

"इसी तरह हिम्मत खां ने भी हमसे कहा कि दोहद परगने में उसने सारस के एक जोड़े को एक तालाब पर देखा था। उसके बंदूकची ने उनमें से एक को मार डाला और हलाल करके साफ कर दिया।

"दैवयोग से पचीस दिन बाद हिम्मत खां फिर उसी जगह से निकला और उसने वहां के रहने वालों से उस सारस के बारे में पूछताछ की। लोगों ने उसे बताया कि वह उसी दिन मर गया, चिन्हस्वरूप कुछ पर और हड्डियां वहां पर पड़ी हैं। हिम्मत खां स्वयं वहां गया और जो कुछ कहा गया था, उसे अपनी आंखों सच पाया।"

लैला-मजनूं नामक अपने पालतू सारसों के जोड़े के अगाध दांपत्य-प्रेम, वात्सल्य और जातीय सहानुभूति आदि अनेक मानवीय वृत्तियों का इस प्रकृति-प्रेमी बादशाह ने बड़ा विशद विवरण अन्यत्र इस प्रकार दिया है :

"लैला-मजनूं ने, जो अब काफी बड़े हो गये थे, जोड़ा खाया और शायद हम ही पहले इंसान हैं, जिसने सारस को जोड़ा खाते देखा है। सोमवार २१ वीं अमूरदाद को इन सारसों ने कुछ तिनके तथा कतवार छोटे बाग के एक कोने में इकट्ठे किये और पहले एक अंडा दिया, तीसरे दिन दूसरा। सारस का यह जोडा जब पकड़ा गया था, उस वक्त वह एक महीने का था और पांच साल उसे पकड़े हो गये थे। साढ़े पांच साल की उम्र होने पर उन्होंने जोड़ा खाया और ऐसा वे एक महीने तक करते रहे।

"मादा रात-भर अंडे सेती और नर पास में खड़ा रहकर रक्षा करता। वह इतना सतर्क रहता कि कोई जीवित वस्तु पास नहीं जा सकती थी। एक बार एक नेवला दिखाई पड़ा। उस पर नर सारस बड़े जोर से टूटा और जब तक वह बिल में नहीं घुस गया, तब तक न रुका। जब सवेरा हो गया और सूरज की किरणों ने दुनिया को रोशन कर दिया, तब नर मादा के पास गया और स्नेहपूर्वक चोंच से उसकी पीठ खुजलाने और थपथपाने लगा। तब मादा उठ खड़ी हुई और नर उसकी जगह बैठ गया। कुछ समय बाद जब वह खा-पीकर लौटी, तब उसने भी इसी तरह नर को उठा दिया और स्वयं बैठ गयी।

"गुरुवार २१ वीं शहरयार की सध्या को सारस ने एक अंडा फोड़ा और २५ वीं की सध्या को दूसरा—यानी पहला ३४ दिन में और दूसरा ३६ दिन में। ये बच्चे हंस के बच्चों से एक दहाई बड़े थे और मुर्गी के एक महीने के बच्चे के बराबर। इनका चमडा नीले रग का था। पहले दिन तो इन्होंने कुछ नहीं खाया; पर दूसरे दिन से इनकी मां छोटे कीड़े-मकोडे लाकर इन्हें कबूतरों की तरह खिलाती, या कभी मुर्गियों की तरह दाने लाकर इनके आगे बिखेर देती।

"हमें इन बच्चों को देखना बड़ा ही अच्छा लगता था; इसलिए हमने बडी हिफाजत से इन्हें अपने सामने लाने को कह रखा था, ताकि इन्हें कोई हानि न पहुंचे। हम इन्हें देख लेने के बाद उसी बाग में भेज देते थे, जो शाही कनातों के पीछे है।

"नर सारस अक्सर बच्चों को उनके पैरों से अपनी चोंच में पकड़कर उलटा लटका लेता था। हमें लगा कि वह उन पर दया नहीं करता और उनके मर जाने का खतरा है। इसलिए हमने आदेश दिया कि नर को अलग रखें तथा बच्चों के पास न जाने दें। फिर हमने तजरुबे की खातिर उसे बच्चों के पास जाने देने की आज्ञा दी, जिससे मालूम हो सके कि वह कठोर-हृदय होने के कारण वैसा

करता था या स्नेहवश। पास पहुंचते ही उसने बच्चों पर बड़ी सहानुभूति प्रकट की और उन्हें बेहद प्यार किया, जो मादा ने किसी तरह कम न था। इससे जाहिर हुआ कि वह बच्चों को प्रेम के कारण ही उल्टा लटकाता था।

"नेहू की २८ वीं तारीख रविवार को हमने मही नदी के तट से कूच किया, जो सोमवार को भी जारी रहा। इस दिन एक विचित्र घटना देखने में आयी। सारस का जोड़ा, जिसके बच्चे हुए थे, अहमदाबाद से २५ वीं ता० गुरुवार को यहा लाया गया था। शाही कनातों के भीतर तालाब के किनारे नर-मादा अपने बच्चों के साथ टहल रहे थे कि दोनों ने एकाएक चिल्लाना शुरू कर दिया। उनकी चिल्लाहट सुनकर जंगली सारसों का एक जोड़ा तालाब के दूसरे किनारे से चिल्लाता हुआ उनके निकट उड़कर आया। नर नर के साथ तथा मादा मादा के साथ लड़ने लगे।

"जिन खोजों को सारसों की हिफाजत का काम सौंपा गया था, वे जल्दी से वहा आये और एक ने जंगली नर को व दूसरे ने मादा को पकड़ लिया। जिसने नर को पकड़ा था, वह तो बहुत लड़ने-भिड़ने के बावजूद उसे पकड़े रह सका, पर मादा निकल भागी। हमने अपने हाथ से नर की चोंच तथा पैरों में छल्ले पहना दिये और उसे उड़ा दिया। दोनों अपने स्थान को चले गये। जब पालतू लैला-मजनूं बोलते, तब वे दोनों भी तालाब के दूसरे किनारे से जवाब देते थे।"

ꩦ ꩦ ꩦ

मोटर की बैटरी जब समाप्त हो जाती है, तब बिजली-घर में उसे चार्ज करते हैं। चाकू जब भोंथरा हो जाता है, तब उसे पत्थर पर पैनाते हैं। जब मेरा मस्तिष्क थक जाता है, और चिंता रूपी ग्राह समूचा निगल जाने पर उतारू दीख पड़ता है, तब मुझे मानसिक और शारीरिक बैटरी को चार्ज करने के लिए प्राकृतिक डाइनेमो—वनों और पर्वतों—की शरण लेनी पड़ती है।

—पं. श्रीराम शर्मा



ए. जे. क्रोनिन

उत्सर्ग का खंडकाव्य

पहली बार जब हमने उसे देखा, वह लोफ्रेन स्ट्रीट के सार्वजनिक नल से पानी भरकर ले जा रही थी। उसकी गोद में एक बच्चा था—नौ महीने का बहुत गोल-मटोल बच्चा। बच्चे को उसने फटी हुई शाल के जरिये अपनी पतली-दुबली देह से बांध रखा था।

उसका नाम था रोज़ डोनगन; उम्र चौदह साल, लाल-लाल बाल, और गहरी नीली आंखें, जो न जाने क्यों उसके छोटे-से गंभीर मुखड़े में बहुत ही बड़ी-बड़ी लगती थीं। पांच से लेकर नौ साल तक की उम्र के तीन और बच्चे उसके लहंगे से चिपककर चल रहे थे। नाक-नक्श की समानता और बालों की लाल रंगत से पता चलता था कि वे उसके भाई-बहन हैं।

उसकी दीन-हीन परिस्थिति और उसकी आंखों की निर्भीक चमक में ऐसा जबर्दस्त विरोध था कि सहज ही हमें, यानी मुझे और मेरे सहपाठी डेवर्स को उससे दिलचस्पी हो गयी। हम सवेरे उससे 'गुड मार्निंग' कहने लगे। कुछ दिन की 'गुड मार्निंग' के बाद वह गंभीर और शर्मीली मुस्कान से हमारे अभिवादन का जवाब देने लगी। धीरे-धीरे हमारी मित्रता हो गयी—धीरे-धीरे इसलिए कि उसने आसानी से अपना 'रिजर्व' नहीं तोड़ा।

अब हमें पता चला कि रोज, उसके तीन भाई-बहन और नन्हे माइकल की मां आठ महीने पहले चल बसी थी। दड़बों से भरे लोफ्रेन स्ट्रीट के एक मकान के तहखाने (बेसमेंट) के दो कमरों में वे लोग अपने पिता डैनी डोनगन के साथ रहते थे। डैनी कमजोर प्रकृति का, किंतु भले स्वभाव का आदमी था और जब-तब बंदरगाह पर मजदूरी कर लिया करता था। यों उसका ज्यादातर समय और कमाई का पैसा पड़ोस के मदिरालय में खर्च होते थे। सो घर का सारा भार, अर्थात् दो कमरों को साफ-सुथरा रखना, पिता को काबू में रखना और उसकी आय में से जितना कुछ संभव हो घरखर्च के लिए प्राप्त करना, खाना पकाना, बच्चों की

देखभाल करना सब रोज के सिर पर आ पड़ा था।

मगर वह किसी चीज से घबराती नहीं थी। प्रायः हम उसे दृढ़ कदमों से उस गंदगी-भरी गली में घरेलू काम से आते-जाते देखा करते थे—कभी कसाई से गोश्त की बची-खुची बोटी का मोल-भाव करते हुए, तो कभी नानबाई को एक और डबल रोटी उधार देने के लिए मनाते हुए। उसके स्वभाव की धीरता पर हम मुग्ध और विस्मित थे।

आस-पास की दुनिया से वह बिलकुल अनजान हो, ऐसी बात नहीं थी। गंदी-बस्ती के बच्चों को जीवन के कठोर रहस्यों का जो नितांत संकोचरहित ज्ञान हो जाता है, वह उसे भी था, मगर एक दैवीय भोलेपन से मिश्रित। उसके छोटे-से चेहरे में जड़ी हुई उन बड़ी-बड़ी विचारमग्न आंखों में युग-युग का विवेक भरा हुआ था। लेकिन उससे भी बढ़कर उन आंखों में था प्यार का अथाह सरोवर।

इस बच्ची के प्रति सहज ही जगी हमारी दिलचस्पी धीरे-धीरे बढ़ती गयी और हित-कामना में बदल गयी। हम सोचने लगे कि हमें उसके लिए कुछ तो करना चाहिये। और जब संयोगवश हमें पता चला कि कुछ ही दिन बाद उसका जन्मदिन है, तो हमने ऐसी व्यवस्था कर दी कि पास के ओ'कानेल स्ट्रीट की एक स्त्रियों के रेडीमेड कपड़ों की दुकान ने उसके जन्मदिन पर उसके घर एक पार्सल पहुंच जाये। यह खयाल मन को बहुत भला लग रहा था कि अब वह ट्वीड की आरामदेह पोशाक और उससे मेल खाते हुए मोजे व मजबूत जूते पहने हुए होगी।

हम कुछ दिन तक उससे बचते रहे; मगर कल्पना की आंखों से यह देखते रहे कि रविवार के दिन वह अपने नये सुंदर कपड़ों में सजी-धजी, नये जूतों की चर्र-चूं आवाज के साथ शान से गिरजे में प्रवेश कर रही है, और मन-ही-मन मुस्कराते रहे। लेकिन अगले सोमवार को जब हमने उसे देखा, तो भौचक्के रह गये। वह अभी भी फटे-पुराने कपड़ों में ही थी और अभी भी फटी शाल के जरिये उसका भाई उसके सीने से बंधा हुआ था।

मेरा सहपाठी डेवर्स बोल उठा—"तुम्हारे नये कपड़े कहां गये रोज?"

"अच्छा तो आपने ही भिजवाये थे!" देर तक वह चुप रही। फिर हमसे नजरें चुराते हुए, बड़ी सादगी से बोली—"रेहन रख दिये हैं। घर में कुछ भी नहीं बचा था। मगर नन्हे के लिए दूध तो चाहिये ही।"

हम अवाक् उसे देखते रह गये। क्या वह हमेशा त्याग ही करती रहेगी? अपना सब कुछ अपने नन्हे भाई के लिए न्योछावर करती रहेगी? नहीं, जहां तक हमारा बस चलेगा, नहीं। अगले दिन मैं फादर वाल्श के पास पहुंचा। लोफ्रेन स्ट्रीट उन्हीं के गिरजे के दायरे में था।

"तो कुछ दिनों के लिए हम रोज को देहात भिजवा देंगे। गाल्वे में मेरे मित्र

हैं...कैरोल दंपति...बड़े ही भले। मगर उसे मनाने के लिए तुम्हें बहुत मेहनत करनी पड़ेगी।" फादर बाल्श सूखी मुस्कराहट के साथ बोले। और मुझे विदा देने के लिए दरवाजे तक आते हुए उन्होंने कहा—"रोज़ एक आदर्श नन्ही माता है। यही शक्ति उसके जीवन का संचालन कर रही है।"

एक सप्ताह बीत गया। इस बीच पत्रव्यवहार भी हो गया। और एक दिन मैं दृढ़ निश्चय के साथ लोफ्रेन स्ट्रीट पहुंचा। सब बच्चे मेज के गिर्द बैठे थे और रोज बची-खुची डबल रोटी काट रही थी। चिंता से उसकी भौंहें तनी हुई थीं।

मैंने बिना किसी भूमिका के कहा—"रोज़, तुम यहा से जा रही हो!" वह कुछ समझ नहीं पायी और तनी हुई भौंहों पर झूलती हुई बालों की लट को एक हाथ से पीछे सरकाकर मुझे घूरती रही। "रोज, तुम जा रही हो, एक पखवारे के लिए!" मैंने कहना जारी रखा—"देहात जा रही हो। वहां तुम्हारा बस यही काम होगा कि मुर्गियों को दाना चुगाओ, खेतों में खेलो और लोटे भर-भरकर दूध पिओ।"

क्षण-भर के लिए उसके चेहरे पर उत्साह की लहर आयी, पर अगले ही क्षण उतर गयी। और उसने इन्कार में सिर हिल दिया—"नहीं, मुझे तो बच्चों को संभालना है......और पिताजी को भी।"

"उसका सारा इंतजाम हो चुका है। कान्वेंट की सिस्टर्स उनकी देखभाल करेंगी। तुम्हें जाना ही पड़ेगा रोज, नहीं तो तुम बीमार पड़ जाओगी।"

"मैं नहीं जा सकती," वह बोली—"नन्हे को मैं कैसे छोड सकती हूं?"

"अच्छा बाबा! तो उसे भी साथ ले जाना।"

उसकी आंखें चमक उठीं। अगले दिन जब हमने उसे और बच्चे को ट्रेन में बैठाया, तो उसकी आंखें और भी ज्यादा चमक रही थीं। जब गाड़ी चलने लगी, तब वह नन्हे माइकेल को गोदी में झुलाती हुई उसके कानों में फुसफुसा रही थी—"गायें, माइकेल गायें!"

कैरोल-दंपति से उनका समाचार पाकर खुशी होती थी। रोज का वजन बढ़ रहा था। वह खेत के काम में हाथ बंटाती थी। वह खुद भी गलत-सलत हिज्जों में चिट्ठियां लिखती थी, जो खुशी से भरी होती थीं। ऐसी खुशी उसने जीवन में कभी नहीं देखी थी। और चिट्ठियों के अंत में इसका बड़ा उत्साहपूर्ण वर्णन रहता था कि देहात की हवा माइकेल को कितनी अनुकूल पड़ रही है।

दो सप्ताह चुटकियों में बीत चले। मगर पखवारे के अंत में वज्र गिर पड़ा। कैरोल-दंपति बच्चे को गोद लेना चाहते थे। वे अधेड़ थे, निःसंतान और सपन्न। नन्हे माइकेल से उन्हें प्यार हो गया था और वे उसे ऐसी सुख-सुविधाएं दे सकते थे, जो उसे अपने घर पर नहीं मिल सकती थीं।

डैनी का विचार था कि यह बेजोड मौका है। मगर रोज को कैसे भूला जा सकता था! फैसला उसी पर छोड़ दिया गया। उसने क्या निश्चय किया है या कोई निश्चय करना उसके लिए कितना भारी पडा होगा, यह हमें तब पता चला, जब एक दिन वह अकेली ही लौट आयी। दूसरे बच्चों और पिता को देखकर उसे खुशी तो हुई, मगर स्टेशन से घर तक वह बिलकुल गुमसुम और अपने आपमे सिमटी-सी बैठी रही।

अंत में गहरी आह के साथ उसने कहा—"इसी में नन्हे का कल्याण था। और उसके कल्याण में मैं आडे नहीं आना चाहती थी।"

लोफ्रेन स्ट्रीट में वह फिर प्रकृतिस्थ हो गयी और धीरे-धीरे पहले की तरह घर की बागडोर सभाल ली। अब वह पहले से भी ज्यादा कर्तव्यपरायण हो गयी थी। उसकी प्रेरणा से पिता डैनी ने यह लिखित प्रतिज्ञा की कि वह नशा नहीं किया करेगा। यों, वह हमेशा के लिए सुधर जायेगा, इसका कोई भरोसा नहीं था। लेकिन वह अब होश मे रहता था और नियम से काम पर जाता था। रोज ने एक-एक करके घर की सब चीजें बंधक से छुडा लीं, जिससे उनका तहखाना सचमुच घर लगने लगा। किसी-किसी हफ्ते तो कुछ शिलिंग बच भी जाते थे, जिन्हें वह चाय के एक पुराने डिब्बे में डाल देती थी।

बच्चे की प्रगति की खुशखबरिया आती रहीं। माइकेल के पोषक माता-पिता ने उसके सुख-आराम में कोई कसर न रखी थी। अब वे उसे 'हमारा बच्चा' कहने लगे थे। पर एक दिन सवेरे कुछ दूसरे ही ढंग का पत्र आया। माइकेल को न्यूमोनिया हो गया था। रोज का चेहरा एकदम फक पड गया, ओंठ भीचे वह पत्र को घूरती बैठी रही। फिर उठी, काठ की पुतली की तरह चाय के डिब्बे के पास पहुंची और रेल-किराये के लिए पैसे गिनने लगी।

"मैं नन्हे के पास जा रही हू।"

उसने किसी के प्रतिरोध पर कान नहीं दिया। "आप लोग नहीं जानते। मैं नन्हे से जो भी चाहू, करा सकती हू......मेरे कहने पर वह बुखार मे भी दूध पी लेता है, बेचैनी में भी दवा ले लेता है। यही क्यों, मैं उसका माथा थपथपाकर किसी भी समय उसे सुला सकती हूं।" बजी दृढ़ मुखमुद्रा से उसने यात्रा की तैयारी की, एक पडोसिन को बच्चों की देखभाल करने के लिए राजी कर लिया और स्टेशन की ओर चल पडी।

उसी शाम वह कैरोल-दंपति के घर पहुंची और उनके लाख मना करने पर भी उसने बच्चे की सेवा-शुश्रूषा का सारा भार अपने ऊपर ले लिया। आगे जो कुछ हुआ, वह हमें फादर वाल्श से पता चला।

माइकेल को बहुत ही उग्र न्यूमोनिया हुआ था और खासी बुरी तरह उठती

थी। पर रोज खतरे की बिलकुल भी परवाह न करके बच्चे को तब तक अपनी बांहों मे थामे रहती, जब तक खासी का दौरा शात न हो जाये। रात-दिन वह उसके लिए जागती रही।

आखिरकार सकट टल गया। रोज को डाक्टर ने बताया कि अब उसका माइकेल ठीक हो जायेगा। तब वह अपने चकराते हुए सिर को दोनों हाथो से थामे, पालने के पास से उठी। "अब मैं जरा आराम कर सकूंगी," उसने मुस्कराते हुए कहा— "बड़ा ही तेज सिरदर्द हो रहा है।"

माइकेल से उसे बीमारी लग गयी थी। मगर रोग के कीटाणुओं ने उसके फेफड़ों पर हमला नहीं किया। मगर उससे भी ब्यादा खतरनाक बात हुई। रोज को मस्तिष्क का न्यूमोनिया (न्यूमोकोकल मेनिंजिटिस) हो गया और वह बेहोश हुई, तो फिर न उठी।

* * *

बर्षों बाद मैं रोज की कब्र की जियारत करने गया था। गाल्वे की खाड़ी से उठती पश्चिमी हवा सूने कब्रिस्तान में धीमे-धीमे बह रही थी। पास की कुटियों से उठते पुआल के धुएं की गंध, जो मानो आयरलैंड की सांस है, कब्रिस्तान में बसी हुई थी।

हरियाली से ढंकी मिट्टी की उस तंग कब्र पर कोई माला नहीं थी; लेकिन मुझे घास-फूस में छिपा हुआ-सा गुलाब का एक पौधा दिख गया, जिसकी डाल पर केवल एक सफेद जंगली गुलाब खिला हुआ था। तभी अचानक काले बादलों के पीछे से सूरज निकल आया और अपनी उज्ज्वल किरण-धारा बरसाने लगा उस इकलौते फूल पर, और पत्थर की उस छोटी-सी पट्टी पर, जिस पर रोज़ का नाम खुदा हुआ था।

❀ ❀ ❀

अपनी नियति का चौखटा चुनने की छूट हमें नहीं है। लेकिन उस चौखटे में जो भी चित्र हम मढ़ेंगे, वह हमारी चीज होगी। जो 'एडवेंचर' चाहता है, 'एडवेंचर' पायेगा—अपनी हिम्मत के अनुसार। जो आत्माहुति देना चाहता है, उसकी आहुति ली जायेगी—उसके हृदय की शुद्धता के अनुसार।

—डाग हैमरशोल्ड



हेलन केलर

केवल तीन दिन

अक्सर सोचा करती हूं, अगर हर एक आदमी अपने वयस्क जीवन के आरभ में कुछ दिनों के लिए अंधा व बहरा हो जाया करे, तो यह उसके लिए बहुत बड़ी नियामत होगी। अंधकार उसे दृष्टि की कीमत समझायेगा, नीरवता उसे आवाज का आनंद सिखायेगी।

जब-तब मैं अपने आख वाले मित्रों की जांच किया करती रही हूं, यह पता लगाने को कि वे क्या-क्या देखते हैं। हाल में मैंने जंगल में लंबी सैर करके लौटी अपनी एक सहेली से पूछा कि तुमने क्या-क्या देखा? "कुछ खास तो नहीं," उसने उत्तर दिया।

मैं अपने आपसे पूछने लगी—यह कैसे समव है कि कोई जंगल में घंटे-भर घूमे और उसे देखने लायक कोई चीज दिखाई न दे ? मैं जो कि देख नहीं सकती हूं, केवल स्पर्श के द्वारा सैकड़ों दिलचस्प चीजें पा लेती हूं। मैं पत्ते का नफीस सुडौलपन अनुभव कर लेती हूं। मैं रुपहले भूर्जवृक्ष की चिकनी त्वचा पर या चीड़ की कठोर खुरदरी छाल पर प्यार से हाथ फिराती हूं। वसत में वृक्षों की टहनियों को सहलाती हूं, इस आशा से कि शायद कोई कली मिल जाये—कली जो कि सर्दियों की लबी नींद से प्रकृति के जागने का पहला चिन्ह है। कभी-कभी, जब किस्मत कृपालु हो उठती है, मैं किसी छोटे-से पेड पर हाथ रखती हूं और गीत गाने में मस्त किसी नन्ही चिडिया के आनंदमय कंपन का अनुभव कर पाती हूं।

अगर केवल स्पर्श से ही मैं इतना सारा सुख पा सकती हूं, तो दृष्टि और भी कितना अधिक सौंदर्य अनावृत कर देती होगी! और मैं कल्पना करती हूं कि अगर सिर्फ तीन दिन के लिए मुझे आखें मिल जायें, तो मैं क्या-क्या देखना सबसे अधिक पसद करूंगी।

मैं इस अवधि को तीन हिस्सों में बांट लूंगी। पहले दिन मैं उन लोगों को देखना चाहूंगी, जिनकी कृपालुता और सख्यभाव ने मेरे जीवन को जीने योग्य

बनाया है। मैं नहीं जानती कि 'आत्मा के झरोखे' यानी आंखों से मित्र के हृदय में झांकना क्या होता है। मैं तो अपनी उंगलियों के छोर से चेहरे की रेखाकृति-भर 'देख' पाती हूं। इस तरह मैं हंसी, विषाद और दूसरे कई सुस्पष्ट भावों का पता लगा सकती हूं। अपने मित्रों को मैं उनके चेहरों के स्पर्श से पहचानती हूं। मगर क्या आप आंख वालों में से भी अधिकांश लोग चेहरे के नाक-नक्श को सरसरी तौर पर देख करके ही संतुष्ट नहीं हो जाते?

काश, सिर्फ तीन दिन के लिए मुझे दृष्टि मिल जाये, तो मैं क्या-क्या देख डालूंगी!

पहला दिन बहुत व्यस्तता का होगा। मैं अपने तमाम प्रिय मित्रों को पास बुला लूंगी और देर तक उनके मुखड़ों को निहारती रहूंगी; उनमें जो आंतरिक सौंदर्य है, उसके बाह्य प्रमाणों को अपने मन पर अंकित करूंगी। मैं किसी नन्हे शिशु के चेहरे पर भी अपनी आंखें टिकाऊंगी, ताकि उस औत्सुक्य-भरे निर्दोष सौंदर्य की झांकी पा सकूं, जो जीवन-जन्य संघर्षों का बोध होने से पहले हर व्यक्ति में रहता है। मैं उन पुस्तकों को देखूंगी, जो मुझे पढ़कर सुनायी गयी हैं, और जिन्होंने मानव-जीवन की नितांत गहरी धाराओं से मेरा परिचय कराया है। और मैं अपने कुत्तों की वफादार और विश्वासी आंखों में भी झांकूंगी।

दोपहर को मैं जंगल में लंबी सैर पर निकल जाऊंगी और प्रकृति-लोक के सौंदर्य-पान से अपनी आंखों को मदमत्त कर लूंगी। और रंगीन सूर्यास्त की भव्य शोभा के लिए मैं भगवान की स्तुति करूंगी। मेरा खयाल है, उस रात मैं सो न सकूंगी।

दूसरे दिन मैं उषा के आगमन के साथ उठ बैठूंगी और उस रोमांचकारी चमत्कार को देखूंगी, जो रात को दिन में बदल देता है। आलोक की जिस अत्यद्भुत चित्रावली द्वारा सूर्य सोती हुई धरती को जगाता है, उसे मैं दंग होकर देखती रह जाऊंगी।

आज का दिन मैं दुनिया के अतीत और वर्तमान की एक झलक पाने में खर्च करूंगी। मैं मनुष्य की प्रगति-यात्रा की झांकी देखना चाहूंगी, इसलिए संग्रहालयों में जाऊंगी। वहां मैं पृथ्वी का इतिहास नखदर्पण में देखूंगी—जीव-जंतुओं और मनुष्य की विभिन्न नस्लें उनके स्वाभाविक परिवेश में; और विशाल अस्थिपंजर उन डाइनोसारों और मैस्टोडोनों के, जो तब धरती पर विचरा करते थे, जब अभी आविर्भाव भी नहीं हुआ था छोटे कद-काठ और शक्तिशाली मस्तिष्क वाले मानव का, जिसने आकर प्राणिजगत् को जीत लिया।

मेरा अगला पड़ाव होगा—म्यूजियम आफ आर्ट। मैं प्राचीन मिस्र के देवी-देवताओं की मूर्तियों को अपने हाथों के माध्यम से जानती हूं। मैंने यूनान के पार्थेनान की चित्रवल्लरियों की आकृतियों को छूकर देखा है और मैंने आक्रमण करते हुए

एथेन्सवासी वीरों की लयबद्ध सुंदरता को अनुभव किया है। होमर की गठदार श्मश्रुल मुखाकृति मुझे बहुत पसंद है, क्योंकि वह भी जानता था कि अंधापन क्या चीज है।

इस तरह अपने इस दूसरे दिन में मैं कला के माध्यम से मानव के हृदय की थाह पाने की कोशिश करूंगी, केवल स्पर्श द्वारा मैं जिन चीजों को जानती थी, अब मैं उन्हें प्रत्यक्ष देख रही हूंगी। उससे भी गजब की बात यह होगी कि चित्र-कला की शानदार दुनिया मेरे लिए खुल जायेगी। शायद सिर्फ सतही छाप ही मैं ग्रहण कर पाऊंगी। कलाकार मुझे बताते हैं कि चित्रकला के गहरे और सच्चे रसास्वादन के लिए आंखों को प्रशिक्षित करना पड़ता है। अनुभव द्वारा रेखा, संयोजन, आकृति और रंग के वैशिष्ट्यों को तोलना सीखना पड़ता है। अगर मेरी आंखें होतीं, तो इतने मोहक अध्ययन में मैं कितने आनंद से कूद पड़ती!

अपने इस दूसरे दिन की सांझ मैं किसी नाट्यशाला या सिनेमाघर में बिताऊंगी। मैं अपने हाथों के स्पर्श-सीमित क्षेत्र के अलावा कहीं लयबद्ध गति के सौंदर्य का आनंद नहीं ले पाती हूं। मैं किसी पाव्लोवा के गतिसौष्ठव की धुंधली-सी कल्पना ही कर पाती हूं, हालांकि मैं लय के आनंद से कुछ परिचित हूं, क्योंकि मैं संगीत के ताल को फर्श में से आते कंपनों के द्वारा अनुभव कर सकती हूं। मैं कल्पना कर सकती हूं कि वह लयात्मक गति संसार के सबसे सुहावने दृश्यों में से होगी। इसका कुछ-कुछ आभास मैंने संगमरमर की मूर्तियों पर उंगलियां फिराकर पाया है, यदि यह गतिहीन सौष्ठव इतना सुंदर हो सकता है, तो सौष्ठव को गतिमान देखने का आह्लाद कितना अधिक तीव्र होगा!

अगले प्रातःकाल मैं फिर उषारानी का स्वागत करूंगी, नये आनंदों की खोज व नये सौंदर्य के अनावरण के लिए समुत्सुक। आज का यह तीसरा दिन मैं रोजमर्रा के जीवन की दुनिया में बिताऊंगी—जीवन के काम-धंधे निपटाते हुए मनुष्यों के अड्डों में। शहर मेरी मंजिल होगा। पहले मैं एक भीड़-भरे नुक्कड़ पर खड़ी होकर बस यों ही लोगों को देखती रहूंगी, उनके हुलियों से ही उनके दैनिक जीवन को कुछ-कुछ समझ पाने की कोशिश में। मैं मुस्कराहट देखती हूं, खुश हो जाती हूं। गंभीर निश्चय देखती हूं, और अभिमान अनुभव करती हूं। दुःख देखती हूं, और करुणा से भर उठती हूं।

मैं फिफ्थ एवेन्यू (न्यूयार्क का एक राजपथ) पर टहलने लगूंगी। मैं अपनी आंखों को 'आउट आफ फोकस' कर लूंगी, ताकि मैं कोई निश्चित वस्तु नहीं, बल्कि रंगों का उफनता वैविध्य मात्र देखूं। मुझे विश्वास है, भीड़ में चलते हुए स्त्री-वेशों के रंग बड़ा ही चटकीला नजारा पेश करते होंगे, जिससे मैं कभी नहीं ऊबूंगी।

फिफ्थ एवेन्यू से मैं शहर का दौरा करूंगी—गंदी-बस्तियों का, कारखानों का, बगीचों का, जहां बच्चे खेलते हों। जिन मुहल्लों में विदेशी बसते हैं, उनकी सैर करके मैं घर बैठे ही खासी विदेश-यात्रा कर आऊंगी। मेरी आंखें पूरी सजग होंगी सुख के दृश्यों के प्रति भी, दुःख-दारिद्रय के दृश्यों के प्रति भी, ताकि मैं गहरे पैठ सकूं और समझ सकूं कि लोग किस तरह काम-काज करते और जीते हैं।

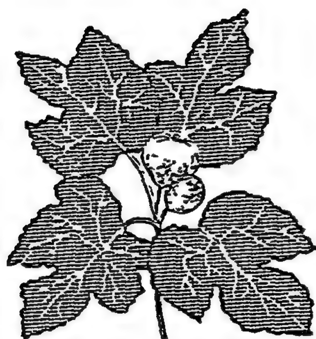
दृष्टिमंतता का मेरा तीसरा दिन समाप्त हो चला है। शायद बहुत-से गंभीर कार्य हैं, जिनमें मुझे ये बचे हुए चंद घंटे गुजारने चाहिये। मगर मुझे लगता है कि इस अंतिम दिन की शाम को मैं फिर किसी नाटकशाला में पहुंच जाऊंगी कोई प्रहसन देखने, ताकि मैं मानव-आत्मा की हास्य-वृत्ति के प्रबल स्वरों को अधिक अच्छी तरह समझ पाऊं।

मध्यरात्रि में शाश्वत रात्रि मुझे फिर से आ घेरेगी। निश्चय ही इन तीन छोटे-छोटे दिनों में मैं अपनी पसंद का सभी कुछ तो नहीं देख सकी हूंगी। जब अंधकार फिर मुझ पर उतर आयेगा, सिर्फ तभी मैं समझ पाऊंगी कि कितना कुछ अनदेखा ही छूट गया।

शायद यह संक्षिप्त रूपरेखा उस कार्यक्रम से मेल नहीं खाती, जो आप अपने लिए बनायेंगे, यदि आपको पता चल जाये कि आप शीघ्र ही अंधे हो जाने वाले हैं। पर मुझे विश्वास है कि यदि यह दुर्भाग्य आपके सामने उपस्थित हो ही जाये, तो आप अपनी आंखों का ऐसा उपयोग करेंगे, जैसा कभी नहीं किया था। आप जो कुछ भी देखेंगे, आपको प्रिय लगने लगेगा। जो भी चीजें आपके दृष्टिपथ में आयेंगी, उन्हें आपकी आंखें सहलायेंगी, आलिंगन करेंगी। तब आखिरकार आप देखेंगे कि सौंदर्य की एक नयी दुनिया आपके सामने खुल रही है।

मैं, जो कि अंधी हूं, आंख वालों को एक सुझाव दे सकती हूं—अपनी आंखों का ऐसे उपयोग कीजिये कि जैसे कल आप अंधे हो जाने वाले हैं। और यही तरीका अन्य इंद्रियों के लिए भी अपनाया जा सकता है। लोगों की कंठध्वनियों के संगीत, पक्षियों के गीत और वाद्यवृंदों की स्वरलहरी को ऐसे सुनिये, जैसे कल आप बहरे हो जायेंगे। प्रत्येक वस्तु को ऐसे छूइये, जैसे कल आपकी स्पर्शशक्ति नष्ट हो जायेगी। फूलों का सौरभ यों सूंघिये, भोजन के प्रत्येक कौर का रस यों लीजिये, जैसे कल आप सूंघने व चखने में असमर्थ हो जाने वाले हैं। प्रकृति ने आपको जो संपर्क के साधन दिये हैं, उनके माध्यम से यह संसार आनंद और सौंदर्य के जितने भी पहलू आपके सामने उद्घाटित करे, उन सब पर अभिमान अनुभव कीजिये। किंतु मुझे विश्वास है, समस्त इंद्रियों में दृष्टि सबसे अधिक आह्लादकारी है।

❀ ❀ ❀



प्रमोद जोशी

ऐसे खुला अंजीर का रहस्य

अठारह सौ अस्सी का अमरीका। जो फल व मेवे उस समय वहां बहुत लोकप्रिय थे, उनमें से एक थी अंजीर। तुर्की की जायकेदार स्मर्ना अंजीरों का नाम सुनते ही अमरीकियों के मुंह में पानी भर आता था। मगर अधिकांश को पानी पर ही संतोष करना पडता था। अंजीर तब अमरीका में उगती नहीं थी और आयात की हुई अंजीर बहुत ऊंची कीमतों पर बिकती थी।

मौके का फायदा उठाया सानफ्रांसिस्को के एक दैनिक अखबार ने। उसने तुर्की से स्मर्ना अंजीर की चौदह हजार कलमें मंगवायीं और अपने पाठकों को बांटीं। दोहरा लाभ हुआ। अखबार की लोकप्रियता बढ़ गयी और पूरे कैलिफोर्निया राज्य में अंजीर की कलमें लग गयीं। लोगों ने बड़े चाव से उन्हें रोपा। प्रकृति ने साथ दिया और कलमें चल निकलीं।

समय बीतता गया। अंत मे एक दिन अंजीर के पेड़ों में नयी कोंपलें फूटीं। और साथ ही फूटे कैलिफोर्निया के फल-व्यापारियों के मन में अंकुर–मालामाल कर देने वाले एक नये धंधे की आशाओं के। सभी की नजरें मानो अंजीर-वृक्षों पर टंग गयीं कि कब कलियां बडी हों और कब अंजीरें पकें। मगर हर आस निराश भयी।...पकना तो दूर, कलियां धडाधड़ सूखकर पेडों से टपकने लगीं। हजारों वृक्षों से पूरे मौसम में एक भी अंजीर नहीं मिली।

पेड़ स्वस्थ थे और भूमि उपजाऊ थी। मौसम आदि सब कुछ बिलकुल ठीक। फिर क्या कमी रह गयी? उत्तर किसी को नहीं सूझ रहा था। अमरीकी कृषि-विभाग ने विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की, परन्तु कोई हल न निकला। आखिर एक विशेषज्ञ वैज्ञानिक को हजारों मील दूर एशियाई तुर्की के स्मर्ना प्रदेश को रवाना किया गया।

वैज्ञानिक महोदय को स्मर्ना प्रदेश पहुंचे अभी अधिक समय नहीं बीता था कि उन्हें वहा के निवासियों के एक उत्सव में शरीक होने का मौका मिला। यह उत्सव

अंजीर की अच्छी फसल के लिए मनाया जाता था। नगाड़ों-बाजों के साथ लोग जंगल की ओर रवाना हुए और वहां से ढेरों जंगली अंजीर (कैप्री फिग) बटोरकर ले आये। डोरे में पिरोकर इनकी मालाएं बनायी गयीं और जगह-जगह स्मर्ना अंजीरों के पेडों पर लटका दी गयीं। कारण पूछने पर बताया गया कि ऐसा करने से भूत-प्रेत बाग में आकर फसल नष्ट नहीं करते। परतु विज्ञान के भक्त को ऐसी बातें सुनकर भला सतोप कैसे होता! वह रोज बड़े गौर से इन अंजीरों का मुआयना करने लगा। इस बीच स्मर्ना अंजीरों का बाग भी नयी कलियों से भर गया।

और एक दिन अमरीकी वैज्ञानिक ने देखा कि ब्लैडरनुमा जंगली अजीरों के छोटे-से मुंह से मक्खियों की तरह के कई छोटे-छोटे कीड़े बाहर आने लगे। बाहर आते ही वे पंख फैलाकर उड़ते और पास के किसी पेड पर लगी स्मर्ना अजीर की कलियों में घुस जाते। वैज्ञानिक को मंजिल पर पहुंचने के लिए इशारा मिल गया। उसने दिन-रात अध्ययन किया और कैलिफोर्निया में अजीरों के न पकने का कारण आखिर खोज ही निकाला। रसीली स्मर्ना अंजीरों में रस भरने का काम करता था यही नन्हा-सा मक्खीनुमा कीड़ा ब्लास्टोफेगा, जो कैलिफोर्निया में मौजूद नहीं था।

अंजीर के छोटे-छोटे फूल एक विशेष सकरे मुंह वाली कटोरीनुमा सरचना के भीतर पाये जाते हैं। इस सरचना को वनस्पतिशास्त्र की भाषा में साइकोनियम कहते हैं। नर और मादा पुष्प अलग-अलग होते हैं तथा कटोरीनुमा संरचना की दीवार से जुडे रहते हैं। मादा फूल परिधि में चारो ओर तथा नर फूल कटोरी के संकरे मुंह के पास रहते हैं। साइकोनियम पेड़ पर नीचे की ओर मुंह करके लटकता रहता है। इसलिए पराग कटोरी के भीतर नहीं जा पाता और मादा फूलों में गर्भाधान नहीं हो पाता। अतः यह आवश्यक है कि कोई बाहरी माध्यम नर फूलों से पराग ले जाकर मादा फूलों पर छिड़के। यह कार्य सपन्न होता है नन्हे-से कीड़े ब्लास्टोफेगा द्वारा।

ब्लास्टोफेगा भी एक निराला कीड़ा है। यह जंगली अंजीर (कैप्री फिग) के साइकोनियम को अपना निवास बनाता है और मादा फूलों के गर्भाशयों में अंडे देता है। अंडों से बच्चे निकलते हैं, जो बड़े होकर फिर आपस में विवाह रचाते हैं। नयी मादाएं जब गर्भवती हो जाती हैं, तो उन्हें अंडे देने के लिए नये साइकोनियम की आवश्यकता होती है। तब ब्लास्टोफेगा मादाएं बाहर निकलती हैं। यदि वे जंगल में हुई, तो किसी अन्य जंगली अंजीर के भीतर घुसकर मादा फूलों में अडे देती हैं और परिवार बढ़ाती हैं। पर यदि वे स्मर्ना अंजीर के बाग में लटकती माला की किसी जंगली अजीर में हुई, तो सीधे स्मर्ना अंजीरों में ही जा घुसती हैं।

पर स्मर्ना अंजीर उन्हें रास नहीं आती। उसकी भीतरी बनावट ही ऐसी होती

है कि ब्लास्टोफेगा मादाएं पुष्पों के गर्भाशयों तक पहुंच नहीं पातीं। चोट खायी कीट-मादाएं असफलता से भिन्नाकर सतुलन खो बैठती हैं और प्राण तक गंवा देती हैं। पर उनकी यह जानलेवा गलती ही अंजीर-प्रेमी मनुष्यों के लिए वरदान सिद्ध होती है। भीतर जाती हुई कीट-मादाएं अपने साथ नर पुष्पों से पराग ले जाकर गर्भाधान की क्रिया पूरी करवा देती हैं। बस गर्भाधान हुआ नहीं कि अंजीरें फूलने लगती हैं और रस से भर जाती हैं।

तो यह था वह रहस्य, जिसे वह अमरीकी वैज्ञानिक स्मर्ना से अपने साथ कैलिफोर्निया ले गया। और कुछ ही सालों में अमरीका अंजीरों का महत्त्वपूर्ण उत्पादक बन गया।

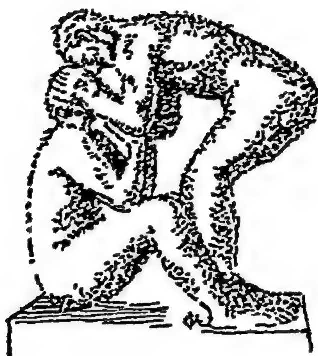
अब जरा अंजीर का भी परिचय पा लें। मध्यम ऊंचाई के गुंबदाकार पेड़ों पर लगने वाले फल अंजीर में लगभग ६० प्रतिशत घुलनशील शर्करा, ४० प्रतिशत प्रोटीन और अनेक गुणकारी खनिज पदार्थ तथा विटामिन प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। इन्हीं सबका सम्मिश्रण अंजीर को वह विशिष्ट स्वाद प्रदान करता है, जिसके कारण वह इतनी लोकप्रिय है।

पके हुए ताजे फलों के अतिरिक्त सुखाये हुए फल, जैम, जेली, शर्बत, शराब आदि के रूप में भी अंजीर का सेवन किया जाता है—स्वाद के लिए ही नहीं, गुणों के लिए भी। पुष्टिकर औषध या टानिक के रूप में अंजीर के प्रयोग का उल्लेख मिस्र के प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। प्राचीन व मध्ययुगीन चिकित्सा-साहित्य में अपच तथा कब्ज आदि उदर-विकारों में अंजीर का सेवन लाभकारी बताया गया है। श्वास-नली के संक्रामक रोगों तथा चेचक आदि के उपचार में भी अंजीर के उपयोग का विवरण मिलता है। ब्रांडी के साथ मिलाकर इसे सर्दी-जुकाम तथा आवाज के भारीपन को दूर करने में इस्तेमाल किया जाता है। फोड़े-फुंसियों एवं मुंहासों में अंजीर के उपयोग का उल्लेख बाइबल में भी मिलता है।

अंजीर-वृक्ष के अन्य भाग भी उपयोग में आते हैं। उसकी पत्तियां, नरम टहनियां और ऐसे फल, जो मनुष्य के खाने लायक न हों, पशुओं के लिए उत्तम चारे का काम देते हैं।

प्राचीन रोम में अंजीर वृक्ष को पवित्र माना जाता था और उसकी लकड़ी देवताओं की मूर्तियां बनाने के काम में आती थी। कहते हैं, महान चित्रकार लियोनार्डो द विंची अंजीर के तने व पत्तियों से निकलने वाले दूधिया रस लेटेक्स को रंगों में मिला दिया करता था, जिससे रंग कैनवास पर भली भांति जम जाते थे। और हां, बाइबल के अनुसार, ज्ञान-वृक्ष का फल खाने पर जब आदम और हौआ को अपनी नग्नता का भान हुआ, तो उन्होंने अंजीर के पत्ते से अपनी लाज छिपायी थी।

✿ ✿ ✿



गोविंद रत्नाकर

वीगेलान की प्रस्तर-मूर्तियां

अनुभूतियों और विचारों को कला का परिधान पहनाकर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति चिरतन है। परंतु कला अपना परिधान निरंतर बदलती रहती है। मूर्तिकला को ही लीजिये। दक्षिण भारत के मंदिरों और दक्षिण यूरोप यानी इटली और फ्रांस के महलों-गिरजों में प्राप्त होने वाली मूर्तिकला का रूप कैसा है? शिल्पियों ने उनमें नख-शिख के निरूपण में छेनी तोड़ दी है, मूर्ति मानो बोल उठती है।

और आज? आज किसी मूर्तिकला-प्रदर्शनी में जाइये। वहा आपको एक रमणी-प्रतिमा मिलेगी एक प्रस्तरखंड के रूप में, जिसका ऊपरी भाग गोल कर दिया गया है, मध्य-भाग में नितंबों के दो प्रतीक बना दिये गये हैं, अधोभाग की तो और भी अधोगति! परंतु कलाविदों को इस कलाकृति को देखकर भी उतनी ही रसानुभूति होती है, जितनी कि मीनाक्षी-मंदिर के अज्ञात-नामधेय शिल्पियों द्वारा विरचित प्रतिमाओं अथवा माइकलेंजलो के कला-सृजन को देखकर होती है।

पांच-सात रमणियों से घिरे एक पुरुष के परंपरागत शैली में रचित मूर्ति-समूह के सामने, कतिपय श्वेत संगमरमर खंडों के बीच रखा हुआ त्रिकोणाकार संगमूसा (काले पत्थर) का टुकड़ा इन दो कलादृष्टियों के बीच के अंतर को कितनी प्रबलता से व्यक्त करता है! नवोदित यूरोप में इस अतर को देखने वालों का हृदय हर्ष और विषाद के बीच झूलने लगता है।

परंतु एक स्थल है, जहां प्राचीन एवं अर्वाचीन कला के कलेवर और आत्मा के बीच का यह द्वंद्व शांत हुआ-सा मालूम देता है, जहां दोनों के बीच समन्वय-सेतु देखकर समाधान-सा होता है। यह स्थल है नार्वे की राजधानी ओस्लो का 'गुस्ताव वीगेलान प्रतिमा-उद्यान'।

एक महान कलाकार की प्रतिमा का ऐसा स्वच्छंद और सर्वसुलभ प्रदर्शन अन्यत्र मिलना कठिन है। यूरोप के मध्ययुगीन महाशिल्पी माइकलेंजलो आदि का कर्तृत्व रोम के गिरजों और मिलान के श्मशान में कैद है। परतु इस प्रतिमा-उद्यान की

बात अनोखी ही है। यहां नयनाभिराम प्रफुल्लित तरु-लताओं के बीच, उज्ज्वल आकाश के नीचे, इस सदी के आरम्भ-काल के एक नार्वेजियन कलाकार की सैकड़ों कृतियां कलाप्रेमी हृदयों को उद्वेलित-आश्वस्त करने के लिए प्रस्तुत हैं।

वीगेलान के कर्तृत्व से मैं विशेष प्रभावित हुआ हूं, उसकी प्राचीन और अर्वाचीन को एकरूप करने की शक्ति के कारण। उसकी कला में बाल-बाल की बारीकी नहीं है, और न है पत्थर को चार चोटें मारकर प्रतिमा प्रस्तुत कर देने का चमत्कार। उसने तो प्रत्येक मूर्ति को गढ़ा है, रूप प्रदान किया है। मध्यकालीन कलाकृतियों की तरह उसकी मूर्तियों मे वस्त्रों की सलवटें और तहें नहीं झलकतीं। उसने तो मानव-शरीर प्रस्तुत किये हैं—और अत्यंत शक्तिपूर्वक। उसका आराध्य भगवान नहीं, मानव है। उसकी कला का विषय रमणीय सुकुमारता नहीं है· उसका प्रतिपाद्य है जीवन—कठोर, सच्चा जीवन। और इसे उसने एक-एक मूर्ति में अभिव्यक्त किया है—अत्यंत सफलता के साथ।

उद्यान के मध्य एक विशाल फव्वारा है। एक विशाल कटोरे में से पानी निरंतर झलझल करता बरसता रहता है। छः मनुष्य इस कटोरे का भार उठाये खड़े हैं। जल जीवन का प्रतीक है, वह निरंतर-अनवरत बहता रहता है। बहते जीवन का भार वहन करना मनुष्य का काम है। और यह काम सब अपने-अपने ढंग से करते हैं। फव्वारे के छः मनुष्यों में से दो परस्पर मिलकर भार संभाल रहे हैं, एक जवान भार-वहन से सर्वथा विमुख है, तो दूसरी ओर एक वृद्ध सर्वाधिक मनोयोग से बोझ संभाले हुए है। जीवन के भार के प्रति मनुष्य की विभिन्न मनोवृत्तियों को वीगेलान ने बहुत ही प्रभावशाली रूप मे प्रस्तुत किया है।

सारे प्रदर्शन का केंद्र है ५५ फुट ऊंचा और १२१ मूर्तियों से मंडित स्तंभ।

जीवन-संध्या (नीचे)
जीवन-चक्र (दायें)





इसे तो वीगेलान का ही कीर्तिस्तंभ कहना चाहिये। जीवन का उदय, विकास, अस्त और पुनरुदय इसका विषय है; और मानो वीगेलान ने अपनी समस्त अनुभूतियां इस एक स्तंभ में अंकित कर दी हैं। हमारे हिन्दू पुराणों में भगवान शिव संहार के अधिष्ठाता हैं; परंतु उनका स्वरूप लिंग के रूप में कल्पित किया गया है। यह स्तंभ भी कुछ उसी प्रकार प्रजनन का द्योतक है।

स्तंभ के अधोभाग में उठने के लिए, जनमने के लिए आतुर कुछ मूर्तियां प्रस्तुत की गयी हैं। विकास की सफलता-विफलता मूर्तियों की भाव-भंगियों से बहुत ही प्रभावोत्पादक ढंग से निरूपित की गयी है। स्तंभ के मध्य-भाग में अंकित है जीवन का संग्राम—पारस्परिक विग्रह, पतन, उत्थान। और उपरिभाग में जीवन की पराकाष्ठा निहित है युवती-गण के रूप में—"जये धरित्र्याः सारं वरस्त्री" (धरित्री की जय का सार है वरस्त्री) इस मान्यता के अनुसार। और इन वरस्त्रियों के ऊपर स्तंभ के शिरोभाग पर है नवजात शिशुओं का एक वृंद। जीवन के उदय से लेकर अस्त तक की कथा को यों पत्थरों के मुंह से कोई महान कलाकार ही कहला सकता है।

उद्यान के ऊंचे भाग पर स्थित इस स्तंभ के चारों ओर ग्रेनाइट पत्थर की मूर्तियां हैं और नीचे फव्वारे के आस-पास धातु की प्रतिमाएं। शुरू में उद्यान की जलधारा पर बने पुल पर भी धातु की ही मूर्तियां शोभायमान हैं। और जितनी भी मूर्तियां हैं, वे सभी मानव-जीवन के एक-न-एक पहलू को प्रकट करती हैं। कहीं गर्भस्थ बालक की मूर्ति है, तो कहीं जराव्याधि-ग्रस्त मरणासन्न वृद्ध की प्रतिमा उपस्थित है। नन्हे बालकों के मनोभावों से लेकर युवक, प्रौढ़ और वृद्ध नर-नारियों तक की विविध मानसिक अवस्थाओं का जैसा अंकन वीगेलान ने किया है, वैसा मेरे देखने में तो अन्यत्र नहीं आया है। उसकी एक-एक मूर्ति मानो जन-मंडल की प्रतिनिधि है।

फव्वारे से प्रवहमान जल के द्वारा जीवन के आधार को अभिव्यक्त करके वीगेलान ने उसके चारों ओर बीस वृक्ष-समूह और उसके साथ हिला-मिला हुआ मनुष्य-जीवन अंकित किया है। जल के बाद वनस्पति ही जीवन का मुख्य आधार है। वृक्षों पर खेलते बालक, वृक्ष के नीचे प्रतीक्षा करती बालिकाएं, वृक्ष की छाया में आलिंगन करते युवक-युवती, चिंतातुर मनुष्य, सिर नीचे और पैर ऊपर करके वृक्ष पर चढ़ता हुआ पुरुष, बच्चों को खदेड़ती हुई क्रुद्ध स्त्री, वृद्ध-वृद्धा और नरकंकाल—ये सब मानव-जीवन की गाथा प्रस्तुत करते हैं।

मुख्य स्तंभ के चारों ओर स्थित ३६ मूर्तियां उत्कृष्ट कोटि की हैं। ये प्रायः ग्रेनाइट पत्थर की युगल-प्रतिमाएं हैं। कहीं एक स्त्री और एक पुरुष हैं, तो कहीं दो पुरुष कहीं पिता-पुत्र, तो कहीं माता-पुत्र; कहीं भाई-बहन, तो कहीं दो भाई या दो बहनें कहीं प्रेमलाप है, तो कहीं वात्सल्य-भाव; कहीं नवजीवन है, तो कहीं मृत्यु; और कहीं सख्य-भाव है, तो कहीं विरोध-विग्रह। विशाल स्थूलकाय नर-नारियों के

अंग-विन्यास और मुखाकृतियों को कलाकार ने इस सजगता से निरूपित किया है कि देखते ही बनता है। प्रायः ये सभी मूर्तियां बैठी हुई दिखायी गयी हैं—मौन एवं स्थिर, मानो जन्म-मरण का चक्र उन्हें हिला नहीं सकता, मानो वे शाश्वत हैं। मनुष्य मरता है, मनुष्य-जाति नहीं मरती। फिर मृत्यु से कोई विचलित क्यों हो?

कुछ अन्य मूर्तियों के विषय देखिये—मां की गोद में शिशु, पिता की पीठ पर चढ़ा बालक, बच्चे को पीटता हुआ पुरुष, प्रौढ़ पुरुष और तरुणी स्त्री, नर-नारी का एक चक्र में भ्रमण, हंसती बालिका, रोता बालक, आलिंगन-रत स्त्री-पुरुष, भागता हुआ आदमी, हंसती रमणी, विमुख पति-पत्नी, पत्नी को दूर करता हुआ पति, चकित लड़के-लड़कियां, अपने लाल के लिए घोड़ा बनी हुई माता, दादा और पोता। जन-जीवन की मामूली-से-मामूली स्थिति की ऊंची-से-ऊंची कला में अभिव्यक्ति!

वीगेलान ने किसी भी मूर्ति के लिए परिधान और साज-शृंगार का उपयोग नहीं किया है। ईश्वर के दिये शरीरों को उसने ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत कर दिया है। परंतु उन्हें प्रस्तुत करने में उसने कोमलता का आश्रय नहीं लिया है; अतः वे वासना को नहीं उभारतीं। मध्यकालीन कलाकारों ने सौंदर्य को देवत्व का जामा पहनाकर दर्शकों के मन में वासना के उदय को रोकने की चेष्टा की, परंतु वीगेलान को इन उपायों की आवश्यकता नहीं हुई। उसने तो निर्वसनता को भी वासनामुक्त बनाने में बहुत कुछ सफलता पायी है।

वीगेलान की इस कला का जन्म इस सदी के प्रथम चरण में हुआ था। उसने पलस्तर की सैकड़ों प्रतिमाएं बनायीं, जिन्हें कुशल कारीगरों ने पत्थर में तराशा, धातु में ढाला। सन १९०० से १९२४ तक इनका संग्रह होते-होते अंत में इस उद्यान के रूप में उसकी कला सर्वसाधारण की संपत्ति और सबके नयनों के आह्लाद का अद्वितीय केंद्र बन गयी। वीगेलान ने दिया ही दिया, लिया कुछ नहीं। और यही तो अमर कलाकार का लक्षण है।

❖ ❖ ❖

इन खेतों को देखिये। इनमें बोये हुए अनाज के दानों को कुछ वक्त तक जमीन के अंदर दबे रहना पड़ता है, तब इसमें अंकुर निकलते हैं और ठीक वक्त पर वैसा ही सैकड़ों गुना अनाज पैदा हो जाता है। यही बात ऐसे हरएक जतन की है, जो किसी अच्छे काम के लिए किया जाता है। सच्ची कोशिश कोई भी बेकार नहीं जाती।

—अब्दुल गफ्फार खां



आर्डिस व्हिटमन

आप भी बनिये अविस्मरणीय

उसे मैंने राह चलते बस एक नजर देखा और जीवन-भर उसे मैं प्यार करता रहूंगा।...ये पंक्तियां न जाने किस स्त्री के बारे में लिखी गयी थीं। परंतु निश्चय ही अनादि काल से आज तक ऐसी स्त्रियां होती रही हैं, जिन्हें एक नजर देखकर फिर जीवन-भर भुलाया नहीं जा सकता।

ऐसा क्या जादू होता है इन अविस्मरणीय स्त्रियों मे कि वे अन्य रूपवती और लावण्यमयी ललनाओं को पछाडकर पुरुषों के हृदय में शाश्वत रूप से घर कर लेती हैं? यदि पुरुषों से इस विषय में पूछा जाये, वे तो अविस्मरणीय स्त्री की कुछ विशेषताएं बतायेंगे, जिनसे प्रत्येक पुरुष उनकी ओर आकृष्ट होता है।

निःसदेह स्त्री को अविस्मरणीय बनाने मे यौन-आकर्षण का बहुत हाथ होता है, मगर केवल यौन-आकर्षण पर्याप्त नहीं होता। इतिहास में ऐसी अनेक स्त्रियों का उल्लेख मिलता है, जो बूढी हो गयीं, मगर जिनके जवानी के दिनों के प्रशंसक उनसे विमुख नहीं हुए। इनमें से कुछ तो सुंदर भी नहीं थीं।

शायद अविस्मरणीय स्त्री का सबसे बडा गुण यह है कि उसका हृदय स्निग्ध और अपनत्व से भरा होता है। पुरुषों से पूछताछ करके मै भी इस नतीजे पर पहुंची हूं कि चार मे से तीन मामलों में स्त्री की अपनत्व-भावना ही वह चीज है, जो पुरुष को बांधे रखती है और जिसके कारण पुरुष को अपना जीवन नीरस नहीं प्रतीत होता। ऐसी स्त्री पुरुष के प्रति सदा सचेत रहती है, उसकी भावनाओं का खयाल रखती है, और उसके सुख और दुःख मे हाथ बंटाती है। जीवन को वह दर्शक की भांति तटस्थ-भाव से नहीं देखती, पूरी तरह उसे जीती है, उसका उपभोग करती है।

पुरुष की हर बात ऐसी स्त्री के मन पर एक याद बनकर अंकित हो जाती है और स्वयं भी वह पुरुष के जीवन का अटूट अग बनकर उसकी स्मृतियों में इस प्रकार रच-पच जाती है कि उसे भुला पाना असभव हो जाता है। पुरुष को ऐसी

हर घटना याद रहती है, जिसे उस स्त्री ने अपने साहचर्य से सुखद और आकर्षक बना दिया। वस्तुत. वह हर क्षण को सजीव बना देती है, क्योंकि वह हर क्षण को पूरी दिलचस्पी मे जीती है। यह गुण प्रायः सभी महान अविस्मरणीय स्त्रियो में देखा गया है। इसी की बदौलत तो जवानी से लेकर वृद्धावस्था तक उनके जीवन में जितने भी पुरुष आते हैं, वे उन्हें भुला नहीं पाते हैं।

पुरुष की भावनाओं के प्रति सदा जागरूक रहने के कारण ऐसी स्त्री मे दूसरे की खूबियों को पहचानने की शक्ति होती है। उसे पता लग जाता है कि अमुक व्यक्ति बुद्धिमान तो है, लेकिन लजीला होने के कारण लोगों के सामने अपनी बुद्धिमत्ता प्रकट नहीं कर पाता। सो वह उसमें आत्मविश्वास उभारकर उसकी झिझक मिटाती है, फिर वह लोगो के सामने बात करने मे नहीं झेंपता और अपनी बुद्धिमत्ता का सिक्का सब पर जमा लेता है। स्त्री का यह अपनत्व-भरा व्यवहार ही उसमें ऐसा आत्मविश्वास जगाता है कि उसमें बड़े-से-बडे विघ्नों से जूझने का साहस आ जाता है।

यह विरोधाभास-भरी बात है कि अविस्मरणीय स्त्री में गहन एकाकीपन होता है। वह भीड का अग बनकर नहीं जीती, पार्टियों में भी वह बहुत लोकप्रिय नहीं होती है। कुछ सुखों को वह अतर्मुख बनकर जीती है और अपने आपमें सतुष्ट रहती है। कभी-कभी वह अपने विचारों और कल्पनाओं के लोक मे जीती है। इस आत्मसतुष्टि के कारण वह दूसरों को रिझाने, प्रसन्न करने का प्रयत्न नहीं करती। इसीलिए उसमें बनावट भी नहीं होती। वह पूर्णता और सादगी में जीती है और अपने जीवन को नगण्य बनने से बचा लेती है।

अविस्मरणीय स्त्री में स्त्रीत्व तो भरपूर होता है, लेकिन वह उसका प्रदर्शन नहीं करती। सैकड़ों स्त्रियों को पढा चुके एक नृत्य-शिक्षक ने स्त्रियों के सबंध में बहुत पते की बात कही है – "जो स्त्री अपने स्त्रीत्व का दिखावा करती है, वह असली अर्थों में स्त्री नहीं है। असली स्त्री कभी अपने स्त्रीत्व को सिद्ध करने का यत्न नहीं करेगी, न वह अपने वस्त्राभूषण या शृंगार की ओर दूसरों का ध्यान आकृष्ट करेगी। असली अर्थों में स्त्री वह है, जिसके सग बैठने और जिससे बातें करने से पुरुष को अपने पुरुष होने का आभास हो।"

और इस कथन से बहुत-से पुरुष सहमत हैं। वे कहते हैं कि जिस स्त्री में सचमुच स्त्रीत्व है, वह पुरुष के हृदय मे माधुर्य-भाव जगाये बिना रह ही नहीं सकती। यही चीज उसके स्त्रीत्व का परिचय देती है। ऐसी स्त्री अपने अधिकारों के लिए पुरुष से सघर्ष नहीं करती, न वह अपने आपको पुरुषो से बेहतर साबित करने की कोशिश करती है। उसे अपनी शक्ति का भान होता है।

क्या अविस्मरणीय स्त्री का बुद्धिमान होना जरुरी है? अधिकाश पुरुषों का जवाब होगा–हां। मगर स्त्री की बुद्धिमत्ता का अर्थ यह नहीं है कि वह विभिन्न

विषयों पर बहस कर सके, बल्कि उसकी बुद्धिमत्ता उसकी विवेकशीलता में है। विवेकशीलता से ही वह अपना और पुरुष का जीवन सुखमय बना सकती है, पुरुष की सहचरी बनकर उसे शक्ति और प्रेरणा दे सकती है। लेकिन जो स्त्री अपने बुद्धिबल द्वारा पुरुष से होड करने लगती है, उसकी बुद्धिमत्ता अवगुण बन जाती है। वास्तव में बुद्धिमान स्त्री पुरुष को ठीक तरह से समझेगी और उसके साथ हमकदम होकर चलेगी।

अविस्मरणीय स्त्री का एक और गुण है—भलापन। संसार की सभी महान स्त्रियों में यह गुण था। भलेपन में उदारता, साहस और प्यार आदि सबका समावेश हो जाता है।

स्त्री का सबसे बडा सौंदर्य उसके भलेपन में है। क्षुद्रता, लालच, ईर्ष्या, घृणा और अहंकार आदि से दूषित मन वाली स्त्री सुडौल शरीर व आकर्षक नाक-नक्श के बावजूद सुंदर नहीं कही जा सकती। उसके किसी एक शब्द से, एक हरकत से उसके मन का मैल उसके चेहरे पर पुत जायेगा और देखने वाले को उसकी शारीरिक सुंदरता से नफरत हो जायेगी।

कोई भी स्त्री मरकर भी अपने पति की स्मृतियों में अमर रह सकती है, अविस्मरणीय रह सकती है। शारीरिक सुंदरता भी इसमें किसी हद तक सहायक हो सकती है; परंतु वह इसका आधार नहीं बन सकती। क्योंकि शारीरिक सौंदर्य शाश्वत नहीं होता। शाश्वत चीज है स्त्री का भलापन, विवेकीपन। आंतरिक गुणों की बदौलत ही वह पुरुष के हृदय में बस सकती है—उसके जीवन को सुखमय बनाकर, उसमें नित नयी खुशियां और नयी प्रेरणा भरकर, सच्चे अर्थों में उसकी अर्धांगिनी बनकर, उसे पूर्णता का अनुभव कराकर।

ऐसी स्त्री पुरुष से जितना ही प्यार करेगी, अपने जीवन को वह उतना ही सहज और स्वाभाविक पायेगी, उसमें उतनी ही स्निग्धता, मिठास और लय भर जायेगी, वह अधिकाधिक भली बनती जायेगी। फिर पुरुष के हृदय में उसका आकर्षण कभी नहीं मरेगा। पुरुष उसकी बदौलत अपने जीवन को भरा हुआ अनुभव करेगा, और उसका जीवन संतुलित होगा।

❀ ❀ ❀

अपने चारों ओर दर्द के बजाय खुशी बिखेरने की इच्छा से बढ़कर रूप-रंग और चरित्र को निखारने वाली कोई शृंगार-सामग्री संसार में नहीं है।

—राल्फ वाल्डो इमर्सन



लुडविग कोच-आसइनवर्ग

नीले बुद्ध की वापसी

उत्तरी थाइलैंड की अपनी यात्रा के दौरान मैं कुछ समय एक शानदार होटल में ठहरा था। वहीं मेरा परिचय क्लासीन से हुआ। क्लासीन उन यूरोपियनों म से था, जो पूर्व में आकर बस गये है और पूर्ण रूप से पूर्वीय बन गये हैं। वह डच था, किंतु थाइलैंड में उसने पैंतीस वर्ष बिताये थे और वहा की सभ्यता-सस्कृति को अपना लिया था। उससे बातें करके उस देश के कई नये राज मेरे सामने खुले।

शाम के समय हम – क्लासीन और मैं – च्यागमाइ शहर में पहुंचे और वहा से एक स्थान देखने गये। रास्ते में क्लासीन ने मुझसे कहा कि वह मुझे एक बहुत ही रहस्यमय वस्तु दिखायेगा–ऐसी वस्तु, जो मैंने कभी सपने में भी न देखी हो। मुझे उत्सुकता हुई।

हम आगे बढ़ रहे थे कि रास्ते में साप दिखाई दिये। "झाडियों में रहने वाले हरे साप हैं!" मैंने कहा। "ये इतने जहरीले नहीं हैं," क्लासीन ने कहा– "थाइलैंड का नागराज किंग कोब्रा सबसे भयंकर सांप है। परतु यहा के कुछ लोग उसे भी हाथ से पकड लेते हैं। उसके लिए बेहद सजगता और एकाग्रता आवश्यक है। साप की छोटी-से-छोटी हरकत का ध्यान रखना पड़ता है। बौद्ध मत को मानने वाले इस देश के लोगों में ये गुण होना स्वाभाविक है। हम पश्चिम वालों को अपनी बुद्धि पर अभिमान है, मगर बुद्धि हमें बेचैन बनाये रखती है। हम लोग इस देश से आतरिक शाति का गुर सीख सकते हैं।"

अब हम एक घाटी में पहुंच गये थे, जहा स्वच्छ पानी बह रहा था। हम अपने जूते हाथों में पकडे पत्थरों पर पाव रखते हुए आगे बढ़ रहे थे। कुछ ही आगे जाने पर मेरे पाव ठिठके और मैं आश्चर्यचकित रह गया। मेरे मुख से एक चीख निकली। मैंने देखा, चट्टान में से तराशी हुई बुद्ध की एक विशाल मूर्ति मेरे सामने है। मैं देखता ही रह गया। उसकी एक बांह नीचे लटकी हुई थी और दूसरी सिर की ओर उठी हुई थी। किसी रहस्य से भरी हुई उसकी गहन आंखें सामने

की असीम हरीतिमा को देख रही थीं। उसके ऊपर छायी हुई पहाडी चोटी ने उसे आंधी-पानी के हाथों नष्ट होने से बचा रखा था।

मूर्ति के सामने एक बरतन में अगरबत्तियां पडी हुई थीं। क्लासीन ने उन्हें जलाया, तो मुझे आश्चर्य हुआ। फिर वह मुझे मूर्ति के पांवों के पास एक छोटे-से आले के पास ले गया। आले मे से उसने बहुत ही सावधानी से एक मूर्ति उठायी और मेरी ओर बढ़ायी। मै उसे अपलक देखता ही रह गया। इससे अधिक सुंदर कलाकृति मैंने कभी नहीं देखी थी। "यह तो मणि की बनी हुई है!" मेरे मुख से निकला। "नीलम मणि की!" क्लासीन ने कहा।

मेरे हाथों में वह मूर्ति जैसे सजीव हो उठी। उसके भिंचे हुए ओंठ मुस्करा रहे थे और ऐसी कोमल और करुणा-भरी मुस्कराहट मैंने किसी मनुष्य के चेहरे पर नहीं देखी थी। उसकी आंखें जैसे किसी दूसरे ही ससार को देख रही थीं। उसे देखते हुए मेरे आनंद का पार न रहा। वह ऐसा आनंद था, जिसे मैं समझ नहीं पा रहा था। मैं आत्मविभोर हो उठा था।

क्लासीन ने कहा–"जो भी इसे देखता है, उस पर इसका यही प्रभाव पडता है। मुझ पर भी इसका ऐसा प्रभाव पड़ा था कि मैं चोर बन गया था।" मैंने हैरानी से क्लासीन की ओर देखा। उसने मेरे हाथों से मूर्ति लेकर आले में रखते हुए कहना आरभ किया :

"मैं आपको सारी कहानी सुनाता हूं। तीस साल पहले यह नीला बुद्ध कुछ समय तक मेरी मेज पर रखा रहा। हा, मैंने इसे यहां से चुरा लिया था।

"जब मैंने इस नीले बुद्ध को पहली बार इस आले में पड़े हुए देखा था, तो मेरा मन ललचा उठा था। मुझे कलाकृतियां इकट्ठा करने का शौक है; और इसे देखकर तो मुझसे रहा ही न गया। मैं इसे जैसे भी हो, पा लेना चाहता था। ऐसी जीवंत मूर्ति मैंने पहले कभी नहीं देखी थी। मेरे अंदर जबर्दस्त संघर्ष चल रहा था। भीतर की आवाज मुझे यह चोरी करने से रोक रही थी। परंतु अंत में मैंने इसे उठा ही लिया। मै पाप कर रहा था। एक पराये देश में वहा के धर्म को मैं जैसे ठोकर मार रहा था। अंतरात्मा कह रही थी कि इस चोरी की सजा मुझे मिलकर ही रहेगी।

"और ज्यों ही मैंने मूर्ति को उठाकर अपने थैले में डाला कि पागलों की तरह किसी के हंसने की आवाज सुनाई दी। मैं कांप उठा। मेरी हड्डियों तक में सिहरन दौड़ गयी। मैंने इधर-उधर झांका कि कहीं किसी ने मुझे देख न लिया हो। मगर वहा कोई नहीं था। आखिर मैं सभला और मैंने सोचा कि यह मेरे मन का डर है, और वहां से चल पड़ा।

"परतु मेरी बेचैनी दूर न हुई। बार-बार मुझे लगता कि मैंने घोर पाप किया है।

आखिर मैंने सोचा कि जहां मैं ठहरा हुआ हूं, उस स्थान को छोड़कर देश के दक्षिणी भाग की ओर चला जाऊं, धीरे-धीरे बेचैनी अपने आप दूर हो जायेगी। सो मैं अपने हेड क्वार्टर की ओर चल दिया, जो वहां से दक्षिण की ओर छः सौ मील दूर था। लेकिन वहां पहुंचने पर भी मुझे शांति नहीं मिली। तब मैंने लगभग उसी मूल्य की, सोने की बनी बुद्ध की मूर्ति खरीदी और इस आले में रख दी। मैंने सोचा कि इस तरह नीले बुद्ध की कीमत अदा हो जायेगी। कैसी विचित्र बात है कि हम पश्चिम के लोग हर चीज की कीमत पैसों में चुकाना चाहते हैं!

"खैर, कुछ ही दिनों में मुझे हालैंड लौटना था। मैंने सोचा, वहां जाकर मैं इस घटना को भूल जाऊंगा। अब तक मेरी बेचैनी कुछ कम भी हो गयी थी। अब मैं रात को सो सकता था। किंतु अब एक और चिंता मुझे सताने लगी। नीले बुद्ध को कस्टम वालों की नजर से बचाकर अपने देश कैसे ले जा पाऊंगा? उन दिनों कलाकृतियों को एक देश से दूसरे देश में ले जाना लगभग असंभव था; और जो लोग चोरी-छिपे ले जाने का प्रयत्न करते थे, पकड़े जाने पर उन्हें बेहद कड़ी सजा भुगतनी पड़ती थी।

"अफसरों से मिल-मिलाकर मूर्ति ले जाने का परमिट प्राप्त किया जा सकता था। लेकिन डर था कि कहीं किसी बोंजी (भिक्खु) को इस बात का पता लग गया, तो वह धर्म के नाम पर शोर मचाकर परमिट रद्द करा देगा।

"उस इलाके के जंगलों में से मैंने कुछ मोर पकड़े थे और उन्हें अपने साथ हालैंड ले जा रहा था। रास्ते में उनकी खुराक के लिए चावलों की एक बोरी भी साथ ले जा रहा था। आखिर उस बोरी में ही इस नीले बुद्ध को छिपाकर ले जाने की तरकीब मुझे सूझी। तरकीब सफल सिद्ध हुई और मैं बहुत खुश हुआ।

"मगर धुंध से भरे हालैंड में जब भी मैं नीले बुद्ध को देखता, तो मेरे दिल में एक असह्य टीस उठती। मैं सोचता, मैं स्वर्ग छोड़कर अपने देश में आ गया हूं। और इस घाटी का चित्र मेरी आंखों के सामने खड़ा हो जाता। मुझे महसूस होता कि रुपहली शांति का यह देश ही मेरा असली घर है। सो कुछ समय पश्चात मैंने अपना देश छोड़ने की तैयारी कर ली। नीले बुद्ध को मैंने फिर बड़ी सावधानी से अपने ट्रंक में छिपाकर रखा। अब फिर उसे एक देश से दूसरे देश में ले जाने का प्रश्न था।

"इस बार भी मैं इस चोरी में सफल हो गया। थाइलैंड पहुंचते ही मैं उधर के इस जंगल की ओर चल पड़ा। जैसे कोई अदृश्य शक्ति मुझे खींच रही हो। जब यहां पहुंचा, तो मेरे मन की शांति लौट आयी। मैंने इस गुफा में प्रवेश किया। पर एकाएक मेरे पांव रुक गये। मैं भयभीत हो उठा। बुद्ध की विशाल मूर्ति के सामने पीला चोगा पहने एक साधु झुका हुआ था। और वह सोने का बुद्ध, जो

मैंने इस नीले बुद्ध के स्थान पर आले में रखा था, गायब था।

"साधु उठा, जैसे उसे मेरी उपस्थिति का भान हो गया हो। वह मेरी ओर आया। उसकी आंखों में अनंत करुणा भरी हुई थी। उसने सिर झुकाया और दोनों जुड़े हाथ माथे तक उठाकर नमस्कार किया। चुराया हुआ नीला बुद्ध मेरे हाथों में आग की तरह जल रहा था। मैंने उसे साधु की ओर बढ़ा दिया। उसके ओंठों पर एक दबी हुई मुस्कराहट आयी—या शायद मुझे ऐसा प्रतीत हुआ—और धीरे से, जैसे कोई बहुत ही स्वाभाविक बात हो, उसने मूर्ति मुझसे ले ली और घूमकर आले में रख दी। 'मैं आपकी ही प्रतीक्षा कर रहा था, माई!' उसने अत्यंत शांति से कहा।

"फिर मैं उसके साथ इन सीढ़ियों पर बैठ गया, जहां हम इस समय बैठे हुए हैं। मुझे पता लगा कि वह यहीं रहता है। दरअसल ऊपर एक चट्टान में उसकी गुफा है। जब मैं नीला बुद्ध चुरा रहा था, वह ऊपर से मुझे देख रहा था। परंतु सच्चा बौद्ध होने के कारण उसने मुझे टोका नहीं; क्योंकि उसमें मेरा अपमान हो जाता। सो वह सब कुछ देखते हुए भी चुप रहा। उसने बड़े सहज भाव से मुझसे कहा–'मैं जानता था, एक दिन आपको इसकी आवश्यकता नहीं रहेगी। अच्छा हुआ, इसने आपको जल्दी रोशनी दिखायी।'"

क्लार्सीन ने गहरी सांस ली–"सो मैं भी बोधी (भिक्खु) बन गया। और अब भी हूं। काफी समय तक मैं पीला चोगा पहने, हाथ में भिक्षापात्र लिये इस देश में भटकता रहा। अब भी बहुधा यहां आया करता हूं। हम यूरोपियनों में जो जल्दबाजी और बेचैनी होती है, वह मुझमें नहीं है। मैं यह मानने लगा हूं कि जीवन में जो सबसे बड़ी चीज प्राप्त की जा सकती है, वह है–मनुष्य मात्र को समान समझने की भावना।"

❀ ❀ ❀

संसार एक विशाल पुस्तक है, जिसमें हमारी अपनी धरती और अपने लोग एक पृष्ठ हैं; और अनगिनत पृष्ठ अन्य धरतियों और अन्य लोगों के हैं। जिसने इस अद्वितीय पुस्तक में सिर्फ अपनी धरती का पृष्ठ ही देखा या पढ़ा है, वह पुस्तक की पूरी प्रशंसा नहीं कर सकता, और न ही उसके ज्ञान द्वारा भूत और भविष्य का सही अनुमान लगा सकता है।

—गुरबख्श सिंह



तहावर अली

जंगल की पाठशाला

हम वापस आ रहे थे। हम यानी मैं और फारेस्ट गार्ड अब्दुल रज्जाक। उस दिन मैं मालन्च नदी के पश्चिमी तट पर शिकार-अभियान में निकला था कि अब्दुल रज्जाक की नजर मुझ पर पड गयी। वह जगह सुंदरवन में मंदाबारिया खाल के इलाके में पडती है और अब्दुल रज्जाक इसी इलाके में तैनात था। रोज की देख-भाल पर वह निकला था। अपनी नौका किनारे लगाकर वह मेरे पास आ पहुंचा और मुझे बताया कि पिछली ही शाम कई बाघ वहां घूमते देखे गये थे, इसलिए मुझे सावधान रहना चाहिये।

बाघों के प्रति जितनी मेरी उत्सुकता रही है, उतनी ही अब्दुल रज्जाक को भी रही है। हमने तुरंत इस संबंध में जांच-पडताल करने का फैसला कर लिया और पैदल ही मंदाबारिया खाल की तरफ बढ गये।

हम काफी दूर जंगल में निकल गये। बाघों के पंजों के निशान भी हमें नजर आये, पर अपनी खोज हमें दूसरे दिन के लिए स्थगित करके वापस आना पडा। वस्तुतः हर अभियान में शिकारी को सफलता प्राप्त हो, यह जरूरी नहीं। कभी उसकी खोज बिलकुल व्यर्थ जाती है, कभी उसे बाधित होकर अपनी तलाश अधूरी छोड देनी पडती है, और कई बार वह स्वेच्छा से अपनी तलाश किसी और मौके के लिए स्थगित कर देता है। संयोग भी कभी आडे आ जाता है। यह संयोग ही कभी ऐसे विलक्षण चमत्कार करता है, ऐसी अनूठी और अलभ्य घटनाएं दिखाता है कि वे शिकारी के स्मृति-कोष की अनमोल धरोहर बन जाती हैं।

वापसी में जब हम सोते के किनारे की खुली जमीन से होकर गुजर रहे थे, हमसे आगे खाल के निकट के सघन पेड़ों के पीछे से एक अजीब-सी भगदड और शोरगुल की आवाज हमें सुनाई पड़ी। उस जगह का हर पक्षी और हर बंदर चीख-चीखकर खतरे की सूचना दे रहा था—जंगल के निवासियों के बीच मानो दंगा हो गया था। यह भी स्पष्ट था कि जिसकी वजह से यह उथल-पुथल मची हुई थी, वह बड़ी तेजी

से उधर ही बढ़ता चला आ रहा था, जिधर हम लोग खड़े थे।

रवाक की धारणा थी कि दो बाघ किसी कारण आपस में लड़ बैठे हैं। अगर ऐसा था, तो यह सच ही देखने लायक नजारा था। ऐसे प्रसंग सौभाग्य से ही देखने को मिलते हैं। हम शीघ्र ही एक पेड़ पर चढ़कर ऊपर की टहनियों पर पहुंच गये। वहां से पेड़ों के उस ओर की जो खुली जगह थी, वह साफ-साफ नजर आ रही थी। पचास गज की दूरी पर ठीक सामने, लकड़हारों द्वारा काटे गये पेड़ों का बड़ा-सा ढेर पड़ा हुआ था और उधर से आने-जाने की राह बिलकुल बंद थी। एक ओर सोता बह रहा था और बाकी दोनों ओर घने जंगल थे।

हम अभी पेड़ पर ठीक से जमकर बैठ भी नहीं पाये थे कि बायीं ओर के पेड़ों के घने झुरमुट से, हमसे कुछ ही दूर पर, एक बड़ा-सा बारहसिंगा निकला। अपने सींगों के कारण बारहसिंगा घने जंगल में तेजी से नहीं भाग सकता और यही वजह थी कि उस बारहसिंगे की चाल भी धीमी थी। उसके कान फड़फड़ा रहे थे और उनके ऊपरी कोर भयजन्य अधीरता से कांप-कांप उठते थे। उसके दायें-बायें दोनों ओर एक-एक बाघ था। दोनों बाघ शाही चाल से आगे बढ़ रहे थे।

जंगल के ये बादशाह अपने पूरे आकार में तनकर बड़े आराम से चल रहे थे। बारहसिंगे पर फिलहाल आक्रमण करने का उनका कोई इरादा नहीं लगता था। उनका एकमात्र उद्देश्य बारहसिंगे के निकल भागने के रास्तों को दोनों ओर से रोके रखना था, जिससे उसके सामने आगे बढ़ने के सिवा कोई चारा न रहे।

बाघों में शायद एक मादा थी। उसका अपेक्षाकृत थोड़ा छोटा कद इसका संकेत दे रहा था। लेकिन दोनों का यह व्यवहार नितांत आश्चर्यजनक था। शिकार उनके सामने था: फिर भी वे जैसे बिलकुल उदासीन थे। मगर कुछ क्षणों बाद ही हमें इसका जवाब मिल गया। भय से कांपते हुए और लाचार कदमों से आगे बढ़ते उस बारहसिंगे के पीछे-पीछे बाघ के दो बच्चे जंगल से बाहर निकले। वे दोनों क ही कद के थे और उनके व बारहसिंगे के बीच कुछ ही गजों का फासला था। हमें समझते देर नहीं लगी कि दोनों बाघ अपने बच्चों को शिकार खेलना सिखा रहे हैं।

एक अनोखे आनंद की अनुभूति से मन उल्लसित हो उठा। दो वन्य पशुओं, जंगल के दो सूरमाओं की लड़ाई देखने का मौका कभी-कभी शिकार-जीवन में मिल जाया करता है; लेकिन यह जो दृश्य अभी हम देख रहे थे, वह किस्मत के धनी शिकारी के ही नसीब में बदा होता है। बाघ के वे दो बच्चे बारहसिंगे के पीछे बड़ी ही तत्परता से लगे हुए थे, जैसे स्कूल में पढ़ने वाले दो बच्चे अपने मां-बाप की आंखों के सामने सबक याद कर रहे हों।

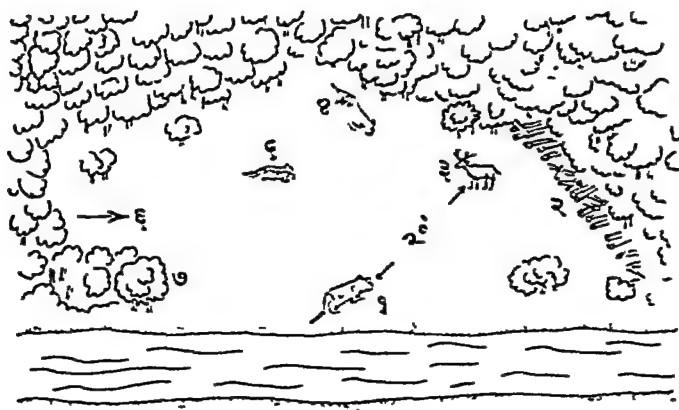
खुली जगह में आते ही बारहसिंगे की चाल में गजब की तेजी आ गयी और वह दौड़कर उस किनारे जा पहुंचा, जहां लकड़हारों द्वारा काटकर गिराये गये पेड़ों

का बड़ा-सा ढेर पड़ा हुआ था। वहां पहुंचकर पेड़ों के उस ढेर से उसने उस ओर के जंगल में जाने की बहुत कोशिश की; लेकिन सफल न हो पाया।

उसके दोनों ओर चल रहे बाघ और बाघिन की चाल में भी तेजी आ गयी। बाघिन बारहसिंगे के बायीं ओर की खुली जगह में ठीक सामने पहुंच गयी और जमकर यों बैठ गयी कि उधर से बच निकलने का सवाल ही नहीं उठता था। बाघ ने दायीं ओर सोते के किनारे, बारहसिंगे से २० फुट की दूरी पर अपना मोर्चा बांधा। हताश-भाव से अभागे बारहसिंगे ने जब पीछे मुड़कर देखा, तो उधर का रास्ता भी बंद हो चुका था। बाघ के दोनों बच्चे उसकी ओर देखते हुए ठीक बीच में जमकर बैठे थे।

सही स्थिति का अंदाजा लगाने के लिए आप २० फुट के एक गोल घेरे की कल्पना कीजिये। घेरे के बीच में बारहसिंगा खड़ा है। बारहसिंगे के पीछे काटकर गिराये हुए पेड़ों का बड़ा-सा ढेर है। परिधि पर बायीं और दायीं ओर बारहसिंगे से बराबर की दूरी पर बाघ और बाघिन घात लगाकर बैठे हैं और सामने की ओर सात-आठ गज की दूरी पर बाघ के दोनों बच्चे एक-दूसरे से सटकर बैठे हैं।

बच्चे अपनी पूंछ जमीन पर पटक रहे थे, खुशी में झूमते हुए कुत्तों के पिल्लों की तरह। वे रह-रहकर अपने मां-बाप की ओर देख लेते थे और फिर उस बेबस बारहसिंगे की ओर। बाघिन उनकी ओर देख रही थी और उनका हौसला बढ़ाने के लिए कभी-कभी गुर्रा उठती थी। लेकिन बाघ ने अपनी निगाह पल-भर के लिए भी बारहसिंगे पर से नहीं हटायी। वह बिलकुल सतर्क, किसी भी क्षण किसी भी स्थिति का सामना करने के लिए तैयार बैठा था। उधर बारहसिंगा भय से वहीं गड़-सा गया था।



बाघिन की उत्साहवर्धक गुर्राहटों का जब बच्चों पर कोई असर नहीं पड़ा, तो वह अपनी जगह से उठी। उसने बारहसिंगे की ओर एक नजर डाली और इस बार की उसकी गुर्राहट में बारहसिंगे के लिए यह धमकी साफ लक्षित होती थी कि हिले नहीं कि गये!

वह अपने बच्चों के पास आयी और एक की पूंछ अपने मुंह में लेकर जोरों से उमेठ दी। प्रतिवाद में चिल्लाते हुए उस बच्चे की तनिक भी परवाह किये बिना, उसने उसकी गुदा पर जोर का थप्पड़ मारकर उसे आगे उछाल दिया। बच्चा कुछ दूर आगे जाकर गिरा और वहां बैठकर उसने बारहसिंगे पर अपनी नजर गड़ा दी। बाघिन को जैसे संतोष हो गया। वह एक हल्की गुर्राहट के साथ पहले वाली जगह पर जाकर बैठ गयी।

मा के अपनी जगह पर जाकर बैठते ही उस बच्चे ने सजगता में ढिलाई कर दी। स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों की तरह शायद वह भी शरारत के 'मूड' में था और पढाई में उसकी तबीयत नहीं लग रही थी। बाघिन अधीरतापूर्वक गुर्रायी और वह बच्चा आगे बारहसिंगे की ओर बढ़ा। सावधानीपूर्वक फासला तै करते हुए वह बारहसिंगे से कुछ ही कदम पर पहुंच गया।

घबराया और भयभीत बारहसिंगा अपने पैरों से जमीन कुरेद रहा था। उसने अपना सिर झटके के साथ ऊपर-नीचे किया और उसके नुकीले सींग को देखकर बाघ के उस बच्चे की इच्छा हुई कि वह 'पाठशाला' छोड़कर घर भाग जाये। बाघिन अब तक अपना धैर्य खो चुकी थी। वह उस बच्चे की ओर देखकर बडे जोर से गरजी और उसने बच्चे को बारहसिंगे पर आक्रमण करने के लिए आगे की ओर उछाला।

बड़ी तेजी से बारहसिंगे ने अपना सिर झुकाया और तुरंत ऊपर उठाया। अपने ऊपर छलांग भर रहे बाघ के बच्चे को उसने अपने नुकीले सींगों से तीन फुट पीछे उछाल दिया। बच्चा जहां गिरा, वहीं कुछ क्षणों तक स्तब्ध पड़ा रहा। अचानक के इस आक्रमण से वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। बारहसिंगा तत्काल अपना सिर झुकाये आगे बढ़ा। निश्चय ही उसका इरादा अपने सींगों से उस बच्चे को घायल कर देने का था।

शिकारियों से बहुधा दो सवाल पूछे जाते हैं—बाघ कितनी तेजी से आक्रमण करता है, और उसके पंजे के वार में कितनी ताकत होती है? जवाब दिया जा सकता है कि बाघ बिजली की गति से आक्रमण करता है, अथवा जो गति पलक झपकने की होती है, वही बाघ के आक्रमण की भी होती है। लेकिन मैं जानता हूं, सुनने वालों को इससे संतोष नहीं होगा। ताज्जुब नहीं कि उन्हें यकीन भी न हो और वे इसे अतिशयोक्ति समझें। इसी तरह दूसरे सवाल के जवाब में

अगर उन्हें यह बताया जाये कि बाघ अपने पंजे के एक वार से ही किसी भी मजबूत चौपाये की गर्दन तोड डाल सकता है, तो इस जवाब की प्रतिक्रिया भी बहुत कुछ उसी प्रकार की होगी। बाघ के पंजे के वार में गजबनाक व कल्पनातीत ताकत होती है।

उस दिन की घटना आगे बताने के पहले आपको यह फिर से याद दिला दूं कि बारहसिंगे पर अपनी नजरें जमाकर बैठे हुए बाघ और बारहसिंगे के बीच २० फुट का फासला था। बाघ के उस बच्चे को अपने सींगों से ३ फुट दूर फेंककर बारहसिंगा उस पर आक्रमण करने के लिए अपनी गर्दन झुकाये आगे बढ़ा। उधर बाघ अपनी जगह पर हिला। बारहसिंगे की चाल में गजब की तेजी थी, पर बाघ की चाल उससे भी तेज निकली। बारहसिंगा बाघ के बच्चे की ओर कुल दो फुट बढ़ा था कि बाघ ने २० फुट की दूरी तै कर ली थी।

बिजली से भी अधिक तेजी से बाघ ने बारहसिंगे पर आक्रमण किया था। मेरी आंखों के सामने एक अस्पष्ट लकीर-सी चमक गयी और 'हुम्' जैसी एक तेज आवाज सुनाई पड़ी, जैसी गैस के छूटने से होती है। साथ ही एक धमाके की आवाज भी कानों में पडी, मानो किसी ने काफी ऊंचाई से कोई वजनी चीज धम्मसे जमीन पर गिरा दी हो।

कैसे क्या घटा, यह देख पाना किसी भी मानव-आंखों के लिए संभव नहीं था पर बारहसिंगा हमारी आंखों के सामने से गायब हो चुका था, जैसे किसी ने जादू के जोर से उसे गुम कर दिया हो। एक क्षण पहले वह बाघ के बच्चे पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ रहा था और उसी एक क्षण के भीतर वह वहां से गायब हो चुका था। उसकी जगह पर बाघ खड़ा था, जो निगाह घुमाकर चारों ओर देख रहा था। और बाघिन प्यार से अपने बच्चे को चाट रही थी।

कुछ क्षणों तक रुककर वह पूरा परिवार आगे बढ़कर घने जंगल में गुम हो गया और पेड़ पर बैठे हम आश्चर्य से अपनी आंखें मलते ही रह गये। बाद में हमने लकड़हारों द्वारा काटकर गिराये गये पेड़ों के उस बड़े ढेर में बारहसिंगे को पड़ा पाया। सिर्फ यह कहना कि वह मर चुका था, पर्याप्त नहीं होगा। उसका सिर उसके जिस्म में घुस गया था और वह एक लोथड़े के रूप में, इस धरती का जीव नजर न आकर किसी और दुनिया से आया लगता था। उसकी रीढ़ टूट चुकी थी और पसलियां बाहर निकल आयी थीं, अगले दोनों पैर तीन-चार जगह से टूट चुके थे। जैसा कि मैं आपको बता चुका हूं, यह सब कुछ बाघ ने २० फुट की छलांग के साथ एक सेकेंड के उतने हिस्से में ही कर डाला, जितने में बारहसिंगे ने दो फुट की दूरी तै की।

❀ ❀ ❀



मृणालिनी साराभाई

सृजन-संहार की मूर्ति

भारतीय सभ्यता मे, नृत्य जीवन के उच्चतर सत्य की अभिव्यक्ति के प्रबलतम माध्यमों में से रहा है। हमारे यहां की प्रत्येक देवमूर्ति अपनी दृश्यमान रूप-भंगिमा में, विश्व के किसी विशेष पहलू को रूपायित करती है। मगर भारतीय मनीषा ने एक साथ ही विज्ञान, कला और धर्म का विस्मयकारी समन्वय जिस एक मूर्ति में संपादित किया है, वह है—नृत्यरत शिव की मूर्ति नटराज।

जब कभी हम नर्तक के रूप में, नृत्य की परिभाषाओं में नटराज की चर्चा करते हैं, तो हमारे मन में अनगिनत संभावनाएं मचल उठती हैं। हम अनुभव करते हैं कि दक्षिण भारत के प्रसिद्ध मूर्तिकारों की रची हुई इस अमर मूर्ति की नृत्य-मुद्रा द्वारा मानो नटराज हमें शाश्वत प्रज्ञा का दान दे रहे हैं।

इस मूर्ति में निहित गूढ़ अर्थ को स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है—केवल इसीलिए नहीं कि इस प्रतीक का पिछले छः हजार वर्षों से प्रयोग होता आ रहा है, बल्कि इसलिए भी कि इसका संदेश आज भी हमारे जीवन के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

मूर्ति के ऊपरी दायें हाथ में डमरू है, जो नाद का अर्थात् ब्रह्मांड के विकास का प्रतीक है। नाद से ही समस्त भाषाएं, समस्त संगीत और समस्त ज्ञान निष्पन्न हुआ है। डमरू के तिकोने आकार के दोनों डिंडिम प्रकृति और शक्ति के प्रतीक हैं, जो कि परस्पर मिलकर समस्त सृष्टि-रचना करते हैं। अर्द्धचंद्र की मुद्रा में उठे हुए मूर्ति के ऊपरी बायें हाथ मे अग्निशिखाएं हैं।

शिव के एक हाथ में सृष्टि की आशा और दूसरे में संहारक अग्निशिखा क्यों है? क्योंकि सृष्टि और संहार शिव के स्वरूप के ही दो पहलू हैं। यही दो पहलू हमारे जीवन के भी हैं; क्योंकि जैसे हमारा जन्म निश्चित है, वैसे ही हमारा मरण भी निश्चित है।

तो इसका समाधान क्या है? अभय और शांति की अद्भुत मुद्रा में आगे की

और उठा हुआ दूसरा दायां हाथ हमसे कहता है—"देखो, ईश्वर की कृपा तुम्हें सर्वदा प्राप्त है।" परमेश्वर का प्रत्येक अवतार या अभिव्यक्ति—चाहे वह शिव हो या कृष्ण, बुद्ध हो या ईसा—इस हस्तमुद्रा का उपयोग करती है, जिसे नृत्य की शास्त्रीय भाषा में अभय-हस्त कहते हैं।

मगर अभी और भी प्रश्न शेष हैं। हम भगवत्-कृपा की उपलब्धि कैसे कर सकते हैं? हम सर्वदा ईश्वर की छत्रछाया कैसे पा सकते हैं? बायां हाथ इस प्रश्न का उत्तर देता है। वह पाव की ओर इंगित करता हुआ गज-हस्त की मुद्रा में झुका हुआ है। गज-हस्त अर्थात् हाथी की सूंड। यह एक सुन्दर अर्थ का सूचक है।

हाथी की सूंड विवेकशाली होती है। वह भारी से भारी वस्तु को उठाकर तोड सकती है, और सुकुमारतम वस्तु को भी। वह उन दोनों में अंतर कर सकती है। उसी तरह हमें भी उच्चतर और निम्नतर का विवेक करने में समर्थ होना चाहिये। और इस शुभ कर्म में हमारी सहायता करने के लिए विघ्नविनायक गजवदन गणेश सर्वदा विराजमान हैं ही।

नटराज का उठा हुआ बाया पैर मनुष्य-जाति से मानो कहता है कि जैसे नर्तक अपना पाव ऊपर उठाता है, वैसे ही मनुष्य भी अपने आपको ऊपर उठा सकता है और मुक्ति पा सकता है।

नटराज का बाया पाव ऊपर उठा हुआ है। परन्तु दाया पाव, जिस पर कि समूचे ब्रह्मांड का भार-सन्तुलन टिका हुआ है और जो नृत्य के इस शाश्वत क्रम में जगत् की नियति का अतिक्रमणता से सन्तुलन किये हुए है, ठोस भूमि पर नहीं, बल्कि एक छटपटाते हुए कुबडे मनुष्य की पीठ पर है। यह मनुष्य असत् तत्त्वों का मूर्तिमंत रूप है—अज्ञानमय, विस्मृतिमय अपस्मार पुरुष!

यही पुरुष हमारे भीतर है और वह हमें अपनी सच्ची दिव्यता को अधिगत करने से रोकता है। अगर हमें वह परमाह्लाद अर्जित करना है जो हमारा सच्चा स्वरूप है यदि हमें वह शाश्वत आनंद अधिगत करना है जिसे मनुष्य 'ईश्वर' कहता है, तो हमें इस अज्ञान को, अपस्मार पुरुष को निर्ममता से कुचलना होगा।

नटराज के चारों ओर एक प्रभा-मंडल है। यह प्रकृति का नृत्य है, जिसका केंद्र आत्मा है। इसका उत्स है—स्वयंभू। सब कुछ उसी से निःसृत होता है और उसी में विलीन।

शिव जब नृत्यरत होते हैं, तो उनका जटाजूट त्रिलोकपावनी गंगा को थामे रहता है, जो कि जीवन की समस्त गतिमयता की प्रेरक शक्ति और मूल स्रोत है और जिसका जल जीवन की समस्त कलुषता को धो डालता है। शिव के उस जटाजूट में सद्य:जात शिशु-सा कोमल, प्राण-प्रतीक बालचंद्र भी अपनी सम्पूर्ण आभा और गरिमा बिखेरता हुआ बैठा रहता है।

शायद इस मूर्ति की सबसे उल्लेखनीय विशेषता है, इस एकातवासी ध्यानी योगीश्वर का उन्मत्त नर्तक के साथ समन्वय, योगी का कलाकार के साथ समन्वय। नाचते समय नर्तक वही बन जाता है, जिसका वह अभिनय कर रहा होता है। नृत्य करते समय शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की सपूर्ण शक्ति उत्तेजित हो उठती है। तब ईश्वर को समर्पित करने के लिए पृथक् कुछ शेष नहीं रह जाता। इस तरह नर्तक एक योगी के समान होता है, जो अपना सर्वस्व परमात्मा को सौंप देता है। यह बडी चित्रमय और नाटकीय उपमा है।

परतु तनिक नटराज के मुख को तो निहारिये। वह प्रशात अतर्मुखता का सर्वोच्च निदर्शन है। घूर्णमान जगत् की भाति उनका शरीर उन्माद में आदोलित है, तथापि स्वयं शिव इस समस्त हलचल मे भी सर्वथा निर्विकार और प्रशात हैं। एक साथ मर्त्य जीवन और देवत्व का यह कैसा सुदर निरूपण है!

नटराज का प्रशांत एवं अविचल मुखडा मानो अपनी ही बाह्य सृष्टि-लीला का दर्शक है। वे जगद्गुरु हैं, उनकी चिरंतन आत्मा अलिप्त, सतर्क और करुणामय बनी रहती है।

मूर्तिकला की इस महाकृति मे जीवन का रहस्य बडी ही सुदरता से निरूपित है— खुली पुस्तक की तरह सबके लिए स्पष्ट और सुवाच्य। किसी सत्यसधित्सु को परम सत्य का प्रतीक खोजने के लिए और कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है देखने वाली आखों की।

✤ ✤ ✤

जीवन के जितने भी प्रकट रूप हैं, सबमें सौंदर्य है। आकार की सभी अभिव्यक्तियों में सौंदर्य है। भले ही हम भौतिक शरीर को महत्त्वहीन कहें, भले ही भौतिक शरीर विनश्वर हो, किंतु अपने अस्थायित्व में भी वह एक दिव्य वस्तु है। वह एक दैवीय अभिव्यक्ति है। हम उसे दिव्य बनायें, पूर्ण बनायें, सुंदर बनायें, अपनी शारीरिक अभिव्यक्ति को सुंदर बनायें। जब हम ऐसा करेंगे, तो अपने आप ही उसका गहरा असर हमारे भौतिकेतर स्वरूप पर भी पडेगा। और यहीं कला अपना हिस्सा अदा करती है। क्योंकि वास्तव में जीवन के समस्त प्रकट रूपों मे सौंदर्य को, परमात्मा की सृजनात्मक अभिव्यक्ति को देखना और समझना ही सौंदर्य-प्रेम है।

—रुक्मिणीदेवी अरुंडेल

स्वामी श्रद्धानंद



मेरी सहधर्मिणी

बरेली में आने पर पतिगृह में शिवदेवी (मेरी धर्मपत्नी) का यह नियम था कि दिन का भोजन तो मेरे पीछे करतीं ही, परन्तु रात को जब कभी मुझे देर हो जाती और पिताजी भोजन कर चुकते, तो मेरा और अपना भोजन ऊपर मंगा लेतीं और जब मैं लौटता, उसी समय अंगीठी पर गर्म करके मुझे भोजन करातीं, पीछे स्वयं खातीं।

एक रोज मैं रात के आठ बजे मकान लौट रहा था। गाडी दर्जी चौक के दरवाजे पर छोडी। दरवाजे पर ही बरेली के बुजुर्ग रईस मुंशी जीवनसहायजी का मकान था। उनके बडे पुत्र मुंशी त्रिवेणीसहाय ने मुझे रोक लिया। गजक सामने रखी और जाम भरकर दिया। मैंने इन्कार किया। बोले–"तुम्हारे लिए हां तो दो-आतशा खिचवायी है। यह जौहर है।"

त्रिवेणीसहायजी के छोटे सब मेरे मित्र थे। उन्हें मैं बडे भाई के तुल्य समझता था। न मैं दो-आतशा का मतलब समझा, न जौहर का। एक गिलास पी गया। फिर गपबाजी शुरू हो गयी और उनके मना करते-करते मैं चार गिलास चढा गया। असल में वह बडी नशीली शराब थी। उठते ही असर मालूम हुआ।

दो मित्र साथ हुए। एक ने कहा, चलो मुजरा करावें। उस समय तक न तो मैं वेश्या के मकान पर गया था और न कभी वेश्या को बुलाकर बातचीत की थी, केवल महफिलों में नाच देखकर चला आता था। शराब ने इतना जोर किया कि पांव जमीन पर नहीं पडते थे।

एक वेश्या के घर में जा घुसे। कोतवाल साहब के पुत्र को आया देखकर नम्र सलाम करके खड़ी हो गयीं। घर की बडी मा को हुक्म हुआ कि मुजरा सजाया जावे। उसकी नौची के पास कोई रुपये देने वाला बैठा था। उसके आने में देर हुई। न जाने मेरे मुंह से क्या निकला। नौची घबरायी हुई दौडी आयी और सलाम किया।

तब मुझे किसी अन्य विचार ने आ घेरा। उसने क्षमा मांगने के लिए हाथ बढ़ाया और मैं "नापाक-नापाक!" कहते हुए नीचे उतर आया। (यह सब पीछे साथियों ने बताया।) नीचे उतरते ही घर की ओर लौटा, बैठक में तकिये पर जा गिरा और बूट आगे कर दिये, जो नौकर ने उतारे। उठकर ऊपर जाना चाहा; परंतु खड़ा नहीं हो सकता था। पुराने भृत्य बूढ़े पहाड़ी पाचक ने सहारा देकर ऊपर चढ़ाया।

छत पर पहुंचते ही पुराने अभ्यास के अनुसार किवाड़ बंद कर लिये और बरामदे के पास पहुंचा ही था कि उल्टी होने लगी। उसी समय नाज़ुक छोटी उंगलियों वाला एक हाथ सिर पर पहुंच गया और मैंने उल्टी खुलकर की। अब शिवदेवी के हाथ में मैं बालकवत् था। कुल्ला कराकर, मेरा मुंह पोंछ ऊपर का अंगरखा, जो खराब हो गया था, बैठे-बैठे ही उतार दिया और मुझे आसरा देकर अंदर ले गयीं। वहा पलंग पर लिटाकर मुझ पर चादर डाल दी और साथ बैठकर माथा और सिर दबाने लगीं।

मुझे उस समय का करुणा और विशुद्ध प्रेम से भरा उनका मुख कभी नहीं भूलेगा। मैंने अनुभव किया, मानो मातृशक्ति की छत्रछाया के नीचे निश्चित लेट गया हूं। पथरायी हुई आंखें बंद हो गयीं।

रात को शायद एक बजा था, जब मेरी आंख खुली। वह चौदह-पंद्रह बरस की बालिका पैर दबा रही थीं। मैंने पानी मांगा। आसरा देकर उठाने लगीं; परंतु मैं उठ खड़ा हुआ। उन्होंने दूध अंगीठी पर से उतारा और उसमें मिश्री डालकर मेरे मुंह से लगा दिया। दूध पीने पर होश आया। उस समय अंग्रेजी उपन्यास मगज में से निकल गये और गुसाईं तुलसीदासजी के खींचे हुए दृश्य सामने आ खड़े हुए।

मैंने उठकर और पास बैठकर कहा—"देवी! तुम बराबर जागती रही और भोजन तक नहीं किया। अब भोजन करो।" शिवदेवी ने कहा—"आपके भोजन किये बिना मैं कैसे खाती? और अब भोजन करने में क्या रुचि है!" उस समय की दशा का वर्णन लेखनी द्वारा नहीं हो सकता। मैंने अपनी गिरावट की कहानियां सुनाकर देवी से क्षमा की प्रार्थना की।

परंतु वहां तो उनकी माता का उपदेश काम कर रहा था—"आप मेरे स्वामी हैं, यह सब कुछ सुनाकर मुझ पर पाप क्यों चढ़ाते हैं? मुझे तो यह शिक्षा मिली है कि मैं नित्य आपकी सेवा करूं।" उस रात बिना भोजन किये दोनों सो गये और दूसरे दिन से मेरे लिए जीवन ही बदल गया।

छावनी के पारसी मद्य-विक्रयी का बिल बढ़ता ही जा रहा था। दूसरे ही दिन उसका लगभग तीन सौ का बिल आ पहुंचा। उस दिन उसे तीन-चार दिन की

छुट्टी लेकर टाल दिया। मुझे चिंता तो थी ही. शिवदेवीजी ने भोजन कराते समय मेरी चिंता का कारण पूछा। अब तो कोई बात आपस में गुप्त रह नहीं सकती थी। मैंने सब कुछ बता दिया।

देवी ने कुल्ला करवाकर हाथ-मुंह धुलवाये और अपना भोजन पाने से पहले ही अपने हाथ के सोने के कड़े उतार दिये। मैं चकित रह गया—"देवी, यह कैसे हो सकता है? तुम्हें आभूषित करने के स्थान में, तुम्हें आभूषणों से रहित करने का पाप कैसे लूं?"

उस समय मुझे ठीक संस्कृत कवि की कल्पना के अनुसार दृश्य जंचा और मैंने जान लिया कि पतिव्रता देवी पति की स्वास्थ्य-रक्षा के समय माता, विपत्ति के समय भगिनी और उसे संतान-सुख पहुंचाने के लिए धर्मपत्नी का रूप धारण करती है।

देवी ने दूसरी जोड़ी दिखाकर कहा—"एक जोड़ी पिताजी ने और दूसरी जोड़ी ससुरजी ने दी थी। इनमें से एक जोड़ी यों ही पड़ी है। यह मेरा माल है। और जब तन भी आपका है, तो इसके लेने में क्यों संकोच है? आपकी चिंता दूर करने का यह महंगा सौदा नहीं।"

प्रलोभन से बचने के लिए मैंने कर्ज चुकाने से शेष रुपये देवी की संदूकची में रख दिये और मन में पक्का निश्चय कर लिया कि जब कमाने लग जाऊंगा, तो व्यय किये हुए धन को फिर से आभूषणों में मिला दूंगा।

❖ ❖ ❖

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः॥

—घर में यह लक्ष्मी है, नेत्रों में यह अमृत की अंजन-शलाका है, इसका स्पर्श शरीर के लिए चंदन है, और इसकी बाह मुझे अपने गले में ऐसी लग रही है, जैसे शीतल व चिकनी मोतियों की माला हो। इसका सभी कुछ प्रिय है; केवल असह्य है इसका विरह।

—भवभूति (उत्तररामचरित)



दीनदयाल उपाध्याय

समष्टि ही आराध्य है

हमारा सबका सुख सामूहिक सुख है, और दुःख सामूहिक दुःख है। राष्ट्र के गौरव में ही हमारा गौरव है। परतु आदमी जब इस सामूहिक भाव को भूलकर अलग-अलग व्यक्तिगत धरातल पर सोचता है, तो उससे नुक्सान होता है। जब हम सामूहिक रूप से अपना-अपना काम करके राष्ट्र की चिंता करेंगे, तो सबकी व्यवस्था हो जायेगी।

यह मूलभूत बात है कि हम सामूहिक रूप से विचार करें, समाज के रूप से विचार करें, व्यक्ति के नाते से नहीं। इसके विपरीत कोई भी काम किया गया, तो वह समाज के लिए घातक होगा। सदैव समाज का विचार करके काम करना चाहिये।

हमारा आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास, सब कुछ समाज के साथ जुड़ा हुआ है। हिमालय की गुफा में योगाभ्यास करके मुक्ति नहीं मिल सकती, योगाभ्यास भले ही हो जाये। मुक्ति भी व्यक्तिगत नहीं, सामाजिक है, समष्टिगत है। जब समाज मुक्त होगा, ऊंचा उठेगा, तो व्यक्ति भी मुक्त होगा, ऊंचा उठेगा।

भगवान ने भी अवतार लिया तो धर्म की रक्षा के लिए। आज तक कोई भी अवतार गुफा में बैठकर योगाभ्यास के लिए नहीं हुआ। भगवान कृष्ण ने तो जीवन-भर कार्य किया। उन्होंने सपूर्ण समाज को अपने सामने रखकर कर्म किया। निष्कर्ष यह है कि समाज के लिए किया गया काम भगवान का काम है, और सिर्फ अपने लिए किया गया काम शैतान का काम है। राष्ट्र की भक्ति यानी समाज की भक्ति, यही वास्तव में भगवान की भक्ति है।

महाभारत के युद्ध को देखें, तो उसमें एक बडे मजे की चीज आयी है। वहा कहा है–यतो धर्मस्ततो जयः। पांडवों की विजय धर्म के कारण हुई। परतु सवाल यह आता है कि युद्ध में कौरवों के सभी सेनानी छल से ही मारे गये। शिखंडी को

खड़ा करके अर्जुन ने पीछे से भीष्म का वध किया। द्रोणाचार्य, कर्ण, दुर्योधन आदि सभी छल से मारे गये। यह सब छल पांडवों ने किया।

क्या युधिष्ठिर का झूठ बोलना धर्म है? कृष्ण के छल द्वारा जयद्रथ का वध क्या धर्म है? शिखंडी के पीछे से भीष्म को मारना क्या धर्म है? लगता है कि यह सब तो अधर्म है। परन्तु यह अधर्म होते हुए भी हम कहते हैं—जहां धर्म है, वहीं जय है। इसे देखकर लगता है कि महाभारतकार ने भी धोखा दिया है; धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार किया है, या फिर कथन की गलती है।

परन्तु विचार करें, तो यह पता लगता है कि कौरव-पक्ष और पांडव-पक्ष में अगर कोई अंतर था, तो सिर्फ यह कि कौरव-पक्ष का हर व्यक्ति व्यक्तिवादी था, समष्टि-वादी नहीं। वह समाज का विचार करने को तैयार ही नहीं था।

भीष्म इतने बड़े थे, परन्तु "मैंने प्रतिज्ञा की है कि शिखंडी से युद्ध नहीं करूंगा," यह भाव लिये बैठे थे। सेनापति के जीवन में व्यक्तिगत प्रतिज्ञा का क्या महत्त्व? वहां तो सेनापति के कर्तव्य का महत्त्व है।

अर्जुन भी कह सकता था कि शिखंडी के पीछे से बाण चलाना उसके योग्य नहीं। संसार के लोग जाने क्या कहेंगे? यह सब अर्जुन के नाम पर कलंक होगा। परंतु अर्जुन ने समाज का, समष्टि का, अपने पूरे पक्ष का विचार किया; और भीष्म पितामह ने 'मैं' का विचार किया। उनके सामने सेनापति की जिम्मेदारी नहीं, भीष्म पितामह की प्रतिज्ञा ही महत्त्व की थी।

द्रोणाचार्य को पुत्र का मोह था। सेनापति पुत्र का मोह लेकर चलेगा, तो वह लड़ाई नहीं लड़ सकेगा। पुत्र की मृत्यु का पता चलते ही वे शस्त्र छोड़ बैठे। दूसरी ओर युधिष्ठिर, जो जीवन में कभी भी झूठ नहीं बोले थे, झूठ बोले। उन्होंने यह चिंता नहीं की कि दुनिया मुझे क्या कहेगी। समष्टि की मांग, भगवान कृष्ण के आदेश की खातिर व्यक्तिगत कीर्ति की उन्होंने चिंता नहीं की।

कर्ण के पास ऐसे कवच और कुंडल थे, जिनके रहते उसका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता था। ये उसे सूर्य ने दिये थे। इन्हें मांगने के लिए इंद्र ब्राह्मण का रूप धरकर कर्ण के पास गये। सूर्य ने कर्ण को इस प्रकार के छल से आगाह कर दिया था; परन्तु कर्ण ने कवच और कुंडल ब्राह्मण इंद्र को दे दिये। कारण, कर्ण ने समझा कि मैं दानवीर हूं, मुझसे कोई मांगे और मैं न दूं, यह तो लज्जा की बात होगी। वह दानवीर कर्ण तो हो गया, पर जिस पक्ष के लिए वह खड़ा था, उसका भला नहीं कर पाया।

परन्तु देवराज इंद्र ने ब्राह्मण के रूप में भीख मांगी। उन्होंने धर्म-कार्य के लिए व्यक्तिगत लोकापवाद की चिंता नहीं की। कुंती ने कर्ण को अपने कौमार्य की संतान कहकर स्वयं कलंक मोल लिया। वह न कहती, तो किसी को पता भी नहीं चलता

कि कर्ण उसका बेटा है। परतु उसके सामने समाज का ध्येय था। वह कर्ण से अर्जुन के अतिरिक्त शेष सब पुत्रों के लिए अभयदान लेकर आयी।

भगवान कृष्ण ने भी प्रतिज्ञा की थी कि शस्त्र नहीं उठाऊंगा; पर भीष्म के मुकाबले शस्त्र उठाने में उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा की चिंता नहीं की।

कौरव-पक्ष में एक-से-एक बढ़कर महारथी थे, पर उनमें कमी यह थी कि हर व्यक्ति मिलकर समूह नहीं था, समाज नहीं था। उनके अंदर कोई समष्टि-भाव नहीं था। सब अलग-अलग थे। हरएक को अपने नाम की चिंता थी।

पांडवों में सब मिलकर एक थे। भगवान कृष्ण को सबने नेता बनाया था। उनकी जो आज्ञा हुई, उसी को मानकर चले; किसी ने अपने नाम की चिंता नहीं की। भगवान कृष्ण ने जो भी कहा, सभी ने किया। किसी ने झूठ बोला, किसी ने युद्ध के नियमों का उल्लंघन किया, किसी ने कर्ण से भीख मागी, किसी ने भीष्म से उनकी मृत्यु का रहस्य भी पूछा। वहां सभी एकजुट होकर कार्य करने वाले थे। वे सभी समष्टिवादी थे।

वास्तव में समष्टिवाद यह धर्म है, राष्ट्रवाद यह धर्म है। ['राष्ट्रधर्म' से साभार]

❀ ❀ ❀

वह २५ जनवरी १९६० की रात थी। राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसादजी की बड़ी बहन भगवतीदेवी का देहात हो गया। भगवतीदेवी राजेंद्रबाबू के लिए मां भी थीं, बहन भी। वे ही एकमात्र व्यक्ति थीं, जो उन्हें उनके अदम्य आदर्शवाद और अनुचित नरमी के लिए डाट सकती थीं। भाई-बहन के दृष्टिकोण में बड़ा अंतर था; पर दोनों में अपार प्रेम था। बहन यथार्थवादी थीं; भाई का मानव की नेकनीयती में अटूट विश्वास था। परंतु दोनों ममता के बंधन में बंधे हुए थे। बहन की मृत्यु से राजेंद्रबाबू को इतना गहरा सदमा पहुंचा कि वे दुःख से बेसुध होकर मृत्युशय्या के पास बैठे रहे। बड़ी रात गये उन्हें सोने के लिए राजी किया जा सका। तभी उन्हें याद आया कि शीघ्र ही दिन निकलने वाला है–भारतीय गणतंत्र की दसवीं सालगिरह का दिन, जिसमें उन्हें राष्ट्रपति की हैसियत से फौजी सलामी लेनी है। सार्वजनिक कर्तव्य ने निजी दुःख को ढंक लिया। अगले दिन वे सलामी की रस्म के दौरान में घंटों तक खड़े रहे। उनके गंभीर चेहरे पर दुःख की कोई रेखा नहीं दिखाई देती थी। दोपहर को लौटकर वे बहन की अत्येष्टि के लिए अरथी के साथ जमुना-तट की ओर रवाना हुए।

—के. एल. पजाबी

विक्टर फ्रैंकल



एक सूत्र

सुख के पीछे भागना सुख को दूर भगाना है। सीधे सुख को पकड़ने की जितनी ही चेष्टा करोगे, वह उतना ही तुमसे बच निकलेगा। सुख तो इस चीज का उप-उत्पादन (बाइप्राडक्ट) अथवा अवांतर परिणाम (साइड इफेक्ट) है कि हमारे पास सुख मनाने का कोई कारण हो। जैसे कि प्रेम करने के लिए कोई व्यक्ति हो, अपने को न्योछावर करने के लिए कोई ध्येय हो, सेवा करने के लिए कोई आराध्य हो। जितना ही हम सुख को अपना उद्देश्य बनायेंगे, सुखी होने का कारण हमसे उतना ही ओझल होता जायेगा। सुख को पीछा करके नहीं पाया जा सकता। उसका तो स्वयं आविर्भाव होना चाहिये।

जो बात सुख और प्रसन्नता के बारे में है, वही सत्ता के बारे में भी है। आदमी सत्ता के लिए जितना ही प्रयत्न करता है, प्रतिष्ठा की जितनी ही फिक्र करता है, उतनी जल्दी लोग उसे पदलोलुप समझकर उसकी उपेक्षा करने लगते हैं। इसके विपरीत, आदमी की जितनी ही ज्यादा यह कोशिश होगी कि मैं कुछ दूं, अपनी अंतरात्मा के आदेशों-निर्देशों का पालन करूं, उसे उतना ही अधिक आदर, प्रतिष्ठा और यश प्राप्त होंगे। और वह भी इसीलिए कि उसने इस आदर, प्रतिष्ठा और यश की परवाह नहीं की है।

जो बात सुख और आनंद के बारे में है, वही अंतरात्मा के बारे में भी सही है। अपने आपको किसी ध्येय या व्यक्ति को समर्पित करने के बजाय, यदि तुम इसी चिंता में डूबे रहते हो कि मेरी अंतरात्मा शुद्ध है या नहीं, तो अपनी अंतरात्मा को शुद्ध नहीं रख सकोगे। क्योंकि तुम अपनी ही फिक्र में डूबे हुए हो। यदि तुम अपने बारे में, अपनी अंतरात्मा के बारे में कम सोचोगे और दुनिया के जो ज्वलंत प्रश्न हैं, तुम्हारे जो कर्तव्य हैं और जो काम तुमने हाथ में लिये हैं, उनके बारे में ज्यादा सोचोगे, तो बाद में तुम्हारे पास अपनी अंतरात्मा के प्रति संतुष्ट रहने का ज्यादा कारण रहेगा।

यही बात नींद के बारे में भी है। तुम इसकी जितनी ही कोशिश करोगे कि नींद आये, नींद का आना उतना ही मुश्किल हो जायेगा; क्योंकि तब तुम तनाव में होगे; क्योंकि तब तुम किसी चीज के लिए हाथ-पांव मार रहे होगे। इसके बजाय, अपने आपसे यह कहने की कोशिश करो कि मुझे नींद की कतई परवाह नहीं है। बेफिक्र हो जाओ। कुछ देर बाद तुम्हें अपने आप नींद आ जायेगी। तब तुम जागे रहने की जितनी ही कोशिश करोगे, उतने ही जोर से नींद तुम पर हावी होगी।

और अततः, स्वास्थ्य के बारे में भी यही बात है। जो आदमी अच्छा स्वास्थ्य बनाने के लिए हरदम प्रयत्नशील रहता है, समझिये कि वह तो आधा बीमार ही है। वह रोगभ्रम-पीडित है, क्योंकि उसे सिवा अपने स्वास्थ्य के किसी भी चीज की चिंता नहीं है।

❀ ❀ ❀

गुजरावाला में मोतीलालजी, स्वामी श्रद्धानंदजी और मालवीयजी के साथ मैं भी खालसा कालेज को देखने के लिए चला, जिस पर कहा जाता है कि मार्शल-ला के दिनों में अंग्रेजी सैनिकों ने हवाई जहाज से गोली चलायी थी। जून की दोपहर, आकाश में सूर्य प्रचंड रूप से तप रहा था। तीनों नेताओं के पास छाते थे। मेरे पास छाता न था। तीनों नेताओं के साथ मैं भीड़ के आगे चल रहा था। पहली दृष्टि मुझ पर स्वामी श्रद्धानंदजी की पड़ी। उन्होंने कहा—"सवा रुपये का छाता मिलता है तिवारीजी! आप भी क्यों नहीं खरीद लेते, ताकि ऐसे अवसरों पर काम दे जाये?" और यह कहकर स्वामीजी महाराज आगे बढ़ गये। उसके बाद मोतीलालजी की दृष्टि मुझ पर पड़ी। उन्होंने कहा—"तिवारीजी, क्या खुदकुशी करना चाहते हैं आप?" फिर मैं क्या देखता हूं कि मालवीयजी धीरे-धीरे कदम बढ़ाते हुए मेरी ओर चले आये और अपना छाता मेरे सिर पर लगाकर चलने लगे। ज्यों-ज्यों मैं उनके छाते से दूर भागता, त्यों-त्यों वे मेरे पास ही आते जाते। मैंने प्रतिवाद किया—"महाराज, आप यह क्या कर रहे हैं? मुफ्त में मुझे पाप का भागी बना रहे हैं!" उन्होंने उत्तर दिया—"तुम उस सेवा-समिति के मंत्री हो, जिसका सभापति मैं हूं। क्या तुम मुझे सेवा के धर्म से बिलकुल ही वंचित करना चाहते हो? तुम बहुत-सी सेवा जनता की कर रहे हो, तुम्हारी सेवा करके मैं तुम्हारे पुण्य का भागी होना चाहता हूं।"

—वेंकटेशनारायण तिवारी

अमृता प्रीतम

खाबीदा हुसीना



खाबीदा हुसीना (सोयी हुई सुंदरी) उज़्बेकिस्तान की एक घाटी का नाम था, जैसे किसी कुमारी लड़की का नाम होता है। और फिर उसका कामों ने विवाह हो गया। अब उसका नाम है—फरगाना घाटी। पंजाब की लड़कियां जिस दूर के रेशम का गीत गाती हैं—"मखमल की जूती तेरे पैरों में पहनाऊं और अतलस का चोला सिलवाऊं," यह फरगाना घाटी वही रेशम कातती है, जिसका एक किनारा यदि हम धरती पर रखें, तो दूसरा किनारा चांद तक पहुंच जाता है।

यहां रेशम की मिलों की डाइरेक्टर औरतें हैं। मैं जब यहां पहुंची, तो दोनों डाइरेक्टर औरतों ने अपनी मिलें दिखाईं और मुझे अतलस की सौगात देते हुए बोलीं—"तेरे नगमों के पैरों के नीचे हम अतलस बिछाती हैं।" अगले दिन मई की पहली तारीख थी और उत्सव का चाव उन औरतों के चेहरों पर दिखाई देता था।

फरगाना जिले की डिप्टी भी औरत है और नगरपालिका की प्रधान भी औरत। इसी दौरान में मैं सामूहिक फार्म की प्रधान औरत एलोखान से भी मिली, जिन्होंने पिछले पंद्रह साल में चार हजार एकड़ बंजर भूमि को आबाद किया है। एक हजार छः सौ एकड़ में कपास, छ. सौ एकड़ में धान, साढ़े चार सौ एकड़ में मक्का, साढ़े तीन सौ एकड़ में खुबानियों, सतालों और सेबों के वृक्ष तथा दो सौ एकड़ में शहतूत लगे हुए हैं। एलोखान के निरीक्षण में लगभग दो हजार श्रमिक काम करते हैं। इन श्रमिकों के लिए इस फार्म में चौंसठ मकान (अपार्टमेंट) हैं। हर एक में अखबार, किताबें, रेडियो और टेलिविजन है।

एलोखान के सीने पर सोने के दो लेनिन-मैडल लगे हुए थे और उसका गोल किसान-चेहरा श्रम की लाली के साथ दमकता था। [illegible] के दस्तरख्वान पर [illegible], शहद, अनारों का रस और कई पकवान परोसकर उन्होंने पूछा—"बताइये, मैं क्या गाऊं!"

मैंने कहा—"अपने देश का वह गीत, जो कोनियाक-जैसा तल्ख, शहद-जैसा मीठा और अनारों के रस की तरह लाल हो।"

"और भेड़ के भुने हुए मांस-जैसा आशिकी गीत", उन्होंने हंसते हुए उस बात को आगे बढ़ाया और वे अपने दिल की सारी तहें खोलकर हंस पड़ीं और गाने लगीं :

इश्क का जुनून मेरे सिर में है
जुल्फें गिर-गिरकर मेरी पलकों को छू रही हैं
कोई मेरे प्यारे को बताये—
मेरी छाती में आग सुलग रही है
और उसे कहो, अपने हाथ सेक ले।
मेरे ओंठों में शहद भरा है
मेरे दिलदार से कहो—यह शहद चख ले।

एक फरगानी नवयुवती लालाखानम के गले में सोये हुए गीतों को जैसे इन पंक्तियों ने हाथ पकड़कर जगा दिया। लालाखानम ने दस्तरखान के आस-पास गीत-ही-गीत बिछा दिये :

मेरा दिल तुम्हें एक फूल देना चाहता है;
पर आजकल बागों में कली नहीं खिलती।
मेरे पांव तेरे नगर से चले जाना चाहते हैं;
पर मेरे पांवों को जाने के लिए राह नहीं मिलती।
मैं स्वर्ण-झील की बतख हूं—
यदि मुझे मेरा प्यारा न मिला, मैं इसी झील में डूब जाऊंगी।
तू मेरे अंबर का तारा, मेरे बाग का गुलाब,
मेरे फूलों का बुलबुल, मेरे दिल का नगमा
बहुत नाज न कर, काले नैनों वाले दिलदार ! आ जा !

और फिर लालाखानम ने कहा—"आज मैं एक गीत अपने देश की मेहमान के लिए भी गाऊंगी :

यह हमारे माथे का भाग्य कि हमने तुम्हें ढूंढ़ लिया
आज तू हमारे देश की मेहमान।"

इस दस्तरखान को धन्यवाद देते हुए मेरे दिल की गहरी तहों से ये बोल निकले—"मैंने कभी गीत लिखा था, जिंदगी ने मुझे अपने घर बुलाया और घर बुलाकर मेहमानवाजी करना भूल गयी; पर आज मैं यह शिकवा वापस लेती हूं..."

तभी लल्लाखानम मेरा हाथ पकड़कर बोली—"यहां से बड़ी दूर सामने पहाड़ों के पैरों में एक बगीचा है, अंगूर की बेलों के साथ सेबों, खुमानियों, आलूचों, अनारों और बादामों के पौधों से भरा हुआ! इस बगीचे की छाती में एक पहाड़ी नदी बहती है—चाहे मरगाना। चलो, ज़िंदगी के सब शिकवे उस नदी में बहा आयें।"

मैंने कहा—"लल्ला! तेरे दिल में किस तरह की सुन्दर मुहब्बत भरी हुई है! तेरे ओंठों पर तो कोई भी शिकवा-शिकायत नहीं।"

"शिकवे तो बहुत हैं; पर हैं उन पत्थरों की तरह, जो कि नदी में पड़े हुए हैं, कभी पिघले नहीं। शायद कभी पिघलेंगे भी नहीं। पर मुहब्बत का पानी इन पत्थरों के ऊपर से बह रहा है। यह बात मैं अपने से कह रही हूं—मुहब्बत भी की थी किसी से।"

"फिर?"

"मेरे मां-बाप को वह मंज़ूर नहीं थी।"

"तो फिर आज तू वह गीत गा, जो पत्थरों पर से बहते पानी का गीत हो।"

"कभी-कभी मैं सोचती हूं कि कोई गीत न गाया करूं, अब शायद मुझे वह गीत गाने का अधिकार भी नहीं; पर......गीत मेरे गले में अपने आप ही आ पड़ते हैं।" और यह कहते-कहते लल्ला की आंखों में खुमार भर गया:

अपना दिल देने को मैं तुझे ढूंढ़ रही हूं।
अपनी जान देने के लिए तेरा खंजर।

और मुझे महसूस हुआ, मुहब्बत करने वाला हर दिल रेशम का वह कीड़ा होता है, जो शहतूत के पत्ते खा-खाकर रेशम के तार कातता रहता है, गीत बुनता रहता है: और यह झिलमिलाती अटूट डोर बुनी जाती रहती है, जिसका एक किनारा अगर धरती पर रखें, तो दूसरा किनारा एकदम चांद तक पहुंच जाता है।

❧ ❧ ❧

अनजले और जले दीपक के बीच जो अंतर होता है, वही अंतर प्रेम करने के पूर्व और पश्चात् की स्थिति में होता है। दीपक जलने के पहले भी था, और अच्छा भी था; किंतु जलकर अब वह प्रकाश फैला रहा है—और वही उसका धर्म है। प्रेम मनुष्य को बहुत-सी चीजों के प्रति शांत और समाहित बनाता है। इससे मनुष्य की अपना काम करने की योग्यता बढ़ जाती है।

—बालगो



म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

आनंद ही आनंद

सृष्टि का मूलतत्त्व एक ही है, यह वेदों का घंटाघोष है। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परं किञ्चनास...एकं वा इदं विबभूव सर्वम् (ऋग्वेद)॥ इत्यादि शतशः श्रुतियां बार-बार इसी सिद्धात को घोषित कर रही हैं। यह मूलतत्त्व सब अवस्थाओं से परे है, उसमें कोई गुण व धर्म नहीं। इसीलिए वह न किसी इंद्रिय से जाना जा सकता है, न वाणी से कहा जा सकता है, न मन में ही आ सकता है—न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनः।

क्योंकि मूलतत्त्व सारी अवस्थाओं से रहित है, इसलिए न उसका कोई नामकरण हो सकता है, न कोई गुण-धर्म ही उसके कहे जा सकते हैं। परंतु क्योंकि उसी को आधार बनाकर सारा विषय कहना है, इसलिए श्रुतियों ने उस तत्त्व के लिए काल्पनिक 'रस' शब्द का प्रयोग किया है—रसो वै सः।

यह विचार करना आवश्यक है कि किस आधार पर उसके लिए 'रस' शब्द का प्रयोग हुआ। काल्पनिक शब्द की मूलभूत कल्पना का भी तो कोई आधार होना चाहिये। यहां 'रस' शब्द आनंद का वाचक है। और मूलतत्त्व की आनंदरूपता अनेक युक्तियों से सिद्ध होती है।

शास्त्रों मे आनंद के दो स्वरूप वर्णित हैं। एक शांत्यानंद, दूसरा समृद्धयानद। चित्त में किसी प्रकार की चंचलता का न उठना शात्यानंद कहा जाता है; और नयी वस्तु की प्राप्ति पर चित्त का उल्लास समृद्धयानंद है। इनमें शांत्यानंद को ही हमारे शास्त्र बडा मानते हैं। इसके पक्ष में प्रमाण यह है कि विलासी मनुष्य भी आमोद-प्रमोद को छोडकर शयन की इच्छा अवश्य करता है। शयन में कोई समृद्धयानंद नहीं, किंतु शात्यानंद वहां अवश्य है। इससे शांत्यानंद की प्रधानता स्पष्ट होती है।

संसार में सर्वत्र शांत्यानंद का प्रसार देखा जाता है। परस्पर विरुद्ध रहने वाले तत्त्व भी एक प्रकार के सहयोग का पालन करते हुए ससार में शाति की व्यवस्था करते हैं। उदाहरणार्थ, जल और अग्नि दोनों परस्पर विरुद्ध तत्त्व हैं। किंतु अग्नि

का उत्ताप जब ग्रीष्म ऋतु में जगत् की शांति भंग करना चाहता है, तब जल वर्षारूप से गिरकर शांति की व्यवस्था कर देता है। इसी प्रकार जब जल अधिक मात्रा में बढ़कर अपने आप्लावन से शांति भंग करने को उद्यत होता है, तब अग्नि उसका शोषण कर जगत् में शांति ले आती है। इस प्रकार सारे तत्त्वों में शांतिरूप आनंद का अनुस्यूत होना प्रकट होता है। कारण से ही कार्यों में धर्मों का प्रादुर्भाव होता है: इसलिए कारण को भी आनंदरूप मानना उचित है।

समृद्धयानंद का स्वरूप क्या है, यह भी विचारणीय विषय है। श्रुति ने कहा है—यो वै भूमा तत्सुखं, यदल्पं तद्दुःखम्। अर्थात्, महत्त्व में सुख और अल्पता में दु:ख है। अनुभवसिद्ध भी यही बात है कि जिस मनुष्य के पास जितनी संपत्ति—धन, पशु, भूमि—होती है, वह अपने को उतना सुखी मानता है; और जिसके पास संपत्ति जितनी अल्प मात्रा में होती है, वह अपने को उतना ही दु:खी समझता है। जब किसी को कोई नयी वस्तु—गृह, भूमि, धन, संपत्ति आदि—मिलती है, तब वह अपने को आनंदमग्न पाता है। यही समृद्धयानंद है।

व्यावहारिक आत्मा की पांच कलाएं हैं। इनमें से पांचवीं संपत्ति-रूप कला अपनी संपत्ति में भी व्याप्त रहती है। जब कोई नयी वस्तु प्राप्त होती है, तब व्यावहारिक आत्मा की पांचवीं कला उसे अपने स्वरूप में प्रविष्ट करने के लिए विस्तृत होती है। यही आनंद के अनुभव का हेतु है। और जब हमारी संपत्ति का कोई अंश निकल जाता है, तब उस कला के क्षीण होने के कारण हमें दु:ख का अनुभव होता है। इससे सिद्ध होता है कि महत्त्व में आनंद है और अल्पता में दु:ख है। सृष्टि का मूलतत्त्व तो परम महान है, विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक है, तब उसकी परमानंदरूपता में संशय नहीं हो सकता है।

उक्त प्रक्रिया को ही दूसरी रीति से भी देखा जा सकता है। जहां जितनी शक्ति है, वहां उतना ही आनंद है। पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनि की अपेक्षा मनुष्य में प्रकृति-दत्त शक्ति अधिक है। इसलिए मनुष्य पशु-पक्षी आदि से काम लेता हुआ आनंद अनुभव करता है।

मनुष्यों में भी ज्ञान-शक्ति, बल-शक्ति, या प्रभुत्व-शक्ति, जिसमें जितनी अधिक हो, वह उतना ही अधिक आनंद अनुभव करता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में यह विषय स्पष्ट किया गया है कि जो मनुष्य बलवान, धनवान और युवा है, वह मनुष्य आनंद की एक सीमा पर पहुंचा हुआ है। उसे जितना आनंद है, उससे शतगुणित आनंद गंधर्वों को, उससे भी शतगुणित पितृ, देव आदि को—इस प्रकार का तारतम्य दिखाया गया है। इस प्रकार शक्ति के साथ आनंद की मात्रा बढ़ती जाती है। तब जो मूलतत्त्व सर्वशक्तिसंपन्न है, जिससे अधिक शक्ति कहीं संभव ही नहीं, उसके परमानंदरूप होने में विवाद का कहां स्थान रहा?

प्रत्येक प्राणी सदा आनंद की इच्छा करता है; और जहां आनंद का अनुभव करे, वहीं उसका प्रेम होता है। इसलिए आनंद का ही दूसरा रूप प्रेम है। संसार में दो ही तत्त्व अनुभव में आते हैं—सत्ता और ज्ञान। ये दोनों ही हमें सर्वदा प्रिय होते हैं। इनके संग्रह में हमारी सदा प्रवृत्ति रहती है। इस प्रियता के साथ ही इनकी आनंदरूपता भी सिद्ध है। जब इनमें आनंदरूपता है, तब इनके मूलतत्त्व में भी आनंदरूपता होगी।

वैदिक सिद्धांत है कि जगत् का मूलतत्त्व ही आत्मा रूप होकर हमारे भीतर बैठा हुआ है। और आत्मा के रूप पर जब हम विचार करते हैं, तब उसकी आनंदरूपता स्पष्ट हो जाती है। जो चेतन या अचेतन आत्मा के अनुकूल होता है, उसी पर हमें प्रेम होता है और प्रतिकूल होने पर प्रेम का स्थान द्वेष ले लेता है। इस बात को श्रुतियों ने अनेक स्थानों पर स्पष्ट दिखाया है :

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥

अर्थात् पत्नी का पति के प्रति प्रेम पति के लिए नहीं, अपनी इच्छापूर्ति के लिए होता है; इसी प्रकार पति का स्त्री के प्रति प्रेम स्त्री के लिए नहीं, अपनी इच्छापूर्ति के लिए होता है—इत्यादि रूप से पुत्र, मित्र आदि सबका विस्तार दिखाकर अंत में श्रुति ने यह कहा है कि अपनी ही कामना के लिए सबसे प्रेम होता है। इसलिए आत्मा ही प्रेम का मुख्य स्थान है और वही आनंदमय है। यही अनुभवसिद्ध बात भी है। और परतत्त्व या मूलतत्त्व आत्मा से पृथक् नहीं; इसलिए उसकी भी आनंदरूपता स्पष्ट हो जाती है।

संसार में जितने दुःख हैं, मृत्यु का दुःख उन सबसे प्रबल है। मृत्यु अभावरूप है। वह जब दुःखरूप है, तो उसका विपरीत तत्त्व सत्ता अवश्य ही आनंदरूप सिद्ध हुई। ऐसी स्थिति में जो शुद्ध सत्तारूप है और अपने अनुप्रवेश से सबको सत्ता देता है, उस सद्रूप को अवश्य ही आनंद कहना पड़ेगा।

इस प्रकार अनेक युक्तियों से मूलतत्त्व की रसरूपता – आनंदरूपता – सिद्ध हो जाती है। और इसी आधार पर श्रुति ने मूलतत्त्व को रसरूप या आनंदरूप बताया है।

❀ ❀ ❀

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्।
सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः॥

—जो सचमुच देखता है, वह जीवन में न मृत्यु देखता है, न रोग, न दुःख-दरिद्रता; वह जीवन में सर्वत्र सर्व-सार्थक्य देखता है, सब कुछ पा लेता है।

—छांदोग्योपनिषद्



ड्वाइट डी० आइजनहोवर

नींव के पत्थर

मनुष्य का कर्म-जीवन मानो एक मकान है—आजीवन रहने का घर। वह उसके कर्मों और वचनों, भूलों और उपलब्धियों से निरंतर वर्षों तक बनता रहता है। फिर एक दिन ऐसा आता है, जब आखिरी पत्थर बडी मजबूती से जड़ दिया जाता है और उस घर का मालिक चिर-विश्राम के लिए वहा लेट जाता है।

यह मकान कच्चा नहीं, बल्कि मजबूत हो. तुच्छ नहीं, बल्कि भव्य हो, निकम्मा नहीं, बल्कि उपयोगी हो—इसके लिए आवश्यक है कि इसकी नींव पक्की हो और ठोस जमीन पर हो।

मुझे बाइबल का वह दो घरों वाला दृष्टांत याद आ जाता है। एक घर बालू की नींव पर बना था, दूसरा घर मजबूत चट्टान पर। जब इन घरों को आंधी और बाढ़ के थपेडे लगे, तो बालू की नींव पर बना घर तो ढहकर बह गया, मगर चट्टान की नींव पर बना घर तूफ़ान व लहरों के थपेडों के बीच भी खडा रहा।

जीवन की चट्टानी नींव की रीढ़ है चरित्र—एक ऐसा शब्द, जिसकी परिभाषा करना बहुत ही कठिन है। चरित्र के कुछ तत्त्वों का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न मैं करूंगा :

पहली चीज है—सत्यनिष्ठा, और उसे स्थायी एवं उजागर रखने की तत्परता।

नींव का दूसरा पत्थर है—महत्त्वाकांक्षा। और मैं महत्त्वाकांक्षा की तुलना भोजन में पड़े नमक से किया करता हूं। नमक बहुत कम हुआ, तो भोजन में आनंद और स्वाद नहीं आता, बहुत ज्यादा पड गया, तो भोजन गले नहीं उतरता।

फिर आती है—परिश्रम करने की क्षमता। और इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि अपने काम से प्यार करने वाला और अपने कर्तव्य का पालन करने वाला व्यक्ति सुखी और रचनात्मक दृष्टि वाला जीव होता है।

नींव का एक और पत्थर है—वफ़ादारी। इसके बिना कोई गहरी मित्रता नहीं पा

सकता। और अगर जीवन-गृह मित्रों से सूना हो, तो वह घर नहीं, महज दरो-दीवार का ढाचा होगा। राष्ट्र के प्रति वफादारी ही देशभक्ति है।

और अगली चीज है—समझदारी, अर्थात् तथ्यों का सही मूल्यांकन करने की क्षमता।

और भी कई छोटे-बड़े पत्थर चरित्र की नींव में हैं, जिनका आपस मे गहरा संबंध है, जैसे—नैतिक बुद्धि, शराफत और आत्मसम्मान।

और अंततः आवश्यक है—नैतिक साहस, अर्थात् जिसे आप अपने अध्ययन, चिंतन और व्यावहारिक बुद्धि के आधार पर उचित मान चुके हों, उसके लिए अड़ने और लडने की तत्परता। नैतिक साहस मे आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास तो शामिल हैं, पर हेकड़ी, अहम्मन्यता और दंभ नहीं।

❧ ❧ ❧

जीवन को मैं बहुत कम महत्त्व देता हूं- अपने जीवन को तो और भी कम। परंतु जीवन को मैं सजा नहीं मानता। क्या संसार बंधन-रूप है, क्या जीवन का अत मुक्ति है?—इसका मुझे ज्ञान नहीं है। जीवन क्या है, उसका सार क्या है, यह कहना कठिन है। परंतु जीवन क्या नहीं है, यह स्पष्ट है। अकर्मण्यता और जड़ता जीवन के लक्षण नहीं हैं। गति, शक्ति, क्रियाशीलता—ये जीवन के तंतु हैं।

—पं० गोविंदवल्लभ पंत

गुलदस्ते में कोई दोषपूर्ण या रोगग्रस्त कली दिखाई दे, तो हमें आश्चर्य होता है; क्योंकि उसकी सब कलिया एक-एक करके चुनी हुई और चतुराई से सजायी हुई होती हैं। इसके विपरीत, किसी वृक्ष पर—वृद्धि एवं विकास की अपनी आतरिक आपदाओं तथा आंधी-पानी रूपी बाहरी आपदाओं से जूझ चुके वृक्ष पर—टूटी टहनियां, घायल कलिया और सिकुड़े, रोगग्रस्त, बदरंग फूल सबका अपना-अपना न्यायोचित स्थान है। वे इसके गवाह हैं कि जिस तने पर वे उगे हैं, उसने बढ़ने-पनपने के लिए कितनी मुसीबतें झेली हैं।

—प्येर तेयार्द शार्दें



देवेश ठाकुर

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका

सन १९६८ एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका की २००वीं वर्षगांठ का वर्ष था। ससार मे ऐसी बहुत कम सस्थाए होती हैं, जो इतनी लंबी अवधि तक न केवल बनी रह सकें, बल्कि निरतर प्रगति करती रहें। अंग्रेजी भाषा का यह विश्वविख्यात और सबसे प्राचीन विश्वकोश एक ब्रिटिश सस्था के रूप में आरंभ हुआ था, किंतु आज यह एक अत्यत समृद्ध अमरीकी सस्था है। इस कोश के प्रकाशन और विकास की कहानी प्रकाशन-ससार में अद्वितीय है।

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका का प्रथम सस्करण केवल तीन जिल्दों में प्रकाशित हुआ था। तब इसकी कुल पृष्ठसख्या २,६५९ थी। इनके साथ ही १६० चित्र भी थे, जिन्हें 'कला और विज्ञान का कोश' नामक उपशीर्षक दिया गया था। इसकी तीनो जिल्दें १७६८ और १७७१ के बीच पूर्ण हुई और क्रमश: १७६९, १७७० और १७७१ मे प्रकाश मे आयीं।

इसका पहला सपादक विलियम स्मेली था, जिसका कहना था कि किसी भी प्रकाशन का मुख्य लक्ष्य होना चाहिये उसकी उपयोगिता। जब किसी प्रकाशन का उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता, तो उससे कृति तथा कृतिकार दोनों को किसी प्रकार के महत्त्व की प्राप्ति नहीं होती। विलियम स्मेली के सपादन मे प्रकाशित प्रथम कोश मे वस्तुत उपयोगिता का तत्त्व भरपूर विद्यमान था। इसकी रूपरेखा कुछ इस प्रकार बनायी गयी थी कि विश्व के समस्त अधुनातन ज्ञान का सक्षिप्त विवरण इसमे रहे।

उस समय इंग्लैंड में औद्योगिक क्राति के बीज प्रस्फुटित होने लगे थे और उसके कारण कोश मे आगे चलकर परिवर्तन और परिवर्धन की बडी सभावनाएं उत्पन्न हो गयीं। साथ ही सदियों से चले आते हुए सामाजिक मूल्य अब तेजी से बदलने लगे थे और समस्त विश्व रूसो, गेटे, डा० सैम्युअल जान्सन आदि के विचारों से प्रभावित होकर एक सामाजिक क्राति की तैयारी कर रहा था।

[ऊपर : ब्रिटानिका का आद्य संपादक स्मेली (दायें) व चित्रकार एंड्रू बेल समकालीन व्यंग्यचित्र में।]

अठारहवीं शती में हुए इसी 'ज्ञान के विस्फोट' के परिणामस्वरूप युग की बढ़ती 'ज्ञान-पिपासा को तृप्त करने के लिए' एडिनबरो में एक व्यापार-संस्था का निर्माण हुआ, जिसने ब्रिटानिका के प्रकाशन का कार्यभार संभाला। इस संस्था में संपादक स्मेली के अलावा कलाकार एंड्रू बेल तथा मुद्रक मैकफार्कर भी शामिल थे।

उपयोगिता का ध्यान रखते हुए स्मेली ने इस ज्ञानकोश में बहुत-से विषयों को स्थान दिया। उसने स्वयं प्रसूति-विद्या पर ४० पृष्ठों का एक लेख लिखा। इस लेख के साथ कुछ पृष्ठों में बच्चों के जन्म विषयक कुछ चित्र भी विस्तार से अंकित किये गये थे। जनता ने उन्हें अश्लील चित्र कहकर उनका विरोध किया और फलस्वरूप राजा जार्ज तृतीय ने यह आदेश जारी किया कि लोग कोश की अपनी प्रतियों में से ये पृष्ठ फाड़ डालें और प्रकाशक इन चित्रों की प्लेटों को नष्ट कर दे। लेकिन दूसरी ओर हजरत नूह की किश्ती संबंधी लेख की राजा और पादरियों ने भरपूर प्रशंसा की।

स्मेली तथा अन्य संपादकों ने इस बात का हमेशा ध्यान रखा कि अपने समय के चोटी के विद्वानों के लेखों को कोश में स्थान दिया जाये। इनमें बेंजामिन फ्रेंक-लिन, विलियम हैजलिट, वाल्टेयर, अलेक्जेंडर वाट्स, जान्सन और जेम्स वाट प्रमुख थे।

जिन लोगों ने ज्ञानकोश का प्रथम संस्करण निकाला, उनकी स्थिति बड़ी ही विषम थी। संपादक स्मेली की आयु तब केवल २८ वर्ष की थी। लेकिन उस समय भी वह एडिनबरो के प्रतिष्ठित साहित्यिक व्यक्ति रार्बट बर्न्स के मित्र, प्रथम कोटि के चित्र-कार, लेखक और विद्वान तथा रायल सोसायटी के फेलो तथा व्हिस्की के प्रेमी के रूप में विख्यात था।

दूसरा व्यक्ति बेल, जो स्मेली का भागीदार और प्रमुख आर्थिक समर्थक था, केवल ४॥ फुट ऊंचा था। उसकी नाक अस्वाभाविक रूप से लंबी और टांगें मुड़ी हुई थीं। उसने अपना व्यवसाय कुत्तों के गले में पहनाये जाने वाले पट्टों पर चित्रकारी करने से आरंभ किया था। लेकिन अपनी कला में वह सिद्धहस्त था, जिससे अपने व्यवसाय में प्रभूत धन कमा सका।

इनका तीसरा साथी मैकफार्कर पुस्तक-विक्रेता और मुद्रक था। कहा जाता है कि कोश को प्रकाशित करने की कल्पना सर्वप्रथम उसी के दिमाग की उपज थी। राजा से पूछे बिना बाइबल का मुद्रण करने के सिलसिले में एक बार पहले उस पर जुर्माना हो चुका था। इस व्यवसाय से बेल को सर्वाधिक लाभ हुआ। वह ८३ वर्ष की लंबी आयु भोगकर एक संपन्न व्यक्ति के रूप में मरा। सबसे कम लाभ हुआ स्मेली को। उसे तीन वर्षों की कड़ी मेहनत के लिए केवल २०० पौंड मिले।

कोश के पहले संस्करण की कोई ३,००० प्रतियां लोगों ने खरीदीं। यद्यपि इस संस्करण में वैज्ञानिक विषयों की प्रधानता थी, फिर भी अन्य रोचक और उपयोगी

विषयों पर भी प्रकाश डाला गया था। गंजेपन से लेकर अपराध तक सभी विषय इनमें सम्मिलित थे।

दूसरे सस्करण में इतिहास और जीवन-चरित्र विभाग जोड दिये गये। सपादक स्मेली ये विभाग जोडने के पक्ष में नहीं था और विरोध में उसने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। तब स्मेली के स्थान पर जेम्स टैटलर नामक व्यक्ति ने १७ शिलिंग प्रति सप्ताह के वेतन पर काम करना स्वीकार किया। टैटलर ने १७७८ से १७८३ तक कोश का काम किया।

सन १७८८ मे कोश के १८ जिल्दों वाले तीसरे सस्करण की साप्ताहिक किस्ते प्रकाशित होने लगी थीं और उसका सपादन मैकफार्कर के हाथों मे अधिकाधिक आ गया था। किन्तु १७९३ मे मैकफार्कर की मृत्यु हो गयी और कोश के सपूर्ण अधिकार बेल के हाथों में आ गये। बेल ने जार्ज ग्लैग नामक एक विद्वान को सपादन का भार सौंप दिया, जो आगे चलकर स्काटलैंड के एपिस्कोपल चर्च का बिशप बना।

इस समय तक तीसरे सस्करण की बिक्री आरभ हो गयी थी और लगभग १३,००० प्रतिया बिक चुकी थीं। जार्ज वाशिंग्टन जैसे प्रसिद्ध विदेशी व्यक्तियों ने भी इसे खरीदना आरभ कर दिया था और जेम्स मिल, रिकार्डो, हैजलिट, जान प्लेफेयर और लार्ड जैफरी आदि नामी विद्वान इसमें लिखने लगे थे।

कोश के आठवे सस्करण से पूर्व उसमे किसी अमरीकी लेखक को सम्मिलित नहीं किया गया। आठवे और नौवें सस्करणों में ब्रिटिश व अमरीकी लेखकों की कुल सख्या ३४४ से बढ़कर १,००० हो गयी। नौवें सस्करण में ही टामस हक्सले का डार्विन के सिद्धात का समर्थन करने वाला लेख छपा।

यह बात बहुत कम लोग जानते हैं कि बीसवीं शती के आरभ से ही कोश पर अमरीकियों का प्रभुत्व होने लगा। उस समय दो अमरीकी प्रकाशक हूपर और वाल्टर जैक्सन कोश की बिक्री के क्षेत्र मे कूदे। उन्होंने सर्वप्रथम ५० प्रतिशत कमिशन देकर कोश को खूब प्रचारित किया। इसमें उन्हें आशानुकूल सफलता भी मिली। १९१०-११ में इसका ११ वा सस्करण प्रकाशित हुआ और सभी पत्र-पत्रिकाओं में इसकी खूब धूम मची। अब तक यह हूपर के हाथों में आ चुका था।

ग्यारहवें सस्करण की समीक्षा बहुत अच्छी हुई थी। फिर भी बिक्री की दृष्टि से वह असफल ही रहा। इससे हूपर और उसके साथियों को बडा धक्का लगा। एक दिन हूपर ने अपने मित्र जूलियस रोजेनवाल्ड को कोश को खरीद लेने की सलाह दी, क्योंकि रोजेनवाल्ड एक विशाल बिक्री-सगठन का मालिक था। रोजेनवाल्ड ने, जो सियर्स रोबक एड कंपनी का सस्थापक था, कोश को १३,२०,००० डालर मे खरीद लिया।

लेकिन सियर्स रोबक के हाथों कोश की बिक्री नहीं बढ़ सकी और कंपनी को तीन ही वर्षों में १८,००,००० डालर की हानि सहनी पड़ी। इससे निराश होकर कंपनी ने इसे हूपर की विधवा तथा एक अन्य व्यक्ति विलियम काक्स को केवल २,६५,००० डालर में बेच दिया।

काक्स इसका चौदहवां संस्करण प्रकाशित करना चाहता था; लेकिन उसके पास धन की कमी थी। जब वह आर्थिक सहायता के लिए रोजेनवाल्ड के पास गया, तो रोजेनवाल्ड ने लोकहित-भावना से प्रेरित होकर कोश के अधिकार ही वापस नहीं ले लिये, बल्कि उसमें २०,००,००० डालर की रकम और लगा दी। चौदहवें संस्करण के प्रकाशन के पश्चात् कोश आर्थिक चिंताओं से मुक्त हो गया और उसके बाद इसकी दिन-प्रतिदिन उन्नति होती रही।

ब्रिटानिका अपने वर्तमान मालिकों के हाथ में सन १९४१ में आया। उस समय शिकागो विश्वविद्यालय के उपप्रधान विलियम बेन्टन ने सियर्स के चेयरमैन जनरल राबर्ट वुड को सुझाया कि यह विश्वकोश शिकागो विश्वविद्यालय के अधिकार में दे दिया जाये। पहले विश्वविद्यालय इस व्यवसाय को लेने के लिए तैयार नहीं हुआ; लेकिन बेन्टन ने विश्वविद्यालय को इस शर्त पर इस बात के लिए सहमत कर लिया कि प्रकाशन और व्यवस्था की सारी जिम्मेदारी बेन्टन की ही रहेगी तथा स्वामित्व विश्वविद्यालय का होगा। इस तरह १९४३ से आज तक बेन्टन ही कोश के प्रकाशन तथा व्यवस्था का भार संभाल रहे हैं। पच्चीस वर्षों में शिकागो विश्वविद्यालय को भी इससे २ करोड़ ३० लाख डालर का लाभ हुआ।

वस्तुतः ब्रिटानिका अब एक जबर्दस्त प्रकाशन-योजना का केंद्र-बिंदु है। १९६९ का संस्करण २४ जिल्दों में विभक्त है। इसकी पृष्ठसंख्या २८ हजार तथा शब्दसंख्या लगभग ३ करोड़ ६० लाख है। इसमें २२ हजार चित्र भी सम्मिलित हैं।

१९३८ में इसी कोश-संस्था के अंतर्गत 'ब्रिटानिका इयरबुक' का प्रकाशन शुरू हुआ। इससे पूर्व १९३४ से 'ब्रिटानिका जूनियर एन्साइक्लोपीडिया' का प्रकाशन हो रहा था। यह १५ जिल्दों का संस्करण स्कूली बच्चों के लिए लिखा गया था। फिर शीघ्र ही इसमें 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका वर्ल्ड एटलस' भी जोड़ दिया गया। १९५२ में 'पश्चिमी जगत् के महाग्रंथ' का प्रकाशन हुआ। १९६२ में इसी की परंपरा में 'महाग्रंथों का प्रवेश-द्वार' दस जिल्दों में प्रकाशित हुआ। १९५७ में स्पेनिश भाषा में 'एन्साइक्लोपीडिया बारसा' प्रकाश में आया। इस प्रकार के और भी बहुत-से प्रकाशन हुए और हो रहे हैं, जिन्होंने विश्वकोश की लोकप्रियता और उसके महत्त्व को निरंतर बढ़ाया है।

ब्रिटानिका के द्विशताब्दी वर्ष की स्मृति में नवंबर १९६७ में तीन खंडों वाले संस्करण को पुनः मुद्रित किया गया। कोशिश यह रही कि नये खंड हूबहू प्राचीन

खंडों जैसे ही दिखाई दें। इसके लिए प्रथम संस्करण के पृष्ठों के फोटो लेकर उनसे ब्लाक तैयार किये गये। कागज मटियाले रंग का रखा गया, ताकि पुराना लगे। मानो यही काफी न था, उस पर दूसरे रंग के धब्बे छापे गये। और तो और, कागज पर वाटरमार्क भी वही रखे गये, जो प्रथम संस्करण के पृष्ठों पर थे। इसके लिए कागज-निर्माता को विशेष रोलर तैयार करवाना पड़ा। जिल्द पर जो चमड़ा मढ़ा गया, उसे विशेष रासायनिक विधि से कमाकर दो सदी पुराने चमड़े की शक्ल दी गयी।

फर्क इतना ही है कि मूल प्रथम संस्करण लगभग १२ पौंड में बिका था, नये प्रथम संस्करण की कीमत ७६·५० डालर रखी गयी है। मूल प्रथम संस्करण की जो थोड़ी बहुत प्रतियां बची हैं, उनकी कीमत आज ११ हजार रुपये के करीब है।

❁ ❁ ❁

बंधुओ, अपनी जन्मजात आंतरिक प्रेरणा और उत्साह का बड़ी सावधानी से पालन-पोषण करो। किंतु साथ ही कठोर-निष्ठुर परीक्षा को उनकी अभिन्न सहचरी बना लो। .. जब विश्वास हो जाये कि हमने एक वैज्ञानिक तथ्य की खोज की है, और उसे दुनिया के सामने प्रकट करने की अदम्य इच्छा मन में उठ रही हो, तो भी दिनों, महीनों और कभी-कभी तो वर्षों तक अपने को रोके रखना, अपने ही साथ बहस करते जाना, अपने ही प्रयोगों व परीक्षणों को गलत सिद्ध करने की चेष्टा करते रहना और जितनी भी अन्य परिकल्पनाएं और उपपत्तियां संभव हों, उन सबको खंडित कर देने के बाद ही अपनी खोज की सूचना संसार को देना—यह बड़ी कठोर परीक्षा है। जब इन समस्त परीक्षाओं को पार करके विज्ञानवेत्ता अपनी खोज के सही होने के निश्चय पर पहुंचता है, तब उसे वह महानतम आनंद होता है, जो मानव-हृदय अनुभव कर सकता है। और यह विचार कि इस शोध से उसने अपने देश का गौरव बढ़ाया है, उसके आनंद को और गाढ़ा बना देता है।

—लुई पाश्चर

मांटेन कहा करता था कि तीन समागमों को वह आवश्यक समझता है—प्रेम-समागम, मित्र-समागम और ग्रंथ-समागम। तीनों में बड़ी समता है। लेकिन शायद इन तीनों में ग्रंथ सबसे वफादार हैं। मैंने यह भी पाया है कि ग्रंथ प्रायः अपने लेखकों से अधिक सयाने और वाक्पटु होते हैं।

—आंद्रे मोरवा



कुदनिका व

अनसु

मैं जब छोटी थी, स्कूल में गुरुजी ने एक कहानी सुनायी थी।

एक राजा था। कोई असाध्य रोग हो गया था उसे। वह दिनों-
रहा था। देश-भर के बड़े-बड़े वैद्य-हकीम बुलवाये गये, तरह-तर
पिलायी गयीं, पथ्य-परहेज कराया गया पर राजा गलता ही जा रह
एक दिन एक रमता साधु राजमहल में आया। उसने कहा-"अरे
मामूली रोग है! अगर राजा किसी सुखी आदमी का कुरता पहन
एकदम छूमंतर हो जाये।"

सुखी आदमी का कुरता!...कितना आसान इलाज!...राजा के
पडे। वे हर एक के घर जाते और पूछते-"आपके यहां सुखी आ
है?" हर घर में यही उत्तर मिलता-"कपड़े तो बहुत हैं, पर सुखी
यहां कोई नहीं है।" राजा के कर्मचारी गली-गली, शहर-शहर घूमे
घर में उन्हे सुखी आदमी न मिला।

हर आदमी को कोई-न-कोई दुःख था। किसी के पास पैसा नहीं
के पास प्रतिष्ठा नहीं थी; किसी को सत्ता की चाह थी, पर सत्ता
किसी पर मुकद्दमा चल रहा था. किसी को शारीरिक रोग था, किसी
किसी को आत्मज्ञान के अभाव की पीडा थी; किसी को भविष्य औ
सता रहा था। सौ बात की एक बात, समूचे राज्य में एक भी आ
था, जो पूर्णतया सुखी हो।

राजा के आदमी निराश हो, राजधानी की ओर लौट रहे थे।
नदी के तट पर कड़कती धूप में तपती चट्टान पर एक आदमी को
बैठे और आनंद से गाना गाते देखा। वे बड़े विस्मित हुए अ

कहा—"अरे, यह तो धधक रहा है! मुझे पता ही नहीं था। मैं तो गाना गाने में डूबा हुआ था।"

"जरूर यह सुखी आदमी है।" राजा के आदमियों ने सोचा और वे उससे कहने लगे—"अरे, हम लोग महीनों से तुझे ही तलाश रहे थे। हमें तेरा कुरता चाहिये...हां, तेरा कुरता"...पर बोलते-बोलते वे रुक गये। क्योंकि तभी उन्होंने देखा कि उस आदमी के शरीर पर कुरते की तो बात क्या, एक भी कपड़ा नहीं था।

किसने यह सरस कथा लिखी, यह तो मैं नहीं जानती। शायद किसी देश की लोककथा हो। जो हो, मेरे बाल-मन पर इसकी जबर्दस्त छाप पडी। मैं अक्सर यह सोचा करती थी—क्या सुखी होना सचमुच असभव है?

बडी होने पर मैंने मित्र, परिचित, स्वजन और सबंधी सभी से जब-तब पूछा है—"क्या आप सुखी हैं? क्या आपका जीवन सुखमय है?" और बहुत ही कम लोगों से—शायद मुश्किल से दो या तीन प्रतिशत लोगों से—यह सुन पायी हूं कि उनका जीवन सुखमय है। शेष सबको तरह-तरह की शिकायतें थीं। किसी को ईश्वर से, किसी को भाग्य से, किसी को सरकार से, किसी को समाज से, किसी को अपने आपसे, या और कुछ नहीं तो ऊपर की मंजिल पर रहने वाले पडोसी से ही सही।

जो अपने पास है, उसकी कीमत न समझना और जो अपने पास नहीं, उसकी कामना करना और इस तरह जीवन में अभाव और असतोष अनुभव करते रहना—यह कैसा स्वभाव है मनुष्य का!

सुखी होने के इतने ज्यादा कारण हमारे पास हैं कि अगर कोई उन्हें गिनाने लगे, तो हम चकित रह जायें।

बेलजियन लेखक मारिस मेटरलिंक का एक सुदर नाटक है। उसमें एक बच्चा सुख की खोज में निकल पड़ता है। स्वर्ग में उसे असख्य छोटे-छोटे दिव्य बालक मिलते हैं। वे उससे कहते हैं—"हम सुख हैं और दिन-रात तेरे घर में निवास करते हैं।" लडका झुझलाकर कहता है—"मेरे घर में तो सुख है ही नहीं।" इस पर वे सब बच्चे खिलखिलाकर हंस पड़ते हैं—"लो, इन भाई साहब को तो इतनी भी खबर नहीं!"

फिर वे उस लडके को उसके घर के सुखों की सूची गिनाने लग जाते हैं—खुली ताजी हवा का सुख, ठिठुराने वाली ठंडी रातों में अगीठी के पास बैठकर आग तापने का सुख, मखमली दूब पर नंगे पाव दौडने का सुख, वसत ऋतु में वृक्षों व बेलों पर खिले हुए फूलों को देखने का सुख, उनका सौरभ लूटने का सुख, ममता-माया बरसाने का सुख, मा के प्रेम का सुख . . .

सचमुच, बहुत बार सोचा करती हूं—क्या सुखों का कहीं अंत भी है! कितने ही छोटे सुख खडे-खड़े प्रतीक्षा करते रहते हैं कि कब हमारी नजर उन पर पड़े।

बिस्तर मे लेटे-लेटे खिड़की से आकाश की नीलिमा को निहारने का सुख, नीलिमा के उस सागर में नौका की तरह तिरते हुए चचल बादलों को देखने का सुख, शाम को घर लौटने का सुख, निर्दोष नन्हे बच्चों के गाल सहलाने का सुख, उत्तम पुस्तकें पढ़ने का सुख, प्रेम देने और प्रेम पाने का सुख, तरुण-हृदय होने का सुख, जीवन जी सकने का सुख......

ऐसे अनगिनत सुख हमारे आस-पास एकदम नजदीक खड़े हैं। परंतु हमारी दृष्टि उन पर पड़ती ही नहीं। बेमतलब चिंताओं मे, बेकार चीजों की कामना में, स्थूल वस्तुओं के छलनामय आकर्षण में फंसे हुए हम आंखें मूंदे चलते जाते हैं—उन सुखों से बिलकुल बेखबर, जो कि हमारी अगल-बगल मे खडे हैं। और इसके बावजूद सुख-सुख की रट लगाये रहते हैं!

जीवन मे सुख कहा है? यदि सुख के जबान होती तो वह कहता—"मैं यहां हूं, एकदम तुम्हारे पास! अगर तुम जरा-सा हाथ बढ़ाओ, तो मुझे छू सकते हो, पल-भर के लिए भी आखें खोलो, तो मेरा मुस्कराता हुआ मुखड़ा देख सकते हो; अपने कानों को जरा-सा खुला रखो, तो मेरा मधुर सगीत सुन सकते हो। तुम अपने मन के किवाड़ जरा खोलो, तो मैं तुम्हारे जीवन मे प्रवेश कर जाऊं और उसे आनंद से लबालब भर दूं।"

लेकिन धन, सत्ता, प्रतिष्ठा, पद और कीर्ति की अंधी दौड मे सुख के ये सुकोमल शब्द अनसुने ही रह जाते हैं।

ꕥ ꕥ ꕥ

यदि कोई भी मनुष्य अपने विचारों का जरा बारीकी से निरीक्षण करे, तो वह पायेगा कि उसके सबके-सब विचार या तो अतीत के विषय मे होते है, या भविष्य के। वर्तमान पर हम वस्तुतः बहुत ही कम विचार करते हैं—करते भी हैं तो सिर्फ उसकी सहायता से भविष्य की कल्पना करने के लिए। वर्तमान कभी हमारा लक्ष्य नहीं होता; भूत और वर्तमान साधन मात्र होते है, और केवल भविष्य हमारा लक्ष्य। इस प्रकार हम उपस्थित क्षण को नहीं जीते, बल्कि जीने की आशा करते रहते हैं। और हरदम अनागत सुख की योजना मे डूबे रहने के कारण हम उपस्थित सुख को पकड़ नहीं पाते।

—ब्लेज पास्कल

चयन

लौ का विश्लेषण

लंबी-लंबी कतारों में टिमटिमाती लौएं एक अज
बड़े-बड़े नगरों में अब ऐसा कहां होता है! दीपमा
बनने लगी हैं। विज्ञान की बदौलत लौ का स्थान अ
मानव ने लौ की खोज ऊष्मा और प्रकाश के लिए
बिना असम्भव है उसे गर्मी भी चाहिये और रो
मनुष्य की दोनों आवश्यकताएं पूरी होती रही हैं, अ

बहुत पहले आदमी के विकास की कहानी शुरू
वन-वृक्षों को जलाकर उसने अपने हाथों प्रकाश और
सम्भवतः उसके बाद तेल-बत्ती जलाकर उसने लौ पैदा
आगे बढ़ता रहा। तरह-तरह की गैसीय ज्वालाएं
सिलसिला आज भी खत्म नहीं हुआ है। इसी बीच
कर डाला और इस तरह उसके जीवन में एक क्रांति
में बल्ब जगमगाने लगे, चक्के बिजली से दहाड़ने लगे
पूरी की।

फिर भी बहुत-से छोटे-बड़े प्रश्नचिह्न उसके सामने
अजीब-सी बात है कि बिजली की बहुत-सी बारीकियां
मगर लौ पर अब भी अज्ञान का परदा पड़ा है। उ

प्रायः १,००० डिग्री सेंटिग्रेड से लेकर २,००० डिग्री सेंटिग्रेड के बीच में रहता है। कभी-कभी यह तापमान ४,००० डिग्री सें० तक भी हो सकता है।

मामूली मोमबत्ती की लौ का तापमान १,५०० से० के आस-पास होता है। कोयला-गैस और वायु का मिश्रण २,००० से० की लौ दे सकता है, जब कि परमाण्वीय हाइड्रोजन-आक्सिजन की उपस्थिति में बनने वाली लौ का तापमान ३,८०० से० तक पहुंच जाता है। क्या आपने 'शीतल ज्वालाओं' का नाम सुना है ? ठंडी या शीतल ज्वालाओं का अभिप्राय केवल ऐसी लौओं से होता है, जो बहुत ही कम तापमान (२००-५०० से०) पर जलती हैं और मामूली-सी रोशनी बिखेरती हैं।

दो-एक सवाल हैं। इतने ऊंचे तापमानों का क्या कारण है ? और ज्वाला-गैसों पर इन ऊंचे तापमानों का क्या प्रभाव पड़ता है ? यह तो ठीक है कि ईंधन और आक्सिजन के बीच होने वाली रासायनिक क्रिया से ऊष्मा उत्पन्न होती है और वह चिनगारी अथवा माचिस आदि से एक बार शुरू हो जाने पर, कुछ विशेष अवस्थाओं में काफी देर तक जारी रह सकती है।

रासायनिक विश्लेषण के आधार पर यह पता लगा है कि 'शीतल ज्वालाओं' में ईंधन का आक्सीकरण पूरा नहीं हो पाता। आंशिक आक्सीकरण के कारण ही तापमान ऊंचा नहीं पहुंच पाता। साथ ही अपूर्ण रासायनिक क्रिया का ही प्रभाव है कि इन ज्वालाओं में कुछ बहुत ही जटिल आक्सीकृत यौगिक बनते हैं, जिनका अध्ययन अभी होना है। जब कि 'गर्म ज्वालाओं' में ईंधन का आक्सीकरण लगभग पूर्ण हो जाता है और फलस्वरूप कार्बन-डाइआक्साइड नामक गैस और पानी की प्राप्ति होती है। आम आदमी को यह बात शायद कुछ तर्कसंगत न लगे कि 'लौ' में से लगातार पानी भी निकलता रहता है। मगर यह बात सत्य है। हां, यह पानी गैस की शक्ल में होता है।

एक बात और। देखने में लौ अग्नि का एक छोटा-सा टुकड़ा जान पड़ता है; मगर इस टुकड़े में कई क्षेत्र होते हैं। इन क्षेत्रों में अलग-अलग तापमान होते हैं और रासायनिक क्रिया और उनके उत्पाद भी एक-दूसरे से भिन्न रहते हैं। लौ का सबसे बाहर वाला क्षेत्र, जो वायुमंडल के सपर्क में रहता है, ऐसा क्षेत्र होता है, जिसका तापमान सबसे अधिक होता है। कारण स्पष्ट है। इस क्षेत्र को आक्सिजन प्रचुर मात्रा में प्राप्त होने के कारण इसमें आक्सीकरण-क्रिया भी लगभग पूर्ण हो जाती है। यही वजह है कि अगर लौ पर चम्मच आदि में रखकर कोई चीज गर्म करनी हो, तो चाहिये कि चम्मच लौ के बिलकुल ऊपरी सिरे पर रखा जाये। अगर लौ के अंदर चम्मच रखा गया, तो समय बेकार जायेगा।

मुख्य समस्या है, लौ के अंदर होने वाली रासायनिक क्रियाओं की क्रियाविधि

को समझने की। 'गर्म ज्वालाओं' में ईंधन का आक्सीकरण एकदम सरल नहीं होता। मुक्त परमाणु और मूलक भी उसमें उपस्थित रहते हैं, जो चेन-क्रिया और उच्च तापमान प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा करते हैं।

अनेक शोध-संस्थानों में लौ की प्रकृति पर अनेक शोधकर्ता दिन-रात काम कर रहे हैं। बहुत उम्मीद है कि आदिकाल से जानी-पहचानी लौ पर कुछ ऐसे तथ्य सामने आ सकेंगे, जो आधुनिकतम विज्ञान को भी चौंकाने वाले होंगे।

❖ ❖ ❖

गिरजे में पादरी का प्रवचन चल रहा था। सैकड़ों भक्त सत्संग में आये थे, जिनमें कुछ रोगी, गरीब और अपंग भी थे। पादरी बता रहा था कि ईश्वर गरीब-अमीर, रोगी-स्वस्थ, दृढ़काय और अपंग में अंतर नहीं करता उसकी कृपा बाहरी भेद को नहीं देखती, बल्कि सब पर एक-सी बरसती है। प्रवचन देते-देते पादरी को फर्श पर पड़ी एक टूटी मोमबत्ती दिखाई दे गयी। वेदी से उतरकर उसने मोमबत्ती उठायी और श्रोताओं के सामने दियासलाई से उसे जला दिया। वह रोशनी बिखेरने लगी। मोमबत्ती थी तो कुचली हुई और तुड़ी-मुड़ी, फिर भी लौ छुआते ही जल उठी। दियासलाई ने टूटी मोमबत्ती को जलाने से इन्कार नहीं किया, और टूटी होते हुए भी मोमबत्ती पूरा प्रकाश दे रही थी। रामदास को यह दृष्टांत बड़ा अनूठा लगा। वास्तव में प्रभु करुणा और दया का सागर है। जो भी हृदय-संपुट खोले, उस पर वह कृपा की वृष्टि कर देता है।

—स्वामी रामदास

ऊंचे पहाड़ों पर एक तीर्थ था। प्राणों को संकट में डालकर हजारों कोस से यात्री उस तीर्थ में आते थे। मूर्ति ने यह देखा, तो गर्व में अकड़ गयी; अपने आप से ही बोली—" 'पत्थर' कहकर अपमान करने वाली इस मनुष्य-जाति का दिमाग मैंने ही ठीक किया है—मेरी पूजा के बिना उसका उद्धार नहीं।" वाक्य खत्म भी नहीं हो पाया था कि उसने सुना—"री मूर्ख, तू पत्थर-की-पत्थर ही रही! मनुष्य तुझे पूजने नहीं आता यहां; वह तो अपने भीतर के सत्य को पूजने आता है। निकटतम के सत्य को भी दूर जाकर पूजने की उसकी पुरानी आदत है।"

—वरुन्तोळ



डा० परमेश्वरी लाल गुप्त

सिक्के इतिहास बोलते हैं

सिक्कों का अध्ययन उतना ही रोचक है, जितना किसी से बातचीत करना। बस, सिक्कों के अध्ययन में रुचि लेना आरंभ कीजिये, आपको अपने आप आनंद आने लगेगा। ज्यों-ज्यों आप सिक्कों को ध्यानपूर्वक देखते जायेंगे, नयी-नयी बातें स्वयं सामने आती जायेंगी। इतिहास के अनेक रहस्य अपने-आप खुलते जायेंगे।

लीजिये, इस सिक्के को देखिये। एक हाथी पर दो आदमी सवार हैं। जो आगे वाला व्यक्ति है, वह दायें हाथ में भाला लिये है, जिसे वह पीछे की ओर ताने हुए है। दूसरा व्यक्ति, जो पीछे है, शिथिल-सा होता हुआ पीछे को गिरता दिखाई पड रहा है। हाथी आगे बढ़ रहा है। हाथी के भी पीछे वेग के साथ उछलता हुआ घोड़ा है, जिस पर एक व्यक्ति सवार है। उसके हाथ में भी भाला है, जिससे वह हाथी पर पीछे बैठे हुए व्यक्ति पर आक्रमण कर रहा है। भाला शायद उस व्यक्ति के शरीर में भी घुस गया है। सोचिये, यह दृश्य क्या कहता है? सिक्के पर कोई अभिलेख नहीं है, जो आपकी सहायता कर सके।

इसी सिक्के को उलटकर देखिये तो। युद्ध-वेश में एक आदमी खड़ा है। यह आदमी और कोई नहीं, यूनानी विजेता सिकंदर है। वह ज्यूस (यूनानी युद्ध-देवता) के रूप में खड़ा है। उसका यह स्वरूप अन्य अनेक सिक्कों पर मिलता है। यह उसके अभिमान का द्योतक है। इससे यह तो निश्चित हो ही जाता है कि यह सिक्का सिकंदर का है।

अब एक बार फिर इस सिक्के की दूसरी ओर देखिये और बताइये, दृश्य क्या व्यक्त करता है? दृश्य युद्ध का है, यह तो आपकी समझ में आ गया होगा। घुड़सवार ने हाथी-सवार पर भाले से आक्रमण किया है और हाथी पर बैठा व्यक्ति शिथिल हो रहा है। हाथी पर आगे की ओर बैठा व्यक्ति भाले से प्रतिशोध लेने की दृष्टि से आक्रमण के लिए सचेष्ट है। अब तनिक ध्यान से घुडसवार को देखिये। उसका शिरस्त्राण बिलकुल वैसा ही है, जैसा सिकंदर का। इससे कल्पना की जा सकती

है कि घोड़े पर सवार व्यक्ति खुद सिकंदर ही है और वह हाथी पर सवार व्यक्ति पर आक्रमण कर रहा है। युद्ध मे हाथियो का प्रयोग केवल भारत में होता था। अत. यह संघर्ष भारत के किसी युद्ध से संबंध रखता है, यह भी स्पष्ट है। अब सोचिये, वह युद्ध कौन-सा हो सकता है और किससे हो सकता है, जिसमे सिकंदर ने इस प्रकार खुद भाग लिया हो?

तनिक इतिहासकार क्विन्ते कर्टियस को तो उलटिये। देखिये, वह क्या कहता है। उसने भी तो सिकंदर का इतिहास लिखा है। अपने इतिहास की सामग्री उसने टालेमी, जो सिकंदर के साथ आया था, और टिमग्नीज के इतिहास से ली है।

देखिये, वह लिखता है–"पोरस (पुरु) को आगे-पीछे नौ घाव लगे और रक्तस्राव के कारण वह बेहोश हो गया। उसके हाथ से भाला छूट पडा। किंतु उसका हाथी, जो अभी घायल नहीं हुआ था, क्षुब्ध होकर शत्रुसेना पर तब तक आक्रमण करता रहा, जब तक पीलवान ने अपने राजा की अवस्था–शरीर बेकार होना, हथियार गिरना और बेहोश होना–देखकर उसे बेतहाशा नहीं भगाया। सिकंदर ने उसका पीछा किया, किंतु अब तक उसका घोडा अनेक घावों से छिद गया था। अतः वह बेहोश होकर गिर गया। .... "

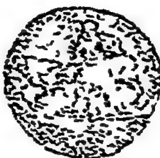
इसका सिक्के के दृश्य के साथ कितना साम्य है! तो इस छोटे-से सिक्के से इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना का समर्थन होता है। सिकंदर के जीवन मे यह घटना इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि उसने इसकी स्मृति बनाये रखने के लिए इस दृश्य को सिक्के पर अंकित कराया। अब आप सोच सकते हैं कि राजा पुरु के साथ उसका संघर्ष कितना विकट रहा होगा!...

अब इस दूसरे सिक्के को देखिये। यह सोने का है और अपने ढंग का एकमात्र सिक्का है। यह गुप्तवंशी राजाओं के सिक्को के एक बहुत बड़े दफीने मे मिला है। यह दफीना १९४६ मे तत्कालीन भरतपुर राज्य मे बयाना नामक जिले के एक गाव में मिला था और इसमें कई हजार सिक्के थे।

हा, देखिये। सिक्के की सीधी ओर दोहरे प्रभा-मडल से घिरे भगवान विष्णु है।

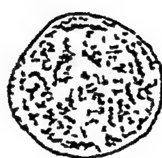
ज्यूस के वेश में सिकंदर, गजारूढ घायल पुरु पर सिकंदर द्वारा भाले से वार।





चक्रपुरुष से गोल वस्तु लेते हुए चन्द्रगुप्त द्वितीय, पीछे कमल पर खडी लक्ष्मी।





उनके बायें हाथ में गदा है और दायें हाथ में, जोकि भेंट करने की मुद्रा में है, तीन गोल वस्तुएं हैं। सामने एक प्रभा-मंडल-युक्त व्यक्ति खड़ा है। उसका दाया हाथ वस्तु को ग्रहण करने की मुद्रा में है और बायां हाथ कमर में बंधी तलवार की मूठ पर है। सिक्के के दूसरी ओर कमल पर खड़ी एक स्त्री है, जिसके दायें हाथ में सनाल कमल है और सामने की ओर एक शंख है। उसके पीछे ब्राह्मी लिपि में लेख है–'चक्र-विक्रम'।

पहले सिक्के की तरह इस पर भी इसके चलाने वाले का नाम नहीं है। किंतु इस पर उसका विरुद दिया हुआ है। 'चक्र-विक्रम' विरुद से जान पडता है कि यह सिक्का चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का है। जिस दफीने में यह मिला, उसमें कुमारगुप्त तक गुप्त-वंशीय राजाओं के अतिरिक्त, किसी अन्य राजा के सिक्के नहीं थे।

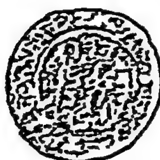
सिक्के की पीठ पर मूर्ति लक्ष्मी की है और लक्ष्मी की मूर्ति गुप्त राजाओं के प्रत्येक सिक्के की पीठ पर पायी जाती है। अंतर इतना ही है कि किसी पर वे खड़ी हैं, किसी पर बैठी हैं, किसी पर सम्मुख हैं, किसी पर वामाभिमुख। अतः उस पर आपको विशेष ध्यान देने की जरूरत नहीं। जानने और पूछने की बात यह है कि सिक्के पर अंकित दृश्य क्या है और उसका उद्देश्य क्या है।

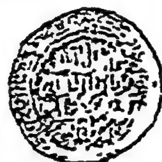
आप जिसे विष्णु की मूर्ति कहते हैं, वस्तुतः वह चक्र-पुरुष की मूर्ति है–अर्थात् वह भगवान विष्णु के चक्र का मूर्त रूप है। पुरुष-आकृति के चारों ओर जो प्रभा-मंडल-सरीखा दिखाई देता है, वस्तुतः वह चक्र है। वैष्णव धर्म के पंचरात्र आगम की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' में चक्र-पुरुष का जो स्वरूप वर्णित है, उससे बिलकुल मिलती हुई सिक्के पर की मूर्ति है। उसके अनुसार, विष्णु के महासुदर्शन-चक्र की चौंसठ तीलियां होती हैं और उसकी परिधि दोहरी होती है। इस चक्र के भीतर चक्र-पुरुष की सौम्य मूर्ति होती है, जिसके दो हाथ होते हैं।

यही रूप सिक्के पर भी है। प्रभा-मंडल-सरीखी दिखाई देने वाली चक्र की दोहरी परिधि है और उसमें बिंदु-सरीखे दिखाई पड़ते हैं तीलियों के छोर। प्रत्येक बिंदु एक तीली का द्योतक है और सिक्के पर दिखाई देने वाले चक्र के अर्ध भाग में बत्तीस बिंदु हैं–अर्थात् चक्र में चौंसठ तीलियां हैं। और उनके बीच में चक्र-पुरुष की आकृति तो है ही। विष्णु की दो शक्तियां हैं–इच्छा और क्रिया। इच्छा-शक्ति लक्ष्मी है और क्रिया-शक्ति सुदर्शन-चक्र।

हम इस सिक्के पर चक्र-पुरुष को देखते हैं और उसके सम्मुख जो व्यक्ति है, उसे हम चंद्रगुप्त के रूप में पहचान सकते हैं। उसके चारों ओर जो प्रभा-मंडल है, वह उसकी राज्यश्री को व्यक्त करता है और खड्ग पर रखा हाथ उसकी शक्ति को। दृश्य यह है कि चक्र-पुरुष चंद्रगुप्त से प्रसन्न होकर उसे चक्रवर्ती का पद

महमूद गजनवी के सिक्के पर कूफी लिपि में अंकित कलमा; पीछे की ओर कलमे का संस्कृत अनुवाद नागरी में।





प्रदान कर रहा है। चक्र-पुरुष के हाथ में जो तीन गोल-सी वस्तुएं हैं, वे सम्भवतः त्रैलोक्य को व्यक्त करती हैं।

अस्तु, इस सिक्के द्वारा चंद्रगुप्त अपने को चक्रवर्ती घोषित कर रहा है। उसके जो सिक्के प्राप्त हैं, उनमें प्रायः कहा गया है कि राजा इस लोक को जीतकर अपने सुचरित से परलोक को जीत रहा है—"क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः।" उसी का यह मूर्त रूप है। बहुत सम्भव है कि उसने पश्चिमी क्षत्रपों पर विजय प्राप्त कर अपनी विजय-यात्रा समाप्त की हो और उसके साम्राज्य का पूर्ण विस्तार हो चुका हो। उस समय चक्र-पुरुष के सम्मान में उसने कोई बहुत बड़ा अनुष्ठान किया हो और उसकी स्मृति में इस सिक्के का प्रचलन किया हो।

अब जरा इस तीसरे सिक्के को देखिये। यह महमूद गजनवी का है। हां, उसी महमूद गजनवी का, जो मूर्ति-विध्वंसक कहा और समझा जाता है। उसने इस सिक्के को लाहौर की टकसाल में ढलवाया था। एक ओर कूफी-लिपि में कुछ लिखा है और दूसरी ओर जो कुछ लिखा है, वह और कुछ नहीं, नागरी लिपि है और उसका वह रूप है, जो दसवीं शताब्दी में प्रचलित था। और उसमें जो कुछ लिखा है, वह संस्कृत में 'कलमा' का अनुवाद है।

कूफी अक्षरों में लिखा है—"ला-अल्लाह-अल-अल्लाह मुहम्मद रसूल अल्लाह। यामीनुद्दौला अमीनुलमिल्लत। बिस्म अल्लाह अलदिरहम जरब बमहमूदपुर जरब् सन् ..." और दूसरी ओर संस्कृत में उसका अनुवाद इस प्रकार है—"अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार। नृपति महमूद। अव्यक्तीयटाने अयं टंकं हत महमूदपुर घटित ताजिकीयरे सवति .।" अल्लाह का अनुवाद 'अव्यक्त' किया गया है। इससे स्पष्ट है कि अनुवाद निस्सन्देह किसी ऐसे व्यक्ति ने किया है, जो हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों में ईश्वर के दार्शनिक स्वरूप से भली भांति परिचित रहा हो। मुहम्मद को 'अवतार' कहा गया है, जो हिन्दू भावना है और मुसलमानों के 'रसूल' शब्द की भावना के विरुद्ध है। 'नृपति महमूद' का प्रयोग अनुवाद में अरबी के 'यामीनुद्दौला अमीनुलमिल्लत' के स्थान पर किया गया है। यह महमूद की उपाधि थी। इस उपाधि से भारतीय अपरिचित थे, इसलिए उसके स्थान पर स्पष्ट उसके नाम का प्रयोग किया गया है।

'कलमा' का संस्कृत अनुवाद इस बात का परिचायक है कि उस समय तक धार्मिक अंधवादिता ने अपना वर्तमान रूप नहीं धारण किया था। सांस्कृतिक आदान-प्रदान मुक्त रूप से होता था। विदेशी आगंतुकों ने यहां आकर इस देश के धर्म और संस्कृति के प्रति रुचि व्यक्त की। और यह बात किसी ऐसे व्यक्ति से नहीं हो सकती, जो इस देश में धर्म-विरोधी भावना लेकर आया हो। अब आप स्वयं सोचिये, महमूद गजनवी को किस दृष्टि से देखें?

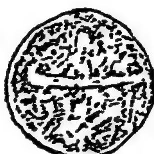
अच्छा, अब इस सिक्के को देखिये। आप देख रहे हैं-चलते हुए एक पुरुष और स्त्री को। पुरुष के हाथ में धनुष है और वह सिर पर मुकुट धारण किये हुए है। शरीर पर जामा है, जो घुटने के नीचे तक लटक रहा है। कमर में पटका बंधा हुआ है, जिसके दोनों छोर आगे-पीछे लटक रहे हैं। पीठ पर तीरों से भरा तूणीर लटक रहा है और स्त्री के दोनों हाथों में फूलों का गुच्छा है। वह चोली-लहंगा पहने है।

अब जरा ध्यान से देखिये। इन दोनों के बीच में ऊपर यह क्या लिखा हुआ दिखाई देता है? "राम सी (य)"। ठीक। सिक्के के दूसरी ओर भी देख लीजिये। इस ओर तो अरबी लिपि में कुछ लिखा हुआ है! हां, लिखा है-"५० इलाही अमरदाद।" इसका क्या अर्थ हुआ? यही कि ५० वें इलाही-वर्ष के अमरदाद महीने में बना सिक्का। यह सिक्का अकबर ने चलाया था।

आपने सुना है न कि अकबर ने 'दीन इलाही' नामक धर्म चलाया था। उसी तरह उसने अपना एक नया संवत् भी प्रचलित किया था। यह संवत् उसने यद्यपि अपने राज्यकाल के २९ वें वर्ष में प्रचलित किया था, पर इसकी गणना उसके राज्याभिषेक के वर्ष से मानी गयी और उसका आरंभ उस वर्ष के 'नौरोज' से हुआ था। इस संवत् के मास और दिन प्राचीन फारसी अथवा 'यज्दजर्दी' संवत् के रखे गये। इस सिक्के पर यही संवत् और उसके पांचवें महीने का नाम लिखा है। तात्पर्य यह कि यह सिक्का अकबर के राज्यकाल के ५० वे वर्ष के ५ वे महीने में प्रचलित किया गया। उस वर्ष के दूसरे महीने फरवर्दीन में बने इस ढंग के सिक्के भी पाये गये हैं।

मुसलमानों द्वारा सिक्कों पर हिन्दू देवी-देवताओं का चित्र अंकित कराया जाना कोई नयी बात नहीं थी। मुहम्मद बिन समिद ने, जो सर्वसाधारण में मुहम्मद





अकबर के सिक्के पर राम-सीता की छवि और 'राम-सीय' शब्द; पीछे के शब्द '५० इलाही अमरदाद'।

गोरी के नाम से प्रसिद्ध है, अपने सोने के सिक्के पर लक्ष्मी का चित्र अंकित कराया था।

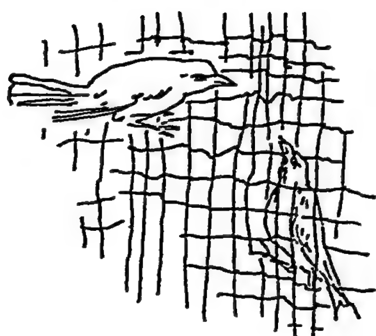
अकबर स्वभाव से धर्म-सहिष्णु ही न था, वरन धर्म के प्रति जिज्ञासु भी था। उसकी बुद्धि जागरूक थी। वह अपने यहां सब धर्मों वालों को बुलाता और उनके विचार सुनता था। वह भारतीय संस्कृति का भी अनन्य उपासक था। अक्सर वह भारतीय वेश-भूषा धारण करता था। हो सकता है, जीवन के अंतिम दिनों में (यह सिक्का उसके राज्यकाल के अंतिम वर्ष का है) वह राम-भक्ति की ओर आकृष्ट हुआ हो। उस समय तक तुलसीदास का 'रामचरित-मानस' पूरा हो चुका था। रहीम और तुलसी के परिचय और तुलसी के अकबर के दरबार में जाने की किंवदंती तो सुनी ही जाती है। हो सकता है, उससे वह प्रभावित हुआ हो और अपनी इन नयी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उसने राम-सीता के चित्र वाले इस सिक्के को प्रचलित किया हो।

ये कुछ थोड़े-से उदाहरण हैं, जिनसे आप समझ सकते हैं कि सिक्के किस प्रकार काम कर सकते हैं और वे किस प्रकार रोचक तथ्य आपके सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

❀ ❀ ❀

पुरातत्त्व-विज्ञान हमें ग्रंथों में वर्णित घटनाओं के पुष्टीकरण और संशोधन में बड़ी सहायता देता है। उदाहरणार्थ, पुराणों के अध्ययन से हमें पता लगता है कि महाभारत युद्ध के बाद राजा परीक्षित हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठे। उनसे पांचवीं पीढ़ी में निचक्षु नाम के राजा हुए। उनके समय में पार्श्ववर्ती गंगा नदी में भयंकर बाढ़ आने के कारण हस्तिनापुर का अधिकांश भाग बह गया और फलस्वरूप राजधानी कौशाम्बी हटायी गयी। कुछ वर्ष पूर्व हस्तिनापुर में खुदाई हुई, जिसमें उपर्युक्त घटना पर प्रमाण मिला है। इस बाढ़ के चिन्ह हस्तिनापुर के टीले पर तो मिले ही हैं, टीले से बहे हुए अवशेषों के कुछ अंश गंगा के पुराने बहाव के स्थान पर खुदाई करने पर पानी की सतह से लगभग ५० फुट नीचे भी मिले हैं। साथ ही कौशाम्बी की खुदाई से यह सिद्ध हुआ है कि वहां की सभ्यता का विकास लगभग उसी समय हुआ, जब हस्तिनापुर में बाढ़ आयी। हस्तिनापुर और कौशाम्बी दोनों स्थानों की खुदाई से पुराण-वर्णित उपर्युक्त घटना का पूर्ण पुष्टीकरण होता है। ठीक इसी प्रकार की एक घटना का पुष्टीकरण हमें इराक में उर नामक स्थान की खुदाई से मिलता है। वहां पर बाइबल में वर्णित बाढ़ के चिन्ह मिले हैं।

—डा० ब्रजवासी लाल



तुपारकांति घोष

छोटे पक्षी का प्रेम

पक्षियों के प्रेम की बात करते ही सबसे पहले चकवा-चकई की याद आती है। जो लोग शिकारी हैं, वे जानते हैं कि इनके जोड़े में से यदि किसी एक पर गोली चलायी जाती है, तो दूसरा वहा से भागता नहीं; वह अपने मृत साथी के इर्द-गिर्द उड़-उड़कर चक्कर काटता रहता है। मैंने यह दृश्य स्वयं अपनी आखों से देखा है। यदि चाहता, तो मैं उस उड़ते पक्षी को मार भी सकता था। मगर शायद ऐसी अवस्था में यह प्रवृत्ति किसी भी शिकारी के दिल में नहीं जागती।

लेकिन यहां पर मैं एक और पक्षी के अपूर्व प्रेम की कथा कह रहा हूं।

युद्ध से पहले की बात है। सस्ते का जमाना था। एक दिन मैं अपने बगीचे में बैठा-बैठा सोचने लगा कि यदि यहां कुछ पक्षी पाल लिये जायें, तो क्या हर्ज! बगीचे में स्थान भी पर्याप्त है और हरियाली भी। यहां पक्षी बहुत कुछ स्वाभाविक होकर रह सकेंगे। बगीचे में एक बहुत बड़ा अंजीर का पेड़ था और उसके नीचे अच्छी घास भी थी। मैंने सोचा कि इस पेड़ के चारों ओर जाली का घेरा और नीचे एक अच्छा-सा कुंड बना दिया जाये, तो पक्षी बड़े आराम से रह सकेंगे।

बस, दो दिनों में ही छोटे-छोटे छिद्रों वाले जाले से उस पेड़ का घेराव कर दिया गया और जमीन में एक छिछला ढलवा कुंड खोद दिया गया, ताकि बहुत छोटे पक्षियों को भी पानी पीने में कोई असुविधा न हो। तत्पश्चात् 'म्युनिसिपल मार्केट' से नाना जाति, नाना प्रकार के पक्षी लाकर उसमें छोड़ दिये गये।

यह मेरा स्वभाव है कि जब कोई नया शौक शुरू होता है, तो कुछ दिन उसके प्रति बड़ा आग्रह रहता है। अब तो मैं बगीचे में जाकर प्रायः ही उस अंजीर के पेड़ के पास बैठकर पक्षियों का कलरव सुनता, उनका खेल-तमाशा देखता। परंतु एक दिन मैंने अनुभव किया कि मेरे इतने पास बैठे रहने से वे कुछ बंधे-बंधे-से रहते हैं, खुलकर उछल-कूद और किलोल नहीं कर पाते। इसलिए तब से मैं उनसे कुछ दूर एक पेड़ के नीचे बैठकर उनके कार्य-कलाप निरखने लगा।

एक दिन तीसरे प्रहर चार बजे के लगभग मैं बैठा-बैठा पक्षियों को देख रहा था। तभी देखा कि एक छोटा पक्षी जाले के बाहर निकल आया है। आश्चर्य की कोई बात न थी। कारण, इतने बड़े पेड़ को घेरने के लिए जाले में बहुत-सी जगह जोड़ लगाने पड़े थे। कहीं किसी जोड़ में से वह निकल आया होगा। मैंने देखा कि वह छोटा पक्षी बाहर जाले के ऊपर बैठा है। मैं कुछ देर अन्यमनस्क की तरह देखता रहा। थोड़ी ही देर में एक ऐसा दृश्य देखने को मिला, जिसने मुझे चकित कर दिया।

वह छोटा पक्षी क्या था। जाले के भीतर इसके ठीक नीचे की ओर इसका जोड़ीदार अपने दोनों पैरों से जाले को जकड़े बैठा था और बोल बोलकर इसमें जाने क्या कह रहा था। उन दोनों की भावभंगी देखकर मेरे मन में कोई संदेह न रहा कि वे इशारे से एक-दूसरे से बातें कर रहे हैं।

इसके थोड़ी देर बाद ही बाहर वाला पक्षी उड़कर १०-१२ हाथ दूर एक नींबू के पेड़ पर जा बैठा और खूब जोर-जोर से चीं-चीं करने लगा। इस तरह वह अपने उस साथी को वहां आने के लिए पुकार रहा है, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं रहा। मगर हाय, उसकी संगिनी तो बंदिनी थी, वह बाहर निकले कैसे? वह नहीं आ रही है, यह देखकर वह छोटा पक्षी फिर उस जाले पर आकर बैठ गया और मैंने फिर वही अपूर्व दृश्य देखा। दोनों पक्षी जाले को पैरों से जकड़े चोंच से चोंच मिलाये परस्पर जाने क्या वार्तालाप करने लगे।

थोड़ी देर बाद बाहर वाला पक्षी फिर उड़कर उस नींबू के पेड़ पर जा बैठा और उसी तरह पिक्-पिक् करने लगा। मैं देख रहा था कि जाले के अंदर बंद पक्षी भी पिक्-पिक् के उत्तर में पिक्-पिक् बोल रहा है और बाहर जाने का रास्ता नहीं पा रहा है। नींबू के पेड़ पर बैठा पक्षी फिर जाले पर आ गया। पुनः उसी पुराने दृश्य की आवृत्ति।

मैं सोचने लगा कि यह बाहर वाला पक्षी अपने साथी को वह रास्ता क्यों नहीं दिखा देता, जिससे वह स्वयं निकला है। मगर शायद भगवान ने उसे इतनी बुद्धि नहीं दी है। तभी तो वह बार-बार नींबू के पेड़ पर उड़कर जा बैठता है और उसे आवाजें देने लगता है। वह बेचारी करे भी क्या, वह तो निकलने का रास्ता ही नहीं जानती। मैंने बहुत तन्मय होकर वह दृश्य देखा—एक बार नहीं, दो बार नहीं, अनेक बार।

धीरे-धीरे सन्ध्या हो गयी। मैं सोचने लगा, किस तरह दोनों का मिलन कराऊं? एक बार तो मन में आया कि भीतर वाले पक्षी को छोड़ दूं। मगर यह कैसे संभव था? वह पेड़ पर बहुत ऊंची डाली पर बैठा था। परंतु मैं अन्तर्मन भाव से जिस बात की इच्छा कर रहा था, शायद भगवान भी वही चाहते थे।

हठात् देखा कि बाहर वाला पक्षी फिर उड़कर जाले पर आया, मगर पहले की तरह वापस नीबू के पेड़ पर नहीं गया। मैं देखने लगा कि इस बार वह क्या करता है। सन्ध्या के उस झुपझुपे में मैं ठीक समझ नहीं पाया कि कैसे क्या हुआ। बहरहाल वह बाहर वाला पक्षी जाले के भीतर घुस गया। वह उस जोड़ में से होकर ही अंदर पहुंचा होगा, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं। मैं दौड़कर जाले के पास गया और उस दृश्य को देखकर अपने आंसू न रोक सका। देखा कि दोनों पक्षी एक छोटी-सी डाल पर सटकर बैठे हैं और भरपूर आनंद में चहक रहे हैं।

उस छोटे पक्षी के प्रेम पर मुग्ध होकर मैं सोचने लगा। उसने कैद से मुक्ति पा ली थी और प्राणपण से अपनी संगिनी की मुक्ति की कामना की थी, मगर जब उसने देखा कि संगिनी को बाहर नहीं निकाल पायेगा, तो स्वयं पुनः बंदी बन गया। उसने अपनी मुक्ति और संगिनी दोनों में से अपनी संगिनी को ही चुना।

दूसरे दिन मैंने उन दोनों पक्षियों को छोड़ देने की जी-जान से चेष्टा की, मगर वे किसी तरह पकड़ में न आये। हारकर मुझे उस अंजीर-वृक्ष के पूरे-के-पूरे जालघेरे को ही खोलकर सारे पक्षियों को मुक्ति दे देनी पड़ी।

♣ ♣ ♣

गणित के एक अध्यापक, जो उर्दू के शायर भी थे और 'ग़रीब' उपनाम रखते थे, एक दिन कक्षा में पहुंचे, तो क्या देखते हैं कि किसी शैतान लड़के ने बोर्ड पर अकबर इलाहाबादी का यह शेर लिख दिया है :

दावा बहुत है इल्म रियाज़ी में आपको।
तूले-शबे-फ़िराक़[1] ज़रा नाप दीजिये॥

ग़रीब साहब कुछ क्षण सोचते रहे, फिर उन्होंने उसके नीचे अपना यह शेर लिख दिया :

तूले-शबे-फ़िराक़ जो नापा गया 'ग़रीब'।
लैला की ज़ुल्फ़ से हुआ दो-चार हाथ कम॥

१ जुदाई की रात की लंबाई।



लारेन इजली के लेख पर से

फूलों ने सृष्टि बदली

एक जमाना ऐसा भी था, जब विधाता की सृष्टि में फूल नाम की कोई चीज नहीं थी। उस समय सूरज उगता तो था; परतु कमलिनी अपना हृदय खोलकर उसका स्वागत नहीं करती थी। आने को रात भी आती थी, पर उसके आगमन की खुशी में परिमल लुटाने के लिए रजनीगंधा का अस्तित्व नहीं था। तब वृक्षों पर आज की तरह न मधुकरों की नृत्य-गोष्ठिया जुटती थी और न जंगलों में विहगों का मगल-गान ही होता था। उस समय न फूल थे, न पक्षी और न ही मनुष्य।

यह अवस्था आज से कोई दस करोड़ वर्ष पहले थी। तब धरती पर बडे-बडे दलदल थे और उनके चारों ओर फैले थे अनादिकालीन जगल। उनमें हजारों मन पत्तों का बोझ सिर पर लादकर खडे रहने वाले विशाल वृक्ष न तो वसत मे फूलते थे और न ग्रीष्म मे फलते थे। आसमान का आलिंगन करने वाली उनकी भुजाएं पक्षियों को आवास नहीं देती थी, न लताओं को सहारा ही। वास्तव में उस समय धरती पर लताएं थीं भी नहीं। वनस्पति-जगत् में तब एक ही रंग था—हरा रग।

तत्कालीन प्राणि-जगत् मे मुख्यतः तीन वर्ग के प्राणियों का साम्राज्य था—१. तृणभोजी डाइनोसार, जिनकी पतली और कई गज लंबी गर्दन पर साप के जैसा छोटा-सा सिर और नीचे ठिगनी टागो पर ढोल-सा पेट टिका होता था, २. इन्हे खाकर पेट भरने वाले टायरेनोसार, जो दो टागों के बल चलते थे, और ३. चौदह-चौदह फुट चौडे चमडे के डैनों वाले सरीसृप, जो झीलों और दलदलों के किनारों पर उडते रहते थे और मछलियों पर गुजारा करते थे।

आधुनिक पक्षियों के करोड़ो पीढी पूर्व के पुरखे उस समय अवतीर्ण तो हो चुके थे, पर उनका रूप इतना अविकसित था कि यदि उनके पर मूंड दिये जाते, तो वे बिलकुल छिपकली-जैसे दिखते। हमारे मानव-परिवार के आदिपुरुष आदम साहब के अजदाद का भी उस समय तक आविर्भाव हो चुका था, पर उन्हें बदर से अलग रूप मे पहचानना सर्वथा असभव था। इस प्रकार यद्यपि उस समय तक उष्ण

रक्त वाले पक्षी और स्तनपायी पैदा हो चुके थे, पर धरती पर बहुलता शीत रक्त वाले प्राणियों की ही थी।

इसी सरीसृप-युग के अंतिम भाग में प्रकृति में एक महान विप्लव हुआ। इस विप्लव में न तो कोई विस्फोट हुआ और न खून ही बहा; फिर भी इससे दुनिया की शक्ल बदल गयी। यह विप्लव था—फूलों का खिलना। फूलों के खिलते ही दुनिया बदल गयी। वस्तुतः फूलों का खिलना दोहरी क्रांति थी। इससे वनस्पतियों के प्रजनन और प्रसार का एक नया क्रम आरंभ हुआ और प्राणि-जगत् में उष्ण रक्त वाले जीवों के प्राधान्य का काल शुरू हुआ।

सृष्टि के आरंभ में, अरबों वर्ष तक क्रम यह था कि ओस या वर्षा की बूंदों के साथ वनस्पतियों के बीजाणु भूमि पर गिरते थे और अनुकूल अवसर मिलने पर वहीं जमकर विकसित होते तथा वृक्षों का रूप धारण कर लेते थे।

फिर आज से कोई २५ करोड़ वर्ष पूर्व, अर्थात् सरीसृप-युग के आरंभ में एक नया क्रम शुरू हुआ। वृक्ष अपना पराग झाड़ने लगे, जो हवा में उड़ता-उड़ता दूसरे वृक्षों में जा लगता और उनकी संतान-वृद्धि में सहायक होता। कालांतर में इन वृक्षों में शंकु के आकार के काठ के फूल भी निकलने लगे, जैसे आज भी चीड़ और देवदार में लगते हैं। परंतु वस्तुतः हम जिन्हें 'फूल' कहते हैं, उनका विकास होने में अभी लाखों वर्षों की देर थी।

शीत रक्त वाले जीवों के युग में प्राणी अपने भोजन को छोड़कर शायद ही किसी चीज को देखते और समझते थे। उनकी बुद्धि-शक्ति अत्यंत क्षीण थी। उनके शरीर में पाचन-क्रिया बहुत मंद होती थी। वे बाहर के तापमान के साथ अपने शरीर के तापमान को संतुलित भी नहीं रख सकते थे। दोपहर को जब सूरज की किरणें धरती पर सीधी पड़ती थीं, ये कुछ सरगर्मी दिखाते थे; पर बाकी समय मारे ठंड के जड़वत् पड़े रहते थे। आज भी कुछ ऐसे प्राणी हैं, जो शीतकाल में आहार की कमी होने पर एक प्रकार की तंद्रावस्था में पड़े रहते हैं और बिना आहार के महीनों निकाल देते हैं।

बाहरी तापमान के अनुसार अपने शरीर का तापमान घटाने-बढ़ाने की शक्ति और तीव्र बौद्धिक सक्रियता के लिए जोरदार चयापचय-क्रिया आवश्यक है। यह क्रिया केवल उष्ण रक्त वाले प्राणियों में ही हो सकती है। चयापचय-क्रिया जोरदार हो, इसके लिए अधिक पौष्टिक तथा ऊर्जा-संपन्न भोजन आवश्यक है। परंतु उस युग में इस प्रकार का भोजन वनस्पतियों अथवा प्राणियों के शरीर से प्राप्त करना असंभव था। और जब तक ऐसा भोजन न मिले, तब तक उष्ण रक्त वाले प्राणियों की प्रभुता स्थापित नहीं हो सकती थी। फूलों के उद्भव से यह भारी अभाव दूर हो गया। फूलों से बीजों का विकास हुआ और उससे प्राणियों को ऊर्जा-संपन्न

भोजन मिलने लगा। फलतः उष्ण रक्त वाले प्राणियों की विकास-गति बढ़ गयी।

फूलों के आने से वनस्पतियों के प्रजनन के साधनों में भी क्रांति हो गयी। फूलों से बीज बने। वस्तुतः हर बीज एक थैला है। उसमें एक अंकुर और उसके विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक भोजन रखा रहता है, जिसमें प्रोटीन और चिकनाई की मात्रा भी खूब होती है। बीज को गर्भस्थ वृक्ष भी कहा जा सकता है। जब अंकुर फूटता है, तब कई दिनों तक वह अपने थैले में से ही आहार पाता रहता है, क्योंकि उस समय उसमें सीधे जमीन से पोषक तत्त्व खींचने की शक्ति नहीं होती। बीजाणुओं को यह सुविधा प्राप्त नहीं थी। वे जिस दिन धरती पर आ पड़ते थे, उसी दिन से उन्हें अपना पोषण सीधे मिट्टी से प्राप्त करना पड़ता था। इसीलिए लाखों बीजाणुओं में से कोई-कोई ही पनप पाता था।

प्राणि-जगत् के एक उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी। प्रत्येक मछली यों हजारों-लाखों अंडे देती है, पर इन अंडों में से आधे से अधिक तो कभी फूटते ही नहीं और जो फूटते हैं, उनमें से अत्यंत क्षीणकाय बच्चे पैदा होते हैं। इनमें प्रकृति से संघर्ष करने की शक्ति बहुत कम होती है। सो हजारों बच्चों में से एक-आध ही बड़ा हो पाता है। दूसरी ओर, स्तनपायी पशु अपने बच्चों को तब तक पेट में रखकर पोसते हैं, जब तक उनमें काफी शक्ति नहीं आ जाती। इससे उनके बच्चों के जीवित रहने की संभावना बढ़ जाती है। ठीक इसी तरह बीजों के विकास से अंकुरों के जीवित रहने और पनपने की संभावना हजारों-गुना बढ़ गयी।

आज हम जो फूल देखते हैं, वे काफी सुंदर, कोमल और सुगंधमय होते हैं। साधारणतः 'फूल' शब्द सुनते ही ये तीनों गुण हमारे मस्तिष्क में उभरते हैं। परंतु आरंभ में जो फूल खिले थे, वे न तो इतने सुंदर थे और न इतने रंग-बिरंगे ही थे। धीरे-धीरे उन्होंने नाना रंगों की पंखुड़ियों के परिधान धारण किये। उनमें एक रस-कलश भी स्थापित हुआ और अपने रंगों की छटा तथा सुगंध के द्वारा वे भौंरों को लुभाने लगे। जब भौंरे रस पीने के लिए फूल पर आ बैठते, तब उनके पंखों और पीठ पर जरा-सा पराग लग जाता। फिर जब भौंरे दूसरे फूल पर बैठते, तो पराग वहां झड़ जाता। इस प्रकार वनस्पतियों में परागाधान का नया तरीका निकला। साथ ही, इससे नये-नये कृमि-कीटों और पतंगों का आविर्भाव हुआ।

फूलों ने और भी एक चतुराई दिखायी। उन्होंने अपने बीजों को रंगीन और रसीले फलों के बीच रखना शुरू किया। इन फलों से आकृष्ट होकर पक्षी वृक्षों पर आने लगे। वे फल खाते और जो बीज बहुत सख्त व बड़े होते, उन्हें वहीं पेड़ के नीचे गिरा देते, पर जो बीज छोटे-छोटे होते, उन्हें वे फल के साथ ही निगल जाते। इन बीजों की बाहरी थैलियां इतनी पक्की होती थीं कि पक्षियों के पेट उन्हें पचा नहीं पाते थे। इस कारण वे बीट के साथ पूरे ही बाहर आ जाते थे

और जमीन पर गिरकर अंकुरित हो जाते थे। इस प्रकार बीज अपने मूल स्थान से बहुत दूर तक पहुंचने लगे।

इसका एक परिणाम और हुआ—पक्षियों का रूप-परिवर्तन! जब फलों के प्रलोभन से वे इस पेड़ से उस पेड के चक्कर काटने लगे, तो उनके डैने भी मजबूत हो चले। फलों को कुतरने में आसानी हो, इसके लिए प्रकृति ने उन्हें सख्त चोंच का वरदान दिया और उनके बदसूरत दांत क्रमशः गायब हो गये।

इस युग में वनस्पतियों की हजारों नयी जातिया और उपजातियां भी विकसित हुई, जो उपर्युक्त तरीकों से दूर-दूर तक फैल गयीं। घास की नाना जातियां विकसित हुई। इन घासों में मंजरियां लगती थीं और फिर बीज निकलते थे। इन बीजों मे अंकुर के आहार के लिए बहुत-सा श्वेतसार और अन्य पौष्टिक पदार्थ भरे रहते थे। इन घासों की बालियों का वजन कई बार समूचे पौधे के भार के ३० प्रतिशत तक पहुंच जाता था। इन्हीं घासों से मक्का, गेहूं, धान आदि अनाज विकसित हुए।

इसके साथ ही, घास चरने वाले घोड़ा, भैसा आदि नये स्तनपायी प्राणी भी पैदा हुए, जो घास के साथ उनकी बालियां भी खा जाते थे और नयी शक्ति पाते थे। इन स्तनपायी प्राणियों पर जीने वाले हिंस्र जंतु भी अवतरित हुए। इनमें मुख्य थे—एक प्रकार का भीमकाय भेडिया और तलवारनुमा दांत वाला बाघ। ये दोनों अब बिलकुल गायब हो चुके हैं।

उस जमाने में घास के मैदानों के किनारे-किनारे एक प्रकार के बदसूरत बंदर भी रहा करते थे, जो फलों तथा उनके बीजों पर गुजारा करते थे। अगर कभी कोई पक्षी या छोटा प्राणी हाथ मे आ जाता, तो वे उसे भी चट कर डालते थे। वे बंदर अपनी पिछली टांगों के बल बेढब रीति से दौड लगाते थे। उनके पैरों में खुर नहीं थे, बल्कि उंगलिया थीं। कभी-कभी वे घास के मैदानों में घुस जाते और अपनी भूख मिटाने के लिए बालियों को चबाते। इसका उन पर रसायन का-सा असर होता था। कालक्रम से उन बंदरों की बुद्धि-शक्ति विकसित होती गयी, उनकी शरीर-रचना सुघड़ होती गयी और धीरे-धीरे वे आदमियों में बदल गये।

आगे चलकर इन आदमीनुमा बंदरों ने अपनी चपल उंगलियों का उपयोग आरम्भ किया। फिर उन्होंने पत्थर के औजार गढ़ने शुरू किये। इसी प्रयास में उन्हें आग पैदा करने की विधि का पता चला। फिर कुम्हार का चाक निकला, धातुओं का परिचय प्राप्त हुआ, बुनाई और खेती शुरू हुई और मानव-सभ्यता के प्रासाद की नींव पड़ी।

यह सब सम्भव हुआ, मात्र फूलों के कारण। अतः स्वाभाविक ही है कि मनुष्य फूलों के गुण गाये। फूलों का संग छोड़ना उसके बस के बाहर की बात है।

❀ ❀ ❀



एन. वी. के. मूर्ति

जनता का पत्रकार पुलिट्ज़र

पिछली सदी के अंत में अमरीकी पत्रकारिता में युगांतरकारी परिवर्तन हुए। व्यापार खूब तेजी पर था। बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाएं जड़ें जमा चुकी थीं, पनप रही थीं। अखबारों के लिए इसका अर्थ था—खूब विज्ञापन और खूब आमदनी। अखबारों की बिक्री-संख्या हनुमान की पूंछ की तरह बढ़ती जा रही थी। पत्रकारिता सिरफिरे आदर्शवादियों का पेशा नहीं रह गयी थी; बल्कि विशाल व्यवसाय बन चुकी थी। अखबार मुनाफे का सौदा बन गये थे। पाठकों को पटाने के लिए अखबारों में होड़ लगी थी। सनसनीखेजी चरमोत्कर्ष पर, या कहिये कि पतन की पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थी।

वह युग अमरीकी पत्रकारिता के कई दिग्गजों के उदय के लिए उल्लेखनीय है। और इन दिग्गजों में से एक था जोसेफ पुलिट्ज़र। अमरीकी पत्रकारिता में पुलिट्ज़र का पदार्पण जितना आकस्मिक था, उतना ही नाटकीय भी था। जब वह हंगरी से अमरीका आया, तो निरा सत्रह साल का युवक था। उसका जन्म १८४७ में हंगरी में हुआ। जोसेफ के बाल्यकाल में ही उसका पिता, जो अच्छा संपन्न अनाज-व्यापारी था, मर गया। मां ने दूसरी शादी कर ली। नया पिता जोसेफ को जंचा नहीं और उसने घर छोड़ देने की ठान ली। उसकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा प्राइवेट स्कूलों में, निजी मास्टरों के हाथों हुई थी। इस पढ़ाई ने उसे किसी भी पेशे के लायक नहीं बनाया था।

एक जीवनी-लेखक ने जोसेफ पुलिट्ज़र का वर्णन इन शब्दों में किया है—"लंबा, सींकिया युवक—घने काले बाल, भारी सिर और बहुत बड़ी नाक। कद लगभग छः फुट दो इंच, शक्ल-सूरत अजीब, चाल बेढंगी और सामाजिक व्यवहार में कोरमकोर।"

सत्रह साल का यह लंबा, भोंडा, बेकाम युवक सैनिक बनना चाहता था। उसने पहले आस्ट्रिया में, फिर फ्रांस में और अंत में इंग्लैंड में फौज में भरती होने की

कोशिश की; पर सभी जगह उसे कोरा जवाब मिला। अब उसने प्रयत्न किया कि नाविक ही बन जाऊं। पर जहाजों पर भी उसे निकम्मा समझकर चलता कर दिया गया। निराश होकर वह घर लौट चला। लेकिन सयोग देखिये कि हैंबर्ग (जर्मनी) में उसकी मुलाकात एक एजेंट से हो गयी, जो अमरीकी गृहयुद्ध में लड़ने के लिए रंगरूट भरती कर रहा था। जो अमरीकी रईसजादे तीरो-तलवार के रसिया नहीं थे, उनकी एवज में इन रंगरूटों को लडना था। पुलिट्ज़र को फुसलाने और शर्तनामे पर उसके हस्ताक्षर करा लेने में एजेंट को ज्यादा देर नहीं लगी। लेकिन इसके बाद जो कुछ हुआ, वह पुलिट्ज़र के साहस और सूझबूझ का प्रमाण है।

पुलिट्ज़र को जिसने भरती किया था, उस-जैसे एजेंटों को हर रंगरूट के पीछे ५०० डालर दक्षिणा मिलती थी। समुद्र-यात्रा के दौरान में पुलिट्ज़र को इस बात का सुराग मिल गया। जब जहाज बोस्टन बंदरगाह में घुसा, तो पुलिट्ज़र चुपके-से समुद्र में उतरा, तैरकर किनारे पहुंचा और दक्षिणा की रकम स्वयं माग बैठा। युवक जोसेफ को दूसरों का हुक्म बजाने से सख्त नफरत थी, सो साल-भर बाद ही सेना से उसे बर्खास्त कर दिया गया। जोसेफ और अमरीका दोनों के लिए यह अच्छा ही हुआ।

जोसेफ पुलिट्ज़र को उस समय अंग्रेजी बिलकुल नहीं आती थी। मगर उसने तो अमरीका में बस जाने का निश्चय कर लिया था। सो उसने सोचा, इस देश की भाषा सीखना उसका पहला काम है। किसी मसखरे ने उससे कह दिया कि अंग्रेजी सीखनी है, तो सेंट लुई (मिसौरी राज्य) जाओ। हकीकत यह थी कि उस समय उस शहर में अंग्रेजी-भाषियों से ज्यादा आबादी जर्मनों की थी। जर्मन-प्रवासी वहां बडी तादाद में आ बसे थे।

बहुत-से पेशों में अपनी किस्मत आजमा लेने के बाद जोसेफ पुलिट्ज़र ने सेंट लुई के मुख्य जर्मन दैनिक 'वेस्टलीशे पोस्ट' में रिपोर्टर की नौकरी कर ली। वहां जो भी उसके सपर्क में आया, उसकी अपार कार्यशक्ति और अदम्य जिज्ञासा से बहुत प्रभावित हुआ। जैसा कि किसी ने कहा था, पुलिट्ज़र पांच मिनिट में इतने सवाल पूछ बैठता था, जितने कि कोई सामान्य रिपोर्टर शायद साल-भर में सोच पाता।

राजनीतिक लेखन में पुलिट्ज़र सिद्धहस्त था। राजनीति में उसकी नजर इतनी पैनी थी कि पेशेवर राजनीतिज्ञ भी उसकी ओर आकृष्ट होने लगे। परिणाम—राज्य विधानसभा की सदस्यता। अब तक पुलिट्ज़र ने अंग्रेजी सीख ही नहीं ली थी, बल्कि उसमें महारत भी हासिल कर ली थी। रिपोर्टर से होते-होते पुलिट्ज़र 'वेस्टलीशे पोस्ट' में भागीदार बन गया। फिर उसने कुछ बड़े ही चतुराई भरे सौदे किये, अखबार खरीदे, अखबार बेचे, और हर बार खासा मुनाफा कमाया।

१८७८ में उसने महज ढाई हजार डालर में ही 'सेंट लुई डिस्पैच' को खरीद लिया। इस अखबार पर तब ३० हजार डालर का कर्ज था। परन्तु निर्भीक पुलिट्ज़र को इसकी परवाह नहीं थी। उसने 'डिस्पैच' को 'पोस्ट' में मिला दिया और कुछ समय तक इस 'डिस्पैच-पोस्ट' को साझेदारी में चलाया। साल-भर में वह उसका एकाधिकारी बन गया और तीन साल होते-न-होते अखबार उसे ४५ हजार डालर वार्षिक मुनाफा देने लगा।

अखबार अपने कब्जे में आते ही पुलिट्ज़र ने बड़ी दिलेरी के साथ भ्रष्टाचार पर करारे वार शुरू कर दिये। उसने टैक्सचोरों की नामावलियां छापीं, एक बड़े ही बदनाम जुआरी-सदन को तोड़ने में मदद दी। इन अभियानों में कई बार खुद उस पर हमले हुए, पर वह अडिग रहा।

पुलिट्ज़र का मनोबल तूफान से बढ़कर था, पर उसका शरीर इतना बोझ नहीं सह सकता था। १८८३ में वह विश्राम के लिए यूरोप जाते हुए रास्ते में कुछ दिन न्यूयार्क में ठहरा। वहीं उसने ३,४६,००० डालर में 'न्यूयार्क वर्ल्ड' खरीद लिया। १० मई १८८३ को अखबार नये मालिक के हाथ में आया। 'न्यूयार्क वर्ल्ड' और पुलिट्ज़र दोनों के लिए वह महान दिवस था। उस दिन अखबार के मुखपृष्ठ पर अग्रलेख में पुलिट्ज़र ने जो घोषणा की, वह उसके आदर्शवाद का प्रमाण है। उसने लिखा था :

' अखबार ऐसी संस्था है, जिसे सदा प्रगति और सुधार के लिए संघर्ष करना चाहिये, अन्याय और भ्रष्टाचार को कभी बर्दाश्त नहीं करना चाहिये, सभी पार्टियों के सभी सिद्धांतहीन राजनीतिज्ञों से हरदम जूझना चाहिये, स्वयं किसी पार्टी का नहीं होना चाहिये...... ..समाज के शोषकों का विरोध करना चाहिये, अकिंचनों के प्रति कभी सहानुभूति नहीं खोनी चाहिये, निरंतर सार्वजनिक कल्याण में निरत रहना चाहिये, खबरें-भर छापकर खुश नहीं हो जाना चाहिये, सर्वदा सर्वथा स्वतंत्र रहना चाहिये, अन्याय पर प्रहार करने में कभी डरना नहीं चाहिये—अन्याय चाहे हत्यारी रईसी ने किया हो, या हत्यारी गरीबी ने।"

पुलिट्ज़र ने 'न्यूयार्क वर्ल्ड' को 'श्रमजीवी अभिजात वर्ग' का अखबार बनाया—वह सर्वहारा वर्ग को इसी नाम से बुलाया करता था। सनसनीखेज सुर्खियां, सेक्स व अपराध की विस्तृत रिपोर्टें और भरपूर चित्र—ये आम जनता के लिए जबर्दस्त आकर्षण होते हैं; और पुलिट्ज़र ने इन सबका भरपूर उपयोग किया। उसे तो आम जनता को रिझाना था। 'वर्ल्ड' की खबरें अलबत्ता 'निम्न रुचि' की होतीं, पर उसके संपादकीय लेख बौद्धिक और उदार होते थे। लेकिन 'वर्ल्ड' के सामान्यवर्गीय पाठकों को उनसे कोई वास्ता न था।

जब १८९६ में एक और महारथी पत्रकार विलियम रैंडाल्फ हर्स्ट ने न्यूयार्क में

'न्यूयार्क जर्नल' शुरू किया, तो दोनों अखबारों में ग्राहकों के लिए भयंकर छीना-झपटी होने लगी। दोनों ने सनसनीखेज खबरों और पत्रकारिता के दूसरे सस्ते उपायों द्वारा एक-दूसरे को नीचा दिखाने की दिलोजान से कोशिश की। मगर यदि आज पुलिट्ज़र को याद किया जाता है, तो उसका कारण यह नहीं है।

पुलिट्ज़र को बहुत चीजों में दिलचस्पी थी। वह संगीत और कला का प्रेमी था। लेकिन उसके जीवन की सबसे बड़ी साध थी पत्रकारिता। जीवन के आखिरी दिनों में, अस्वास्थ्य के कारण वह लगभग अंधा ही हो गया था। आखिरी बीस बरस प्रायः वह विलास-साधनों से सजे अपने जलयान पर सवार हो, शांति और आराम की तलाश में भटकता रहा। लेकिन वह चाहे कहीं भी हो, उसकी दृष्टि विश्व की गतिविधियों पर लगी रहती थी। उसके सेक्रेटरियों की खासी फौज थी, जिसकी मदद से वह अपने अखबार के साथ निरंतर निकट संबंध बनाये रखता था। प्रतिदिन के अंक की वह बड़ी पैनी और करारी आलोचना किया करता था। उसके खराब स्वास्थ्य को देखते हुए यह सचमुच विस्मय की बात थी।

सही काम के लिए सही आदमी चुनने की पुलिट्ज़र में जन्मजात प्रतिभा थी। जब सही आदमी मिल जाता था, उसे वह पूर्ण स्वतंत्रता देता था। एक बार अपने एक संपादक से उसने कहा था कि यदि मैं अपने किसी स्वार्थ के कारण अखबार की नीति को प्रभावित करने की कोशिश करूं, तो तुम मेरी परवाह मत करना।

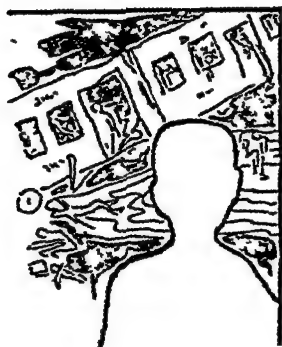
वह प्रवासी, जो बिलकुल खाली हाथ अमरीका आया था, २९ अक्टूबर १९११ को करोड़ों की संपत्ति छोड़कर मरा। उसने बहुत-से दान-धर्म किये थे। लेकिन पत्रकार-जगत् में उसका वह दान सबसे अधिक याद किया जाता है, जिससे कोलंबिया विश्वविद्यालय में पुलिट्ज़र स्कूल आफ जर्नलिज्म की स्थापना हो सकी। यह स्कूल विश्व में पत्रकारिता के सर्वोत्तम स्नातकोत्तर शिक्षणालयों में गिना जाता है।

कोलंबिया विश्वविद्यालय के नाम जो स्थायी निधि वह छोड़ गया, उसी के व्याज से अमरीकी साहित्य व पत्रकारिता के क्षेत्र में पुलिट्ज़र-पुरस्कार १९१७ से दिये जा रहे हैं।

पुलिट्ज़र ने और भी एक विरासत छोड़ी 'सेंट लुई पोस्ट-डिस्पैच', जिसकी गणना अमरीका के सर्वोत्तम दैनिकों में होती है। कुछ लोगों ने इसे अमरीका का 'मैंचेस्टर गार्जियन' कहा था। अंग्रेजी के किसी अखबार की इससे बढ़कर प्रशंसा शायद नहीं हो सकती।

꧁ ꧁ ꧁

किप्लिंग ने उस समाचारपत्र को, जिसने उनके देहांत की खबर छाप दी थी, यह पत्र लिखा—"क्योंकि आपको हर बात की सही-सही खबर रहती है, इसलिए मेरी मृत्यु का समाचार भी सच ही होगा। सो मेरी प्रार्थना है कि अपने समाचारपत्र के ग्राहकों की सूची में से मेरा नाम काट दें।"



सुधींद्र वर्मा

रेल रामगंगा में गिरी

१८ जून १९२५ को बालपन की सहेली कांता को ब्याहकर दो दिन बाद मैं जब घर लाया, तो सबने उसकी बलैया लीं और बड़े प्यार और उत्साह से उसका स्वागत किया। कई दिन मेरी ननसार में हंसी-खुशी में गुजरे। पूरा एक सप्ताह कैसे आनंद में निकल गया, पता ही न चला। कांता विदा होकर जब अपने मैके पूरनपुर चलने लगी, तो उसकी आंसुओं से छलछलायी आंखों की ओर देखा न जाता था। लेकिन गुरुजनों की लाज से, चलते समय उसे चुपचाप ही विदा देनी पड़ी।

यूनिवर्सिटी खुलने वाली थी, इसलिए मेरे चलने की भी तैयारियां होने लगीं। नानी ने कई दिन मेरे मनपसंद खाने बना-बनाकर खिलाये और चलते समय मम्मन की दुकान से बदायूं के प्रसिद्ध पेड़ों की दो हांडियां साथ ले जाने के लिए रख दीं।

जुलाई की ७ तारीख को रात के ३ बजे आगरा-काठगोदाम एक्सप्रेस से मैं लखनऊ के लिए रवाना हुआ। बरेली में गाड़ी बदलकर मुझे सुबह लखनऊ की ट्रेन पकड़नी थी। पीलीभीत के पास पूरनपुर के छोटे-से स्टेशन पर शायद कांता से भेंट हो (पत्र द्वारा मैं उसके पिताजी को अपने उधर से निकलने की सूचना दे चुका था)–इस उत्सुक आशा को दिल में लिये मैं रवाना हुआ।

नींद से झुकते-झूमते यात्रियों से भरी गाड़ी बदायूं स्टेशन पर आकर लगी और मैं इंटर क्लास की एक खाली सीट पर आराम से लंबा हो गया। गर्मी बहुत थी, और उन दिनों गाड़ियों में पंखे भी न होते थे। इसलिए गाड़ी चलते ही जब हवा लगी, नींद आ गयी।

स्टेशन इस छोटी लाइन पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर हैं। लगातार सोने की गुंजाइश न थी। पर दो स्टेशन किसी तरह बिना जगे निकल ही गये। तीसरे स्टेशन पर बेहद शोर था। कई बारातें चढ़ रही थीं। इंटर क्लास में भी दो गोरी-गोरी दुलहनें लाल-पीले कपड़ों में दबी-सिमटी, गहनों से झिलमिलातीं, घूंघट में से झांकतीं आ बैठीं। साथ में बागा पहने, मौर लगाये दो कजर-बिलौटा दूल्हे भी थे। एक बड़ा हंसमुख

और निर्लज्ज, दूसरा सांवला और शर्मीला, कोने में दुबका। दुलहनों को देखकर मेरा मन भी अपनी नवेली वधू की मदभरी याद में लीन हो गया।

बाहर चांद की प्रातःकालीन मंद, मटमैली चांदनी में नहायी-सी मैदानी आबादियां रेल की गति की विरुद्ध दिशा में भागती चली जा रही थीं। आकाश में कहीं-कहीं बादलों के टुकड़े चांद के साथ लुका-छिपी खेल रहे थे। उमस और गर्मी के मारे सांस लेना दूभर हो रहा था।

बटपुरी की गुझियां प्रसिद्ध हैं। रामगंगा-तट से कुछ ही दूर स्थित यह स्टेशन यात्रियों का मुंह मीठा किया करता है। बारातियों और दुलहनों के नाश्ते के लिए गुझियां लेकर ज्यों ही गाड़ी आगे बढ़ी, हवा चलने लगी। गर्मी से बबराये यात्रियों ने चैन की सास ली और शायद खुश होकर ड्राइवर ने भी गाड़ी की चाल तेज कर दी।

रेलगाड़ी की गति के साथ-ही-साथ हवा भी तीव्र हो चली और मिनिटों में ही आकाश में धूल, तिनके और पत्तियां छाने लगीं। आंधी ने विकराल रूप धारण कर लिया। रामगंगा-पुल की हाल्ट तक पहुंचते-पहुंचते उस वात्याचक्र की सांय-सांय शैतान के नथुनों से निकलती निःश्वास के समान रौद्र और भयानक हो गयी। मेरे डिब्बे के लोग सब सो रहे थे। दुलहनें भी ऊंघ रही थीं। गोरा दूल्हा अपनी दुलहन के वक्ष का सहारा लिये खूब गहरी नींद में खोया हुआ था।

इंजन से लगा हुआ एक मालगाडी का डिब्बा था और उसके बाद हमारा कंपार्टमेंट। पूरी ट्रेन रामगंगा के पुल पर आ चुकी थी। इंजन और आगे के दो-तीन डिब्बे नदी की धारा को पार कर चुके थे। बाकी डिब्बे नदी के ऊपर ही होंगे। मैं आंधी के भीषण आघात से डगमगाती रेल की गति से आशंकित होकर बायीं ओर के दरवाजे की खिड़की के पास खडा नदी की धारा मे उठती तरंगों को देख रहा था। एकाएक गाडी दायीं ओर को उछली। आंधी के भीषण वेग ने डिब्बों में हवा भरकर गाड़ी को ऊपर उछाल दिया था और वह पुल के दोनों ओर लगी टीन की दीवार को तोड़ती हुई नदी में कूद गयी।

इंजन, माल का डिब्बा तथा कंबाइन्ड इंटर-थर्ड क्लास वाला हमारा डिब्बा ही लाइन पर रह गये थे। लेकिन उन पर पिछली सारी गाड़ी का बोझ लटका होने के कारण वे भी डगमगा रहे थे। कपलिंग टूट गये और भयंकर चरमराहट के साथ पिछले हिस्से का ऊपर वाला डिब्बा पुल के सहारे और पीछे के डिब्बे उसके नीचे एक के ऊपर एक नदी की बीस फुट गहरी धारा मे जा गिरे।

तत्कालीन आर. के. आर. (रोहिलखंड-कुमाऊं रेल्वे, जिसे हम लोग 'रोती-कराहती रेल्वे' कहा करते थे) के डिब्बों के दरवाजे बाहर की ओर खुलते थे। भयानक झटका लगने से हमारे डिब्बे के दायीं ओर के दरवाजे स्वयं खुल गये थे।

सब यात्री व सामान भी उसी ओर फेंक दिये गये थे। एक सेकेंड में यह सब हो गया था।

सांवला दूल्हा कुछ ज्यादा चोट खा गया। मिठाई का बड़ा-सा झाबा उसके सिर पर गिरा था और ऊपर से बहू का भारी ट्रंक। बेचारा बेहोश था और उसकी दुलहन किंकर्तव्य-विमूढ हो आंसू बहा रही थी। गोरा दूल्हा नींद से जागकर अपनी बहू को चिपटाये परेशान था, जो चोट खाकर उसके सीने पर बेहोश पड़ी थी। अन्य दो-एक यात्री सीटों से गिरकर नीचे लुढ़क गये थे। मेरे सिवा शायद सभी चोट खा गये थे। पुल के नीचे हमारे पास वाला डिब्बा अपने से पीछे के अधडूबे और आडे खड़े डिब्बे के सहारे अधर में लटक रहा था। शेष डिब्बे पानी में डूब गये थे। ये सब विवरण तो मैंने दिन चढ़ने के बाद देखे।

सवेरा हो चला था। गर्मी के दिनों में ५ बजे ही झुटपुटा हो जाता है। लेकिन रामगंगा की रेत और अधड़ का गुबार चारों तरफ छाया हुआ था। घायलों के आर्तनाद और भयभीत चीख-पुकार से सारा वातावरण आतंकमय और हृदय-विदारक बन गया था। शोक और सनसनी ने मेरे शरीर के रोम-रोम में व्याप्त होकर मुझे अकर्मण्य बना दिया था। मृत्यु के द्वार तक लाकर नियति ने मुझे बाल-बाल बचा लिया था। शायद बूढ़े पिता, ९० वर्ष की दादी और नवविवाहिता पत्नी के स्नेह की डोर ने ही मुझे यमदण्ड्रा से बाहर खींच लिया था।

विषाद और मूढ़ अकर्मण्यता के ये कुछ ही क्षण जीवन के मूल्य और मृत्यु की विभीषिका, संसार की क्षणभंगुरता और मानवीय आकांक्षाओं की पंगुता की ऐसी छाप मेरे मानस-पटल पर अंकित कर गये, जो आज चालीस वर्ष बाद भी मिटी नहीं है। अल्हड़ यौवन की देहरी पर खड़ा हंसने वाला मैं पांच मिनिटों में ही बदल गया।

इतने में ही सांवले युवक की दुलहन की चीखों ने मुझे चौंका दिया। वह अपने पति की बेहोशी दूर न कर पाने के कारण आर्तनाद कर उठी थी। जिसे आज तक देखा नहीं, छुआ नहीं, जिससे कभी बात नहीं की, उस अविदितपूर्व कुरूप युवक के प्रति हिन्दू पत्नी का वह ममत्व बड़ा ही हृदयस्पर्शी था। तुरत कड़ी में रखी बोतल से पानी लेकर मैंने उस नौजवान के मुंह पर छींटे दिये। कुछ क्षणों में उसने आखें खोलीं। गोरा दूल्हा खड़ा हो गया था और डिब्बे के दूसरे यात्री भी। कुल छः पुरुष और दो स्त्रियां उस डिब्बे में थे।

नीचे नदी के पानी में डूबे डिब्बे एकदम शांत औंधे पड़े हुए थे। किंतु दो डिब्बे उथले पानी में होने के कारण डूबते-उतराते नर-नारियों के आर्तनाद से नदीतट के उस धुंधले और सुनसान वातावरण को भयानक रूप दे रहे थे।

हमारे डिब्बे के सभी पुरुष मेरे साथ उतरकर विपद्ग्रस्तों की सहायता के लिए

चल दिये। इंजन का तगड़ा एंग्लो-इंडियन ड्राइवर तथा मुसलमान फायरमैन भी हिन्दू खलासियों को इंजन पर छोडकर साथ हो लिये।

पुल से उतरकर हम जब रेतीले तट पर पहुंचे, तो हमने बहुत-से घायलों को अचेत पड़े देखा। किसी का सिर फट गया था। किसी की टांग टूट गयी थी। कोई क्षत-विक्षत होकर कराह रहा था। ढेरों सामान नदी में उतरा रहा था और कई शव नदी की तीव्र धारा में बहे जा रहे थे। कुछ मर्द और दो-चार औरतें भी डूबे डिब्बों की खिड़कियों और दरवाजों से चिपककर सहायता के लिए चिल्लाये जा रहे थे।

गोरा दूल्हा, मैं और एंग्लो-इंडियन ड्राइवर नदी में कूद पड़े। गुरुकुल कांगड़ी में सीखी तैराकी और प्राणायाम ने उस दिन कोई ३०-४० जानें बचाने में मेरी सहायता की। डुबकी लगा-लगाकर मैं अर्धमृत और बेहोश औरत-मर्दों के शरीरों को नदी-तल से निकालकर ऊपर ले आता। वह एंग्लो-इंडियन उन्हें अपने बलिष्ठ हाथों से धारा के पार तट पर पहुंचा देता। गोरा दूल्हा बड़ी दक्षता से उनके पेट का पानी निकालकर कृत्रिम श्वास-प्रश्वास विधि द्वारा उन्हें जीवन-दान देता।

प्रातःकाल की अरुणिमा से नदी-जल रक्ताभ हो गया था। भय-विस्फारित नेत्रों से मैं देख रहा था। मेरे चारों ओर डूबते-उतराते नर-नारियों और शिशुओं के शरीर बहे जा रहे थे। उनमें से अधिकांश नदी की तेज धार द्वारा डूबे हुए डिब्बों में से बहाकर बाहर लाये गये शव थे। और कुछ ऐसे यात्री थे, जो कोशिश करके डिब्बे से तो निकल आये पर मंझधार में हार गये थे। सौभाग्य से तभी दूसरी दिशा से मछुआरी मल्लुओं की एक नाव आ पहुंची, जिसने इनमें से कई को उबार लिया।

आस-पास के गांव वाले तब तक आ निकले थे। इनमें से अधिकांश सीधे-सादे किसान थे। वे घायलों को उठाने और रेत पर लिटाने में लग गये। किंतु मैंने कुछ दुष्टों को डिब्बों में घुसकर सामान की चोरी और लूट-मार करते भी देखा।

वह एंग्लो-इंडियन और मैं एक घायल को उठाकर ले जा रहे थे कि कमर तक पानी में खडे एक गुंडे को एक मरी औरत के शरीर पर से गहने उतारते देखा। घायल को जल्दी तट पर पहुंचाकर हम दोनों उसकी ओर मुड़े। गुंडा शव के हाथों में पड़ी सोने की चूड़ियां न निकाल पाने के कारण कमर में खुंसे गंडासे से उसे काटने की कोशिश कर रहा था। एक ही छलांग में दैत्याकार ड्राइवर गुंडे के सिर पर जा पहुंचा और एक करारा घूंसा उसकी गर्दन पर जमाया। गुंडा औंधे मुंह पानी में गिरा; पर डुबकी लगाकर नीचे-ही-नीचे न जाने कहा जा निकला। एक दूसरा गुंडा एक लडकी की नथ ही घसीट भागा। बेचारी की नाक का वह भाग ही कट गया। कुछ लोग मृतकों के शरीर से कपडे तक उतारकर ले गये।

तब तक पास के थाने से पुलिस आती दिखाई पडी और बरेली से आती रिलीफ ट्रेन भी। तभी पुल पर खडे हमारे डिब्बे से एक हृदय-विदारक चीख सुनाई पडी। हम सब उधर ही दौडे। डिब्बे में दोनों दुलहनें एक गुडे के साथ उलझी हुई थीं। उन्होंने उसके हाथ पकड रखे थे। सावले दूल्हे की बहू के जेवर गायब थे और गोरे दूल्हे की बहू एक मोटे-से लट्ठ से गुडे को बेतहाशा पीटे जा रही थी। हमने गुडे को पकडकर पुलिस के सुपुर्द कर दिया। एक दुलहन के साहस से दूसरी की इज्जत और जेवर दोनों बच गये।

रिलीफ ट्रेन के आते ही सरकारी इतजाम शुरू हो गया। घायलों की मरहम-पट्टी हुई। उनमें से बहुत-से बरेली असपताल भेजे गये। लाशें पहचान-परेड के लिए कतार में लिटा दी गयीं। सही-सलामत लोग रिलीफ ट्रेन में बैठाकर बरेली की ओर रवाना कर दिये गये।

उस रोज सैकड़ों की जानें गयीं। और यह था हमारे भगवान की आधी का एक छोटा-सा झोंका!

❀ ❀ ❀

अपनी एक पुस्तक मे मैंने एक घटना का जिक्र किया है। इटली की एक औरत ने घर में आग लग जाने पर जलते कपड़े उतारकर अपने प्राण बचाने के बजाय, अपनी लाज-शर्म की रक्षा करते हुए जल मरना ज्यादा पसद किया। जहा तक भी मुझसे बन पडा है, जीवन-भर मैंने कोशिश की है कि यह औरत जिस दुनिया में जीती थी, उसके नीचे बम रख दूं, ताकि वह दुनिया भस्म हो जाये। और आज मैंने खबर पढ़ी कि एक जंगी जहाज, जो तट के काफी पास पहुंच चुका था, दुश्मन का तारपीडो लगने से फटकर डूबने लगा। एक नर्स उसके डेक पर खडी थी। वह तेजी से अपने कपडे उतार फेंकने लगी और पास खडे सैनिकों से बोली—"माफ करना दोस्तो, मुझे जवानों को बचाना है।" कपड़े उतारकर वह समुद्र मे कूद पडी और तैर-तैरकर उसने दस-बारह डूबते सैनिकों को तट पर पहुंचाया। यह है मेरी दुनिया की नारी! जब-तब ऐसी मधुर, सर्वथा स्त्रैण और साहसी महिलाएं मुझे देखने को मिल जाती हैं, जो ऐसे या इससे भी अधिक कठिन और इससे भी अधिक वीरतापूर्ण कार्य कर गुजरी हैं। और मैंने देखा है कि उन देवियो के समक्ष मेरा हृदय पूजा के धूपदान की तरह प्रेम और भक्ति का सौरभ उगलने लगता है।

—हैवलाक एलिस



विष्णु प्रभाकर

शरच्चंद्र का दांपत्य

शरत् जितने महान लेखक थे, उतनी ही अप्रिय भावनाएं उनके प्रति देखने को मिलती थीं। क्यों थीं, इसका भेद पाना तो बहुत मुश्किल नहीं है; पर वे इतने अद्भुत रूप से थीं कि आश्चर्य होता है। उनके चरित्र को लेकर इतनी भ्रांतियां फैल गयी थीं कि सबने सहज ही यह भी विश्वास कर लिया कि उन्होंने विवाह नहीं किया था। फिर भी वे नारी-हृदय के प्रभु कैसे बन गये थे, विद्वानों ने इस रहस्य-तल में जाने का बड़ा प्रयत्न किया।

हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार जैनेंद्र ने लिखा है—"उस व्यक्ति ने, जिसने प्रतिभा पायी, ६२ वर्ष की वय पायी, स्नेह से लबालब भरी आत्मा पायी, पर पत्नी-रूप में नारी को कभी नहीं पाया, नारी-हृदय को जितना स्पंदनशील और सम्पूर्ण-भाव से चित्रित किया, क्या वैसा कोई गृहस्थ कर सका? नहीं कर सका। इसी वजह से मैं इस वैरागी, फिर भी संसारी प्राणी के प्रति उत्कंठित जिज्ञासा से भर-भर आया।"

परंतु तथ्य यही है कि शरत् ने शादी की थी—एक ही बार नहीं, दो-दो बार! उनकी पहली शादी की कहानी तो किसी भी उपन्यास से बढ़कर दिलचस्प है। बात रंगून की है। तब वे जिस घर में रहते थे, वह दुमंजिला था। नीचे के तल्ले में कलकत्ते का एक मिस्त्री रहता था—जाति का बंगाली चक्रवर्ती ब्राह्मण और विधुर। एकमात्र वयस्क कन्या को छोड़कर उसके और कोई नहीं था। लेकिन वह स्वयं दुराचारी था। संध्या को काम से लौटकर उसके यहां भीड़ जुटती—शराबियों और बदमाशों की भीड़। यही उसके बंधु-बांधव थे। बहुत रात तक हो-हल्ला मचा रहता।

शरत् संध्या के समय प्रायः घर नहीं रहते थे। बहुत रात गये लौटते और बहुत सवेरे निकल जाते। एक दिन रात को लौटकर पाया कि घर का दरवाजा अंदर से बंद है। "अंदर कौन हो सकता है? कोई चोर तो नहीं आया?" उन्होंने

दरवाजे को जोर से धक्का दिया। फिर पुकारने लगे। कुछ देर बाद दरवाजा खुला और घर के भीतर से निकली उस चक्रवर्ती की लड़की। आंधी में पुरइन के पत्ते की तरह कांपती हुई, आंखों से झर-झर झरता आसुओं का झरना! चकित-विस्मित शरत् ने पूछा—"क्या बात है?"

लड़की ने बतलाया—"पिताजी ने उस पक्के शराबी और बदमाश बूढ़े घोषाल के साथ मेरा विवाह कर देने का वचन दिया है। घोषाल ने इसके बदले में पिताजी को कुछ धन दिया है। आज नशे में धुत, उसने मुझे अपनी पत्नी कहकर मेरे साथ स्वतंत्रता बरतने का प्रयास किया। उसी के डर से भागकर मैं आत्मरक्षा के लिए यहां घुस आयी हूं।" कहते-कहते वह लड़की शरत् के चरणों में गिर पड़ी—"आप मेरी रक्षा कीजिये, किसी तरह बचाइये!"

शरत् ने उस लड़की से कहा—"डरो नहीं, आज की रात तुम यहीं सो जाओ। मैं चला जाता हूं। सवेरे आकर इसका उचित उपाय करूंगा।" और वे चले गये।

अगले दिन सवेरे लौटकर उन्होंने चक्रवर्ती से बातें कीं। चक्रवर्ती ने कहा—"लड़की विवाह के योग्य हो गयी है। विवाह नहीं करूंगा क्या? गरीब आदमी हूं। इस विदेश में उससे अच्छा पात्र कहां पाऊंगा! घोषाल के पास पैसा है, लड़की को खाने-पीने का दुःख नहीं होगा। नशा करता है, तो इससे क्या? वह तो मैं भी करता हूं। और, रही उम्र की बात, तो उस आदमी की भला उम्र ही क्या है?"

शरत् ने समझाने की बहुत चेष्टा की; लेकिन चक्रवर्ती क्या समझने वाला था? शरत् ने उससे कहा—"घोषाल का देना-पावना मैं चुका दूंगा।" तब उसने कहा—"ना, लड़की की शादी तो करनी ही होगी। और, बाबू साहब, आपके अंदर यदि इतनी दया-माया है, तो क्यों नहीं इस गरीब ब्राह्मण की बेटी से शादी करके मेरे जाति-कुल की रक्षा करते?"

अंततः यही हुआ। चक्रवर्ती की लड़की से परदुःख-कातर शरत् ने शादी कर ली और इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि इससे शरत् को सुख ही मिला। उनके एक पुत्र भी हुआ। किंतु जो दुर्भाग्य बचपन से उनके पीछे था, उसने अब भी उन्हें क्षमा नहीं किया। रंगून में तब प्लेग बहुत फैलती थी। इस बार फिर दारुण महामारी का आक्रमण हुआ और उस आक्रमण में शरत् की पत्नी और पुत्र, दोनों ४८ घंटे के भीतर स्वप्न के समान, समाप्त हो गये। कोमल हृदय शरत् उस दिन बालकों की तरह रोये थे। उनके परिचित बंधु-बाधव भी बहुत दुःखी हुए थे। उस समय के सुप्रसिद्ध ठेकेदार जी. एन. सरकार तथा गिरींद्र बाबू आदि ने इस विपत्ति में शरत् की सहायता की थी।

इस विवाह का शरत् के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। बर्मा-प्रवास के प्रारंभिक काल में शरत् ने उच्छृंखल जीवन बिताया था, उसका जैसे यह अंत था। इस

सरस अल्पजीवी दांपत्य ने उनके दीर्घकालीन स्नेहहीन जीवन की विषाक्त छाया को जैसे मिटा ही दिया।

इसके कुछ समय बाद शरत् ने एक और शादी की। वह लड़की भी एक गरीब ब्राह्मण की बेटी थी। मेदिनीपुर-निवासी कृष्णदास अधिकारी की कन्या हिरण्मयी देवी से उन्होंने तब विवाह किया, जब वे रंगून से छुट्टी लेकर बीच में एक बार कलकत्ता आये थे। इस विवाह का समाचार उनके आत्मीय जन और बंधु तक भी न जान सके। इसीलिए उन्हें लेकर नाना प्रकार के अपवाद फैलते रहे।

लेकिन शरत् जैसे प्रथम विवाह से सुखी हुए थे, वैसे इस विवाह से भी उन्हें सुख ही मिला। हिरण्मयी देवी घर-गृहस्थी के कामों में असामान्य रूप से निपुण थीं–प्रकृति से सरल और स्वभाव से मधुर। वे जितनी दानशीला थीं, उतनी ही धर्मशीला भी। बारह महीने व्रत, उपवास, पूजा-अर्चना और अतिथि-सेवा में वे लगी रहती थीं। लेकिन संसार में उनके लिए सबसे बड़ा काम तो अपने इष्ट-देवता शरत् की सेवा-अर्चना था। उनका चरणोदक पान किये बिना वे जल का स्पर्श तक न करती थीं। परदुःख-कातरता, प्रेम और सेवा के क्षेत्र में वे शरत् की सहयोगिनी थीं। अपने पति के ग्रंथों को पढ़ने के लिए उन्होंने आग्रहपूर्वक, बड़ी उम्र में बड़े ही प्रयत्न और धैर्य के साथ, लिखना-पढ़ना सीखा था। शरत् भी उनका बड़ा आदर करते थे। बड़े प्यार से वे उन्हें 'बड़ी बहू' या 'बहू' कहकर पुकारते थे।

एक बार सामताबेड़ में हिरण्मयी देवी बहुत बीमार हो गयीं, तब शरत् ने खाना-पीना सब तजकर उनकी खूब सेवा की। वे बार-बार कहा करते थे–"बड़ी बहू नहीं हैं और मैं हूं, यह कल्पना भी मैं नहीं कर सकता।"

दुर्भाग्य से इस विवाह से उनके कोई संतान नहीं हुई। परंतु शरत् अपने छोटे भाई प्रकाशचंद्र को ही बेटे के समान मानते रहे। प्रकाशचंद्र के पुत्र अमलचंद्र और कन्या मुकुलमाला को भी वे प्राणों से बढ़कर प्यार करते थे।

शरत् अपनी पत्नी को कितना प्यार करते थे, इस बात का प्रमाण इसी से मिल जाता है कि अपने सुख-दुःख की इस संगिनी के अनुरोध पर बहुत पैसा खर्च करके उन्होंने बालीगंज में अश्विनीकुमार दत्त रोड पर एक विशाल दुमंजिले मकान का निर्माण करवाया था। 'बड़ी बहू' की इच्छा पूरी करने के लिए ही उन्होंने बड़ी 'मारिस' गाड़ी भी खरीदी थी।

घर के दूसरे सदस्य, नौकर-चाकर, मित्र-बंधु और आये दिन आने वाले अतिथि-गण शरत् की इस सेवा-परायणा और स्नेहशीला संगिनी को 'बड़ी मां' कहकर पुकारा करते थे।

एक और घटना देखिये। अंतिम दिनों में शरत् गांव वाले मकान में चले गये थे। वास्तव में उन्हें वहीं पर रहना प्रिय था। लेकिन जब रोग बहुत बढ़ गया, तो

उनके मामा श्री सुरेंद्रनाथ गंगोपाध्याय ने, जो उनके बाल-बंधु भी थे, कलकत्ता चलकर अच्छी तरह से परीक्षा कराने का आग्रह किया। शरत् बड़ी मुश्किल से राजी हुए। निश्चय हुआ कि इतवार के दिन वापसी टिकट लेकर चला जायेगा; क्योंकि शरत् किसी भी प्रकार कलकत्ता में रहने के लिए राजी नहीं हो रहे थे। तब 'बड़ी मां' ने जिद कर दी—"मैं भी साथ जाऊंगी। तुम्हारी देखभाल कौन करेगा?"

शरत् ने समझाने की चेष्टा की—"केवल जाना-आना ही तो है! फिर मामा तो रहेंगे ही। वहां पर हॉटल भी आ जायेगा। उसे तार दे दिया है।"

लेकिन कहानी यहीं समाप्त नहीं हो गयी। मामा वापसी टिकट खरीदकर शरत् से चर्चा कर रहे थे कि भीतर घर में पंचांग को लेकर चर्चा चल पड़ी। पता लगा कि रविवार को जाने का योग नहीं है। हिरण्यमयी देवी तो घबरा उठीं। लेकिन शरत् से यह बात कौन कहे? जिद पकड़ लेंगे कि नहीं उसी दिन जाऊंगा। फिर भी 'बड़ी मा' ने सामने आकर युद्ध करने के लिए कमर कस ली। उनका सबसे बड़ा अस्त्र 'आंखों का जल' था। प्रधान सेनापति का भार प्रकाशचंद्र को सौंपा गया। उनके पीछे पोथी-पत्रा लिये हुए लक्ष्मण भाया थे। कूट-तर्क का प्रबंध किया गया और सबसे अंत में तो 'बड़ी मा' का करुण क्रंदन था ही। नाटक शुरू हुआ। प्रकाशचंद्र धीरे-से पदविक्षेप करते हुए पास जाकर खड़े हो गये। शरत् ने पूछा—"क्या है रे, खोका?"

"रविवार को जाना न हो सकेगा।"

"'बड़ी बहू' क्या कहती है?"

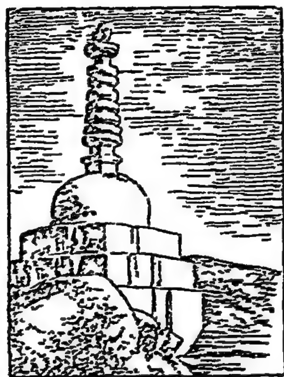
"सोमवार।"

"मैं भी तो यही सोचता हूं। कल तो सारा काम भी नहीं निबटाया जा सकेगा। सोमवार को चलना ही ठीक रहेगा।"

इतना बड़ा चक्रव्यूह जिस बात के लिए रचा गया था, नारी-हृदय के पारखी शरत् ने अपनी चिरसंगिनी के अनन्य प्रेम के कारण उसे अनावश्यक कर दिया।

क्या अब भी यह कहा जा सकेगा कि नारी-हृदय के प्रभु शरत् चिर-एकाकी थे? यौवन की प्रथम उच्छ्वास-वेला में असफल प्रेम के अतिरिक्त, इन दो स्नेहमयी संगिनियों के द्वारा ही शरत् नारी-हृदय के अंतर का भेद पा सके। तभी तो बंगाल की प्रत्येक नारी ने उनका अभिनंदन किया था—"हे नारी-चरित्र के परम रहस्यज्ञाता, हम लोग तुम्हारी वंदना करती हैं। सन्नारियों के अंतर्यामी, हम तुम्हारी वंदना करती हैं। हे नारियों के परम श्रद्धेय मित्र, तुम हम सभी के परम प्रिय हो! तुम हम सभी के परम आत्मीय हो! हम तुम्हारी वंदना करती हैं!"

❀ ❀ ❀



नरगिस दलाल

तिब्बत में हमारे खोजी

"किसी भी मुगल, हिन्दुस्तानी, पठान या फिरंगी को तिब्बत में न आने दिया जाये," चीन के सम्राट् की आज्ञा थी। आज्ञा के उल्लंघन की सजा थी–मौत। सन १८६१ से १८६४ के बीच कश्मीर से और लद्दाख के ऊंचे पर्वतों से बाक़ायदा कुछ सर्वेक्षण किये गये थे। मगर ब्रिटिश भारत की सीमा के पार चीनी और तिब्बती सीमा-रक्षकों का सख्त पहरा था और अंग्रेज सर्वेक्षणकर्ता उसे नहीं लांघ सकते थे।

तब अंग्रेजों ने यह युक्ति सोची कि सीमावर्ती क्षेत्र के चतुर आदमियों को छद्म व्यापारियों और तीर्थयात्रियों के रूप में तिब्बत, मंगोलिया, नेपाल और हिमालय प्रदेशों में भेजा जाये। ऐसे लोगों को जो ट्रेनिंग दी जाती थी, वह अल्पकालीन और आरंभिक किस्म की होती थी। फिर भी इन्होंने बहुत ही मूल्यवान और रोचक जानकारी लाकर दी।

सेक्स्टेंट और कंपास का उपयोग करना और तारों को पहचानना व पानी उबालने के द्वारा पहाड़ी स्थानों की ऊंचाई का हिसाब लगाना सीखे हुए ये आरंभिक खोजी जिस उत्साह और बेफिक्री से इन लंबी और खतरों-भरी यात्राओं पर निकल पड़ते थे, वह अचरज की चीज है।

उस समय तिब्बत और मध्य एशिया के जो नक्शे उपलब्ध थे, वे आरंभिक यात्रियों के किस्सों और इने-गिने चीनी मानचित्रों पर आधारित थे। भारत की तरफ से तो हिमालय की चोटियों की अवस्थिति, ऊंचाई आदि बिलकुल ठीक जानी जा चुकी थी, मगर उनके उस पार विशाल अज्ञात प्रदेश था, जिसके नक्शे लगभग खाली थे। त्सांग-पो नदी का मार्ग और ल्हासा की भौगोलिक स्थिति दोनों अटकल के विषय थे। समूचा प्रदेश रहस्य और रूमानियत में लिपटा था।

सन १८६३ में पहले खोजी भरती किये गये। ये थे पंडित नैनसिंह और उनका भाई मानसिंह, जो ऊपरी कुमाऊं के जोहर भोट इलाके के सीमा-क्षेत्र के पहाड़ी थे।

नैनसिंह, जो आगे चलकर 'पंडित' नाम से मशहूर हुए, अपने गांव के सरकारी स्कूल के हेड मास्टर थे। वे श्लाजेंटवेट-बंधुओं के साथ काम कर चुके थे और इस काम के लिए अत्यंत उपयुक्त थे। उनका अपना गाव १४,००० फुट की ऊंचाई पर हिमनदों के बीच बसा हुआ था और केवल गर्मियों में लोग वहां रहते थे। यह तिब्बती व्यापार की बडी मडी थी और नैनसिंह का तिब्बतियों से सदा सपर्क रहता था और वे उनकी भाषा व रस्मो-रिवाज से परिचित थे।

उन्हें १८६५ में देहरादून से रवाना किया गया। उद्देश्य था–गारतोक से ल्हासा की सडक का सर्वेक्षण करना, मानसरोवर के समीप त्साग-पो के उद्गम से लेकर उस नदी का प्रवाह-मार्ग देखना और ल्हासा की भौगोलिक स्थिति निर्धारित करना।

पंडित ने बुशहरी व्यापारी का वेश बनाया और अपने साथ सेक्स्टेंट, प्रिज्माकार और जेबी कंपास, तापमापक और अक्षांश-देशांतर-मापक जेबघड़ी व सादी घडी लेकर प्रस्थान किया। उन्होंने १,२०० मील के मार्ग का सर्वेक्षण किया, उद्गम से लेकर ल्हासा नदी के सगम तक त्साग-पो का मार्ग नक्शे पर अंकित किया और ३१ स्थानों की भौगोलिक अवस्थिति तथा ३३ स्थलों की ऊंचाई निर्धारित की।

धर्मप्राण तिब्बतियों की तरह पंडित नैनसिंह सर्वदा जपमाला और प्रार्थना-चक्र साथ रखते। वे जो भी नक्शे आदि बनाते, इसमें ठूस लेते। चुंगी-अफसर प्रार्थना-चक्र की कभी तलाशी नहीं लेते थे और प्रार्थना-चक्र घुमाते समय कोई टोकता भी नहीं था। इस तरह वे अपने दस्तावेज भी सुरक्षित रखते। पडित की जपमाला में १०८ के बजाय १०० ही मनके थे। प्रत्येक दसवा मनका बाकी मनकों से काफी बड़ा था। हर सौ कदम पर एक मनका पडित गिराते और प्रत्येक बडा मनका १,००० कदमों का सूचक होता। इस तरह बडी शुद्ध नाप होती दूरियों की।

उन्होंने यात्रा-डायरी भी रखी, जिसमें वे वहा की भूमि और निवासियो का विवरण लिखा करते थे। उन्होंने लिखा है कि ताशिल-हुन-पो मठ मे उन्होंने सोने, चादी और रत्नों से मढी हुई मूर्तिया देखीं। वहा के बड़े लामा सारे तिब्बत मे दैवीय अवतार माने जाते थे। कहा जाता था कि वे दूसरे के मन के विचारो को जान लेते हैं। पंडित नैनसिंह को इससे चिंता हुई कि कहीं मेरा भेद न खुल जाये। मगर उन्होंने कुछ विनोद के साथ लिखा है कि यह भय व्यर्थ सिद्ध हुआ। ग्यारह वर्षीय रूपवान बालक बडे लामा ने तीन रस्मी सवाल पूछे–"आपके राज सकुशल हैं? आपका देश खुशहाल है? आप स्वस्थ हैं?" और फिर आशीर्व दे दिया।

पडित नैनसिंह की पहली यात्रा की सफलता ने सारी दुनिया के भूगोलज्ञों ध्यान आकृष्ट किया और इस प्रकार हमारी उत्तरी सीमा से परे के अज्ञात इल

की छान-बीन का दौर शुरू हुआ। ब्रिटेन की रायल ज्योग्राफिकल सोसायटी ने सम्मान के प्रतीक के रूप में उन्हें सोने की एक घड़ी भेंट की।

इसके बाद पंडित नैनसिंह हिमालय के आर-पार के प्रदेश की जांच में लगे। अंग्रेजों ने तिब्बत की सोने की खानों के बारे में सुना था और वे ज्यादा जानकारी प्राप्त करना चाहते थे। पंडित नैनसिंह ११ आदमी, १२ गधे और एक खच्चर लेकर मसूरी से चले और बदरीनाथ पहुंचे। मगर उन्होंने पाया कि दर्रा बंद पड़ा है। अंत में उन्होंने १८,५७० फुट ऊंचे माना दर्रे से हिमालय को पार किया और एक अद्भुत झूला-पुल से सतलज नदी को पार करके तोतलिंग पहुंचे। पुल सिकंदर का बनवाया हुआ बताया जाता था और उसकी लोहे की जंजीर को मोरचे से मुक्त रखने के लिए उस पर खूब मक्खन मला जाता था।

यह टोली गारतोक के पूर्व में पहाड़ों पर चढ़ी और १९,५०० फुट ऊंचे दर्रे गिंगुत्तीं को पार करके एक वीरान पठार में पहुंची, जिसका नाम 'हिरन मैदान' रखा गया था। बर्फ गिर रही थी और सोने की मुख्य खदान थोक-जालुंग पहुंचने में टोली को बहुत समय लगा।

नैनसिंह लोगों को पटाने में बहुत ही कुशल थे। शीघ्र थोक-जालुंग के सरदार से उनकी अंतरंग मैत्री हो गयी। सरदार उन्हें अक्सर बुलवा भेजता और चाय और तंबाकू के दौर के बीच पहाड़ों के इस पार के देश के बारे में दोनों में बातचीत हुआ करती। पंडित नैनसिंह ने सोने की खानों का बारीकी से निरीक्षण किया और खुदाई का ब्योरा लिखा। सोने का भाव ३० रुपया तोले से जरा कम था।

सन १८७४ में नैनसिंह अपनी आखिरी यात्रा पर निकले, जो उनकी सबसे प्रसिद्ध यात्रा भी रही। अब तक वे बहुत प्रसिद्ध हो गये थे और अपनी असलियत छिपाये रखना उनके लिए जरा कठिन था। फिर भी तिब्बती लामा का वेश बनाकर वे लद्दाख से सुप्रसिद्ध उत्तरी पथ से ल्हासा तक चले गये। इस यात्रा में उन्होंने अनेक झीलों और कई नदियों का पता लगाया। त्सांग-पो (ब्रह्मपुत्र) के उत्तर में उसके समानांतर स्थित विशाल पर्वत-शृंखला का पता लगाने का श्रेय भी उन्हीं को है। उन्होंने इस महान नदी के साथ-साथ यात्रा करके उसके मार्ग का पता लगाया। अब केवल तीस मील जितनी दूरी अज्ञात रह गयी।

मगर नैनसिंह की सारी शक्ति जैसे इस यात्रा में निचुड़ गयी। उनका स्वास्थ्य एकदम गिर गया, वे अपने नेत्रों की ज्योति भी गंवा बैठे। उन्हें पेन्शन लेकर सेवा से निवृत्त होने की छुट्टी दी गयी। यूरोप की प्रमुख भूगोल-परिषदों ने उन्हें पदकों और प्रशस्तियों से लाद दिया। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें सी. आइ. ई. की उपाधि दी।

पंडित नैनसिंह अन्वेषणकर्ताओं के सिरताज थे—अथक, साहसी और अदम्य





बायें : पंडित नैनसिंह
दायें : किथुप या के-पी

जिज्ञासा से भरे। कोई बाधा या विफलता उनके कुतूहल को ठंडा नहीं कर सकती थी। मठ-मंदिर, युद्ध और फसाद, हाट-बाजार, भाषा-बोली, धर्म, रस्म-रिवाज, खदानें आदि सभी के विषय में जो भी जानकारी मिलती, उसे वे मन में भर लेते और अपनी यात्रापोथी में विस्तार से दर्ज करते।

पंडित नैनसिंह जितने ही विख्यात एक और खोजी थे उन्हीं के रिश्ते के भाई किशनसिंह, जो 'ए-के' नाम से प्रसिद्ध थे। वे और उनकी टोली के सदस्य तीर्थ-यात्रियों का वेश बनाकर कुमाऊं से रवाना हुए। साथ में गुजारे के लिए उन्होंने कुछ रसद भी ले ली थी। उन्होंने बेड़े से ब्रह्मपुत्र को पार किया और नदी के बायें तट पर पड़ाव डाला। उनका इरादा बड़े तिब्बत में स्थित 'नाम' या 'तेंग्री नोर' झील की शिनाख्त करने का था।

यहां किशनसिंह ने चांदी के भारतीय सिक्के देकर सोना लिया। सिक्के वे अपनी खोखली वाकिंग-स्टिक में रखते थे, जो इसी काम के लिए उन्होंने विशेष रूप से बनवायी थी। उन्हें पता चला कि झील तक नियमित रास्ता है।

रास्ते में उन्होंने गर्म पानी के कई चश्मे देखे। दो में से तो पानी ६०-६० फुट ऊंचा उछलता था। पानी नीचे आते-आते ठंडा हो जाता और जमकर बर्फ के खोखले खंभों का आकार धारण कर लेता था। खौलते जलकुंडों के चौगिर्द ऐसे अनेक खोखले बर्फ के खंभे थे। जब वे झील पर पहुंचे, झील जमकर बर्फ की चादर बन चुकी थी, जो ५० मील लंबी और १६ से २५ मील तक चौड़ी थी—बर्फ की एक विशाल अखंड चादर।

किशनसिंह ने झील और उसके आस-पास के प्रदेश और झील के दक्षिण में स्थित विशाल और भव्य हिमनद का सही-सही ब्योरेवार वर्णन दर्ज किया। मगर दुर्भाग्य से, डाकुओं ने उन पर आक्रमण किया और उनका सब कुछ लूट लिया—

यहां तक कि तंबू भी छीन लिये। टोली को कई रातें खुली बर्फ पर भयानक ठंड में गुजारनी पड़ीं। जैसे-तैसे वे लोग जीवित ल्हासा पहुंच पाये। किशनसिंह ने सर्वथा अज्ञात इलाके में ३२० मील लंबे मार्ग का सर्वेक्षण कर डाला था।

उनकी दूसरी यात्रा यारकंद और काशगर की थी। गुत्रोल्क से नोह के बीच के २४० मील के मार्ग का सर्वेक्षण करते समय एक भी आदमी से उनका आमना-सामना नहीं हुआ।

किशनसिंह की आखिरी यात्रा बाहरी तिब्बत और मंगोलिया की थी और इसने उन्हें विश्व-भर में प्रसिद्ध कर दिया। अप्रैल १८७८ में दार्जिलिंग से चलकर सीधे तिब्बती पठार और क्युनलुन पर्वतमाला को पार करते हुए वे गोबी मरुस्थल के किनारे तक जा पहुंचे। उन्हें बड़ी कठिनाइयां झेलनी पड़ीं। एक बार फिर उन्हें बटमारों ने लूट लिया और वे बिलकुल अकिंचन हो गये। फिर भी उन्होंने अपने हिस्से का काम अंजाम दिया।

रास्ते में एक कबीला उन्हें मिला। इन लोगों ने उनकी इस बात पर खिल्ली उड़ायी कि वे पैदल चलते हैं। उन्हें लाचार होकर घोड़े की सवारी करनी पड़ी। मगर उन्हें तो रास्ते की लंबाई भी नापनी थी। घोड़ा आगे का दायां पैर कितनी बार उठाता-रखता है, इसकी गिनती रखकर उन्होंने २३० मील का हिसाब लगा ही तो लिया!

ल्हासा में किशनसिंह ने देखा कि जंबा देवता की भीमकाय मूर्ति मंदिर के तलमंजले से आरंभ करके पहली, दूसरी और तीसरी मंजिल तक उठती चली गयी है और ऊपर उसके सिर पर रत्नजटित टोपी है। चक्करदार सीढ़ियां इस प्रकार बनायी गयी थीं कि यात्रियों को तीन बार मूर्ति की परिक्रमा करनी पड़ती थी—एक बार पैरों की, दूसरी बार छाती की और तीसरी बार सिर की।

किशनसिंह ने लौटने के लिए ज्यादा पूर्वी रास्ता चुना। तिब्बत का पठार पार करके वे पूर्व में चीन की ओर मुड़े और असम के पूर्वोत्तर कोने के पास भारत की ओर बढ़ने लगे। मगर जब वे भारत की सीमा से सिर्फ तीस मील रह गये थे, मिशिमि जातियों की शत्रुता के कारण उन्हें घोर निराशा हुई। निश्चय ही ये लोग अपने इलाके में कदम रखने वाले घुसपैठियों की तरह किशनसिंह और उनके साथियों को मार डालते। इस कारण उन्हें ल्हासा की ओर मुड़कर लंबा रास्ता तै करना पड़ा और भारत से प्रस्थान करने के चार वर्ष बाद वे वापस स्वदेश लौटे।

यहां तो उनके लौटने की आशा ही छोड़ दी गयी थी। उनका परिवार टूट चुका था। उनके एकमात्र पुत्र का देहांत हो गया था। खुद उनका स्वास्थ्य भी जवाब दे चुका था। मगर वे फिर स्वस्थ हो गये और ३६ वर्ष तक उन्होंने

सरकारी पेन्शन का उपभोग किया। समय के गुजरने और अन्य सर्वेक्षकों के काम के साथ किशनसिंह की प्रतिष्ठा बढ़ती ही गयी, घटी नहीं।

पंडित कल्याणसिंह और हरिराम ने भी हिमालय पार की खोजों में महत्त्वपूर्ण काम किया। कल्याणसिंह ने अपनी डायरी में लिखा है–"विशाल और जनभरित नगर में पहुंचे, जो चीन की विशाल दीवार के साथ बसा हुआ है और जिसके दरवाजे में से गुजरकर भारतीय व्यापारी कैथे या चीन में प्रवेश करते हैं।" यह शहर था सिलिंग, जहां उन दिनों भी जरी, रेशम व गलीचे तैयार किये जाते थे।

हरिराम ने तीन सर्वेक्षण किये। पहले सर्वेक्षण में उन्होंने बताया कि केरुन शड् के उत्तर-पश्चिम और उत्तर में ब्रह्मपुत्र या त्सांग-पो तक हिमालयी जल-विभाजक का पानी किस तरह बहता है। बाकी यात्राओं में से एक में वे कुमाऊं से ब्राटोम जाकर वापस लौटे, दूसरी यात्रा दग्मारा से दूधकोसी नदी की राह, तिब्बत में तिंगरी तक थी। वे वैद्य का रूप धारण करके निकलते थे और उनके साथ अनेक यूरोपीय और देशी दवाइयां रहती थीं। उन्होंने ४२० मील जितनी नयी राहें नापीं।

किंथुप बड़ा विलक्षण खोजी था। वास्तव में वह एक चीनी लामा का निरा अपढ़ और प्रशिक्षणहीन नौकर था। उस लामा को सर्वे आफ इंडिया ने प्रशिक्षण देकर तिब्बत भेजा था। उससे कहा गया था कि वह त्सांग-पो के साथ-साथ बहाव की दिशा में चलता आये, फिर खास किस्म के निशान किये हुए लट्ठे उसमें बहाये। असम में नियुक्त पहरेदार उन लट्ठों के आने का इंतजार करते। मगर चीनी लामा यह सब काम करने के बजाय किंथुप को बेचकर चंपत हो गया।

किंथुप किसी तरह बचकर निकल भागा। मगर जल्दी-से-जल्दी सुरक्षित भारत आ पहुंचने के बजाय, उसने यथाशक्ति वह काम करने का निश्चय किया, जो उसके मालिक को सौंपा गया था। अपढ़ होने के कारण वह न तो नोट्स ले सकता था, न नक्शे या स्केच बना सकता था। मगर वह जहां-जहां से भी गुजरा, उन स्थानों के नाम और विवरण उसने कंठस्थ कर लिये। वह त्सांग-पो के साथ-साथ चलता रहा और भारत के मैदान से साठ मील की दूरी तक पहुंच गया। यहां से उसने निशान किये हुए लट्ठे नदी में बहाये। मगर तब तक लट्ठों पर नजर रखना बंद कर दिया गया था।

आखिर वह दार्जिलिंग वापस आ पहुंचा। उसने ओलोन तक त्सांग-पो का मार्ग खोजा था–दूसरे खोजी जहां तक जा पाये थे उससे पूरे सौ मील आगे तक। अपने साथ वह १४ स्थलों का विवरण, उनके बीच की अनुमानित दूरी और मठों, फसलों, पहाड़ों, दर्रों आदि के बारे में अत्यंत मूल्यवान जानकारी भी लाया। जंगल में सोते और गांवों में भीख मांगकर पेट भरते हुए उसने यात्रा की थी।

कभी-कभी वह मजदूरी भी कर लेता था, मगर अपने ढंग से निरंतर सर्वेक्षण-कार्य भी करता रहा।

सर्वे आफ इंडिया ने तो किंथुप के विवरणों का विश्वास किया और इसे निर्विवाद रूप से सिद्ध माना कि त्सांग-पो ही ब्रह्मपुत्र है। मगर भूगोलज्ञ इस पर संदेह करते रहे। परंतु किंथुप की मृत्यु से पूर्व उसकी लायी हुई जानकारी की शुद्धता पूरी तरह प्रमाणित हो गयी। सर्वेयर जनरल ने उसे शिमला बुलाकर वहां उसकी तीस साल पहले की महान सेवाओं के लिए उसे सम्मानित और पुरस्कृत किया।

♣ ♣ ♣

यदि हमने यह धरती पहले कभी न देखी होती और एक दिन अचानक ही वयस्क स्त्री या पुरुष के रूप में हम सावन की हरियाली से भरी किसी चरागाह में उतार दिये जाते, तो क्या हमें वह दृश्य अपूर्व और आभामय न प्रतीत होता ? वे रंग, वे आकार, पंछियों का जीना और गाना, और इन सबसे बढ़कर सूरज की किरणें और उन पर से बहती हुई प्राणदायिनी हवा!– इनकी भव्यता से हमारा अंतर भर उठता, विश्वास न होता कि ये निरी पार्थिव वस्तुएं होंगी। यह सब कुछ हमें स्वप्नों की माया-सृष्टि-सी प्रतीत होती, जो मानो छूते ही बिखर जायेगी, एकटक देखने से मुरझा जायेगी। जब मैं बच्चा था, तो धरती मुझे ऐसी ही दिखाई देती थी–हर सुबह ऐसी ही सलोनी और नयी! और आज भी, जबकि इतने वर्ष बीत चुके हैं और मेरे माथे पर इतनी झुर्रियां छोड़ गये हैं, तब भी सावन की हरी-भरी चरागाह मुझे तो वैसी ही चमचमाती हुई और ताजी लगती है, जैसी उस दिन लगी थी, जब पहले पहल मेरे पावों ने हरी घास को छुआ था।

–रिचार्ड जेफरीस

जान पावर्स

आप भी सुंदर बन सकती हैं



एक बार एक सज्जन ने ऐसा किस्सा सुनाया कि उसे मैं आज तक भुला नहीं पाया हूं। उनके एक मित्र पेशे से पत्रकार थे; उन्हें एक बार किसी महिला के बारे में लेख लिखने के लिए कहा गया। इस महिला को सरकसों में "संसार की सबसे कुरूप औरत" कहकर दिखाया जाता था।

पत्रकार ने मेरे मित्र को बताया—"जब मैं उस महिला से मिलने गया, तो पहली नजर में मुझे यही लगा कि उसे संसार की सबसे कुरूप औरत की उपाधि ठीक ही मिली है। मगर उससे बातचीत शुरू करते ही मैंने अनुभव किया कि उसकी आवाज मधुर है, उसके तौर-तरीके भी बडे शिष्ट और शालीनतापूर्ण हैं। वस्तुतः उसकी जीवन-गाथा बड़ी गजब की थी। कुरूपताजन्य कुंठा और मानसिक क्लेश से ही नहीं, अन्य कष्टों से भी उसे जूझना पडा था। पर उसने इन पर विजय पायी थी और जीवन में पर्याप्त सुख, सद्भाव एवं सांसारिक सफलता भी प्राप्त की थी।

"जब घर लौटकर मैं लेख लिखने बैठा, तो हठात् मुझे महसूस हुआ कि इस लेख के लिए तो मेरे पास कुछ भी मसाला नहीं है। अब मैं उसे संसार की सबसे कुरूप औरत कैसे कहता भला! वह तो मेरे मन में एक सुंदर स्त्री का रूप धारण कर चुकी थी।"

पिछले पचीस-तीस वर्ष से स्त्री-सौंदर्य को परखना मेरे पेशे का मुख्य अंग रहा है और इस अरसे में मैं कोई दस लाख तरुणियों का इंटरव्यू ले चुका हूं। और सच कहता हूं, इन दस लाख तरुणियों में से परिपूर्ण नैसर्गिक सौंदर्य तो मैंने केवल एक में पाया। उनका नाम था श्रीमती कैसर। मैं तो मानता हूं कि उन्हें रचने के बाद शायद विधाता वह सांचा कहीं रखकर भूल गया। श्रीमती कैसर में अनुपम नाक-नक्श, भावनाशील एवं विनम्र स्वभाव एवं हार्दिकता का अपूर्व संगम हुआ था।

और इस तथ्य से कि दस लाख में से केवल एक महिला जन्मना सुंदर होती

है—आपको निराश होने के बजाय, प्रोत्साहित होना चाहिये। उसका मतलब यह है कि सौंदर्य की जिन समस्याओं से आप जूझ रही हैं, उन्हीं का सामना सौंदर्य के लिए सुप्रसिद्ध सिने-तारिकाओं, रंगमंच की अभिनेत्रियों तथा 'माडल' तरुणियों को भी करना पड़ा है। अंतर इतना ही है कि किसी की समस्या ज्यादा उग्र रही है, किसी की कम।

हालिवुड की एक प्रसिद्ध अभिनेत्री की बात बताता हूं। पहले यह 'माडल गर्ल' का काम करती थीं। इसका सीना बिलकुल दीवार की तरह सपाट है, नितंब अतिविशाल हैं और टांगें व टखने इतने बेडौल हैं कि लंबे गाउन में ढंके रहने में ही उनकी शोभा है। मगर लाखों फिल्म-दर्शकों ने उसे अपूर्व सुंदरी कहा है। और यह न भूलिये कि परदे पर तिल बराबर दोष भी दिखाई दे जाता है। तो इस अभिनेत्री की सफलता का रहस्य क्या है?

मैं तो यह मानता हूं कि इसके मूल में इतनी-सी बात है कि उसने सौंदर्य के सात नियमों का बड़े निष्ठापूर्वक पालन किया है :

१. अपने मुखड़े और केशों को खूब निखरे रूप में प्रस्तुत करना, अर्थात् समुचित 'मेक-अप',
२. नयनाभिराम अंग-भंगिमा;
३. लयपूर्ण और सुकुमार गति,
४. अच्छी अदा से उठना-बैठना,
५. अपने मुखड़े, शरीर-रचना और व्यक्तित्व के अनुरूप वस्त्राभूषण पहनना;
६. सधी और मीठी आवाज में बोलने का अभ्यास करना;
७. मन-मस्तिष्क को विकसित करके उसे आत्माभिव्यक्ति एवं आकर्षण का साधन बनाना।

और इन नियमों से इसका रहस्य भी खुल जाता है कि उन घुटे हुए पत्रकार महोदय को "ससार की सबसे कुरूप औरत" चंद मिनिट के परिचय में ही मोहक महिला क्यों प्रतीत होने लगी थी।

मेरा मन करता है कि इन सात नियमों के साथ एक आठवां नियम और जोड़ दूं। वह यह कि "स्त्री को विवाहिता होना चाहिये।" बात यह है कि सुंदरता का बहुत कुछ दारोमदार मुखभाव पर है। बेशक कुमारी लड़की का मुखभाव भी अच्छा हो सकता है; किंतु विवाह और उससे मिलने वाला सुरक्षा का आश्वासन अपने आप ही सही मुखभाव उत्पन्न कर देता है। (और भला कौन नारी होगी, जो सुरक्षा नहीं चाहेगी!) मुझे विश्वास है, किसी भी युवती के चेहरे पर उड़ती नजर डालकर मैं बता सकता हूं कि वह विवाहिता है या कुमारी।

दांपत्य-जीवन से मुखभाव में जो गहराई आती है, उसका पूरा कायल होने के

कारण मैं तो यहां तक कहता हूं कि १३-१७ की तरुणी रूपवती हो सकती है, २०-२२ की ललना लावण्यमयी हो सकती है, किंतु स्त्री सच्चे अर्थों में सौंदर्यमयी तो २८ पार कर लेने के बाद ही बन पाती है।

किंतु सौंदर्य का कोई एक तत्त्व ऐसा नहीं, जो शेष सबका स्थान ले सके। व्यायाम व श्रम से शरीर को स्वस्थ-सुडौल रखना, सही ढंग के कपड़े सलीके से पहनना, समुचित 'मेक-अप' करना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि स्वस्थ-सुंदर विचार व व्यवहार रखना।

अमरीका की हर सुंदर समझी जाने वाली लड़की देर-सवेर मेरे दफ्तर में हाजिर हो ही जाती है, माडल बनने की आशा लेकर। और अजीब बात है कि पहली नजर में सुंदर लगने वाली लड़कियां सबसे पहले हमारी जांच में अनुत्तीर्ण हो जाती हैं। घर, मोहल्ले, दफ्तर और सखी-सहेलियों के बीच सबसे रूपवती समझी जाने वाली लड़कियों का सबसे बड़ा दोष यह होता है कि उन्हें अपने सुंदर होने का भान होता है। फलत वे अपना ध्यान चेहरे पर केंद्रित कर देती हैं।

यदि मेरे पास इतना समय और धीरज हो कि मैं उन्हें समझा सकूं कि भद्दे 'मेक-अप' में ढंके नाक-नक्श के सिवा उनकी हर चीज गलत है, और उनमें भी यह संकल्प-शक्ति हो कि वे अपनी अंग-भंगिमा तथा व्यक्तित्व को बदल लें, तो वे भी सफल माडल बन सकती हैं।

इसके लिए उन्हें सही अंग-भंगिमा के ये तीन नियम सीखने पड़ेंगे—१. सिर को कंधों से, कंधों को कमर से, कमर को नितंबों से उभारकर स्थिरता से खड़ा होना और ठुड्डी ऊंची रखना, २. कोई औरत किसी वेश में फबती है, इतने मात्र से उसकी नकल करना छोड़कर अपने चेहरे, शरीर की बनावट और व्यक्तित्व के अनुरूप वेश पहनना, और ३. 'मेक-अप' के मामले में एक बात याद रखना कि सौंदर्य का सृजन करते समय कुशल चित्रकार कम-से-कम रंग से काम निकालने की चेष्टा करता है।

❖ ❖ ❖

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की मितभाषिता प्रसिद्ध थी। एक बार उनके एक शिष्य ने दूसरे शिष्य से शर्त लगायी कि वह आचार्यजी से एक बार में पांच या उससे अधिक शब्द कहलवा देगा। आचार्यजी के पास पहुंचकर कुछ बेधड़क बनने का प्रयास करते हुए वह बोला—"बाबूजी, मैंने इससे शर्त लगायी है कि मैं एक बार में कम-से-कम पांच शब्द आपसे कहलवा दूंगा।" "तुम हार गये।" शुक्लजी ने उत्तर दिया।



के. भरत अय्यर

वर्मा की रामलीला यामा प्वे

रामायण और महाभारत ने भारतीय जीवन तथा कला को तो विभिन्न प्रकार से समृद्ध किया ही है, दक्षिण-पूर्व एशिया के जिन देशों में हिन्दू संस्कृति फैली और पनपी, वहां की संस्कृति पर भी इन दोनों महाकाव्यों का जबर्दस्त असर पड़ा है। वहा के रगमंच के उद्‌भव और विकास में इनका बहुत बड़ा योगदान रहा है। राम की कथा ने वहां के निवासियों का मन मोह लिया और कालांतर में राम तथा रामायण के अन्य पात्र स्थानीय दंतकथाओं में भी जुड़ गये।

बर्मा में रामकथा नाटक का रूप धारण करने से पहले भी लोकप्रिय हो चुकी थी। भारत के प्रवासी—विशेषतः दक्षिण भारत तथा उड़ीसा से आये लोग—बर्मा के निचले क्षेत्र, सागर-तटीय प्रदेश में ईसवी सन के प्रारंभ होने से पहले ही जा बसे थे। उसके सदियों बाद उत्तर भारत से प्रवासियों के काफी बड़े समूह असम के रास्ते आकर बर्मा में बसे।

वैष्णव सम्प्रदाय में राम की बड़ी महत्ता है। अतः जहां भी हिन्दू जाकर बसे और वैष्णव सम्प्रदाय पहुंचा, वहां नगरों और गांवों के नाम वैष्णव देवी-देवताओं के नाम पर पड़े। जैसे, पेगु 'बिस्नुम्यो' (विष्णु का नगर) तथा मौल्मीन 'रामपुरा' (राम का नगर) और तौंग द्वींग्यी 'रामावती' के नाम से जाने जाते थे। बौद्ध धर्म के प्रसार के बाद भी बर्मी लोगों का राम के प्रति प्रेम कम नहीं हुआ। जातकों में भी तो राम को एक बोधिसत्व के रूप में दिखाया गया है।

११ वीं से १३ वीं शताब्दी के बीच थाटोन ब्राह्मण के पुत्र शीन अर्हां ने उत्तर बर्मा में बौद्ध धर्म को फैलाया। तब सैकड़ों शानदार बौद्ध विहार पागान में बनाये गये। इन विहारों का निर्माण हिन्दू कारीगरों ने ही किया था। उस समय पागान के हिन्दू प्रवासी बड़े समृद्ध थे। 'नाट हलाईंग क्याउंग' नामक एक विष्णु मंदिर अभी भी पागान में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में मौजूद है। उसकी भीतरी दीवारों पर विष्णु के दसों अवतारों के चित्र अंकित हैं। पागान वंश के एक राजा क्यान्जीट्टा

(१०८४-१११२) ने तो राम का वंशज होने का भी दावा किया था।

पागान-वासियों के धर्म में शैव, वैष्णव, बौद्ध धर्मों तथा प्रेतपूजा का विचित्र ढंग से समन्वय हुआ है। सुदूर दक्षिण में थाटोन में जो बौद्ध धर्म फैला था, उस पर भी ब्राह्मण धर्म का जबर्दस्त असर था। इस प्रकार बर्मा में रामकथा के प्रचार के लिए अनुकूल परिस्थिति निर्माण हो गयी थी। सो रामायण के प्रसंगों के साथ अनेक स्थानीय दंतकथाएं भी जुड़ती चली गयीं।

जैसे, लंकायुद्ध में लक्ष्मण के मूर्छित होने पर हनुमान संजीवनी बूटी की खोज में उत्तर बर्मा स्थित पोपा पहाड़ पर गये। बूटी को खोजने जितना सब्र उनमें नहीं था, सो पहाड़ की चोटी को ही उठाकर युद्धक्षेत्र की ओर लौट पड़े। इतना ही नहीं, उड़ते समय हनुमान रास्ते में सन्तुलन खो बैठे और जहां वे उस पर्वतखंड को लेकर गिरे, वहा बहुत बड़ा गड्ढा हो गया। यामेथेइन तालुके का इनगडंग सरोवर ही वह स्थान बताया जाता हैं।

बर्मा में रामकथा तो सीधे भारत से आयी: परन्तु रामायण-नाटक (यामा प्वे) स्याम से आया। १७६७ में ह्सीनब्युशीन नामक बर्मी राजा ने स्याम पर चढ़ाई की। स्याम के राजा को हराकर उसने थाइ प्रजा पर आधिपत्य जमाया और स्याम की तमाम धन-दौलत एवं विभूति को अपनी राजधानी 'अवा' उठा लाया। उसमें स्याम के राजदरबार के कितने ही कलाकार भी थे, जो रामलीला खेलते थे और स्यामी दरबार के महत्त्वपूर्ण अंग बन गये थे। इन नट-नटियों में कई तो राजघराने के सदस्य थे। उन्होंने अभिनय-पटुता, आह्लादक नृत्य, चटकीली वेश-भूषा, चित्रित चेहरे तथा सुंदर अदा के साथ रामकथा का अभिनय करके बर्मी राजा और राजदरबार को मंत्रमुग्ध कर लिया।

बर्मियों ने शनैः-शनैः स्याम के इस नाटक को बर्मी भाषा में रूपांतर करके अपना लिया। उ-खीन-उ और उ-पोन-न्या जैसे श्रेष्ठ कवि भी इस कलाविधा की ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने जातक-कथाओं में से घटनाएं लेकर नाटकों की रचना की और यामा प्वे की शैली में उन्हें खेलना शुरू कर दिया। बर्मा के सर्वाधिक ख्यातनामा कवीश्वर उतो ने रामकथा से प्रेरणा लेकर 'रामयगन' की रचना की, जो आज भी बर्मी भाषा की सबसे महान रचना मानी जाती है।

नाटक तो और भी अनेक लिखे और खेले गये परन्तु लोकप्रियता में यामा प्वे के सामने कोई टिक नहीं सका। जब अंग्रेजों ने बर्मा को जीत लिया और राजतंत्र समाप्त कर दिया, तो नाटकों का भविष्य तो अंधकारमय हो ही गया, यामा प्वे पर भी उसका दुष्प्रभाव पड़ा। परन्तु बर्मियों के नाटक-प्रेम तथा रामकथा के प्रति उनके गहरे अनुराग ने यामा प्वे को लुप्त होने से बचा लिया।

बर्मी रंगमंच ने रामकथा को उसी रूप में सुरक्षित रखा है, जिस रूप में स्याम

से प्राप्त किया था, परंतु कुछ स्थानीय चीजें भी शामिल कर ली हैं। अयोध्या से प्रस्थान करके राम-लक्ष्मण मलय के राजदरबार में पधारते हैं। भरत का उनके साथ मिलाप भी यहीं होता है। वाल्मीकि रामायण में कैकेयी के कहने पर राम को वनवास मिलता है, जबकि यहां दशरथ राम को जंगल में सरक्षण प्राप्त करने की सलाह देते हैं। और भी कई बातों में स्यामी रामायण वाल्मीकि रामायण से भिन्न है।

परंतु भारत में जनसामान्य में रामकथा का जो रूप प्रचलित है, उससे स्यामी रामायण काफी मेल खाता है। उदाहरणार्थ, सीता (यामा प्वे की थींडा) के स्वयंवर में रावण का उम्मीदवार के रूप में आना और शिवधनुष उठाने में विफल होना, पंचवटी में राम की खोज में निकलते समय लक्ष्मण का कुटिया में रेखा खींचना आदि।

कहते हैं, पहले यामा प्वे २१ से भी अधिक रात चलता था। आज भी १० से १२ रात तक चलता है। रात के १० बजे वाद्यवृंद के वादन के साथ खेल प्रारंभ होकर रात-भर चलता रहता है। नाटक खुले मंच पर खेला जाता है। पहले स्टेज पर रोशनी नहीं की जाती थी और रंगशाला का एक भाग मंच के रूप में काम में लाया जाता था; पर अब ऊंचे स्टेज पर नाटक खेला जाता है। बाजा बजाने वाले स्टेज के नीचे दर्शकों के आगे बैठते हैं। बाजों में तंतुवाद्यों, झालर तथा झांझ का प्रयोग विशेषतः होता है। वाद्यवृंद का मुखिया ही नाटक का निर्देशक भी होता है।

अधिकांश दर्शक मुफ्तिया ही होते हैं। हां, प्रेक्षक-गृह के कुछ हिस्से में चटाई बिछी रहती है और वहां बैठने वाले दर्शक कुछ शुल्क देते हैं, और ये लोग चाहें, तो लंबी तानकर वहीं सो भी सकते हैं। नाटक सारी रात चलता है; इसलिए बीच-बीच में दर्शकों का नींद लेना स्वाभाविक भी है। हाल के बाहर खाद्य सामग्री, सजावटी वस्तुओं और खेल के सामान की दुकानें इस प्रकार सज जाती हैं कि जैसे मेला लगा हो।

नाट्यशाला के द्वार पर एक दुमंजिला मंडप बनाया जाता है। एक मंजिल में राम, लक्ष्मण, दशरथ, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र आदि उदात्त पात्रों के मुखौटे रहते हैं। दूसरी में रावण, खरदूषण, इंद्रजित, शूर्पणखा आदि दानवों के मुखौटे रहते हैं। दोनों मंजिलों के बीच अंतर रखा जाता है। और नैष्ठिक ब्रह्मचारी परशुराम की पवित्रता की तो इतनी सावधानी से रक्षा की जाती है कि किसी भी स्त्रीपात्र का मुखौटा उनके मुखौटे के सामने नहीं लाया जाता। माना जाता है कि यदि गलती से भी ऐसा हो जाये, तो नाटक-मंडली पर परशुराम का कोप उतरता है। उनके मुखौटे का दर्शन बहुत भक्तिपूर्वक किया जाता है, क्योंकि उन्हें अलौकिक शक्ति का प्रतीक माना जाता है।

दशरथ की महारानियों और सीता के अतिरिक्त नाटक के अन्य सभी पात्र मुखौटे पहनते हैं। उदात्त पात्रों के चेहरे सादे रंग से रंगे होते हैं। परंतु राम का चेहरा गहरा नीला, लक्ष्मण का सुनहरा, वशिष्ठ का हल्का गुलाबी और विश्वामित्र का जरा गाढ़े गुलाबी रंग का होता है। रावण, खरदूषण, इंद्रजित और शूर्पणखा

जैसे आसुरी पात्रों के मुखौटे भयानक होते हैं। इनके रंग ही हिंसा तथा तामसी वृत्ति के परिचायक होते हैं। ये मुखौटे नाटक के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

पात्रों के वस्त्र झिलमिलाहट वाले और सल्मे-सितारे जड़े हुए होते हैं। उनमें सुनहरी जरी लगी होती है। कमर, छाती तथा कंधों के भाग दीपशिखा तथा गरुड़ के पंखों से सजे रहते हैं। हर एक चेहरे पर सुनहरे रंग का मुकुट होता है। इस प्रकार जब नाटक के सभी पात्र सजधजकर खड़े होते हैं, तो बड़े दर्शनीय लगते हैं। सीता तथा राजमाताएं रेशमी लुंगी जैसा वस्त्र धारण करती हैं, जिसका एक छोर पीछे की ओर जमीन पर घिसटता रहता है। लुंगी के ऊपर वे पक्षियों के पंखों से सजी सफेद जाकिट पहनती हैं और सिर पर सुंदर मुकुट सुशोभित रहता है।

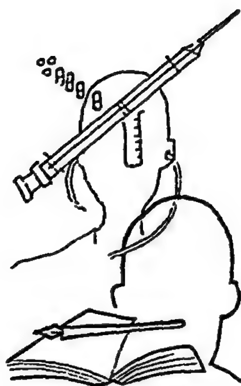
प्रत्येक पात्र अच्छा नर्तक व गायक होता है और रंगमंच पर नृत्य करता हुआ ही प्रवेश करता है। नयनाभिराम अभिनय के साथ नृत्य के पूरा होते ही, वह मुखौटा ऊपर सरकाकर अपना चेहरा भी दिखाता है। प्रत्येक पात्र पद्यबद्ध संवाद मधुर आवाज में, बड़े ओज के साथ बोलता है। परंतु कई बार कोई-कोई पात्र नाटक के संवाद को छोड़कर अपने स्वभावानुसार बोलने लग जाता है। इस कारण कई बार संवादों की भाषा काफी हास्यास्पद हो जाती है।

सारे नाटक में रंगमंच पर दो विदूषक रहते हैं और बीच-बीच में अपने विनोद से वातावरण को चटपटा बनाये रखते हैं। किसी भी प्रसंग पर किसी भी पात्र का मजाक उड़ाने की उन्हें छूट रहती है। अपने संवाद वे स्वयं रच लिया करते हैं। विदूषकों के कारण कभी-कभी नाटक का प्रवाह कुछ मंद-सा पड़ जाता है; परंतु शानदार नृत्य के प्रारंभ होते ही दर्शक को कथासूत्र को पकड़ने में कोई कठिनाई नहीं होती। अभिनय में भारतीय प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

हर नाटक की रचना लोकाभिरुचि को ध्यान में रखकर की जाती है। रामायण की कथा विदेशी वातावरण के अनुरूप बन गयी है। कहीं कथा में तो कहीं पात्रों में परिवर्तन करना पड़ा है, परंतु स्याम तथा बर्मा के लोगों ने राम की कथा में अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुसार कई बड़े ही सुंदर मोड़ दिये हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन दोनों देशों ने इसे अपने राष्ट्रीय नाटक के रूप में अपनाया है और वे इसे अपनी अमूल्य सांस्कृतिक निधि मानते हैं। ❀ ❀ ❀

एक डच प्रोफेसर ने जावा के किसी गांव में एक मुसलमान को मलय भाषा का रामायण पढ़ते देखकर पूछा—आप रामायण क्यों पढ़ते हैं? उत्तर मिला—मैं रामायण इसलिए पढ़ता हूं कि और अच्छा मनुष्य बन जाऊं।

—डा० कामिल बुल्के



विष्णुवर्धन

डाक्टर से साहित्यकार

साहित्य और डाक्टरी का संबंध उतना घनिष्ठ नहीं है, जितना कि रोचक। कुछ को साहित्य डाक्टर बना देता है और कुछ डाक्टर साहित्य बनाते हैं। साहित्य के बनाये डाक्टर (पी-एच. डी. या डी. लिट्.) विश्वविद्यालयों में अध्यापन करते दिखाई देते हैं। ऐसे साहित्य के बनाये डाक्टरों की तादाद संसार में काफी बड़ी है। परंतु साहित्य बनाने वाले डाक्टर कुछ विरलता से मिलते हैं। फिर भी, उनमें से कई ने विश्व-साहित्य के इतिहास में अमर पद प्राप्त कर लिया है।

फ्रांस्वा रेबेलाइस पश्चिम में उपन्यास-लेखन की कला के जनकों में गिने जाते हैं। समीक्षकों ने बाल्जाक, ह्यूगो, डिकन्स, दास्तोव्स्की और तालस्ताय आदि महान उपन्यास-लेखकों की श्रेणी में उन्हें रखा है। सन १४९४ में फ्रांस में उनका जन्म हुआ। वे आरंभ में पादरी थे। फिर उन्होंने चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया, या यों कहिये कि चिकित्साशास्त्र को आत्मसात् कर लिया। तत्कालीन चिकित्साशास्त्र की शायद ही कोई बात उनसे छिपी थी। परंतु चिकित्सक के रूप में मिली सफलता के बजाय, साहित्य के क्षेत्र में प्राप्त सफलता ने ही उन्हें अमर बनाया।

'गार्गांटुआ एट पेंटाग्रुएल' रेबेलाइस का सफल राजनीतिक व्यंग्य-ग्रंथ है। राजनीति में रेबेलाइस की गहरी दिलचस्पी थी। इस चीज ने उन्हें जेल की हवा भी खिलायी। फ्रेंच भाषा को रेबेलाइस ने लगभग ६०० मुहावरे और कहावतें दी हैं। इनमें से कई तो अनुवाद होकर दूसरी यूरोपीय भाषाओं में भी पहुंच चुकी हैं। जैसे, 'पीटर को लूटकर पाल का कर्ज चुकाना।' चिकित्साशास्त्र पर भी रेबेलाइस का ऋण है। शरीर-रचनाशास्त्र (एनाटमी) पढ़ाने में शवों की चीर-फाड़ करने की परिपाटी पहले-पहल उन्होंने ही चलायी।

भारतीय पाठकों के लिए रेबेलाइस से अधिक परिचित डाक्टर-लेखक हैं गोल्ड-स्मिथ। उन्होंने अत्यंत दीन-हीन दशा से उठकर प्रतिष्ठा प्राप्त की, फिर भी अपने अव्यवस्थित जीवन-क्रम के कारण वे कभी सुख-चैन नहीं पा सके। 'विकार आफ

वेकफील्ड' उनका अमर उपन्यास है। आज का पाठक भी उसमें वही ताजगी पाता है, जो १८ वीं सदी के पाठकों ने पायी थी। 'डेजर्टेड विलेज' एव 'ट्रैवलर' उनकी अमर कविताएं है। 'शी स्टूप्स टु काकर' गोल्डस्मिथ का सफलतम नाटक है, जो आज भी रगमंच पर प्रस्तुत किया जाता है। डा० जान्सन का गोल्डस्मिथ पर बडा स्नेह था। कहते हैं, उन्होंने ही 'विकार आफ वेकफील्ड' को ६० पौंड में खरीदने के लिए एक प्रकाशक को राजी किया था।

चिकित्सा में गोल्डस्मिथ को विशेष सफलता नहीं मिली। वे अपने को उस जमाने के चिकित्साशास्त्र के महान केंद्र पैडुआ-विश्वविद्यालय (इटली) का स्नातक बताया करते थे, परतु मैकाले ने सदेह प्रकट किया है कि उन्होंने शायद ही किसी को सही दवा दी होगी!

किंतु अमरीकी लेखक-चिकित्सक आलिवर विंडल होम्स के चिकित्साशास्त्र के ज्ञान से मैकाले भी इन्कार नहीं कर सकते थे। होम्स शरीर-रचना और शरीर-क्रिया शास्त्रों के प्राध्यापक थे और उन्होंने प्रसूति-ज्वर के विषय में जो नयी खोजें कीं, उन्होंने लाखों गर्भवती स्त्रियों को अकाल-मृत्यु से बचाया। होम्स अपने समय में अमरीका के सबसे लोकप्रिय निबधकारों और कवियों में गिने जाते थे। उन्होंने तीन उपन्यास भी लिखे।

उन्नीसवीं सदी में चिकित्साशास्त्र मे ख्याति प्राप्त करके साहित्य के क्षेत्र में कदम रखने वाले एक और अमरीकी थे मिशेल, जो स्नायु-सस्थान के विषय में बडे-बडे पोथे लिखने के बाद, मानो थकावट मिटाने के लिए पचास वर्ष की उम्र में उपन्यास-लेखन की ओर प्रवृत्त हुए। मिशेल का पहला ही उपन्यास इतना लोकप्रिय हुआ कि अस्सी वर्ष की उम्र तक वे उपन्यास लिखते चले गये। बच्चों के लिए भी उन्होंने अनेक सुंदर कहानियां लिखीं।

होम्स और मिशेल की तुलना में रूस के चिकित्सक-लेखक एंटन चेखव बहुत ही महान साहित्यकार थे। उनकी गणना ससार के सबसे महान नाटककारों और कहानी-लेखकों मे होती है। डाक्टरी पढ़ते समय ही उन्होंने कहानियां और प्रहसन लिखने आरभ कर दिये थे। उनका कहना था कि चिकित्साशास्त्र के अनुभवों ने उन्हें लेखन में बड़ी सहायता दी। चेखव की रचनाओं में दो गुण स्पष्टतया झलकते हैं–सहानुभूति और यथार्थवाद। ये दोनों ही गुण ऐसे हैं, जो प्रत्येक सफल चिकित्सक के लिए आवश्यक हैं। चेखव कहा करते थे–"चिकित्साशास्त्र ने सदा मेरा मार्ग-दर्शन किया है। शायद उससे घनिष्ठ परिचय होने के कारण ही मैं लेखकों द्वारा की जाने वाली कई भूलों से बच सका।"

उन्नीसवीं सदी में जनमे एक और चिकित्सक की भी यूरोप के कथा-साहित्य को काफी बडी देन है। वे हैं सर आर्थर कानन डायल (मृत्यु : सन १९३०), जिन्होंने

ससार के सबसे अधिक कुशाग्रमति जासूस शर्लाक होम्स की सृष्टि की। शर्लाक होम्स पाठकों के मन में ऐसा बस गया कि जब लगभग साठ उपन्यासों में खूनियों, चोरों और धूर्तों को गच्चा खिलाकर अंत मे उसने अपने स्वामी सर आर्थर कानन डायल से अनुमति लेकर परलोक को प्रस्थान किया, तब पाठकों ने बडा वावैला मचाया और बेचारे को 'रिटर्न आफ शर्लाक होम्स' में फिर से धरती पर प्रकट होना पड़ा। कहते हैं कि डा० आर्थर कानन डायल को साहित्य में जो सफलता मिली, उसका दसवां अंश भी अपने पेशे यानी नेत्र-चिकित्सा मे नहीं मिली।

सामरसेट माम को तो डाक्टर के रूप में रत्ती-भर भी यश नहीं मिला। ब्रिटेन के इस महान उपन्यासकार ने डाक्टरी पेशे को बहुत जल्दी प्रणाम कर दिया। मगर चिकित्सक के रूप में प्राप्त अनुभव उनके लिए साहित्य में बड़े काम के सिद्ध हुए। माम का प्रथम उपन्यास 'लिजा आफ लैम्बेथ' का आधार अस्पताल में देखी-सुनी बातें ही थीं। माम को डाक्टरी पेशे के प्रति आदर बना रहा। वे कहते थे—"लेखक को डाक्टरी मे बढ़कर प्रशिक्षण किमी पेशे से नहीं मिल सकता।" उपन्यास-लेखन को अपना पेशा बनाने वाले एक और अंग्रेज डाक्टर हैं ए. जे. क्रोनिन।

कुछ चिकित्सकों ने डाक्टरों, नर्सों, आपरेशनों, रोगियों और उनके रोगों की ही कहानिया लिखकर यश प्रात किया है। कुछ अन्य चिकित्सकों ने कथा, उपन्यास, नाटक आदि से कहीं अधिक गंभीर साहित्य रचा है। महान दार्शनिक-सत-चिकित्सक-सगीतज्ञ डा० अल्बर्ट श्वाइत्जर ने प्रसिद्ध मगीत-स्रष्टा बाक की जीवनी लिखी। दर्शन तथा धर्मशास्त्र पर भी उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं।

पद्य-साहित्य को भी चिकित्सकों की देन कम नहीं है। इसके प्रमुख उदाहरण हैं, जान कीट्स। वे सर्जन थे। परतु कविता-कामिनी ने उन पर ऐसी मोहिनी डाली कि उन्होंने चिकित्सा-वृत्ति को तिलाजलि ही दे दी। यह अग्रेजी भाषा का पुण्य था कि कीट्स ने यह मार्ग अपनाया क्योंकि कुछ ही समय बाद उन्हें क्षयरोग ने आ घेरा और छब्बीस वर्ष की कच्ची उम्र में वे काल-कवलित हो गये।

सुप्रसिद्ध जर्मन कवि शिलर भी अपना सारा समय कविता-सुंदरी को रिझाने मे लगा देना चाहते थे। परतु कीट्स की तरह वे अपने मन के मालिक नहीं थे। वे जर्मन सेना में डाक्टर थे और रोगी सिपाहियों को अक्सर शिकायत रहती थी कि डाक्टर साहब तो हमारी देखभाल करने के बजाय बैठे-बैठे कविताएं लिखा करते हैं। अंत में, तंग आकर शिलर ने सेना को नमस्कार कर दिया।

सस्कृत के महाकवियों में 'बुद्धचरित' के लेखक अश्वघोष के विषय में मान्यता है कि दर्शनशास्त्र की तरह आयुर्वेद पर भी उनका अबाध अधिकार था। आयुर्वेद की अधिकाश पुस्तकें पद्यबद्ध हैं। शायद इसीलिए वैद्यों को 'कविराज' कहने की परिपाटी है।

❀ ❀ ❀



पुरुषोत्तमदास टंडन

मैं दंड का भागी हूं

जेठ का महीना था, किंतु पूर्वी हवा के कारण गर्मी विशेष नहीं थी। मेरा छोटा-सा बिछौना भूमि पर बिछा था। एक चींटा नगी भूमि की ओर से दौडता हुआ मेरे बिछौने पर आया। उसमें सुकुमारता थी और चपलता थी।

जहा मैं बैठा था, चींटा उसी ओर दौडा आ रहा था। मैंने बिछौने पर हाथ से थप-थप किया कि वह चींटा मेरी ओर से भाग जाये और बिछौने से हटकर नगी भूमि पर चला जाये। थप-थप का शब्द तो उसने सुना, किंतु उसका मतलब नहीं समझ सका। शिष्टाचार भी वह नहीं जानता था। मेरी शक्ति का उसे ज्ञान नहीं था। मेरी ओर दौडने की गति उसने तीव्र कर दी। उसके अशिष्ट वेग पर मुझे थोडी-सी झुंझलाहट आ गयी। हाथ के झटके से मैंने उसे बिछौने पर से हटा दिया। झटका तेज लग गया। वह बिछौने से लगभग एक हाथ दूर नगी भूमि पर एक नन्हे-से गड्ढे में गिर पडा और अपने कापते हुए हाथ-पैरों से अपने शरीर को समालने की चेष्टा करने लगा।

मेरे हृदय में सहसा एक टीस उठी। मैंने अनुभव किया कि उसे कष्ट हो रहा है। एक ही पल पहले वह मेरे बिछौने पर कल्लोल कर रहा था, अब मेरे हाथ के झटके ने उसे बेकाम कर दिया है! हृदय ने प्रार्थना की कि यह अच्छा हो जाये!

उसे उठाकर मैंने एक दूसरे चिकने कागज पर रख दिया। वह अपने नन्हे शरीर को, जो पतली कमर से जुड गया था, धीरे-धीरे सीधा कर रहा था। मैं चरखे पर अटेरन लगाकर सूत निकालने लगा, किंतु आंख बार-बार चींटे पर जाती। लगभग पौन घटे बाद देखा, तो मुझे सदेह हुआ कि शायद कागज का चिकनापन उसके लिए कष्टदायक है। इसलिए उसे कागज से उठाकर समतल भूमि पर बैठा दिया और फिर उसे देखता रहा।

मेरे हृदय में विचार उठा कि वह अपनी चोट को ठीक करने के प्रयत्न में काफी थक-सा गया है और उसे अब भोजन की आवश्यकता है। मैं उठा। पास ही

कुछ मुनक्के रखे थे। एक मुनक्के के दो टुकडे किये, जिससे रस कुछ ऊपर आ जाये। दोनों टुकड़े चींटे के मुंह से मिलाकर रख दिये। उसने मुंह लगाया, ऐसा मुझे जान पड़ा। मेरे हृदय में आशा बंधी कि आहर से कुछ शक्ति पाकर वह फिर चलने लगेगा।

हृदय मेरी क्रूरता को धिक्कार रहा था। एक घंटे से अधिक और बीत गया। चींटा मुनक्के के पास पडा रहा, किंतु धीरे-धीरे उसकी शक्ति घटती गयी। उसके हाथ-पांव चलाने में शिथिलता आती गयी। फिर वह निश्चेष्ट हो गया।

मैं अपराधी हूं, इसका भान मुझे पूर्ण रूप से उस चींटे की हालत देखकर हो रहा था। किससे कहूं कि मुझे दंड दे! और मेरी आंखों से स्वतः ही जल की धारा बह निकली।

❀ ❀ ❀

अपने मन को शांत रखो—विश्व के सौंदर्य को, विश्व के खजाने में भरी हुई अपार और असीम संपदा को पहचानो।

जो कुछ तुम्हारे भीतर है, जो कुछ तुम्हारे हृदय का अभिलषित है, और जिसके लिए तुम्हारी प्रकृति ने तुम्हें सन्नद्ध किया है, वह सब-कुछ और उसका उलटा भी तुम्हारे लिए सुरक्षित है, उस महान सत्ता में—और निश्चय ही वह सब तुम्हें मिलेगा। किंतु मिलेगा अपने निर्धारित समय पर ही—उससे एक भी क्षण पहले या बाद में नहीं। तुम्हारा सारा चीखना-चिल्लाना, उद्विग्न होना और हाथ फैलाना व्यर्थ है। इसलिए यह खेल शुरू ही मत करो।

अपने मन के जल को अविचारपूर्वक इधर-उधर मत छलकाओ, ताकि तुम्हारी दशा मरुभूमि में जाकर विलुप्त हो जाने वाले झरने की-सी न हो जाये।

बल्कि सारे जल को छोटे-से दायरे में समेट लो और उसे सर्वथा स्थिर बना लो, सर्वथा शांत। और उसे स्वच्छ हो जाने दो—एकदम विमल, एकदम दर्पण-सा स्वच्छ!

अंत में, पर्वत और आकाश अपने निभृत सौंदर्य के साथ उसमें प्रतिबिंबित होने लगेंगे।

और हिरन उसमें पानी पीने को झुकेगा और अपनी परछाईं देखेगा और देखता ही रह जायेगा, और सिंह अपनी प्यास बुझाने वहां आयेगा।

और साक्षात् प्रेम वहां पधारेगा, झुकेगा और तुम्हारे भीतर अपना प्रतिबिंब पा लेगा।

—एडवर्ड कार्पेंटर



रमेशदत्त शर्मा

केला : अकेला

द्वापर युग। महाभारत के सूत्रधार कृष्ण पांडवों का संदेश लेकर हस्तिनापुर पधारे थे। राजनयिक वार्ता के बाद राजभोज के आमंत्रण को ठुकराकर सीधे विदुरजी के घर पहुंचे। नहाती हुई विदुरानी ने सुनी अपने ही द्वार पर चितचोर की पुकार, तो सुधबुध भूल गयीं। गुसलखाने से वैसी ही निकलकर भागी-भागी अगवानी के लिए जा पहुंचीं, तो बेचारे श्याम को उनका तन ढंकने के लिए अपना पीतांबर फेंकना पड़ा। प्यार से पीढ़ा बिछा बैठाया और केलों की टोकरी उठा लायीं। अब देखिये कि गूदा तो फेंकती जा रही हैं और छिलके खिलाती जा रही हैं। और वह माखनचोर है कि छिलकों को ही बड़े स्वाद से खाये जा रहा है।

कलियुग में तो केले के छिलके में फफूंद और जीवाणुओं के नाशक रसायन खोज लिये गये हैं, पेक्टिन भी निकाला जाता है। लेकिन काम केले के छिलके से यही लिया गया है कि भीड़-भरी सड़क पर फेंककर चारों खाने चित होते हुए लोग-लुगाइयों पर ठहाका मारकर हंसें। खिलाया तो सिर्फ जानवरों को ही गया है। कहना न होगा कि प्रेम-पगी विदुरानी का प्रयोग अपने आपमें अद्वितीय था, जिन्होंने फिसलने के लिए नहीं, बल्कि अतिथि-सत्कार के लिए केले के छिलकों का उपयोग किया।

वैसे छिलका ही नहीं, केले के पौधे का हर भाग भोज्य है। जो इसके फूलों का साग या केरल में बनाया जाने वाला 'कुट्टु' खा ले, वह अपना भाग्य सराहे बिना न रहेगा। और इस 'रंभा' का स्तंभ रमाओं की जंघाओं का उपमान तो बनता ही रहा है, पर साथ ही उनके कपड़ों को पक्का काला रंग देने में भी इसका रस बेजोड़ है। तने की बाहरी परतों को हाथी बड़े स्वाद से खाता है, और भीतरी गूदे को आदमी। कृष्ण-जन्माष्टमी के दिन मथुरा में कृष्ण-बलराम की जो सवारी निकाली जाती है, उसका आखिरी रथ केले के ही तने की फूल-पत्तियां काटकर पूरा-का-पूरा सजाया जाता है। और विवाह-मंडप तो सारे ही देश में कदली-स्तंभों से सजाया जाता है।

वैसे भारत में केले का सबसे बड़ा कद्रदान है दक्षिण भारत, जहां केले की सौ से ज्यादा किस्में होती हैं, और सैकड़ों तरह से उसके व्यंजन बनाये जाते हैं। केरल में खास तौर से अधपके 'कण्णन' केलों के वरक (चिप्स) काटकर सुखा लिये जाते हैं, फिर पीसकर छान लिया जाता है। केले का यह आटा दूध में मिलाकर शिशुओं को पिलाइये, आधुनिक विज्ञान के पास भी इससे बढ़िया 'बेबी फूड' नहीं है।

दक्षिण के केलों में मशहूर हैं–खास खुशबू और औषधीय गुणों वाला 'पेयन', केरल का 'नेंद्रन', हरे छिलके वाला 'पचैनाडान', नंजनगूडु का 'रसबाले', आंध्र का 'चक्र-केली', और पलनी का 'शेव्वाजै'। कोयम्बतूर में १०० के करीब किस्में उगायी जाती हैं, जिनमें से 'पूवण' किस्म के एक गुच्छे में १८० फल होते हैं।

बंबई के हरी छाल के केले के एक गुच्छे में १६० तक फल होते हैं और वजन ६० पौंड तक होता है। सारी दुनिया में हर साल कोई ८०-९० लाख टन केला होता है, जिसमें से ३०-३५ लाख टन अंतर्राष्ट्रीय मंडी में पहुंचता है। भारत में हर साल १८-२० लाख टन केला उपजता है, जिसका कुछ हिस्सा अब रूस वगैरह द्वारा खरीदा जाता है और विदेशी मुद्रा कमा रहा है।

केले की बिक्री बढ़ जाने का कारण है, इसका विटामिनों से भरपूर होना। बाईस प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट के अलावा केले में ए, बी और सी विटामिन, प्रोटीन और शर्कराएं होती हैं। कच्चे केले में एकत्र स्टार्च ही पकने पर ग्लूकोज और फ्रक्टोज में बदल जाता है। कच्चे केले के छिलके का रंग क्लोरोफिल के कारण हरा होता है, जो कि पके केले में कुछ एंजाइमों की क्रिया से 'जैंथोफिल' नामक पीले रसायन में बदल जाता है। केले की सुगंध उसमें उपस्थित 'एथिल एसीटेट' से निकलती है।

यों डाल का पका केला कभी बाजार में नहीं मिलता। कच्चे केलों के गुच्छे-के-गुच्छे एक कमरे में भरकर केले के पत्तों से ढंक दिये जाते हैं। एक कोने में गाय के गोबर के कंडे जलते रहते हैं और धुआं लगता रहता है। ३६ से ४० घंटे के भीतर हल्के पीले रंग का केला तैयार हो जाता है। उधर अमरीका और यूरोप में कुछ विशेष कक्षों में खास तापमान पर एथिलीन गैस से केले पकाये जाते हैं।

सुविख्यात वनस्पतिवेत्ता प्रोफेसर पंचानन महेश्वरी के अनुसार, अन्य बहुत-से फलों और फसलों की तरह केला भी दुनिया को भारत की ही देन है। वे कहते हैं–"अनुमान लगाया जाता है कि ईसा की सातवीं सदी में अरब सौदागरों द्वारा केला फिलस्तीन पहुंचाया गया, जहां से वह मिस्र पहुंचा। फिर अफ्रीका के पूर्वी तट से फैलते-फैलते केला उस महाद्वीप के पश्चिमी तट तक जा पहुंचा और पंद्रहवीं सदी में वहां पहुंचे यूरोपीय यात्रियों ने इसे वहां खूब फूलते-फलते देखा।

"प्रशांत महासागर के द्वीपों में तो शायद केला पश्चिमी जातियों के वहां आने से काफी पहले पहुंच गया था। १७७८ में जब कैप्टन कुक ने हवाई द्वीपों की खोज

की, तो वहा पर पहले से ही केलों की बहुत-सी किस्में पनप रही थीं। अमरीका के उष्ण कटिबंधीय प्रदेश को केला चखने का सौभाग्य १५१६ में मिला, लेकिन इसके बाद तो केला यहां इतने जोर से फैला कि आज यही क्षेत्र ससार का सबसे महत्त्वपूर्ण केला-उत्पादक है।"

जमाइका से मंगाये गये केलों से जमाई का स्वागत करने वाले लंदन के पुराने लार्डों को नहीं पता होगा कि १८३६ से पहले जमाइका में केला नहीं होता था। उस साल जमाइका में जाकर बसे जा फ़ास्वा पायत नामक एक फ़ासीसी रसायन-विज्ञानी ने मार्टिनीक द्वीप की यात्रा की। लौटते समय वह वहा उगे केलों के कंदों के कुछ टुकड़े ले आया। ये जमाइका की मिट्टी में ऐसे जमे कि कुछ ही वर्ष बाद जमाइका सालाना बीस करोड गुच्छे केले निर्यात करने लगा और यही वहा का प्रमुख उद्योग हो गया।

फिर तो जंगल-के-जंगल साफ़ हो गये और उनकी जगह कदली-वन लहलहाने लगे। यहा तक कि जमाइका के जिस भूभाग मे गन्ने की खेती होती थी, उसमें भी केले रोप दिये गये। दक्षिण अमरीका में दलदलों और घने जंगलों का सफाया करके मीलों के दायरे में कदली-वन खडे कर दिये गये। कुछ दिनों में एक-एक लाख गुच्छों को वातानुकूलित कक्षों मे लादकर यहां से जहाजों के बेडे यूरोप के लगभग सभी देशों मे केला पहुचाने लगे।

केले के इस व्यापार पर सयुक्त राज्य अमरीका के धनी व्यापारी हावी हैं। वे स्थानीय राजनीति मे भी बहुत दखलंदाजी किया करते हैं। इसीलिए दक्षिण अमरीका के उत्तरी छोर के इन छोटे-छोटे राज्यों को व्यग्य मे 'बनाना किंग्डम्स' कहा जाता है।

नयी जमीनों में केले के बाग लगाना बडी मेहनत का काम है। यों केले की कुछ किस्मों के बीज भी होते हैं; लेकिन उगाने के लिए इसका जमींदोज तना ही इस्ते-माल किया जाता है, जिसे वैज्ञानिक भाषा मे प्रकंद (राइजोम) कहते हैं। केले का असली तना तो इतना ही है, और जिस चिकने सफेद हिस्से पर पत्ते खडे रहते हैं, वह झूठा तना है। वास्तव मे यह पत्तियों के लंबे डंठल का ही भाग है, जो मोटा हो गया है और जिसकी कई परतें एक दूसरे से लिपटकर तने का भ्रम पैदा करती हैं। शायद इन्हीं परतों को लक्ष्य करके कविवर भारतभूषण अग्रवाल ने ये पंक्तियां लिखी होंगी—"केले के पत्तों-से, मन पर आशा-अभिलाषाओं के ये पर्त।"

काल की परतों में छिपा केले का हाल जानने के लिए १९५८ मे मध्य प्रदेश के छिंदवाडा जिले के मोहगाव कला मे छेनी और हथौडों से सुसज्जित एक वैज्ञानिक-टोली पहुंची। सन १९४० में पुरा-वनस्पतिज्ञ डा० बीरबल साहनी ने इस क्षेत्र की पहाड़ियों में छिपी वनस्पतियों के जीवाश्मों (फ़ासिल) की सपदा खोज निकाली थी

और तब से उनके 'प्रो० साहनी पैलिओ-बोटैनिकल इंस्टिट्यूट', लखनऊ से कितनी ही टोलियां यहां के चप्पे-चप्पे की खोजबीन करती रही हैं।

डा० जैन को अपनी खोज-यात्रा के दौरान १९५८ में पहाड़ी की एक छोटी-सी चोटी और उसके ढलान पर की चट्टान से केले के जीवाश्म (फासिल) प्राप्त हुए। लखनऊ लौटकर उन्होंने साहनी इंस्टिट्यूट की प्रयोगशाला में, जो कि फासिल वनस्पतियों के अध्ययन के लिए विश्व की विशिष्टतम प्रयोगशाला है, केले की उन एक दर्जन अश्मीभूत फलियों का अध्ययन शुरु किया।

इन अश्मीभूत फलियों के सेक्शन काटकर कुल दो पूरी फलिया जोड़ी जा सकीं। इन फासिल केलों में बीज भी थे। ७०-८० बीजों में से कुल २५ बीज ही बिलकुल साबित निकल सके। भीतरी बनावट की जानकारी के लिए इन बीजों के भी सेक्शन काटे गये।

चार साल की खोज के बाद जब भारतीय पुरा-वनस्पतिज्ञ परिषद के मुखपत्र 'पैलिओ-बाटनिस्ट' के मार्च १९६४ के अंक मे डा० जैन के शोध-प्रबंध की पहली किस्त प्रकाशित हुई, तो भारतीय वनस्पति-विज्ञानियों के मुख प्रसन्नता से उद्दीप्त हो उठे। अभी तक वनस्पति-भूगोल, वर्गिकी और कोशिका-आनुवंशिकी के आधार पर ही भारत-मलय प्रदेश को केले की जन्मभूमि माना जाता था, अब जीवाश्मों से भी यह धारणा पुष्ट हो गयी।

इसके पहले कुक और बेरी नामक वनस्पतिज्ञों ने क्रमशः १९०३ और १९२५ में केले के कुछ तथाकथित जीवाश्म खोजकर यह प्रमाणित करना चाहा था कि केले की जन्मभूमि अमरीका ही है। १९५३ में कोलंबिया (दक्षिण अमरीका) से भी कुछ वैज्ञानिकों ने केले के जीवाश्म खोज निकालने का दावा किया। लेकिन केले की पत्तियों और बीजों के इन तथाकथित जीवाश्मों को भारत के समूचे केले की फासिल-फलियों ने परास्त कर दिया है।

यों भी पूर्वग्रह से मुक्त सभी वनस्पतिज्ञ यह मानते हैं कि फ्रायर तामसादे बरलंगा नामक पुर्तगाली ने पश्चिम अफ्रीका से कैनरी द्वीपों में केला पहुंचाया, जहां से १५१६ में केला हिस्पान्योला पहुंचा।

जातक-कथाओं में हाथीदांत के बराबर बडे और मोटे केलों का वर्णन मिलता है; लेकिन डा० जैन द्वारा खोजे गये फासिल केले की फली कुल १०-१२ सेंटिमीटर लंबी है। सिरा नुकीला है और पूरी फली एक तरह से तिकोनी है। बीज पान के आकार के हैं और बजरी-जैसे सख्त। उनमें से ज्यादातर का रंग सफेद है। आज भी केले की चालीस के करीब किस्में ऐसी हैं, जिनकी फलियां में बीज होते हैं।

प्रागैतिहासिक काल का मानव इन बीज वाले केलों के फल नहीं, बल्कि उनके गूदेदार कंद खाया करता था। फिर ऐसा हुआ कि कुछ किस्मों में पराग और

ब्रीकेस्टर के बिना ही फल बनने लगे। इन फलों में बीज नहीं होते थे। प्रकृति ने इन्हें पसंद कर लिया। इस प्राकृतिक वरण ने ही आज के सुमधुर केलों को जन्म दिया।

केले का स्वाद ही नहीं, गंध भी कम मोहक नहीं होती। इस तथ्य का लाभ अंतरिक्ष-यात्रा के प्रयोगों में उठाया गया। मनुष्य से पहले उसके तथाकथित पूर्वज चिंपैंजी महोदय को ही अंतरिक्ष-यात्रा का सौभाग्य मिला था। उड़ाना तो आसान था। राकेट को वापस उतारने के लिए एक गियर बदलना पड़ता है, वरना वह आगे-ही-आगे उड़ता चला जाये। अब समस्या थी कि चिंपैंजी महाशय को याद कैसे दिलायी जाये कि अब गियर बदलना है।

इस समस्या का हल सुझाया हरे छिलके वाले भुसावल के केलों ने। वैज्ञानिकों ने राकेट में ऐसी व्यवस्था कर दी कि जब वापसी यात्रा का समय निकट हो, तो राकेट को आगे बढ़ाने वाले गियर में बिजली दौड़े, ताकि उसे छूते ही जोर का धक्का लगे और उसी समय राकेट को धरती पर उतारने वाले गियर में से केले की गंध आने लगे। वैज्ञानिकों को विश्वास था कि चिंपैंजी महोदय के नासा-रंध्रों में केले की गंध का प्रवेश होते ही वे फौरन उस गियर पर जोर आजमाइश करेंगे। यही हुआ। केले की गंध से आकर्षित होकर चिंपैंजी ने ज्यों ही गियर पर जोर लगाया कि राकेट धरती की ओर लौट पड़ा।

इस महक के लिए अमरीकी प्रयोगशाला में कोई आधे टन केलों का रासायनिक रूपांतरण करना पड़ा। यानी वैज्ञानिकों ने भुसावल के इस सुस्वादु केले को भूसे की तरह बेरहमी से इस्तेमाल किया। इस घटना का ब्योरा देकर एक पत्रकार ने टिप्पणी की थी—"संभव है, एक दिन बंबई-भुसावल के केलों का भाव इस कदर ऊंचा चढ़ जाये कि चंद्रलोक-यात्रा के लिए राकेट में चढ़े चिंपैंजी ही इसे सूंघ सकें, और हमारे-आपके लिए उसकी गंध भी दुर्लभ हो जाये।"

और यह बड़ी चिंतनीय बात होगी, क्योंकि खाद्य-समस्या मुंह बाये खड़ी है और केला एक स्वयंपूर्ण खाद्य है। उदरपूर्ति के लिए गेहूं, चावल किसी चीज की जरूरत नहीं, अकेला केला काफी है। और एक एकड़ जमीन को अगर ३०० पौंड नाइट्रोजन, १५० पौंड फास्फोरस और १०० पौंड पोटाशियम खिलायें, तो उसमें लगा कदली-कुंज ५०,००० पौंड फल उगल सकता है।

❖ ❖ ❖



नरेंद्र नायक

कण्व की पुत्री, ग्यॉएथे का देश

आज से पौने दो सौ साल पहले जर्मन साहित्य का एक शानदार अध्याय प्रारंभ हुआ। उसी के साथ जर्मनी में संस्कृत और भारत-विद्या के अध्ययन की भव्य परंपरा का सूत्रपात हुआ, और यूरोपीय विद्वानों के लिए ज्ञान के एक नये प्रदेश का मार्ग खुल गया। और इसका श्रेय कालिदास की शकुंतला को था यूरोप के रोमांटिक युग की शायद ही किसी घटना ने इतना गहरा और दूरगामी प्रभाव डाला होगा, जितना कि 'अभिज्ञान-शाकुंतल' के जर्मन अनुवाद के प्रकाशन ने। इस अनुवाद ने न केवल जर्मन साहित्य की श्रीवृद्धि की, अपितु यूरोप के समस्त सांस्कृतिक क्षेत्र पर भी अपनी अमिट छाप डाली।

यों योहान गॉटफ्रीड हेर्डर (१७४४-१८०३) ने अनेक लेखों, पत्रों और पद्यों द्वारा भारतीय काव्य-प्रतिभा की इस अनुपम सृष्टि की प्रशंसा की थी। परंतु जर्मन साहित्य को 'शाकुंतल' का प्रथम अनुवाद भेंट किया गेओर्ग फोर्स्टर (१७५४-१७९४) ने। फोर्स्टर लेखक और घुमक्कड़ था। उसके पिता ने सुप्रसिद्ध खोजी कैप्टन जेम्स कुक के साथ विश्वयात्रा की थी और पुत्र को भी यात्रा में शरीक होने की अनुमति दिलायी थी।

गेओर्ग फोर्स्टर को प्रकृति जितना ही प्रेम मानवता से भी था। उसने शोषितों और पद-दलितों के अधिकारों के लिए उत्साह के साथ लड़ाई लड़ी थी। १७७३ में ताहिती द्वीप की यात्रा करते समय फोर्स्टर वहां के निवासियों की निर्द्वंद्वता और सुंदरता से बहुत प्रभावित हुआ था। इस प्रकार, 'शाकुंतल' का प्रथम जर्मन अनुवाद एक ऐसे व्यक्ति की कृति थी, जिसकी बुद्धि प्रौढ़ और प्रखर थी तथा हृदय विशाल एवं मृदुल था।

इंग्लैंड में रहते हुए फोर्स्टर ने 'शाकुंतल' का सर विलियम जोन्स कृत अंग्रेजी अनुवाद पढ़ा और उस पर मुग्ध हो गया। [विलियम जोन्स (१७४६-१७९४) सुप्रीम कोर्ट के जज नियुक्त होकर भारत आये थे। अनेक कठिनाइयां झेलकर

उन्होंने संस्कृत भाषा सीखी थी।] भारत देखने की फोर्स्टर की बडी इच्छा थी। भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स के नाम उसने सिफारिशी चिट्ठी भी प्राप्त कर ली थी। परंतु उसकी यह इच्छा अपूर्ण रह गयी। किंतु अपने जर्मन 'सकोन्तला' (सर विलियम जोन्स ने भी अपने अनुवाद में शकुंतला के यही हिज्जे दिये थे) द्वारा उसने भारत के साथ ऐसा संबंध जोड लिया, जो शाश्वत है।

'सकोन्तला' का अनुवाद पूरा होते ही फोर्स्टर ने अपने एक प्रकाशक मित्र स्पेनर को उसके प्रकाशन के लिए लिखा। परंतु पत्र का कोई उत्तर न मिला। तब फोर्स्टर ने १७९१ के अप्रैल मास में फिशर नामक एक अन्य प्रकाशक को पांडुलिपि भेजी, जिसने उसे तुरंत स्वीकार कर लिया। कुछ हफ्तों बाद ३६८ पृष्ठों की सुंदर पुस्तक छपकर अनुवादक के हाथों में पहुंची। उसी दिन फोर्स्टर ने अनुवाद की एक-एक प्रति महाकवि ग्यॉएथे, हेर्डर और अपने श्वशुर हाइने (जो उन दिनों ग्यटिंगन विश्वविद्यालय में भाषाशास्त्र के प्राध्यापक थे) और अन्य मित्रों को भेजी। प्राचीन भारत की इस अमर काव्यकृति की प्रशंसा की उत्ताल लहरें चारों ओर से उठने लगीं।

अनुवाद की सर्वप्रथम समालोचना फोर्स्टर के श्वशुर ने १७९२ में की। महाकवि शिलर ने अपनी पत्रिका 'थालिया' में इस अनुवाद के कुछ भागों का रसास्वादन पाठकों को कराया। १७९५ में उसने एक पत्र में लिखा कि समस्त ग्रीक साहित्य में शकुंतला-सा सुकुमार स्त्री-चरित्र अथवा प्रेम का इतना सुंदर काव्यरूप वर्णन ढूंढ़े नहीं मिलता।

अनुवाद के प्रकाशन के दो सप्ताह के अंदर ही फोर्स्टर को वाइमार में कविशिरोमणि ग्यॉएथे का पत्र मिला। मूल पत्र तो अब नहीं मिलता किंतु कवि ने उसमें शकुंतला का जो काव्यात्मक स्वागत किया था, वह संस्कृत साहित्य के प्रेमियों का हियहार बन गया है। महाकवि की मूल जर्मन पंक्तियां इस प्रकार हैं :

विल्स्ट डु डी ब्ल्यूटे डेस फ्र्यूएन
डी फ्र्युइश्टे डेस श्पेटेन यारेस
विल्स्ट डु वास राइत्स्ट उन्ट् एन्ट्स्युक्ट,
विल्स्ट डु वास सेटिग्ट उन्ट् नेर्ल्ट,
विल्स्ट डु डेन हिम्मल, डी एर्डे मिट आइनेम् नामेन् बेग्राइफ़न,
नेने इश सकोन्तला डिश् उन्ट् सो इस्ट आल्लेस् गेसाग्ट।

इसका संस्कृत अनुवाद इस प्रकार किया गया है :

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपत् सर्वं च यद् ग्रीष्मण.
यत्किञ्चिन्मनसो रसायनमथो सान्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि कोऽपि कांक्षति सदा शाकुन्तलं सेव्यताम्॥

—यदि तुम यौवन के फूल और प्रौढ़ावस्था के फल तथा वह सब कुछ जो आत्मा को आनंद, तृप्ति और पोषण देता है, अर्थात् स्वर्ग और मर्त्य-लोक दोनों को एक साथ पाना चाहते हो, तो मेरे मुंह से सहसा एक शब्द निकल पड़ता है–शकुंतला।

वाइमार के राजदरबार की महिलाएं भी शकुंतला पर मुग्ध हो गयीं। वर्षों तक शकुंतला साहित्य-प्रेमियों की चर्चा का विषय बनी रही। जर्मनी के प्रथम भारतविद् आगुस्ट विल्हेल्म श्लेगाल (१७६७-१८४५) को भी फोर्स्टर की शकुंतला से बड़ी प्रेरणा मिली। जर्मनी के प्रख्यात कवि फ्रीडरिक फान हार्डेनबुर्ग अपनी पत्नी सोफी को घर में 'शकुंतला' कहकर पुकारते थे।

फोर्स्टर की रचना ने अनेक पीढ़ियों तक प्राच्यविद्या-विशारदों को शोध का मसाला दिया। प्रारभ के वर्षों में 'शाकुंतल' नाटक की कई प्रामाणिक और अप्रामाणिक आवृत्तियां छपीं। परतु सस्कृत से सीधे जर्मन में अनुवाद करने वाले विद्वानों ने भी फोर्स्टर का ऋण माना है। सन १८३३ में बेर्नार्ड हिर्त्सल की शकुंतला प्रकट हुई, जो मूल सस्कृत से अनूदित थी। उसने भी फोर्स्टर का सादर उल्लेख किया है। इसके बाद तो अनेक प्राच्यविद्या-विशारदों ने नये-नये अनुवाद किये। रुक्केर्ट के अनुवाद की तीन आवृत्तियां छपीं। अन्य अनुवादकों में श्राडर, मायर, लोबडान्त्स, डॉन्सडोर्फ, फ्रित्से, केलनर, म्यॉलर और लाउक्नर के नाम प्रसिद्ध हैं। नवीनतम अनुवाद सस्कृत से हान्स लॉश ने १९६० में किया है।

'शाकुंतल' की लोकप्रियता के कारण कालिदास के अन्य काव्यों का भी जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ, जिससे प्रेरित होकर यूरोप की अन्य भाषाओं में भी सस्कृत के कई काव्य अनूदित हुए। किंतु 'शाकुंतल' के सभी यूरोपीय अनुवादों पर फोर्स्टर की टिप्पणियों का प्रभाव दिखाई देता है।

कालिदास की अनुपम सृष्टि शकुंतला ने केवल जर्मन साहित्य को ही नहीं, सगीत को भी प्रभावित किया है। जर्मनी के प्रसिद्ध सगीत-स्रष्टा बेटहोवेन (जिन्हें भारत-वासी 'बीथोवन' के नाम से जानते हैं) की डायरी से मालूम होता है कि फोर्स्टर की शकुंतला ने उन्हे अपने जीवन पर गहरा विचार करने को प्रेरित किया। शकुंतला पर अनेक संगीत-रचनाएं भी की गयीं।

वेन्त्सल थोमाशेक (१७७४-१८५०) ने शकुंतला पर एक ओपेरा लिखा, पर वह रगमंच पर न आ पाया। शेफर और वाइनगार्टनर भी अपने पीछे एक-एक 'शकुंतला' नामक ओपेरा छोड गये हैं। १८८४ में वाइनगार्टनर का ओपेरा रगभूमि पर आया। फ्रान्त्स शूबेर्ट का लिखा 'शकुंतला' आपेरा दुर्भाग्यवश आज नहीं मिलता।

सिगिस्मुंड बाखरिश अपने पीछे 'शकुंतला' नामक नृत्य-नाटिका (बैले) छोड़

गया है। १८५५ में कार्ल गोल्डमार्क का 'शकुंतला' नामक संगीत-निवेदन (ओवर्चर) वियेना में प्रस्तुत हुआ और उसकी बड़ी प्रशंसा हुई। शार्वेन्का (१८४७-१९१७) के 'शकुंतला' समूह-गान (कोरस) को भी पर्याप्त ख्याति मिली।

इस प्रकार पौने दो सौ वर्ष पहले शकुंतला ने भारत और जर्मनी की आत्माओं के बीच निकट संबंध स्थापित किया था। आज भी वह इन दो देशों के सांस्कृतिक संबंधों की शृंखला की एक सुंदर, सुदृढ़ कड़ी है।

❦ ❦ ❦

विख्यात जर्मन कवि एमानुएल गाईबल (१८१५-८४) को उनकी प्रसिद्ध कविता 'वसंत की आशा' के विषय में मिले पत्रों में एक यह था :

"मान्यवर! आज हमने आपकी कविता 'वसंत की आशा' पूरी कंठस्थ कर ली। आठ दिन पहले हममें से छः को यह कविता याद न करने के कारण स्कूल में आधा घंटा ज्यादा बैठना पड़ा। कविता लिखते समय आपने यह बात सोची भी नहीं होगी। फिर भी आप अच्छे आदमी हैं। आप शिलर की तरह लंबी कविताएं नहीं लिखते। उनकी कविताएं हमें अगले साल सीखनी पड़ेंगी। मास्टरजी कहते हैं कि 'वसंत की आशा' सुंदर कविता है। सुंदर कविताएं बहुत हैं और सभी हमें याद करनी पड़ती हैं। इसलिए आपसे प्रार्थना है कि अब और कविताएं न लिखें। हमें तो हर कवि के जन्म और मृत्यु के वर्ष भी याद रखने पड़ते हैं। गनीमत है कि हमें आपका मृत्यु-वर्ष नहीं याद करना पड़ेगा, क्योंकि हम आपके दीर्घायुष्य की कामना करते हैं।

हम हैं आपके—ल्यूबेक स्कूल की पांचवीं कक्षा के छात्र"

* * *

स्व. माखनलालजी चतुर्वेदी के कमरे में एक घड़ी थी, वह सदा आधा घंटा आगे रहती थी।

मैंने पूछा—"दादा, यह घड़ी आगे क्यों रहती है?"

"बोले—'अरे, वह प्रगतिशील हो गयी है'।"

—रामनारायण उपाध्याय



एन० शालिवटीश्वरन्

बकिंग्हम प्रासाद की पार्टी

ब्रिटिश सरकार का यह रिवाज है कि जब उसकी ओर से कोई बडा सम्मेलन होता है, तो किसी सामाजिक समारोह के द्वारा उसके साथ राजदंपति का संबंध अवश्य जोड़ा जाता है। सम्मेलन के प्रतिनिधियों को राजदंपति की ओर से मध्याह्न अथवा रात्रि के भोजन मे अथवा शाम को चाय-पार्टी में निमंत्रित किया जाता है। १९३१ में द्वितीय गोलमेज परिषद् के समय ब्रिटिश सरकार ने काफी विचार-विमर्श के बाद सम्राट् जार्ज पंचम को सलाह दी कि वे सम्मेलन के प्रतिनिधियों को बकिंग्हम प्रासाद में शाम की चाय-पार्टी मे निमंत्रित करें।

ऐसे सायंकालीन समारोहों में वेशभूषा का कोई खास नियम नहीं होता। अन्यथा शाही भोज तथा दूसरे समारोहों में दरबारी रीति-रिवाज का, वेशभूषा संबंधी नियमों तथा औपचारिक रस्मों का बडा बंधन होता है। चूंकि गांधीजी तो लंदन की सड़कों पर भी वही घुटने तक की धोती व चप्पल पहने और कंधे पर एक गर्म चादर डाले घूम रहे थे, इसलिए ब्रिटिश सरकार को सायंकालीन पार्टी ही उपयुक्त जंची। वेश-भूषा और दूसरे रिवाजों के बखेड़ों के बिना गांधीजी उसमें उपस्थित हो सकते थे।

समारोह की जिम्मेदारी थी सर सैम्युअल होर पर, जो उस समय भारत-मंत्री थे। उन्होंने इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा कि सब प्रतिनिधियों को यथासमय निमंत्रण-पत्र भेजे जायें और सब प्रतिनिधि निमंत्रण स्वीकार कर लें। राजमहल के महाप्रबंधक (लार्ड-चेंबरलेन) ने सब प्रतिनिधियों को निमंत्रण भेजे। गांधीजी और उनके साथियों को भी निमंत्रित किया गया।

सर सैम्युअल होर ने इस प्रसग का यों वर्णन किया है-"पहली बैठक के तुरत बाद बकिंग्हम पैलेस में सब प्रतिनिधियों के लिए शाम की पार्टी होने वाली थी। क्या गांधीजी उसमें आयेंगे? अगर गाधीजी आना स्वीकार कर ले, तो सम्राट् जार्ज पंचम सविनय नियमभंग आंदोलन के इस नेता का किस प्रकार स्वागत करेंगे? दोनों ही बातें बड़ी संदिग्ध थीं। दूसरी बात का उत्तर पाने के लिए मैंने सम्राट् से

मुलाकात का समय मांगा। उनकी प्रतिक्रिया लगभग वैसी ही थी, जिसकी कि मुझे उम्मीद थी। 'क्या! मैं इस बागी फकीर को राजमहल मे बुलाऊं, जो मेरे वफादार अफसरों पर हमले करा रहा है?'

"पर यह प्रथम आवेश-भर था, अंतिम उत्तर नहीं। दिल का गुबार निकाल लेने के बाद वे पार्टी की व्यवस्था के बारे में पूछताछ करने लगे। यह तो वे शुरू से ही मानकर चले कि पार्टी में गांधीजी भी बुलाये जायेंगे। मुलाकात के अंत मे उनका रोष फिर लौट-सा आया और वे 'बेसलीकेदार कपड़ों और नंगी टांगों वाले' इस 'छोटे आदमी' को राजमहल में बुलाने का विरोध करने लगे। अत मे वे शांत हुए; और गांधीजी को निमंत्रण-पत्र भेज दिया गया।"

गांधीजी के सिवा सभी प्रतिनिधियों ने तुरत ही निमंत्रण स्वीकार कर लिया। गांधीजी की ओर से कई दिन तक कोई उत्तर नहीं आया। सर सैम्युअल होर चिंतित हो उठे और उन्होंने अपने पार्लमेंटरी सेक्रेटरी लार्ड ब्रेबर्न को श्री रंगस्वामी अय्यंगार के पास यह पता लगाने के लिए भेजा कि गांधीजी ने निमंत्रण की पहुंच व स्वीकृति अभी तक नहीं दी, इसका क्या कारण है। (श्री ए. रंगस्वामी अय्यंगार गोलमेज परिषद में गांधीजी के राजनीतिक सेक्रेटरी थे।) शायद साथ ही सर सैम्युअल ने भारत के भूतपूर्व वायसराय लार्ड हैलिफैक्स से भी प्रार्थना की कि वे जाकर गांधीजी को समारोह मे उपस्थित होने के लिए मना लें। लार्ड हैलिफैक्स उन दिनों लार्ड अर्विन कहलाते थे और उन्हीं की खातिर गांधीजी ने इंग्लैंड आना स्वीकार किया था।

लार्ड-चेंबरलेन की ओर से निमंत्रण मिलना राजकीय आदेश माना जाता था। ब्रिटिश साम्राज्य का कोई भी प्रजाजन उसे मानने से इन्कार नहीं कर सकता था। ऐसा करना राजा का अपमान समझा जाता। ब्रिटिश इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ था।

गांधीजी बड़े असमंजस में पड़ गये। राजदंपति के प्रति मन में उचित मान होते हुए भी उनकी यह साफ राय थी कि बकिंघम महल के ये स्वागत-समारोह कोई खास महत्त्व नहीं रखते। "कोई अर्थ है इन समारोहों का? क्या राजदंपति इनमे लोगों से सचमुच मिलते हैं? क्या वे कोई काम की बात करते हैं, या कर सकते हैं? क्या यह निरा स्वांग नहीं है?" जब ये समारोह इतने निरर्थक हैं, तो क्या वे इनमें अनुपस्थित नहीं रह सकते?

लेकिन गांधीजी का यह भी कहना था—"मैं बड़े असमंजस मे हूं। मैं यहां इस देश का अतिथि बनकर आया हूं, अपने देश का प्रतिनिधि बनकर नहीं। इसलिए मुझे बहुत सोच-समझकर कदम रखना होगा। अगर मैं निजी हैसियत से यहां आया होता, तो बिना किसी झिझक के निर्णय कर लेता। लेकिन मैं तो अतिथि हूं; इसलिए कोई भी कदम उतावली में नहीं उठा सकता। मुझे हर अंग कानून की दृष्टि से नहीं, बल्कि नैतिकता की दृष्टि से सोचना होगा।"

आखिर नैतिकता ने ही यह निर्णय किया कि उन्हें पार्टी में जाना चाहिये। उन्होंने लार्ड-चेंबरलिन को एक पत्र द्वारा सूचित किया कि वे और उनके साथी अपनी "सदा की वेशभूषा में" समारोह में उपस्थित होंगे।

पार्टी का दिन आ पहुंचा। उस दिन आकाश में बदली छायी थी। सूरज का दर्शन दुर्लभ था। कुछ-कुछ बूंदा-बांदी भी हो रही थी। फिर भी लंदन के नागरिक बकिंग्हम प्रासाद के मुख्यद्वार पर बड़ी संख्या में आ जुटे थे गांधीजी को देखने। सभी अतिथि ४ बजने से पंद्रह मिनिट पहले ही आ चुके थे। गांधीजी और उनके साथियों की प्रतीक्षा की जा रही थी।

४ बजने से ठीक पांच मिनिट पहले दो सी. आई. डी. अफसर, जो इस प्रवास में सर्वत्र अंगरक्षक के रूप में गांधीजी के साथ रहते थे, प्रासाद के द्वार पर आये। आधे मिनिट पीछे ही गांधीजी भी आ पहुंचे। पंडित मदनमोहन मालवीय, सरोजिनी नायडू और महादेव देसाई उनके साथ थे। ज्यों ही वे सब राजद्वार में प्रविष्ट हुए, जनता ने उत्साह से जयजयकार किया। ठीक चार बजे गांधीजी कार से उतरे। उनकी बाकायदा अगवानी की गयी और फिर उन्हें विशाल सभाकक्ष में ले जाया गया, जहां अन्य अतिथि पहले से एकत्र थे।

एक या डेढ़ मिनिट में राजदंपति पीछे के एक कमरे से सभाकक्ष में प्रविष्ट हुए। सबकी दृष्टि उनकी ओर मुड़ गयी। झुककर रस्मी अभिवादन करने के बाद राजदंपति अतिथियों के बीच घूम-घूमकर सबसे मिलने लगे। सर सैम्युअल होर ने कुछ चुनिंदा प्रतिनिधियों का सम्राट् से परिचय कराया। सम्राट् ने सभी से प्रसन्नतापूर्वक कुशल-क्षेम की एक-दो बातें पूछीं। जिन लोगों का परिचय कराया जाना था, उनके कार्यों की संक्षिप्त जानकारी सम्राट् को पहले ही दे दी गयी थी।

अब सर सैम्युअल होर ने गांधीजी का परिचय कराया। सम्राट् ने गांधीजी का अभिवादन किया और दक्षिण अफ्रीका में बोअर-युद्ध के समय गांधीजी ने स्वयंसेवकों का शुश्रूषा-दल बनाकर जो लोकसेवा की थी, उसकी सराहना की। फिर १९०६ में जुलू-विद्रोह के समय में गांधीजी ने जो स्ट्रेचरवाहक-दल संघटित किया था और उस सेवा के उपलक्ष्य में उन्हें जो पदक दिया गया था, उसकी चर्चा की। सम्राट् ने यह भी उल्लेख किया कि १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ जाने पर लंदन में गांधीजी द्वारा स्थापित भारतीय विद्यार्थियों के स्वयंसेवक शुश्रूषा-दल ने महत्त्वपूर्ण सेवा की थी और गांधीजी को उनकी राजभक्तिपूर्ण सेवाओं के लिए 'कैसरे हिन्द' स्वर्णपदक प्रदान किया गया था। १९१७ में लार्ड चेम्सफोर्ड की अपील पर गांधीजी ने खेड़ा जिले में सैनिकों की भर्ती के लिए जो काम किया था, उसका भी जिक्र करना सम्राट् नहीं भूले।

फिर अचानक सम्राट् जार्ज पंचम की नजर गांधीजी की नंगी टांगों पर टिक गयी

और वे एकदम भडक उठे। उनकी आखें क्रोध से लाल हो गयीं, चेहरा तमतमा उठा। वे गाधीजी से पूछने लगे—"बताइये, भारत में मेरी सरकार के खिलाफ आपने असहयोग क्यों छेड़ा? जब मेरा बेटा १९२०-२१ में भारत गया, तो आपने उसका बायकाट क्यों कराया? आपने मेरे लडके के विरुद्ध—हा, मेरे लडके के विरुद्ध—प्रदर्शन कराये। ऐसी राजद्रोहपूर्ण हरकतें बर्दाश्त नहीं की जायेंगी। राज-परिवार के लोगों का ऐसा अपमान बर्दाश्त नहीं किया जायेगा। मेरी सरकार के अफसरों का दिन-दहाड़े खून किया जा रहा है! यह सब बलवा चलने नहीं दिया जायेगा। अगर वफादार अफसरों की खूनखराबी नहीं रुकी, तो आपकी काग्रेस के साथ सख्ती से काम लिया जायेगा, उसे कुचल दिया जायेगा। सम्राट् की सरकार चलती रहनी चाहिये, और चलती रहेगी। इसका ध्यान रखिये।"

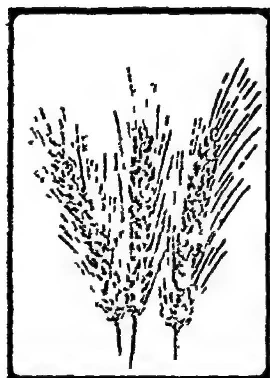
सर सैम्युअल होर सम्राट् के इन शब्दों पर बहुत व्यग्र हो उठे। अब गाधीजी इसका न जाने क्या उत्तर दे बैठें, उन्हें चिंता हुई। लेकिन गाधीजी बिलकुल शात और सयत रहे। काग्रेस पर सरकारी अफसरों की हत्या की तोहमत लगायी गयी, यह बात भी उन्हें विक्षुब्ध नहीं कर सकी। जार्ज पंचम के क्रोध-भरे शब्दों के बावजूद वे सर्वथा अविचल रहे। बड़ी ही शांति से उन्होंने उत्तर दिया—"श्रीमन्! आपके महल में, आपका आतिथ्य स्वीकार करने के बाद मैं आपके साथ बहस में नहीं पड सकता।" उनकी यह शाति और अविचलता देख सर सैम्युअल ने राहत की सास ली।

गाधीजी और सम्राट् जार्ज पंचम की इस ऐतिहासिक भेंट का वर्णन करते हुए अत मे सैम्युअल होर ने लिखा है—"एक ईमानदार राजा, दूसरा महान राजनयिक! मैंने मन-ही-मन सोचा, असासारिक लोगों में भी कभी-कभी कैसी गजब की सासारिक व्यवहार-कुशलता होती है!"

❀ ❀ ❀

मानव-जीवन मे दो और दो चार का नियम सदा लागू नहीं होता। उसमें कभी दो और दो पाच हो जाते हैं, कभी ऋण तीन भी। और कई बार तो सवाल पूरा होने के पहले ही स्लेट गिरकर टूट जाती है।

—सर विंस्टन चर्चिल



देवेन मेवाडी

ट्रिटिकेल

कहते हैं कि सृष्टि का सृजन ब्रह्मा ने किया। जाहिर है कि ब्रह्मा को कभी पृथ्वी पर आना पड़े, तो अपने बनाये हुए प्रत्येक पदार्थ को वे सरलता से पहचान लेंगे। लेकिन विश्व के किसी प्रमुख कृषि-अनुसधान केंद्र पर पहुच गये, तो गेहूं के समान ही दिखाई देने वाली एक फसल का परिचय उन्हें भी प्रजनकों से पाना होगा। यह फसल ब्रह्मा के लिए अजनबी होगी, क्योंकि इसका सृजन मनुष्य ने किया है। कुछ वर्ष पहले तक पृथ्वी पर इसका अस्तित्व ही नहीं था।

मनुष्य द्वारा बनायी गयी इस फसल का नाम है—ट्रिटिकेल। गेहूं और राई घास की बेटी। पादप-प्रजनन तथा आनुवंशिकी विज्ञान के क्षेत्र में यह एक अभूतपूर्व घटना है और कृषि के क्षेत्र में विश्व की एक अद्वितीय उपलब्धि। भूख से विश्व-व्यापी युद्ध लड़ने मे वैज्ञानिकों की यह नयी देन बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और हमारी गिनी-चुनी फसलों के साथ यह एक नयी फसल के रूप में फूलेगी-फलेगी।

गेहूं का वानस्पतिक नाम है 'ट्रिटिकम' और राई-घास का 'सीकेल सीरिएल'। इन्हीं के आपसी सकरण से तैयार हुई प्रथम मानव-निर्मित फसल है 'ट्रिटिकेल'। गेहूं और राई-घास का विवाह रचाने में मिनिटोबा विश्वविद्यालय (कनाडा) के विश्वविख्यात वैज्ञानिक डा० बी० चार्ल्स जेन्किन्स सबसे अग्रणी रहे हैं।

शुरू में जब यह बेमेल अतर्जातीय विवाह रचाया गया, तो उससे पैदा हुई सतानें सभी बांझ निकलीं। इसे यों समझ लीजिये कि घोड़े और गधे के मिलन से खच्चर पैदा होता है, लेकिन खच्चर स्वयं बांझ होता है और सतान पैदा नहीं कर सकता। पादप-प्रजनक डा० जेन्किन्स की खोज की महानता का अनुमान आप लगा सकते हैं। ट्रिटिकेल को तैयार करके उन्होंने जो सफलता प्राप्त की, वह खच्चर से खच्चर पैदा करने में सफलता पा लेने के बराबर ही समझी जायेगी।

वैज्ञानिकों ने इस नये अनाज को बनाने म प्रकृति का ही अनुसरण किया। ट्रिटिकेल बनाने में जो विधि पादप-प्रजनकों ने अपनायी है, वही विधि गेहूं बनाने

में प्रकृति हजारों वर्ष पूर्व अपना चुकी थी। आज से बारह-चौदह हजार वर्ष पहले प्रकृति में 'इन्कोर्न' नामक जंगली गेहूं पाया जाता था। पौधों में सामान्यतया विवाह अपनी ही जाति में होते हैं, लेकिन प्रकृति के कुशल हाथों से 'इन्कोर्न' तथा बकरी-घास (एजीलाप्स जाति) का अतर्जातीय विवाह सपन्न हो गया। इनसे 'डुरम' नामक गेहूं पैदा हुआ। इसे संयोग ही समझना चाहिये, क्योंकि पौधों के ऐसे अतर्जातीय विवाह से बांझ सतानें ही पैदा होती हैं।

जब प्रकृति ने डुरम गेहूं बना डाला, तो फिर कभी किसी दुस्साहसी डुरम पौधे ने बकरी-घास की एक दूसरी जाति से प्रणय-निवेदन कर डाला। इस तरह प्रकृति ने संयोग से, सही अर्थों में हमारे सौभाग्य से, इनका विवाह पुन. रचा दिया। परिणामतः डुरम और बकरी-घास के इस सायोगिक मिलन से खाने योग्य गेहूं का जन्म हुआ। यही गेहूं आज हमारी थालियों में चपातियों के रूप में परोसा जाता है। इस तरह गेहूं के जन्म में हजारों वर्ष लगे।

प्रजनकों ने प्रकृति की इसी विधि का अनुसरण किया और जो काम हजारों वर्षों मे पूरा हो सका, उसे उन्होंने कुछ ही वर्षों में पूरा कर डाला। असल में पौधों में अतर्जातीय विवाह इसलिए सभव नहीं हो पाते हैं कि सतान में मां-बाप दोनों के गुणसूत्रों के आपस में जोड़े नहीं बन पाते। सन १९३७ में बर्नार्ड अर्नेबेल और उनकी धर्मपत्नी ने 'कोल्चिसीन' नामक एक रसायन के चमत्कारी गुणों की खोज की और पता लगाया कि कोल्चिसीन इस कमी को पूरा कर देता है। इसी की बदौलत ट्रिटिकेल बन सका।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से वैज्ञानिक राई-घास और गेहूं के विवाह में पर्याप्त रुचि ले रहे थे। सन १९४८ में डा० जे० जी० ओ'मारा को सकरण में सफलता मिली। डा० जेन्किन्स ने डा० ओ'मारा से गेहूं व राई-घास की सतान के आठ-नौ दाने प्राप्त किये और इसके साथ ही दुनिया-भर से उपलब्ध गेहूं तथा राई की सैकड़ों जातियों के आपसी सकरण भी किये।

शुरू की पीढ़ियों में सतानें बांझ ही मिलीं, लेकिन पीढ़ियां बढ़ने के साथ-ही-साथ सतानों में जनन-क्षमता भी बढ़ी। सात-आठ पीढ़ियों के बाद तो गेहूं व राई-घास जैसे ही जननक्षम पौधे मिल गये। इस तरह पैदा हुई ट्रिटिकम (गेहूं) और सीकेल (राई-घास) की बेटी है ट्रिटिकेल। गेहूं के नाम के पहले दो, और राई-घास के नाम के अतिम दो अक्षरों को मिलाकर इसका नामकरण किया गया।

पादप-प्रजनन के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व उपलब्धि थी और शीघ्र ही फसल-विज्ञानियों की दृष्टि इस नयी-नवेली फसल पर टिक गयी। डा० सनाकिन ने तो संकल्प ही कर लिया कि इसे खेतों में पनपायेंगे। आज ट्रिटिकेल की फसल विश्व के अनेक देशों में अनुसधान-फार्मों में लहलहा रही है।

गेहूं तथा राई-घास ने अपनी इस बेटी को अपने श्रेष्ठ गुण सौंपे हैं। ट्रिटिकेल को पिता गेहूं से उत्पादकता तथा स्वाद आदि विशेषताएं मिलीं और मा राई-घास से बढ़िया कद-काठी, रोगरोधिता और प्रतिकूल परिस्थितियों को सहने की क्षमता। गेहूं की वाली की तुलना में ट्रिटिकेल की वाली में ५० प्रतिशत अधिक दाने पडते हैं। दाना आकार मे गेहूं के बडे-बडे दाने से दुगुना और गुणों मे गेहूं के समान ही होता है। इसकी फसल पर लंबे या छोटे दिनों का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

श्रीमती जेन्किन्स ने ट्रिटिकेल को अपने 'किचन' मे कसौटी पर कसा है। आखिर किसी भी अन्न का महत्त्व रसोईघर में ही तो सिद्ध होता है। ट्रिटिकेल के आटे के अनेक व्यंजन बनाकर और चखकर उन्होंने उसके पाक-गुणों का पता लगाया है। उनका कहना है कि ट्रिटिकेल का उपयोग बिलकुल गेहूं की तरह किया जा सकेगा। रोटी या चपाती के अतिरिक्त बिस्कुट और पेस्ट्री भी इससे बनेगी।

भारतीय गृहिणियों की हथेलियों में पहुंचकर बढ़िया चपाती बन पाने के भरपूर गुण अभी इसमें नहीं हैं; क्योंकि इसमें अभी ग्लूटेन नामक पदार्थ की थोड़ी कमी है। ग्लूटेन के कारण चपातियां अच्छी और चिकनी बनती हैं। उसकी मात्रा इस फसल में बढ़ायी जा रही है। मगर प्रोटीन की दृष्टि से ट्रिटिकेल सब अनाजों से आगे है। प्रोटीन मक्का में ८-१० प्रतिशत, जौ मे १२ प्रतिशत और गेहूं में १५ प्रतिशत होता है; लेकिन ट्रिटिकेल में वह लगभग २० प्रतिशत है। हमारे भोजन में प्रोटीन की कमी को पूरा करने में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहेगा।

शांति नोबेल-पुरस्कार के विजेता कृषि-वैज्ञानिक डा० नार्मन बोरलाग ने लंबे, कमजोर तने और छोटे दिनों में न फूलने-फलने वाले ट्रिटिकेल को मजबूत कद-काठी वाला और दिन की लंबाई के प्रति उदासीन बना लिया है। अपने प्रसिद्ध बौने गेहूं की किस्मों से वे ट्रिटिकेल का ब्याह रचाकर गेहूं व ट्रिटिकेल की अत्यधिक उपज देने वाली सतानें तैयार करने में जुटे हैं।

भारतीय कृषि-वैज्ञानिक भी इस नये मानव-निर्मित अनाज को अपनाने में जुटे हुए हैं। देश के विभिन्न कृषि-अनुसधान केंद्रों पर ट्रिटिकेल को एक अलग फसल के रूप में परखा जा रहा है। कसौटियों पर खरी उतर गयी, तो अगले कुछ वर्षों में ही यह नयी फसल किसानों के खेतों मे पहुंच जायेगी।

❖ ❖ ❖



डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

सोम का कलश

वैदिक साहित्य में शरीर की दो कल्पनाएं हैं। एक के अनुसार शरीर सोम से भरा हुआ द्रोण (कलश) है। दूसरे के अनुसार अग्नि से भरी 'उखा' या अगीठी है। अग्नि और सोम दोनों ही इस शरीर में प्रतिष्ठित हैं। अग्नि में सोम की आहुति 'सवन' या 'अग्निसुत्या' कही जाती है। अग्नि में अग्नि की वृद्धि 'चयन' या 'अग्निचित्या' है। अग्नि और सोम की यह दोहरी प्रक्रिया शरीर के एक-एक कोश में प्रतिक्षण होती रहती है। एक से शरीर बढ़ता है, दूसरे से नयी-नयी शक्ति मिलती है। दोनों ही यज्ञ के रूप हैं। यजुर्वेद में अध्याय चार से दस तक 'सवन' का और ग्यारह से अठारह तक 'चयन' का विस्तार है।

जिस शरीर को पूर्ण कलश कहा जाता है, वह प्रकृति की सबसे रहस्यपूर्ण कृति है। विश्व में ऐसा कुछ नहीं, जो इस शरीर में न हो। जिस सविता देव ने इसका निर्माण किया, उसने इस कलश के सोम को औटाते समय उसमें अपने सभी अच्छे-से-अच्छे 'सव' या द्रव मिला दिये हैं–

श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्रवोचम्। (ऋग् १·१६४·२६)

अथर्ववेद में इस मानवीय शरीर का अति पल्लवित वर्णन है। पुरुष के शरीर में मांस आदि अवयवों का आधान करने वाला देव कौन है? किसने इस मस्तिष्क और कपाल को बनाया है? प्रिय और अप्रिय, स्वप्न, तंद्रा, आनंद, समृद्धि और मति–ये सब कहां से पुरुष को प्राप्त हुए हैं? किसने इसमें लाल-नीले, ऊपर और नीचे दौड़ने वाले अनेक प्रकार के तीन रसों को भरा है? किसने रूप, महिमा और नाम का आधान किया है? किस देव ने प्राण, अपान और व्यान को बुनकर यह पट बनाया है? किसने सत्य और अनृत, मृत्यु और अमृत, आयु और रूप की प्रतिष्ठा करके यज्ञ का विधान किया है? किसने इसमें रेतस् या बीज का निर्माण किया, जिससे यज्ञ का यह तंतु या धागा बराबर जारी है? इस रचना के भीतर पृथ्वी-रूपी जठराग्नि से लेकर द्युलोक-रूपी मस्तिष्क तक जो एक बाण अथवा ऊर्ध्वदंड है, उसे

किसने खड़ा किया है? इसमें अग्नि या संवत्सर की मात्रा अर्थात् ठीक नाप-जोख करने वाला कौन है? ये सब प्रश्न गर्भविद्या से संबद्ध हैं।

इनके उत्तर में कहा गया है कि ब्रह्म या अग्नितत्त्व ही सोने की पुरी को तैयार करता है और अथर्वा प्राण इसके शीर्षभाग की रचना करता है, जो देवों का कोश है। अग्नितत्त्व की संज्ञा ही 'अथर्वा' है।

इस प्रकार की अमृत-भरी हुई रचना की संज्ञा प्राणात्मक शरीर है। इसके रहस्यों का वारापार नहीं। सभ्यता के आरंभ से आज तक इसकी विचित्रताओं का परिज्ञान नहीं हो सका है।

मानव के इस कलश में सोम या जीवन शत धाराओं वाले मार्ग से भर रहा है—सोमः कलशे शतयामना पथा (अथर्व १८·४·६०)। जीवन से धन्य इस सोमपात्र को यथार्थ रूप से जान लेना वेदविद्या का उद्देश्य है। इसमें प्रतिष्ठित अग्नि का चयन करना ही यज्ञ का व्रत कहा जाता है। जो इस व्रत को ग्रहण करता है, उसी का जीवन दीक्षा से युक्त बनता है—व्रतेन दीक्षामाप्नोति।

ऋषियों ने इसी प्रकार के व्रत-ग्रहण से आत्मा को दीक्षित किया और जीवन को यज्ञ बनाकर उस सत्य को उपलब्ध किया, जो ब्रह्मांड को धारण करने वाला मध्यबिंदु है।

❀ ❀ ❀

इस जगत् का प्रत्येक परमाणु गतिमय है, प्रतिक्षण बड़ी तेजी से भागा जा रहा है—पूर्णता-प्राप्ति की ओर। फिर मनुष्य-जैसा चेतन और ज्ञानवान प्राणी हाथ पर हाथ धरे क्यों बैठा रहे?

ईसाइयों के बाइबल में यह लिखा हुआ है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने समान ही बनाया। यह सर्वांग में सत्य है। ईश्वर इस विश्व को यज्ञवेदी बनाकर प्रतिक्षण यज्ञ कर रहा है, इसमें आहुति दे रहा है। इसी आहुति के कारण सूर्य चमकता है, चंद्रमा प्रकाश देता है, अग्नि जलती है। जिस दिन या जिस क्षण वह आहुति देना बंद कर दे, उसी क्षण सूर्य का गोला एक ठंडा पिंड हो जाये, अग्नि जलना बंद कर दे।

जब ईश्वर भी गतिमय जीवन के बिना गुजारा नहीं कर सकता, तो उसका प्रतिरूप यह मनुष्य आराम करके अपना गुजारा कैसे कर लेगा? अपने-जैसा बनाकर ईश्वर ने मनुष्य को इसी बात की तो शिक्षा दी है कि जिस प्रकार मेरा जीवन गतिमय है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी गतिमय हो।

—श्री० दा० सातवलेकर



मैत्रेयी दत्ता

मरे हुओं का पुनर्निर्माण

अच्छे विद्वान कई बार अपने सिद्धांत इतनी सरल भाषा में सामने रखते हैं कि सुनने वाले को इसकी कल्पना भी नहीं होती कि उन शब्दों के पीछे वर्षों का चिंतन, अध्ययन और परीक्षण छिपा हुआ होगा। फिर उस सिद्धांत के व्यावहारिक महत्त्व को समझने का तो सवाल ही नहीं उठता।

विख्यात रूसी विद्वान प्रोफेसर मिखाइल जेरासिमोव के इस कथन को ही ले लीजिये कि चेहरे की तरह खोपड़ी भी आदमी के जीवन का दर्पण होती है और किसी मनुष्य के चेहरे से उसके बारे में जो कुछ जाना जा सकता है, वह उसकी खोपड़ी से भी जाना जा सकता है। बात कुछ नयी तो लगती है, किन्तु उसमें कोई विचित्रता या विशेषता नहीं दिखाई देती। लेकिन मास्को की विज्ञान अकादेमी के नृतत्त्व-विद्यालय की प्रयोगशाला में जायेंगे, तो इन सरल शब्दों की गहनता और अर्थव्याप्ति को देखकर आप चकित रह जायेंगे।

प्रो० जेरासिमोव नृतत्त्व, जीवशास्त्र और इतिहास के प्रौढ़ विद्वान हैं और साथ ही सधे हुए मूर्तिकार भी। विद्वत्ता, हस्तकौशल और सूझ-बूझ के इस समन्वय का परिणाम बहुत अद्भुत हुआ है। किसी भी पुरानी या नयी खोपड़ी को देखकर वे जान जाते हैं कि जिस व्यक्ति की यह खोपड़ी है, उसकी शक्ल-सूरत कैसी रही होगी। इतना ही नहीं, थोड़े दिनों में वे उस चेहरे से हूबहू मिलने वाली मूर्ति भी बना देते हैं। और यह सब वे महज मनोविनोद के लिए नहीं करते। इस विद्या के द्वारा उन्होंने पुलिस, अदालत और इतिहास-परिषदों को कई गुत्थियां सुलझाने में मदद दी है।

उदाहरण के लिए, ओयाशास्की के कंकाल का किस्सा लीजिये। ओयाशास्की साइबेरिया का एक गांव है। वहां एक विधवा अपनी बैठक के फर्श की मरम्मत करवा रही थी। जब फर्श के लकड़ी के तख्ते हटाये गये, तो उनके नीचे एक नर-कंकाल दबा हुआ मिला। पुलिस आयी और तहकीकात करने लगी। जांच के

दौरान मे प्रकट हुआ कि वह औरत सचमुच विधवा नहीं थी, बल्कि उसका पति इवान लुकोम्किन १९५३ मे एक रोज अचानक ही लापता हो गया था।

स्वभावतः पुलिस को शक हुआ कि शायद औरत ने अपने पति को मारकर फर्श के नीचे दबा दिया होगा। लेकिन सदेह तो कोई प्रमाण नहीं होता न। पुलिस ने वह कंकाल प्रो० जेरासिमोव के पास भेज दिया, ताकि वे मृत व्यक्ति के रूप-रग के बारे मे कुछ बतायें। ऐसे कई जटिल मामलों मे वे पहले भी पुलिस की मदद कर चुके थे।

कुछ ही दिनों बाद मास्को से प्रोफेसर का तार मिला—"मृतक की भौहें घनी थीं। उसकी आखें धंसी हुई व गाल की हड्डिया उभरी हुई थीं। ठुड्डी भारी थी। कंकाल यह भी प्रकट करता है की मृतक दायें पैर से लंगडा था।" पुलिस को प्रसन्नता नहीं हुई। ये विवरण इवान लुकोम्किन पर लागू नहीं होते थे। पुलिस ने जांच जारी रखी। उसे पता चला कि गायब होने से पहले इवान ने एक छोटी-सी दुकान को लूटा था। खोजते-खोजते पुलिस ने पाच सौ मील की दूरी पर उसे पकड़ लिया।

जब इवान लुकोम्किन से सवाल-जवाब किया गया, उसने दुकान लूटने की बात तो कबूल कर ली; लेकिन कहा कि कंकाल के बारे में उसे कुछ भी पता नहीं है। और देर तक वह यही बात दोहराता रहा। अंत में पुलिस अधिकारी ने पूछा—"अच्छा, यह तो ठीक है। लेकिन उस घनी भौहो वाले आदमी का क्या हुआ?"

"कौन आदमी?" इवान चौंक-सा उठा।

"वही जिसकी आंखें धंसी हुई थी, गाल की हड्डिया उभरी हुई थीं...ठुड्डी भारी थी......" इवान लुकोम्किन का चेहरा पीला पडता जा रहा था। पुलिस-अधिकारी ने उसकी आंखों में आंखें डालकर धीमी आवाज में कहा—"और जो दायें पैर से लंगड़ा था।"

लुकोम्किन अब और ठहर न सका, घिघियाता हुआ बोला—"मुझे कुछ कहना है।" और जो कुछ उसने कहा, वह अपराध-स्वीकृति थी। उसने लंगडे आदमी को लूटकर व जान से मारकर फर्श के नीचे दबा दिया था। मृतक रेल्वे की वर्दी में था हत्या के समय। लेकिन वह कौन था, यह इवान लुकोम्किन भी जानता न था।

पुलिस ने १९५४ में निकली गुमशुदा की तलाश की तमाम सूचनाएं जांची। अपानासेंको नाम का एक रेल-कर्मचारी १९५३ मे लापता हुआ था। उसका विवरण प्रो० जेरासिमोव की रिपोर्ट से मेल खाता था। इस बीच उधर मास्को में प्रो० जेरासिमोव ने खोपडी के आधार पर मृतक के मुंह और कंधे की मूर्ति (बस्ट) मोम से बना ली थी। उस मूर्ति की फोटो रेल-कर्मचारियो को दिखायी गयी, तो उसे अपानासेंको के पुराने सहकर्मियों ने तुरंत पहचान लिया।

यह चमत्कार कैसे हुआ? जेरासिमोव कहते हैं कि इसमें चमत्कार-वमत्कार कुछ भी नहीं है। वे बताते हैं कि मुख की मुलायम कोशिकाओं और मांसग्रंथियों का प्रभाव खोपड़ी के आकार को बदलता रहता है। भय, चिंता, घबराहट, नींद का अभाव, मुस्कान, शोक आदि सब भाव तथा मानसिक एवं दैहिक दशाएं अपनी गहरी छाप खोपड़ी पर छोड़ जाती हैं। और यह छाप कैसी होती है, इसे जेरासिमोव ने विस्तृत अध्ययन द्वारा जाना है। हजारों आंकड़ों और तालिकाओं द्वारा इनका विश्लेषण करके उन्होंने खोपड़ी पर अंकित रचनाओं के द्वारा चेहरे का पुनर्निर्माण करने का विधान खोजा है।

वे बताते हैं—"आरम्भ में तो मुख की आकृति खोपड़ी के आकार से ही निर्धारित होती है। लेकिन आदमी के जीवन के अनुभव, कष्ट-सुख, स्थायी मनोभाव, मुख की भाव-भंगिमा—ये सब धीरे-धीरे उसकी खोपड़ी के आकार को बदल डालते हैं, ठीक वैसे ही, जैसे बूंद-बूंद टपकता हुआ पानी पत्थर का रूप बदल देता है।"

किसी भी कंकाल के दांत देखकर वे बता सकते हैं कि वह आदमी मुंह खुला रखता था या दांत भींचे रहता था। खोपड़ी के गुम्बज पर हाथ फिराकर वे बता सकते हैं कि वह आदमी गंजा था या नहीं। माथे और गाल की हड्डियों को आतिशी शीशे से देखकर वे बता सकते हैं कि उस आदमी के माथे पर सिकुड़न और आंखों के पास झुर्रियां तो नहीं थीं।

और यह सब निरी खामख्याली नहीं है। इसके आधार पर उन्होंने अनेक समस्याएं सुलझायी हैं। लोकप्रिय ताजिकी कवि रुदाकी की मूर्ति बनवाने को ताजिक लोग उत्सुक थे। कवि को मरे हजार से ज्यादा साल हो गये थे, उसकी कब्र निश्चित रूप से किसी को मालूम नहीं थी। कई लोगों ने अलग-अलग कब्रों में से कंकाल खोद निकाले और उन्हें रुदाकी का अस्थि-पंजर बताना शुरू किया। मामला अन्त में प्रो० जेरासिमोव के पास आया।

उन्होंने पहले तो रुदाकी की समस्त रचनाएं पढ़ने की इच्छा प्रकट की। उनका कहना था कि हर कवि अपने साहित्य में अपने स्वरूप के बारे में अवश्य ही कुछ जानकारी छोड़ जाता है। और उनकी बात गलत नहीं थी। रुदाकी के शब्दों से पता चलता था कि वह अंधा था, लेकिन जन्म से नहीं (उसने रंगों का बड़ा सजीव वर्णन किया है); स्थानीय शासक ने दंड-स्वरूप उसकी आंखें फोड़वा दी थीं। अंधा होने के बाद भी वह बहुत वर्ष तक जिया। कवि ने यह भी बताया था कि उस पर बुढ़ापे ने अचानक ही आक्रमण किया और उसके तमाम दांत एक साथ झड़ गये।

जेरासिमोव ने कहा कि जब उन्हें ऐसी खोपड़ी मिलेगी, जिस पर आंखें फोड़ी जाने की यातना, दीर्घकाल के अंधेपन और अचानक तमाम दांत एक साथ टूट जाने के चिह्न होंगे, तभी वे कवि की मुखाकृति बनायेंगे। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे

बोले–"अबे आदमी के खड़े होने व चलने की खास अदा होती है। उसका मुख एक खास ढंग से उटा हुआ होता है। इसका स्थायी प्रभाव उसकी रीढ़ के मनकों व खोपड़ी के आकार पर होता है।" आखिरकार वैसी खोपड़ी मिल गयी और आज तो उनकी बनायी रुदाकी की मूर्ति की नकलें ताजिकिस्तान में हर जगह नजर आती हैं।

यह बात प्रसिद्ध है कि बुढ़ापे में मनुष्य का नीचे का ओंठ जरा लटकने लगता है, नाक जरा लंबी खिंच जाती है। जेरासिमोव बताते हैं कि इसका भी असर खोपडी के आकार पर पड़ता है और उसके आधार पर बताया जा सकता है कि मृत्यु के समय मनुष्य की उम्र लगभग कितनी रही होगी और मृत्यु किस रोग से हुई होगी।

रूस पर सैंतीस वर्ष तक निरकुंश शासन करने वाले इवान 'खौफनाक' (१५३०-८४) के बारे में परस्पर-विरोधी मान्यताएं प्रचलित हैं। कई उसे एक दृढ़निश्चयी और सशक्त शासक मानते हैं, दूसरे लगभग पागल। वह कभी धर्म-कर्म में डूब जाता, तो कभी पाशविक अत्याचार पर उतर आता। उसकी मृत्यु का कारण भी विवादास्पद है। कुछ कहते हैं कि उसे जहर देकर मार डाला गया, तो कुछ मानते हैं कि वह अफीम से मरा। तीसरी मान्यता के अनुसार, उसके मुंहलगे मुसाहिब बोग्डन बोल्स्की और बोरिस गोडुनोव ने उसका गला घोंट दिया था। और चौथी धारणा यह है कि एक दिन शतरंज खेलते हुए उसे बहुत ही तेज गुस्सा आया और तीव्र भावावेश के तनाव से वह मर गया। यह भी माना जाता है कि उसे कोई गुप्त रोग (शायद सूजाक) था।

जेरासिमोव से इन सब बातों की जाच करने को कहा गया। सरकार ने उन्हें क्रेमलिन के आर्केंजल गिरजे की ४०० साल पुरानी शाही कब्र खुदवाकर जार इवान का कंकाल निकलवाने की अनुमति दे दी। कंकाल के अध्ययन के साथ-साथ जेरासिमोव एक-एक धारणा का खंडन करते गये। इवान को गला घोंटकर मारा नहीं गया था; उसके टेटुए की कच्ची हड्डी सही-सलामत थी। विष भी उसे नहीं दिया गया होगा; कंकाल में विष का कोई चिन्ह नहीं था। और न नशेबाजी और सूजाक का ही कोई निशान था। तो वह तीव्र क्रोधावेग से ही मरा होगा। और ऐसा अत्यंत सशक्त मनुष्यों के साथ ही होता है।

यों सोलहवीं सदी के दरबारी चित्रकारों ने भी इवान के कई चित्र बनाये हैं, किंतु उन चित्रों की प्रामाणिकता पर किसी को विश्वास नहीं है। अब प्रोफेसर जेरासिमोव ने उसकी खोपड़ी के आधार पर उसकी मोम की मूर्ति बनायी है। यह मूर्ति एक बदसूरत, डरावने आदमी की है, जिसकी आंखें उग्र हैं। ऐसा चेहरा किसी सुस्त अफीमची का नहीं हो सकता। उन्होंने इवान की हड्डियों की आंतरिक

रचना की भी सूक्ष्म जाच की; क्योंकि उससे पता लग सकता है कि आदमी स्थूल था या कृशकाय। वे इस परिणाम पर पहुंचे कि टवान छः फुट का आदमी था, तीस की उम्र में वह मोटा होने लगा और मरते समय उसका वजन २१० पौंड था।

ये सब तो सूखी ऐतिहासिक खोजें हुईं। लेकिन कभी-कभी जेरासिमोव के सामने बडे मार्मिक प्रसग आ जाते हैं। एक दिन एक बूढ़े रूसी दंपति ने उनसे अपने मृत पुत्र की शिनाख्त करने की प्रार्थना की। इनका बेटा द्वितीय विश्वयुद्ध में मास्को की रक्षा करते हुए मारा गया था। उसकी कब्र का पता लगाने में बूढ़े-बुढ़िया को कई वर्ष लगे थे। सरकार ने इन्हें बेटे की अस्थियां ले जाकर अपने गाव में दफनाने की अनुमति भी दे दी। किंतु उस कब्र में दूसरे भी कई सैनिक दफनाये गये थे और लड़का शरीर पर निशानी के तौर पर जो चेनदार पट्टी पहना करता था, वह दो ककालों के बीच में पडी हुई थी। बेचारे कंकाल को चुनें?

प्रो० जेरासिमोव ने इनकी मदद की। उन्होंने पहले एक कंकाल की खोपडी के आधार पर उसकी मुखाकृति मोम से बनायी। बूढ़े दंपति ने उसे देखते ही कहा—"यही हमारा लाल है।" उन्होंने आशीर्वादों की झडी लगा दी। लेकिन प्रोफेसर को सतोष नहीं था अपने काम से। उनका मन कहता था कि उस लडके के गाल ऐसे पिचके हुए नहीं थे। बहुत दिनों बाद गुत्थी सुलझी। लड़का सेना में भर्ती होते समय गोल-मटोल ही था; लेकिन सेना में पौष्टिक भोजन व आराम के अभाव में पतला होता गया। मरने से कुछ दिन पहले ली गयी उसकी एक फोटो सेना-दफ्तर की फाइलों में मिली। जेरासिमोव की बनायी मूर्ति से उसकी तुलना की गयी, तो ऐसा लगा, जैसे वह उस मूर्ति की ही फोटो हो।

लेकिन इस प्रकार पुलिस या इतिहास-संशोधकों की मदद करना ही प्रो० मिखाइल जेरासिमोव का काम नहीं है। वे एक नृतत्त्वशास्त्री हैं और इस नाते मानव के पूर्वजों में उनकी गहरी दिलचस्पी है। उन्होंने अफ्रीका में प्राप्त छ: लाख साल पुरानी ठठरी के आधार पर पैराथ्रोप मानव की मुखाकृति भी बनायी है।

के० सि० दे

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥

—ज्यों-ज्यों मनुष्य गहरा शास्त्राभ्यास करता है, त्यों-त्यों उसका ज्ञान निखरता है और अन्य विद्या-विज्ञानों की बातें भी उसको समझ में आने लगती हैं।

—मनुस्मृति



के. एम. पणिक्कर

महल और झोंपड़े

आज के भारत को अपने इतिहास से कई-एक सबक लेने हैं। वस्तुतः हमारा इतिहास संसार की एक महान जाति के उतार-चढ़ावों, सफलताओं एवं असफलताओं की कहानी है। लगभग तीन हजार वर्षों की परिधि में फैली इस कहानी में ऐसी अनेक बातें हैं, जो हमारी स्वतंत्र रहने की कामना को सही-सही दिशा-निर्देश दे सकती हैं।

इतिहास के—केवल भारत ही नहीं, बल्कि समस्त संसार के इतिहास के—सबसे महत्त्वपूर्ण सबकों में से एक यह है कि किसी भी राष्ट्र की शक्ति उसकी जनता की सम्पन्नता और संतुष्टि पर निर्भर रहती है। ऐसे अनेक देशों के उदाहरण हमारे सामने हैं, जिनके दरबार विद्वानों और विशेषज्ञों से भरे हुए थे; दरबारियों के पास धन, शक्ति और विलास के प्रचुर साधन थे; कला अपने पूर्ण उत्कर्ष पर विद्यमान थी और ऊंची-ऊंची इमारतों से नगर अपने सौंदर्य में समाते न थे, फिर भी दुश्मनों के नगाड़ों की ध्वनि-मात्र ने उन्हें अविलंब धराशायी कर दिया!

वास्तव में, किसी राष्ट्र के पतन का मुख्य कारण महल और झोंपड़े के बीच की दूरी होती है· यानी धनिकों के ऐश्वर्य तथा गरीबों की गरीबी के बीच की गहरी खाई। यह खाई कितनी गहरी हो सकती है, इसका नमूना फ्रांस की एक रानी ने उपस्थित किया था। जब उससे कहा गया कि गरीबों को रोटी मयस्सर नहीं हो रही है, तो उसने बड़े अबोध-भाव से उत्तर दिया था—"रोटी नहीं मिलती, तो लोग केक क्यों नहीं खाते?" महल और झोंपड़े के बीच की यह दूरी फ्रांस के लिए कितनी महंगी साबित हुई, यह सर्वविदित है।

भारत के इतिहास में भी ऐसे अनेक दृष्टांत उपलब्ध हैं, जो इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। मुहम्मदशाह के जमाने में मुगल-साम्राज्य का बाह्य स्वरूप पूर्ववत् ही भव्य था। बादशाह उसी 'मयूर-सिंहासन' पर बैठता था, जिसका निर्माण शाहजहां ने अपनी शानो-शौकत के प्रदर्शन के

लिए बड़ी दिलचस्पी लेकर करवाया था। दरबार भी इसी 'दीवाने-आम' में हुआ करते थे, जिसके बारे में गर्वपूर्वक यह घोषणा की गयी थी कि पृथ्वी पर यदि कहीं स्वर्ग है तो बस यहीं है। साम्राज्य के पृष्ठपोषक सरदारों के खिताब भी पहले-जैसे ही आकर्षक और प्रभावशाली थे। फिर भी ईरानी लुटेरा नादिरशाह जब दिल्ली के द्वार पर आ पहुंचा, तो एक भी हाथ उसे रोकने के लिए ऊपर नहीं उठा। वजीरों, निजाम-उल्-मुल्कों और सरदारों को परिस्थिति का सामना करने के लिए बुलवाया गया, तो उन्होंने खतरे से दूर रहने में ही अपनी भलाई समझी।

इसका जो नतीजा निकला, वह सर्वविदित है। लगातार तीन दिनों तक दिल्ली के निवासी गाजर-मूली की तरह काटे जाते रहे, निर्दोष नागरिकों के खून से दिल्ली की गलियां रंग गयीं। यह सब-कुछ करने के बाद नादिरशाह ईरान लौट गया—जिस शान के साथ आया था, उसी शान के साथ! अपने साथ वह 'मयूर-सिंहासन' और अनगिनत बहुमूल्य रत्न आदि भी लेता गया। इस समय मुगल-खजाना जो खाली हुआ, तो फिर कभी नहीं भर सका। धन-जन दोनों ही दृष्टियों से हुई इस क्षति ने मुगल-साम्राज्य को अंततः विनष्ट ही कर डाला। विपुलता और निर्धनता के बीच की खाई का क्या परिणाम निकलता है, इसका यह एक बहुत ही करुण-क्रूर उदाहरण है।

इसके बाद भी, भारत के इतिहास में इस तरह के दो उदाहरण मिलते हैं। नवाब सिराजुद्दौला कम शानो-शौकत वाला आदमी नहीं था। भारत के तीन सर्वाधिक समृद्ध प्रांतों का वह शासक था। उसके दरबारियों की अवस्था बहुत अच्छी थी, और कला आदि की प्रगति भी बड़ी उल्लेखनीय थी। फिर भी पलासी की लड़ाई में वह बुरी तरह परास्त हुआ। स्वयं उसके ही आदमियों ने उसके साथ विश्वासघात किया और अंग्रेजों की छोटी-सी सेना के सिर विजय का सेहरा बंध गया। यों यूरोपीय इतिहासकार इस विजय का कारण यह बतलाते हैं कि अंग्रेज सेना छोटी तो थी, पर काफी मजबूत थी। किंतु इसमें से यदि पक्षपात का अंश निकाल दिया जाये, तो यह स्पष्ट हो उठता है कि इसके पीछे हाथ था राजा और प्रजा के बीच की खाई का, जिसने प्रजा को मूक-भाव से सब-कुछ देखने के लिए प्रेरित किया।

दूसरा उदाहरण तो और भी महत्त्वपूर्ण है। आर्काट का मुगल सूबेदार नवाब मुहम्मदअली प्रायः ही सैर के लिए मद्रास जाया करता था। वहां ईस्ट इंडिया कंपनी उसकी बड़ी खातिरदारी करती। उसके स्वागत में खान-पान की प्रचुर के पकवान तैयार किये जाते। नर्तकियों की संख्या का तो ठिकाना ही नहीं। इन सबसे वह बड़ा प्रसन्न होता और ईस्ट इंडिया कंपनी को उपकृत करने की सोचता। आखिर उसने थोड़ा-थोड़ा करके यूरोपियनों को अपने इलाके लेना आरम्भ कर

दिया। उसने एक क्षण को भी यह न सोचा कि उसके इस कार्य की प्रतिक्रिया उन लोगों में क्या है, जिन्हें वह बिना सोचे-समझे विदेशियों के हवाले कर रहा है। उसे ऐयाशी से भला फुरसत कहां थी!

नतीजा यह हुआ कि जब वह मरा, तो कंपनी ने उसके संपूर्ण इलाके पर अधिकार जमा लिया और उसके उत्तराधिकारी को अपने हाथों की कठपुतली बना लिया। यह इतनी बड़ी घटना घटी उस समय, मगर जनता ने एक भी आवाज मुंह से नहीं निकाली। वह निकालती भी क्यों? नवाब या उसके उत्तराधिकारी के प्रति उसे किंचित्-मात्र भी मोह कहा था! झोंपडे का खयाल महल को न था, तो महल का खयाल झोंपड़े को भी न रहा।

इन सारी घटनाओं से जो सबक मिलता है, वह बहुत ही स्पष्ट है। जब झोंपड़ा यह समझता है कि महल उसकी रखवाली कर रहा है, तभी वह भी महल की रखवाली के लिए कदम बढाता है, अन्यथा नहीं। 'रामराज्य' का जो हम अक्सर हवाला देते हैं, वह क्यो? मात्र इसलिए कि राम के राज्य में साधारण नागरिक के हित की बात ही सर्वोपरि बात थी। महाभारत मे राजधर्म पर बोलते हुए भीष्म पितामह ने भी स्पष्ट कहा है– "शासक को शासितो का उसी प्रकार ध्यान रखना चाहिये, जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपने गर्भ के बालक का ध्यान रखती है!"

आज की परिस्थितियों मे इस सबक का महत्त्व सर्वाधिक है। राजतंत्र में तो एक ऐसा केंद्र होता है, जिसके इर्द-गिर्द भक्ति-भाव पनपता है। उस केंद्र को जो महिमा सर्वसाधारण द्वारा प्रदान की जाती है, उसके कारण झोंपडे और महल के बीच की दूरी भी कुछ हद तक जायज सिद्ध होती है। परंतु आधुनिक राज्य का सिद्धांत कुछ और ही है। सर्वसाधारण ही इस राज्य का सब-कुछ होते है। इस भावना की प्रबलता ने आज के राजतंत्र-पद्धति से शासित राज्यों में भी बडे चमत्कारपूर्ण परिवर्तन ला दिये हैं। सर्वसाधारण को साथ लिये बिना एक कदम भी आगे बढ़ना अब राजाओं के लिए संभव नहीं रह गया है। सारांश यह कि आज तो हर प्रकार की शासन-पद्धति का आधार है–समानता का सिद्धांत।

भारत का संविधान आधुनिक राज्य के सभी उपादानों से युक्त है। हमारे संविधान के अनुसार देश का हर बालिग नागरिक देश के शासन-तंत्र में हिस्सा लेने का अधिकारी है। आय और पद के कारण उत्पन्न होने वाली विषमताओं के समूलोच्छेद का उसमें स्पष्ट निर्देश है। जाति, धर्म आदि पर आश्रित किसी भी तरह की विषमता का हमारा संविधान स्पष्टतः विरोध करता है। आज सारे संसार में जो यह लहर पूरी तेजी से चल रही है कि धन, वर्ग, पद आदि के कारण मानव-मानव के बीच कोई भेद न किया जाये, शासक और शासित शब्दों का नामो-निशान मिट जाये–उसके साथ आगे बढ़ने को भारत भी कृतसंकल्प है।

आधुनिक राज्य इस विचार को बिल्कुल भी स्वीकार नहीं करता कि कुछ लोग केवल शासन करने के लिए पैदा होते हैं और बाकी लोग शासित होने के लिए। आज जिनके हाथों में शासन की व्यवस्था है, वे न तो राजा हैं, न सामंत और न उन्हें किसी रूप में शासक-वर्ग का ही माना जा सकता है। फलतः साधारण नागरिकों एवं शासन संभालने वाले लोगों के बीच की दूरी निश्चय ही देश की स्वतंत्रता के लिए खतरनाक होगी।

सारांश यह कि नये भारत में न तो महल ही होने चाहिये और न झोंपड़े ही। दोनों के बीच की स्थिति ही देश को बरबादी से बचा सकती है। इसी से हमारा सांस्कृतिक विकास भी होगा।

संस्कृति के विकास का वास्तविक अर्थ होता है, सामाजिक इकाइयों का विस्तार उनकी दृढ़ता। पर दुर्भाग्यवश भारत में सांस्कृतिक विकास का अर्थ एक अरसे से कुछ दूसरा ही लिया जाता रहा है। फलत: हमारे समाज ने जातियों, उपजातियों और उससे भी नीचे उतरकर कुलों का संकुचित क्षेत्र ग्रहण कर लिया है। यह हमारी सबसे बड़ी राष्ट्रीय दुर्बलता है। हमारे इतिहास के सर्वाधिक सुदृढ़ एवं उन्नत कालों में भी यह दुर्बलता हमारे यहां रही है। एक ओर ऊंचे महल और दूसरी ओर जीर्ण-शीर्ण झोंपड़े। यही नहीं, कुछ झोंपड़े-वासियों का तो स्पर्श तक वर्जित—उनके भोजन-आवास की उचित व्यवस्था तो दरकिनार!

इतिहास से मिलने वाले इन सबकों ने आज के भारत को यह अच्छी तरह बतला दिया है कि यदि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच विषमता—चाहे वह किसी भी रूप में हो—रहने दी गयी, तो न तो हम आधुनिक राज्य बनाने का अपना सपना पूरा कर सकेंगे और न अपनी स्वतंत्रता की ही रक्षा कर पायेंगे। वस्तुतः हमने जिस कल्याणकारी राज्य को अपना लक्ष्य बनाया है, वह तो तभी स्थापित हो सकता है, जब महल और झोंपड़े का अस्तित्व समाप्त हो जाये और दोनों के बीच की एक नयी चीज जन्म ले, जो इस देश के प्रत्येक नागरिक को सहज-सुलभ हो।

टी. डी. ई.

"दंडित १९१० में, रिहाई १९६० में" इन शब्दों से अंकित तख्ती गले में लटकाये वीर सावरकर दोहरे आजीवन कारावास का दंड भोगने के लिए काले पानी (अंडमान) की कालकोठरी में प्रविष्ट हो रहे थे। भयानक भविष्य की कल्पना ने उनकी आंतरिक स्थिरता को तनिक भी डिगाया नहीं था। पर एक अंग्रेज जेल-अधिकारी ने व्यंग्य किया—"घबराओ नहीं। ब्रिटिश सरकार पचास साल पूरे होते ही तुम्हें जरूर रिहा कर देगी।" सावरकर ने उत्तर दिया—"हां जरूर! किंतु क्या स्वयं ब्रिटिश सरकार भारत में पचास साल टिकी रह सकेगी?"



विल ड्युरैंट

इन विरवों को सींचिये

मेरी दृष्टि में हमारा-आपका सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि स्वस्थ रहें। स्वस्थ रहना मुख्यतः आपकी इच्छा पर निर्भर है। अधिकांश दशाओं में रुग्ण होना एक पाप है। जैसे ही आपने कोई शारीरिक भूल की कि प्रकृति उससे आपको सावधान करने और उसका उपचार करने के लिए सक्रिय हो जाती है। प्रकृति की यह सक्रियता शारीरिक पीड़ा और कष्ट के रूप में भी हो सकती है। यदि इस पीडा से बचना है, तो स्वस्थ रहिये। व्यायाम के लिए नियमित-निश्चित समय निकालने की आदत बना लीजिये। साथ ही भोजन पर नियंत्रण भी परमावश्यक है।

आज के जमाने की सबसे बडी भूल है–जरूरत से ज्यादा खाना। आराम और आलस्य का जीवन बिताते हुए ऐसा भोजन खाना, जिसकी शरीर को जरूरत न हो, शरीर के साथ सबसे बडा अत्याचार करना है। अयात को निर्यात से बढ़ाकर अपने पाचन-तंत्र को कष्ट देने वाले आदमियों से आज अस्पताल भरे पडे हैं। प्रतिदिन शारीरिक श्रम कीजिये। प्रकृति ने हमें मानसिक शक्ति, शारीरिक शक्ति का स्थान लेने के लिए नहीं प्रदान की है; अपितु शारीरिक शक्ति पर यथायोग्य नियंत्रण रखने के लिए दी है। बिना शरीर को श्रमशील बनाये केवल मानसिक श्रम तो रोग का राजद्वार है।

भूख के बाद, काम हमारी प्रमुख मूल-भावना और शायद उग्रतम समस्या है। प्रकृति निरंतर गतिशील है। उसने स्त्री को रूप और पुरुष को बल देकर, उनमें पारस्परिक आसक्ति भर दी है। हम पुरुषों के पल्ले तो इतनी कामोत्तेजना आयी है कि हम स्त्रियों के पीछे पागल हो जाते हैं। काम-वासना रक्त को अग्निशिखा बना देती है, जिससे हमारा सारा व्यक्तित्व उद्वेलित हो उठता है। व्यक्तित्व की श्रेष्ठता इसमें है कि हम कर्तव्य एवं कामनाओं में समन्वय स्थापित करें। पति-पत्नी यदि एक दूसरे के सहायक नहीं हुए, यदि विवाह केवल कामतृप्ति का साधन हुआ, तो वह निश्चय ही असफल हो जायेगा।

विवाह-पद्धति का आरम्भ केवल सम्पत्ति-रक्षण और बच्चों के पालन-पोषण के लिए ही नहीं, अपितु मनुष्य की काम-वासना के अमानुषिक प्रदर्शन को रोकने के लिए भी हुआ था। यह ठीक है कि विवाह के उपरान्त काम को मनचाहा स्वातंत्र्य मिल जाता है; किन्तु वह सीमित भी तो हो जाता है, समाज की अभिरुचि के अनुरूप भी तो हो जाता है। विवाह के उपरांत ही हम विविध विषयों पर सम्यक् विचार करने में समर्थ हो पाते हैं—यथार्थ में वयस्क बनते हैं। अतः समर्थ होने तक विवाह-सूत्र में बंधकर काम के भूत को अपने द्वार से दूर रखें। इसे भी सत्य मानिये कि पच्चीस से ज्यादा किसी भी आयु वाला कोई भी व्यक्ति, केवल अपनी निजी बुद्धि से, अपनी पत्नी या पति चुनने की योग्यता नहीं रखता। अतः माता-पिता को चाहिये कि सन्तान को विवाह-बंधन में पड़ने में मदद दें—धन से और अपने अनुभवपूर्ण विचारों से।

विवाह की कठिनाइयां, विवाह-प्रसूत सुखों की तुलना में कहीं कम हैं। पत्नी की एक मुस्कान, बच्चों का एक आलिंगन जीवन को स्वर्ग बना सकता है। नेपोलियन कहा करता था कि यदि उसने जीवन की धन्यता कभी जानी, तो अपने बच्चों के प्यार में।

मेरी पत्नी की राय में—"सभ्य मनुष्य वह है, जो सदा उदार हो।" उदारतापूर्ण वचन अपना अच्छा मूल्य नहीं रखते, परन्तु वे होते हैं अत्यन्त कीमती। आपका प्रत्येक कठोर वचन, आपके ही पास लौट आयेगा और आपके ही जीवन-मार्ग में पत्थर बनकर बाधक होगा। दूसरों की बुराई करना बेईमानी से आत्महनन है।

परिवार और गुरु की भांति धर्म भी चरित्र-निर्माण का एक बड़ा साधन है। कृषि के आविष्कार से पचास हजार या इससे भी अधिक वर्ष पूर्व मनुष्य आखेट पर निर्भर था। भोजन-प्राप्ति की अनियमितता और अनिश्चितता के कारण वह आखेट-युगी नर लालची था। भोजन-प्राप्ति के लिए वह लड़ता था, वह कलह-प्रिय था। उसके कामुक होने के पीछे भावना थी जनसंख्या की वृद्धि की—अधिक मनुष्य होंगे, तो अधिक सुगमता से उदर-पूर्ति हो सकेगी।

जब कृषि का प्रादुर्भाव हुआ और आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से होने लगी, तो लोग सामाजिक जीवन के प्रति उत्तरदायी होने लगे। उत्तरदायित्व का अभिप्राय ही है—अनुत्तरदायित्व पर अंकुश। जीवन-यापन के नियमों और विविध सदाचारों के रूप में ये अंकुश प्रकट हुए। माता, पिता, गुरु, पारिवारिक अनुशासन और धार्मिक शिक्षाओं के द्वारा, ये अंकुश प्रभावशाली बनाये गये और समाज द्वारा ये परम्परागत हो गये। ये प्रतिबंधक नियम शरीर और मन के लिए कष्टदायक थे, फिर भी उनका पालन किया गया—कुछ अंश तक दण्डों के भय से उत्पन्न होने के कारण, पर विशेषतया इस अलौकिक आस्था के कारण कि इन नियमों की सृष्टि सर्वशक्तिमान विधाता ने की है, जो प्रत्येक सत्कर्म का पुरस्कार और प्रत्येक दुष्कर्म

पर दंड देता है। निश्चय जानिये, यदि धर्म ने इस प्रकार की आस्था न प्रचारित की होती, तो मानव-जाति की सभ्यता आज जीवित न होती।

वैज्ञानिकता से अभिभूत आधुनिक मस्तिष्को में यह धर्म वाली बात सरलता से प्रवेश नहीं कर पायेगी। इसके लिए अनुभूति चाहिये न्यूटन और वाल्टेयर की-सी, और विश्वास चाहिये रूसो और पास्कल का-सा, जो यह मानते थे कि केवल बुद्धि पर ही मनुष्य आश्रित नहीं है। इस विराट् सृष्टि मे हम इतने सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं कि हममे से कोई भी इस ससार को समझ पाने की स्थिति मे नहीं है। इंद्रिय-जन्य अनुभूति के परे भी कुछ है, ऐसा मानना ही श्रेयस्कर है।

धन जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है। किंतु रोटी के लालच में चूहेदानी मे फंसे चूहे के समान धनार्जन में मत फंसिये। धनार्जन भी काम-वृत्ति की भाति है; वह असयत-असीमित होकर कहीं आपके जीवन को न ग्रस ले। यह भी ध्यान रखें कि आप कहीं जीवन की गाडी ढोने वाले खच्चर-मात्र न बन जायें। उत्पादक शक्तियो को विकसित करने में आपकी पूंजी का हाथ हो, यह सर्वथा उचित है, किंतु इस हद तक नहीं कि आप भार-वाहक मात्र रह जायें। अपनी पूंजी हजार से लाख कर लेने से अधिक मान आपको अपने कर्मचारी-वर्ग के प्रति किये गये सद्व्यवहार से मिलेगा। पाखंड, विलासपूर्ण जीवन-वृत्ति और ससार को जितना दिया है, उसमे अधिक लेने की चेष्टा—ये उच्चता के लक्षण नहीं कहे जा सकते।

राष्ट्रों में आज जो उग्र पारस्परिक प्रतियोगिता है, वह आपको किसी एक विषय के गूढ़ अध्ययन के लिए विवश करेगी। विज्ञान के प्रति आज जो प्रबल आकर्षण है, उसे देखते हुए यदि मै कहूं कि विद्यालयों मे आपका साहित्य, इतिहास, दर्शन, सगीत और कला से भली प्रकार परिचय नहीं कराया जाता, तो अत्युक्ति न होगी। मेरी आपसे यही विनती है कि आप कूप-मंडूक न बनें। शिक्षा-समाप्ति के बाद भी प्रति सप्ताह कम-से-कम दो घंटे साहित्य के कुसुमोद्यान में अवश्य ही विचरण करें। ससार के प्रसिद्ध कवियों का परिचय प्राप्त कीजिये। विश्व की उत्कृष्ट कला का पर्यवेक्षण कीजिये। कला और साहित्य के रस-कलश का ही नहीं, जीवन की रस-स्रोतस्विनी का अवगाहन कीजिये और करते रहिये। यही जीवन की पूर्णता है।

❀ ❀ ❀

हमें अपने जीवन में बहादुरी दिखाने के मौके बहुत कम मिलते हैं; लेकिन बुजदिली न दिखाने का मौका रोज मिलता है।

—रेने फ्रांस्वा बाजां

नानक सिंह



एक अभाव : अनंत सौभाग्य

मैं गत तीस वर्षों से बहरा हूं—सिर्फ पचीस प्रतिशत ही सुन सकता हूं। जब इलाज कर-करके हार गया, तो अच्छा होने की आशा छोड़ दी।

फिर एक दिन एक डाक्टर-मित्र ने बताया कि यूरोपीय वैज्ञानिकों ने बहरेपन के लिए इंजेक्शन तैयार किये हैं, जो इस रोग का अचूक इलाज है। मेरे मन में एक बार अच्छा होने की आशा उमड़ पड़ी और मैंने इंजेक्शन लेने आरम्भ कर दिये। लेकिन पांच महीने तक शरीर छिदवाने के बाद भी नाममात्र को लाभ नहीं हुआ, तो मैं गहरी निराशा में डूब गया—एक तरह से मेरा जीना ही दूभर हो उठा।

मुझे जब-जब भी किसी घोर निराशा ने दबाया है, तब-तब मैं पहाड़ों की ओर भागा हूं। इस बार भी वही किया। डलहौजी मेरा प्रिय पर्वतीय स्थान है। वहां पहुंचा। परन्तु वहां जाकर भी स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ा। मन का भारीपन दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया।

इसी मानसिक पीड़ा की छटपटाहट में एक व्यक्ति से मेरी मुलाकात हुई, जिससे न केवल मेरी निराशा दूर हुई, बल्कि मुझमें उत्साह भर गया।

एक जन्मांध युवक की, जो मंजा हुआ कवि होने के अतिरिक्त ऊंचे स्तर का संगीतज्ञ भी था, उन दिनों डलहौजी में धाक जम रही थी। 'ब्रेल सिस्टम' में वह इतनी द्रुत गति से लिख-पढ़ सकता था कि देखने वाले दंग रह जाते थे। स्वांग-कला का प्रदर्शन करता, तो सुनने वाले मंत्रमुग्ध-से बैठे या खड़े रह जाते।

ऐसे आत्म-सजग और चमत्कारी व्यक्ति से मिलने और उसे जानने का लोभ मैं रोक नहीं सका। एक दिन शाम को मैं उसके पास जा पहुंचा। वह बड़े प्रेम से मिला। आरम्भ में ही उसने अपना परिचय दिया—नाम : [illegible], गांव : [illegible], जिला रावलपिंडी, उम्र : ३६ वर्ष, जाति : आहलूवालिया। सब मिलाकर तीन भाई, एक बहन। चारों ही जन्म से अंधे। तीन छोटे अंधे भाई-बहनों के भरण-पोषण का दायित्व भी उसी पर।

फिर प्रश्नोत्तरों का सिलसिला जुड़ा। उसने बताया कि लाहौर के एमर्सन इंस्टिट्यूट फार ब्लाइंड्स में चार वर्ष का कोर्स किया और वहां ब्रेल लिपि से पढ़ना-लिखना ही नहीं, टाइप करना भी सीखा। संगीत की शिक्षा माधव म्यूजिक कालेज, ग्वालियर में पायी, जहां सात वर्ष का कोर्स (एम. ए.) किया। पहले देवसमाज ट्रेनिंग कालेज, फीरोजपुर में था, अब उत्तर प्रदेश में एक गुरु नानक गर्ल्स कालेज में संगीत का प्राध्यापक है। वेतन, ट्यूशन सब मिलाकर सात सौ रुपये की मासिक आमदनी हो जाती है।

मैंने पूछा—"और आपने कविता करना कैसे सीखा?"

उत्तर मिला—"वह तो जिंदगी की ट्रैजेडी ने ही सिखा दी। वही तो कविता की जन्मदात्री होती है न! किसी परिवार में एक नहीं, दो नहीं, पूरे चार व्यक्ति जन्मजात अंध हों, इससे बड़ी ट्रैजेडी और क्या होगी?"

"लेकिन देखने में तो आप बड़े खुश और हंसोड़ जान पड़ते हैं!"

"यह मेरी बचपन की आदत है। मैंने अपने आपको कभी भी अभागा नहीं समझा। चिंता मेरे निकट फटकती नहीं, बल्कि मैं तो इस ट्रैजेडी का आभारी हूं कि इसने मुझे कवि बना दिया, संगीतकार बना दिया, प्रोफेसर बना दिया। बड़े-बड़े घरानों की लड़कियां मुझे गुरु-भाव से देखती हैं। इससे बड़ा सौभाग्य क्या होगा?"

जगजोधसिंह के यहां से लौटने पर मुझे जान पड़ा, जैसे मैं अपनी निराशाओं और चिंताओं की गठरी वहीं भूल आया हूं।

उस दिन से आज तक मैं जब भी कानों के विषय में सोचता हूं, तो जगजोधसिंह की आकृति मेरे सामने आ जाती है। और मैं सोचा करता हूं—"कितना अंतर है मुझमें और उस अंधे में! भगवान ने मेरे केवल कान ही तो छीने हैं—वे भी पूर्णतया नहीं। तब इतनी-सी बात के लिए क्यों दिल छोटा करूं? यदि मैं भी जगजोधसिंह की तरह अंधा हो जाता तीन नेत्रहीन छोटे बहन-भाइयों सहित, तो मेरे-जैसा आदमी शायद एक दिन भी जीवित न रह पाता। दूसरी तरफ भगवान ने मुझे तो लेखन-कला जैसी निधि प्रदान कर रखी है। फिर भी तनिक-से अभाव का यह रोना! धिक्कार है मुझ पर!"

और तब मैं अपने को न जाने कितना भाग्यशाली व सुखी समझने लगता हूं।

❖ ❖ ❖

छोटी-से-छोटी खुशी आदमी के बड़े-से-बड़े दुःख को ढंक लेती है; इसीलिए हंसना आदमी के लिए बहुत जरूरी है।

—फ्रांस्वा रैबेलाइस



चन्द्रशेखर पाण्डेय

कारुण्य का सागर

नरक में उस दिन सहसा शीतल वायु का एक झोंका आया। दहकती आग में झुलसते हुए शरीरों की दाह से त्राण मिला। प्यास से सूखे हुए कंठ तर हो गये। यंत्रणा के यंत्र थोड़ी देर के लिए थम गये। नरकवासियों ने चकित हो इधर-उधर दृष्टि दौड़ायी, तो एक नरपति उन्हें अपनी ही ओर आते हुए दिखाई दिये। उनके साथ बिजली-जैसी कांतिमयी काया वाला एक यमदूत था, जो उन्हें नरक के भिन्न-भिन्न विभाग दिखाता हुआ चल रहा था। यातना और उत्पीड़न से भोगते प्राणियों को देखकर उस नरपति का मुख म्लान हो गया।

यमदूत से अत्यन्त खिन्न स्वर में उन्होंने कहा—'हे धर्मदूत, जनकवंश में उत्पन्न मैं विदेह देश का राजा विपश्चित् हूं। मैंने सर्वदा धर्मानुसार प्रजा और पृथ्वी का पालन किया है। परायी स्त्री और परायी सम्पत्ति पर मैंने कभी लालचभरी दृष्टि नहीं डाली। अनेक यज्ञ तथा विविध शुभ कर्म मैंने किये हैं। देवता, पितर, ऋषि और अतिथि का मैंने सदा यथाविधि पूजन किया है। फिर मुझे किस पाप के कारण नरक आना पड़ा?'

यमदूत ने अत्यन्त नम्रता के साथ निवेदन किया—'राजन! आपने जो कुछ कहा, अक्षरशः सत्य है। आपके समान धर्मात्मा राजा होना बड़ा कठिन है। किन्तु आपने भी एक बार कर्तव्य-दोष तो किया था।'

यमदूत ने राजा की जो छोटी-सी भूल बतायी, [illegible] की कभी नहीं देखा। किन्तु वह पुरातन था और [illegible] थी। यमदूत बोला—'राजन्, नरक-दर्शन में ही [illegible] चुके। अब आपने पुण्यकर्मों का फल भोगने को [illegible]।'

दूत जब विपश्चित् को [illegible] की ओर से [illegible] विपश्चित् जब चलने को उद्यत हुए, तो सहसा नरकवासी [illegible] चिल्ला-चिल्लाकर प्रार्थना करने लगे—"हे [illegible]

जाइये। आपके शरीर से लगकर जो हवा हमारे पास आती है, वह हमारे ताप को नष्ट करती है।"

महाराज विपश्चित् उनकी करुण पुकार सुनकर वहीं रुक गये और उन्होंने यमदूत से पूछा—"मेरे शरीर से लगकर बहने वाली वायु इनकी वेदना को कैसे शांत कर देती है?" यमदूत बोला—"महाराज! पितर, देवता, ऋषि, अतिथि और भृत्य इन सबको संतुष्ट करने के बाद बचे हुए अन्न से आपका शरीर पुष्ट हुआ है। उसी पुण्य का यह प्रभाव है कि आपको छूकर बहने वाली हवा दुःखियों का संताप दूर कर देती है। ताडन-छेदन-दहन करने वाली नरक की शक्तियां आपके तेज से कोमल हो गयी हैं।"

इस पर राजा ने कहा :

"न स्वर्गे ब्रह्मलोके वा तत् सुखं प्राप्यते नरैः।
यदार्त्तजन्तुनिर्वाणदानोत्थमिति मे मतिः॥

—मेरे विचार से, जो सुख दुःखियों का दुःख दूर करके उन्हें शांति प्रदान करने से होता है, वह सुख मनुष्य स्वर्गलोक अथवा ब्रह्मलोक में भी नहीं प्राप्त कर सकता। अतः हे धर्मदूत, यदि मेरे यहां रहने से इन जीवों को नरक की यातना कष्ट नहीं पहुंचाती, तो मैं यहां पर रहूंगा।" यमदूत ने उन्हें समझाने की बहुत चेष्टा की—"राजन, प्रत्येक को अपने कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। आइये, इन पापियों को अपना कर्मफल भोगने दीजिये और स्वर्ग को चलिये।"

परंतु विपश्चित् अपनी बात पर अटल रहे—"नहीं यमदूत! इतने प्राणियों को घोर यातना में छोड़कर मैं स्वर्ग में सुख भोगने के लिए नहीं जा सकता।

धिक् तस्य जीवनं पुंसः शरणार्थिनमातुरम्।
यो नार्त्तमनुगृह्णाति वैरिपक्षमपि ध्रुवम्॥

—शरणार्थी, पीड़ित तथा रोगी मनुष्य चाहे वे शत्रुपक्ष के ही क्यों न हों, उन पर जो कृपा नहीं करता है, उसके जीवन को धिक्कार है। इसलिए तुम जाओ यमदूत, मैं तो यहीं रहूंगा।"

राजा विपश्चित् के इस उत्तर से सब नरकवासी प्रसन्न होकर उन्हें साधुवाद देने लगे। किंतु उसी समय जगमगाता हुआ एक दिव्य विमान वहां आकर रुका। साक्षात् यम धर्मराज और देवराज इंद्र उसमें से उतरकर राजा विपश्चित् के पास पहुंचे। धर्मराज ने कहा—"राजन्, आपने पृथ्वी पर भली भांति मेरी उपासना की है। अतः मैं आपको स्वर्गलोक में ले चलने के लिए आया हूं।"

विपश्चित् ने पहले दोनों देवों को सादर प्रणाम किया, फिर धर्म से बोले :

"नरके मानवा धर्म! पीड्यन्तेत्र सहस्रशः।
त्राहीति चार्त्ताः क्रन्दन्ति मामतो न व्रजाम्यहम्॥

—हे धर्म! नरक के ये हजारों मनुष्य आर्त स्वर में मुझे रक्षा के लिए पुकार रहे हैं। मैं इन्हें इस अवस्था में छोड़कर नहीं जा सकता।"

फिर राजा ने प्रश्न किया—"यदि आप और इन्द्र जानते हों, तो बताने की कृपा करें कि मेरे कितने पुण्य हैं?" धर्म ने कहा—"महाराज! जैसे सागर के जलबिन्दुओं, आकाश के तारों और गंगा की बालुका के कणों की गणना नहीं हो सकती, उसी प्रकार आपके पुण्यों की गणना नहीं हो सकती। वे असंख्य हैं। उन्हीं के फलस्वरूप आप देवलोक में चलकर सुख भोगें। ये पापी नरक में रहकर अपने पापों का फल भोगेंगे।"

राजा ने कुछ खिन्नता से उत्तर दिया :

"कथं स्पृहां करिष्यन्ति मत्सम्पर्के तु मानवा।
यदि मत्संनिधावेषामुत्कर्षो नोपजायते॥
तस्माद् यत् सुकृतं किञ्चिन्ममास्ति त्रिदशाधिप।
तेन मुच्यन्तु नरकात् पापिनो यातना गता॥

—यदि मेरे समीप आने पर भी इन दुःखी जीवों को सुख नहीं मिला, तो कौन मनुष्य मेरे निकट आने की स्पृहा करेगा? इसलिए अपने समस्त पुण्यकर्मों के बदले में मैं यही चाहता हूं कि ये जीव नरक से छुटकारा पा जायें। मुझे देवलोक के सुखों की अभिलाषा नहीं है।"

राजा के इस उत्तर पर इन्द्र धन्य-धन्य कह उठे और बोले—"राजन्! इस उदारता के कारण आपके पुण्य और भी हजार गुना बढ़ गये। वह देखिये, नरक के प्राणी भीषण यातनाओं से मुक्त होकर जा रहे हैं। अब आप भी स्वर्ग चलिये।"

"करुणा-मूर्ति महाराज विपश्चित् की जय!" के नारे लगाते हुए सब नरकवासी मुक्त होकर अपने-अपने कर्मों के अनुसार अन्य लोकों के लिए चले। जब तक वे सब विदा नहीं हो गये, विपश्चित् वहीं खड़े रहे। उन पर पुष्पों की वर्षा होती रही।

[illegible]

हमारी आंखें भले ही कभी अपवित्र चीजें देख लें, किन्तु कभी हमारे मन को अपवित्र चीज न देखने दो। हमारे कान भले ही कभी अपवित्र शब्द सुन लें, किन्तु कभी हमारे मन को अपवित्र चीज न सुनने दो।

—[illegible]



डा० जोस्वे डी कैस्ट्रो

कंगाल की सौर सदा भरी

भुखमरी से मृत्यु-दर स्पष्ट ही बढ़ती है। इस कारण सदा से यह समझा जाता रहा है कि युद्ध और महामारी की तरह भुखमरी भी आबादी की वृद्धि को रोकती है। अतः यह कथन बड़ा अटपटा और विरोधाभासी प्रतीत होगा कि भूख जनसंख्या का ह्रास नहीं, उसकी अतिवृद्धि करती है।

लेकिन यह कथन पूर्णतया प्रमाणित तथ्यों पर आधारित है। यह तो सभी की देखी हुई बात है कि संकट, अकाल और महामारी के बाद हमेशा ही जनसंख्या अधिक तेजी के साथ बढ़ती है। यह भी स्पष्ट देखा जा सकता है कि जो देश भोजन की पौष्टिकता की दृष्टि से सबसे निचले स्तर पर हैं और जहां लाखों मनुष्यों का भूखों मरना सामान्य-सी बात है, वहीं आबादी भयंकर तेजी से बढ़ती जा रही है—जैसे चीन, भारत, मिस्र और दक्षिण अमरीका के विभिन्न देशों में। इसके विपरीत, पौष्टिकता की दृष्टि से सर्वोच्च स्तर पर पहुंचे हुए देशों में जन्म-दर मुश्किल से मृत्यु की बराबरी कर पाती है और वहां जनसंख्या-ह्रास के लक्षण जल्दी प्रकट हो जाते हैं। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और संयुक्त राज्य अमरीका में आज यही स्थिति है।

इस विरोधाभास का स्पष्टीकरण इस प्रकार है। समाजव्यापी भुखमरी मृत्यु-दर तो बढ़ाती ही है, परंतु जन्म-दर को उससे भी ज्यादा बढ़ा देती है, जिससे आबादी में तेजी से वृद्धि होती है। अक्सर देखा गया है कि समाज के भूखे-नंगे तबके सबसे ज्यादा संतान पैदा करते हैं। पुराने रोमनों ने भूखे रहकर बच्चे ('प्रोल') पैदा करने वालों के लिए एक शब्द ही गढ़ लिया था—'प्रोलेतारियन'। दक्षिण अमरीका की एक प्रचलित कहावत है— "कंगाल की थाली हमेशा खाली, कंगाल की सौर सदा भरी।"

इन महत्त्वपूर्ण सर्वविदित तथ्यों के रहते हुए भी जनसंख्या-वृद्धि के विवेचक प्रायः यही मानकर चले हैं कि अन्नाभाव से आबादी घटती है, या उसके बढ़ने की

रफ्तार तो धीमी पड़ती ही है और अत्यधिक जनसंख्या में तीव्र वृद्धि होती है। लेकिन उन्नीसवीं सदी के मध्य में हुए तत्ववेत्ता और अर्थशास्त्री डबलडे का ऐसा विचार नहीं था। उन्होंने बल्कि यह समझाने की चेष्टा की थी कि अन्नाभाव से जनसंख्या-वृद्धि की रफ्तार किस प्रकार बढ़ती है। १८५३ के एक निबंध में उन्होंने कहा था :

"वनस्पतियों और प्राणियों के वृद्धि-क्षय का यह महान नियम जान पड़ता है कि जब किसी नस्ल या जाति का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है, तब प्रकृति हमेशा उसकी प्रजननशीलता बढ़ाकर उसकी रक्षा का प्रयत्न करती है। खासकर ऐसा तब होता है, जब खतरा पौष्टिक भोजन की कमी के कारण उपस्थित हो। परिणामतः अपरिपुष्टता प्रजननशीलता के अनुकूल पड़ती है और अत्यधिक परिपुष्टता उसके प्रतिकूल।"

दुर्भाग्यवश डबलडे के इन सिद्धांतों का व्यापक प्रचार नहीं हुआ—कुछ तो इसलिए कि उनसे विक्टोरियन युग के मध्यम और उच्च वर्ग की भावनाओं और नैतिक मान्यताओं को ठेस पहुंची, और कुछ इसलिए भी कि डबलडे पर्याप्त तथ्य व प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके। लेकिन आज पर्याप्त तथ्य व प्रमाण उपलब्ध हैं।

प्रयोग और निरीक्षण यह सिद्ध करते हैं कि निरन्तर अधपेट खाने से मनुष्य की भूख मंद पड़ जाती है, थोड़े-से भोजन से ही उसे तृप्ति हो जाती है। तब मनुष्य का ध्यान भोजन पर से हट जाता है। उसके लिए एक ही चीज़ जैवशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और मानसिक दृष्टि से तृप्तिकर रह जाती है—[illegible]। एक प्रवृत्ति के ह्रास की भरपाई दूसरी प्रवृत्ति की वृद्धि द्वारा हो जाती है।

यह बात पशु-पालक बहुत पहले से जानते थे कि बहुत मोटे होकर पशु बांझ हो जाते हैं। उनका पौरुष कायम रखने के लिए वे उनकी खुराक कम कर देते हैं। प्रोटीन की कमी पशुओं की प्रजननशीलता को बढ़ा देती है। जे. आर. स्लोनेकर के [illegible] प्रयोग इसे सिद्ध करते हैं।

स्लोनेकर ने चूहों की छः पीढ़ियों को ऐसी खुराकों पर रखा, जिनमें प्रोटीन की मात्रा भिन्न-भिन्न थी। देखा गया कि जब भोजन में प्रोटीन की मात्रा (कैलोरी के हिसाब से) केवल १० प्रतिशत थी तो ५ प्रतिशत चूहे नपुंसक थे। प्रोटीन का परिमाण बढ़ाकर १७ और २२ प्रतिशत कर देने पर नपुंसक चूहों की संख्या क्रमशः २८ और ४० प्रतिशत हो गयी। इसी हिसाब से मादा चूहियों में बांझपन क्रमशः २३ और ३८ हो गया।

जननों की संख्या में भी विभिन्नता पायी गयी। १० प्रतिशत प्रोटीन वाली खुराक पर हर झोल में औसतन ३.३ बच्चे हुए, १८ प्र. श. प्रोटीन पर २.४ और २२ प्र. श. प्रोटीन पर १.८।

ये आकड़े स्पष्टतः दिखाते हैं कि भोजन में प्रोटीन की मात्रा जितनी बढ़ती है, उसी अनुपात से प्रजनन-शक्ति घटती है। मनुष्यों में भी यही बात देखी जाती है। संसार में सबसे ऊंची जन्म-दर एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के उन देशों में पायी जाती है, जहा के भोजन में प्रोटीन की—विशेषतः पशुजन्य प्रोटीन यानी दूध, पनीर, अडे, मांस, मछली की मात्रा सबसे कम है। सबसे नीची जन्म-दर पश्चिम यूरोप, सयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया-न्यूजीलैंड में है, जहा भोजन में पशुजन्य प्रोटीन की मात्रा क्रमशः १७, २५ और २६ प्रतिशत है।

बेशक प्रोटीन प्रजनन-शक्ति की एकमात्र नियामक नहीं है; परतु उन दोनों का घनिष्ठ सबंध है। प्रोटीन की कमी प्रजनन-शक्ति को बढ़ाती है, यह कोई कोरा अनुमान नहीं है। प्रोटीन की रसपाक-प्रक्रिया के विषय में वैज्ञानिकों को अब पर्याप्त ज्ञान है और उसके आधार पर पता लगाया जा सकता है कि किस विधि या प्रक्रिया से प्रोटीन की कमी प्रजनन-शक्ति को बढ़ाती है और प्रोटीन की अधिकता प्रजनन-शक्ति को घटाती है। इसी को यहां सरल शब्दों में समझाने की कोशिश करूंगा।

जीवशास्त्रीय दृष्टि से प्रजननशीलता जिन अंगों पर निर्भर है, उनकी सक्रियता बहुत हद तक हारमोनों पर निर्भर होती है। ये हारमोन कतिपय नाली-रहित ग्रंथियों (डक्टलेस ग्लैंड) के स्राव होते हैं। स्त्री की गर्भधारण-शक्ति का इससे गहरा सबंध है कि उसके डिंबाशय (ओवरी) कितने सक्रिय हैं, वे कितना हारमोन—विशेषतः एस्ट्रोजन—उत्पन्न करते हैं, और स्त्री के रक्त और आंतरिक अवयवों में ये हारमोन कितनी मात्रा मे उपस्थित हैं?

जिगर और डिंबाशयो का गहरा सबंध होता है। डिंबाशय आवश्यकता से अधिक जो एस्ट्रोजन खून मे मिलाते हैं, उसे जिगर निष्क्रिय कर देता है। यह भी हम जानते हैं कि जिगर का फुलाव और उसके ऊतकों की विकृति प्रोटीन की कमी के मुख्य परिणाम होते हैं। ये लक्षण एशिया और अन्य महाद्वीपों के उष्णकटिबंध में विशेषतः देखे जाते हैं। विकृत जिगर अतिरिक्त एस्ट्रोजन को ठीक से मार नहीं पाता। परिणामतः स्त्री की गर्भधारण-शक्ति बढ़ जाती है।

मनुष्यो मे सतानोत्पादन डिंबाशयो द्वारा डिंब की उत्पत्ति, डिंब के निषेचन और गर्भकोष मे भ्रूण के विकास पर निर्भर है। इन सब प्रक्रियाओं का आधार है एस्ट्रोजन-वर्गीय हारमोनो की सक्रियता। वस्तुतः कामेच्छा भी शरीर में हारमोनों की उपस्थिति पर ही निर्भर है।

अतः अब यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं कि नस्ल का अस्तित्व खतरे में में पड़ जाने पर प्रकृति-माता किसी 'रहस्यमय' प्रक्रिया से सतानोत्पादन की रफ्तार बढ़ा देती है। वह प्रक्रिया है तो जटिल, पर अज्ञात नहीं है। उसकी कड़ियां ये

है—प्रोटीन की कमी से शिशु का कमजोर हो जाना, कमजोर शिशु का रोगाणुओं को मारने में असमर्थ होना, और अतिरिक्त रोगाणुओं की उपस्थिति से [illegible] [illegible]-धारण-शक्ति में वृद्धि। और यह तो हम देख ही चुके हैं कि स्थायी भूख जीने की इच्छा को घटाकर कामेच्छा को बढ़ाती है और संसार के भूखे देशों में ऊँची जन्म-दर को कायम रखती है।

अतः संसार के सब देशों की जनता को पौष्टिक भोजन पर्याप्त मात्रा में प्राप्त कराये बिना आबादी की अतिवृद्धि का प्रश्न पूरी तरह हल नहीं किया जा सकता।

कुछ वर्ष पहले बंगाल की सड़कों की सैर करते हुए मेरा [illegible] [illegible] [illegible]-निवासी महिला का साथ हो गया। सड़क के दोनों ओर [illegible] [illegible] और गंदगी फैली थी। पानी के एकदम किनारे [illegible] बेघर [illegible] बैठे थे [illegible] [illegible] गली की सड़क में पड़े रहते थे। यह दृश्य देखकर मेरे मुँह से निकला [illegible]... शायद इतने जोर से कि अपनी इन [illegible] भावनाओं से [illegible] [illegible] को भी [illegible] बना गई। हाँ तो मैं बुदबुदाया—"ओह! ये लोग तो एकदम मनुष्य के स्तर पर जिंदगी बसर कर रहे हैं!"

सुनकर उदास आँखों वाली वह [illegible] एक दो मिनिट चुप रही, फिर [illegible] [illegible] उसने [illegible] को [illegible] [illegible] हो और उसे इन लोगों [illegible] [illegible] [illegible] हो गई हो, इस तरह बोली—"[illegible] [illegible] इससे भी [illegible] [illegible] [illegible] में हैं। जरा इन बच्चों को देखिये। ये [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। ये अपने [illegible] और [illegible] के [illegible] [illegible] हैं और [illegible] [illegible] [illegible] में जिंदगी [illegible] से [illegible] करते हैं। पश्चिम के लोग '[illegible] [illegible]' [illegible] तो [illegible] इन आदमियों में से [illegible] [illegible] का [illegible]।"

[illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है न [illegible] [illegible]!

—डा० जी० टी० [illegible]



स्टीफान ज्वाइग

रोदें के मूर्ति-मंदिर में

तब मैं पच्चीस वर्ष का था और पेरिस में रहकर पढ़ाई कर रहा था। मेरी कई रचनाएं छप चुकी थीं और अनेक जन उनकी सराहना कर चुके थे। किंतु भीतर-ही-भीतर मैं अनुभव कर रहा था कि मैं इससे कहीं अच्छा लिख सकता हूं—यद्यपि मैं यह नहीं जान पा रहा था कि मेरे लेखन में खामी कहां है।

तभी एक घटना हुई। ऊपर से तो यह मामूली ही दिखेगी; परंतु यह उन घटनाओं में से थी, जो जीवन को एक नया मोड़ देती हैं, नयी दृष्टि देती है।

एक दिन सन्ध्या के समय हम लोग प्रसिद्ध बेल्जियन लेखक वरहारेन के घर बैठे थे। हमारे बीच एक चित्रकार थे; वे मूर्तिशिल्प के ह्रास पर खेद प्रकट कर रहे थे। मैं था तरुण और विवादोत्सुक। उनकी बात मुझे जंची नहीं और मैंने डटकर उनका विरोध किया। मैंने पूछा—क्या इसी पेरिस नगर में एक ऐसा शिल्पी नहीं है, जो माइकलेंजेलो के दर्जे का है? क्या रोदें की 'ला पांसर' और 'बालजाक' जैसी कृतियां तब तक अमर नहीं रहेंगी, जब तक वह संगमरमर कायम है, जिससे वे बनी हैं?

जब मेरा जोश कुछ ठंडा हुआ, तो वरहारेन ने बड़े सौजन्य से मेरी पीठ थपथपायी और कहा—"मैं कल रोदें से मिलने जा रहा हूं। तुम भी चले चलो मेरे साथ। तुम-जैसे अनन्य प्रशंसक को उस कलाकार से परिचित होने का पूरा अधिकार है।"

मेरी खुशी का पार न रहा। किंतु दूसरे दिन जब वरहारेन ने मुझे उस प्रसिद्ध शिल्पी से मिलाया, तो मेरे मुंह से एक भी शब्द नहीं निकला। रोदें और वरहारेन थे पुराने और अंतरंग मित्र। वे दोनों बातें करते रहे; और मुझे लगता रहा कि मैं कोई अवांछित आदमी बिना बुलाये ही वहां पहुंच गया हूं।

किंतु महान पुरुष बड़े रहमदिल होते हैं। जब हम चलने लगे, तो रोदें मेरी ओर मुड़े और बोले—"मेरा खयाल है, तुम मेरी दो-एक मूर्तियां देखना चाहोगे।

यहा तो मेरे पास कुछ नहीं है, लेकिन [illegible] को [illegible] [illegible] [illegible] मैं [illegible] डोनहृम का भोजन भी करना।"

इतवार को रोदें के [illegible] देहाती कुटीर में हम दोनों ने साथ भोजन किया। रोदें की स्निग्ध और प्रेमल दृष्टि और उनके व्यक्तित्व की [illegible] ने [illegible] मेरा सारा संकोच दूर कर दिया।

[illegible] खिड़कियों और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कितनी अधूरी मूर्तियां, प्लास्टर आफ पेरिस की छोटी-मोटी [illegible], [illegible], [illegible] कागजों की पोर्ट-फोलियो रचनाएं, अनगिनत [illegible] और [illegible] मेज के [illegible] नीचे इधर-उधर पड़ी हुई थीं। [illegible] मूर्ति-मंदिर रोदें के [illegible] [illegible] [illegible] और अविराम चलने वाले अध्यवसाय का जीवित प्रतीक था।

रोदें ने [illegible] का चोगा पहना। लगा कि वे [illegible] मजदूर बन गये हैं। [illegible] एक मूर्ति-पीठ के सामने रुके। [illegible] [illegible] का आवरण [illegible] [illegible] [illegible] का 'टार्सो' यानी धड़ उद्घाटित करते हुए उन्होंने कहा—"यह मेरी [illegible] रचना है। मेरा ख्याल है, अब इसमें कोई कसर नहीं रह गयी है।"

किन्तु [illegible] क्षण के ही निरीक्षण के बाद बुदबुदाये—'[illegible] [illegible] ऊपर वाली रेखा में अभी कुछ खटकता [illegible] है।'

उन्होंने छेनी उठायी। मृदु [illegible] के ऊपर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और अवयव को अधिक [illegible] [illegible] [illegible] गयी। रोदें के [illegible] [illegible] [illegible] हो उठे। उनकी आंखें [illegible] से भर गयीं। "[illegible].... [illegible] [illegible] [illegible] आवले [illegible]। फिर कुछ [illegible] किया। एक [illegible] [illegible] रहे। फिर [illegible] [illegible] घुमाया। उनके मुंह से विचित्र [illegible] स्वर निकलने लगे। [illegible] आंखें खुशी से चमक उठीं। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। उन्होंने [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] थी।

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भी [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और प्रकृति थी।

[illegible]

[illegible]

घूरकर देखा। तभी जैसे उन्हें कुछ याद आ गया। और मुझे साफ-साफ दीख गया कि अपने इस अशालीन व्यवहार से उन्हें धक्का-सा लगा है। "माफ करना...मैं बिलकुल भूल गया था। तुम तो जानते ही हो..."

मैंने कृतज्ञतापूर्वक उनके हाथ थाम लिये। शायद वे मेरे मन की बात समझ गये। मुस्कराये और कमरे से निकलते हुए उन्होंने एक हाथ मेरे गले में डाल दिया।

* * *

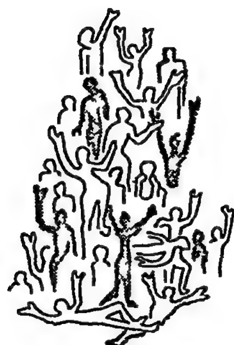
उस दोपहर को म्यूडा में जितना कुछ सीखा, उतना मैंने अपने समूचे छात्र-जीवन मे नहीं सीखा होगा। वास्तव में, अच्छा और महत्त्वपूर्ण काम कैसे सपन्न होता है—यह मैंने उसी दिन समझा। काम की धुन में कोई देश-काल को किस तरह भूल सकता है—इसकी प्रतीति ने मुझे जितना प्रभावित किया, शायद उतना किसी और चीज ने नहीं। उस दिन मुझे ज्ञात हुआ कि सारी कला का, मानव की समस्त सिद्धि का, मर्म है एकाग्रता—किसी भी छोटे या बडे कार्य के लिए अपनी समस्त शक्ति का एकत्रीकरण—अपनी विकीर्ण और विकेंद्रित सकल्प-शक्ति का एक बिंदु पर सपुंजन।

उस दिन मैंने जाना कि मेरी कृतियों में जिस चीज की कमी थी, वह थी उद्देश्य के अतिरिक्त सब कुछ भुला देने की शक्ति। उस दिन मैंने जाना कि अपने काम में अपने आपको पूरी तरह गर्क कर देने की क्षमता आदमी में होनी चाहिये। उस दिन मैंने जाना कि महानता की प्राप्ति के लिए कोई फारम्युला या मंत्र नहीं है।

❖ ❖ ❖

तुमने देखा होगा कि अच्छे गवैये स्वर तो ऊंचा या नीचा वही पकड़ते हैं, जिसे वे अच्छी तरह निभा सकें; मगर उस पर अपना सारा जोर लगा देते हैं। तभी उनके गाने में पूरी मिठास और लोच आती है। यही हाल कर्मकला का है। कर्म छोटा किया जाये या बड़ा, यह तो अपनी-अपनी शक्ति पर निर्भर है। परतु जिस कार्य को अगीकार किया जाये, उस पर अपने मन, बुद्धि और शरीर की पूरी ताकत लगा देने से ही वह अच्छी तरह पूरा होता है।

—महात्मा गाधी



वर्नार्ड आस्वेल

इंसान भूख से मरेगा या भीड़ से?

आवादी की वढ़ती पर अगर शीघ्र ही कावू नहीं पाया गया, तो दुनिया में करोड़ों लोगों के भूखों मरने की नौवत आ जायेगी। . .. कितनी विकराल है यह कल्पना! मैं इसे 'कल्पना' इसलिए कह रहा हूं कि धरती कितने मनुष्यों का भरण-पोषण कर सकती है और विज्ञान अन्न की उपज कितनी वढ़ा सकता है एव कितने नवीन खाद्य पदार्थों का आविष्कार कर सकता है, इसका सही लेखा-जोखा किसी के भी पास नहीं है।

फिर भी अनियंत्रित आवादी का खतरा विल्कुल झूठा हो, ऐसी वात नहीं है। भले ही करोड़ों लोगों के भूखों मरने की नौवत न आये, परतु कई वैज्ञानिकों का खयाल है कि भीड़-भडक्का भयंकर समस्याए पैदा कर देगा। इन वैज्ञानिकों ने भीड के शारीरिक और मानसिक प्रभावों के सवध में सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षण किये हैं।

सवाल उठता है, भीड क्या है? जव आदमी इतनी सख्या मे और इस रूप में परस्पर निकट ला दिये जायें कि दवाव की शारीरिक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होने लगें, तो समझिये कि भीड हो गयी है। इन शारीरिक प्रतिक्रियाओ मे मुख्य हैं—अधिवृक्क (एडरीनल) ग्रंथियों का अत्यधिक सक्रिय हो जाना।

जव ये प्रतिक्रियाएं वडे पैमाने पर और दीर्घकाल तक चलती रहती हैं, तो शरीर में निर्वलता आ जाती है, क्रोध और उग्रता वढ जाती है अथवा घोर निष्क्रियता छा जाती है, काम-विकार वढ़ जाते हैं, व्यवस्थित सामूहिक आचार-व्यवहार टूट जाता है। इन सवका अतिम परिणाम हो सकता है—वडे पैमाने पर मृत्यु। और मृत्यु की ये लहरे तव तक लगातार उठती रह सकती हैं, जव तक भीड छंटकर सामान्य स्थिति न वापस आ जाये।

ये समूची प्रक्रियाएं पशु-पक्षियों के सामूहिक व्यवहार के अध्येताओं ने जीव-जगत् में वार-वार होती देखी हैं। यों, प्राणि-जगत् के ये नियम मानव-समाज पर भी लागू होंगे ही, ऐसा वे डके की चोट नहीं कहते हैं। परतु एक प्रसिद्ध अमरीकी

नृतत्त्वशास्त्री डा० एडवर्ड टी. हाल और उनके सहयोगी मानस-चिकित्सक इसके प्रमाण जुटा रहे हैं कि दबाव की प्रतिक्रियाओं का जो असर अन्य प्राणियों पर होता है, वही मानव पर भी होगा, क्योंकि आखिर मानव भी तो एक प्राणी है।

हाल ने भीड के प्रश्न का खुलकर विवेचन अपनी पुस्तक 'द हिडन डाइमेन्शन' में किया है। इसमें उन्होंने लिखा है–"अगर हम बहुत ध्यानपूर्वक पशुओं का अध्ययन करें, तो अंतःस्रावी ग्रंथियों की एक स्वयंचलित नियंत्रण-व्यवस्था (सर्वो-मेकैनिज्म) के अस्तित्व का आभास मिलेगा। यह नियंत्रण-व्यवस्था घरेलू शीत-ताप-नियंत्रक के 'थर्मोस्टैट' से मिलती-जुलती है। फर्क इतना ही है कि 'थर्मोस्टैट' ताप को नियंत्रित करता है, जब कि अंतःस्रावी ग्रंथियों की नियंत्रण-व्यवस्था आबादी का नियंत्रण करती है।"

जान जे. क्रिश्चियन प्रथम विज्ञानी हैं, जिन्होंने इसका पता लगाया कि आबादी बढ़ने और 'दबाव' पडने में किस प्रकार अंतःस्रावी प्रतिक्रियाएं शुरू होती हैं और आबादी का एकाएक ह्रास होने लगता है।

अमरीका के पश्चिमी तट से कोई मील-भर दूर चेसापीक खाडी में आधे वर्ग मील क्षेत्रफल का एक टापू है–जेम्स आइलैंड। इस पर कोई बस्ती नहीं है। १९१६ में किसी पशुप्रेमी ने यहां 'सिका' नस्ल के चार-पांच हिरन लाकर छोड़ दिये। हिरनों ने यहां खूब संतान पैदा की। यहां तक कि १९५५ तक हिरनों की आबादी ३०० हो गयी। अर्थात् एक एकड़ जमीन के पीछे एक हिरन हो गया, जो कि हिरनों की दृष्टि से भयंकर भीड़ है।

उसी साल विज्ञानी क्रिश्चियन, जेम्स आइलैंड गये। उन्होंने पांच हिरन बंदूक से मार गिराये और उन्हें चीर-फाडकर उनकी एड्रीनल ग्रंथि, थाइरायड ग्रंथि, हृदय, फेफड़े, प्रजनन-ग्रंथियां और ऊतक आदि का बारीकी से निरीक्षण किया। सब अवयव बिलकुल ठीक थे सिवा एक के, और यह अपवाद था एड्रीनल ग्रंथि। पांचों ही हिरनों में यह ग्रंथि काफी बडी हो गयी थी, जैसे किसी मांसपेशी से बहुत काम लेने से वह आकार में बड़ी हो जाती है। एड्रीनल ग्रंथि देहवृद्धि, प्रजनन और रोग-प्रतिरोध के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। अगर किसी पशु को बार-बार या लगातार दबाव सहना पड़े, तो उसकी यह ग्रंथि अत्यधिक सक्रिय हो उठती है और बहुत बड़ी हो जाती है।

क्रिश्चियन ने सोचा, अगर हिरनों की एड्रीनल ग्रंथि भीड़-भड़क्के के कारण ही बढ़ी है, तो जेम्स द्वीप में शीघ्र ही कुछ गुल खिलेंगे। और सचमुच ही गुल खिले। अगले दो साल तक तो जेम्स आइलैंड में हिरनों की संख्या लगभग उतनी ही रही। परंतु तीसरे साल अर्थात् १९५८ में बिना किसी कारण के १९० हिरन मर गये–खासकर हिरनियां और बच्चे। केवल ८० हिरन बाकी रह गये टापू पर।

निश्चय ही ये भूख से नहीं मरे थे, क्योंकि टापू पर घास-पात की कोई कमी नहीं थी। उनकी खालें चमकीली थीं, मांसपेशियां सुविकसित थीं, शरीर पर चर्बी की खासी मोटी परत थी और अगर सचमुच कोई महामारी फैली थी, तो ८० हिरन कैसे स्वस्थ और जीवंत रह गये?

दो साल बाद १९६० में क्रिश्चियन एक बार फिर जेम्स आइलैंड गये और उन्होंने दो-चार हिरन मारकर उनकी जांच की। पहली बात उन्होंने यह देखी कि सभी की काया भीड़ की चरमावस्था के समय बंदूक से मारे गये हिरनों की तुलना में ३० प्रतिशत बड़ी थी। मगर इससे भी बड़ी बात यह थी कि सभी की एड्रीनल ग्रंथियां पहले मारे गये हिरनों की ग्रंथियों की तुलना में आधी थीं, अर्थात् सामान्य आकार में लौट आयी थीं। नन्हे मृगछौनों में तो ये ग्रंथियां भीड़ के समय के छौनों की तुलना में पांचवें हिस्से के बराबर थीं।

क्रिश्चियन का कहना है—"ऐसा प्रकट होता है कि एड्रीनल ग्रंथियों के दीर्घ-काल तक अत्यंत सक्रिय रहने से चयापचय-प्रक्रिया में भारी अव्यवस्था हो गयी और उससे 'शॉक' लगकर ये हिरन मर गये। रोग-सक्रमण, भुखमरी या अन्य किसी कारण की उपस्थिति का कोई सुराग नहीं मिला, जिससे इस सामूहिक मृत्यु की व्याख्या की जा सके।" क्रिश्चियन ने यह भी कहा कि शायद अतिसक्रियता के कारण हिरनों के शरीर में पोटाशियम की कमी हो गयी थी।

क्रिश्चियन के निरीक्षणों से हमें केवल इसका पता चलता है कि भीड़ में हिरन कैसे मर गये। भीड़ में वे कैसे जीते थे, कैसा व्यवहार करते थे, इसका परिचय हमें इनसे नहीं मिलता। मगर लगभग उन्हीं दिनों किये गये एक और अध्ययन से इस विषय में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें पता चलती हैं।

यह अध्ययन कहिये अथवा परीक्षण राकविल (मेरीलैंड, अमरीका) के जान बी. कैल्हून ने किया। उन्होंने अपने खलिहान में नार्वे नस्ल के कुछ चूहे इस तरह पाले, जिससे चूहों की भीड़ हो जाये। खलिहान में कई कमरे थे। प्रत्येक कमरे में उन्होंने चार-चार पिंजरे एक कतार में एक दूसरे से सटाकर रख दिये। कमानीदार खंभों के जरिये पिंजरों को ऊपर से इस तरह जोड़ा गया था कि चूहे उन पर से होकर एक पिंजरे से दूसरे पिंजरे में आ-जा सकें।

गैरपालतू अवस्था में नार्वे नस्ल के चूहे करीबन १२-१२ वयस्क सदस्यों के झुंडों में रहते हैं। मगर पिंजरों में उन्होंने अपनी आबादी लगभग इससे दुगुनी कर ली। अर्थात् चार-चार पिंजरों में मिलकर ८०-८० वयस्क चूहे हो गये।

चुप बैठना तो चूहों के स्वभाव में है ही नहीं, वे खंभों के जरिये एक पिंजरे से दूसरे में आते-जाते रहते थे। यों भी उन्हें मिलकर खाना खाने की आदत थी। इसलिए प्राय अधिकांश चूहे खाने के समय बीच के दो पिंजरों में एकत्र हो जाते

थे। कभी-कभी तो एक ही पिंजरे में साठ चूहे एक दूसरे से मुंह सटाये खाना खाते थे।

मगर भीड़ ने जल्दी ही चूहों में भीषण आचारहीनता को जन्म दिया। किनारे के दोनों कम आबाद पिंजरों पर एक-एक जबर्दस्त नर चूहा कब्जा जमाकर बैठ गया और दूसरे मर्दों को वहां आने से रोकने लगा। हां, मादाओं के आने-जाने पर कोई प्रतिबंध नहीं था। शीघ्र ही ऐसे हर एक चौधरी चूहे ने छः-छः, सात-सात मादाओं का एक-एक हरम जुटा लिया। इन हरमों के कारण अब मादाओं की संख्या तो प्रायः सभी पिंजरों में एक-सी थी; लेकिन बीच के दो पिंजरों में मर्दों की भीड़ हो गयी थी। भीड़ के दबाव और मादा चूहों की कमी ने उनके व्यवहार और आचरण पर बड़ा भयंकर असर डाला।

जो चूहे ज्यादा जोरदार थे, वे हिंसक और उग्र हो उठे। वे अचानक ही बौखला उठते और मादाओं, बच्चों अथवा दब्बू नर चूहों पर हमला करके उनकी पूंछ कुतरने लगते थे, कभी-कभी तो बिलकुल काट ही डालते थे। अक्सर पिंजरों का फर्श खून से रंगा रहने लगा। ऐसी हरकतें प्रयोगकर्ता कैल्हून ने इस नस्ल में कभी नहीं देखी थीं। फिर कुछ मर्द चूहे ऋतुकाल के बाहर भी अनिच्छुक मादा चूहों को संभोग के लिए सताने लगे। कुछ समय बाद तो उन्होंने दूसरे मर्दों और अंत में बच्चों के साथ भी ऐसा ही सलूक शुरू कर दिया। ऐसा लगता था कि अनुरूप सहचरों को पहचानने की शक्ति ही वे गंवा बैठे हैं।

मर्दों के दो और प्रकार भी सामने आये, जिनके आचरण एक दूसरे के सर्वथा विपरीत थे। कैल्हून बताते हैं—"पहले प्रकार के मर्द बिलकुल निष्क्रिय थे। वे अपने समाज में ऐसे रहते थे, जैसे निद्रा में चल-फिर रहे हों। वे नर और मादा दोनों प्रकार के बाकी सब चूहों की पूरी तरह उपेक्षा करते थे और बाकी सब चूहे भी उनकी उपेक्षा करते थे।...यों सरसरी निगाह से देखने वाले को ये चूहे अपने समाज के सबसे अधिक स्वस्थ और आकर्षक सदस्य प्रतीत होते थे; परंतु ये पूरी तरह समाज-विमुख हो चुके थे।"

मगर इससे भी विचित्र थे दूसरे प्रकार के मर्द चूहे। ये गुंडों की तरह तीन-तीन, चार-चार की टोलियां बनाकर घूमते थे। ये सब एक साथ मिलकर किसी मादा से प्रेम-क्रीड़ा शुरू कर देते और बेचारी को परेशानी में डाल देते। दूध पिलाती मादाओं को ये सताते और उनके बिस्तर छितरा देते और बच्चों को इधर-उधर पटक देते।

इन उत्पातों के कारण, भीड़-भरे मध्यवर्ती पिंजरों में माताओं में मातृत्व-भाव का ह्रास होने लगा। वे फूहड़ गृहणियां बन गयीं। अब वे सलीके से घोंसला ही नहीं बनाती थीं, या बनाते-बनाते अधूरा ही छोड़ देती थीं। बच्चों में ऐसा घोटाला

हो जाता था कि कौन किसका बच्चा है; यह वे पहचान नहीं पाती थीं और न पहचानने की फिक्र ही करती थीं। प्रायः इस तरह लावारिस छोड़ दिये गये बच्चों को ऊपर वर्णित उत्पाती मर्द टोलियां खा जाती थीं।

इस भीषण आचारहीनता की चरमावस्था मे जो ५,५८ बच्चे जनमे, उनमें से हर चार के पीछे केवल एक बच्चा दूध छुड़ाने के बाद जिंदा रह सका। मृत मादाओं की शव-परीक्षा से पता चला कि उनके गर्भाशय, अंडाशय, फेलोपियन नलिकाओं और दुग्ध-ग्रंथियों में व्रण हो गये थे। और यह जानकर आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि सबकी एड्रीनल ग्रंथियां बहुत बड़ी हो गयी थीं। जैसा कि जेम्स आइलैंड में हुआ था, यहा भी मरने वालों में सबसे बड़ी संख्या मादाओं और बच्चों की थी, जिसने आबादी की बढ़ती रोकने में बड़ा हाथ बंटाया।

ऐसा मानने का पर्याप्त कारण है कि आवास-स्थान बढ़ाये बिना भी चूहों की आचारहीनता की रोकथाम की जा सकती थी। इसके लिए आवश्यक यह था कि पिंजरों को छोटे-छोटे कक्षों में बांट दिया जाये और लगभग बारह-बारह चूहे एक-एक कक्ष में रखे जायें, जैसा कि वे गैरपालतू अवस्था मे रहते हैं। यह भी जरूरी था कि कक्षों के बीच में आने-जाने का कोई साधन न रहे। इस प्रकार हर टोली के पास अपना-अपना क्षेत्र हो जाता।

अंग्रेज विज्ञानी एच. शूमेकर ने कनारी पक्षियों के साथ ऐसा प्रयोग करके देखा भी। पहले उन्होंने एक विशाल पिंजरे मे बहुत-से पक्षी रखे। शीघ्र ही उनमे ऊंच-नीच पैदा हो गयी। हुक्काम पक्षी निम्न सामाजिक स्तर के दंपतियों को घोंसला बनाने से रोकने-टोकने लगे। इस पर शूमेकर ने पक्षियों को अलग-अलग पिंजरों में रख दिया। अब निम्न स्तर के मर्दों के पास भी अपना कहने के लिए एक इलाका था। घोंसला बांधने और बच्चे देने का काम अब विधिपूर्वक चलने लगा।

ये सब निरीक्षण और परीक्षण—विशेषतः अंत में वर्णित प्रयोग—हमें आवास-व्यवस्था और नगर-प्रबंध के विषय में बहुत कुछ सिखा सकते हैं। प्रश्न यही है कि क्या आबादी बढ़ने की रफ्तार और गरीबी हमें कुछ सीखने और करने का मौका देगी भी या नहीं? क्योंकि जो देश पहले से ही जनबहुल हैं, उन्हीं में जनसंख्या-वृद्धि की दर सबसे ऊंची है और वहीं गरीबी भी सबसे अधिक है।

❀ ❀ ❀

संसार के सबसे बड़े डाक्टर हैं—डा० पथ्य, डा० शांति, और डा० आनंद।

—स्विफ्ट



सुखवीर

विश्वव्यापी रीडर्स डाइजेस्ट

'रीडर्स डाइजेस्ट' आज संसार में सबसे ज्यादा बिकने वाली पत्रिका है। इसकी हर महीने तेरह भाषाओं में, २ करोड़ ८० लाख प्रतियां छपती हैं। इसके लगभग तीस संस्करण निकलते हैं, जिनमें एक संस्करण अमरीका और कनाडा के विद्यार्थियों के लिए होता है, और पांच संस्करण नेत्रहीनों के लिए पांच भाषाओं में 'ब्रेल' पद्धति में छपते हैं। पत्रिका सौ से ज्यादा देशों में बिकती है। इनमें से बीस देशों में यह सबसे ज्यादा बिकने वाली पत्रिका मानी जाती है।

इस छोटी-सी पुस्तकाकार पत्रिका ने पत्र-प्रकाशन के इतिहास में करिश्मा कर दिखाया है। आखिर इसकी बड़ी सफलता का कारण क्या है?

'रीडर्स डाइजेस्ट' डीविट वैलेस नामक व्यक्ति के दिमाग का करिश्मा है, जिसने सन १९२२ में किसी से चार हजार डालर उधार लेकर इसका प्रकाशन शुरू किया था। 'डाइजेस्ट' निकालना वैलेस की बिलकुल मौलिक सूझ थी। लेकिन उसकी सबसे बड़ी प्रतिभा इस बात में थी कि वह सामान्य लोगों की पसंद से पूरी तरह परिचित था। उसे पता था कि लोग कैसी चीजें पढ़ने में दिलचस्पी रखते हैं। उसने औसत पाठक को सामने रखकर पत्रिका निकालने के विषय में सोचा था।

आज भी 'डाइजेस्ट' के संपादकीय विभाग के कर्मचारी यह मानते हैं कि जो रचना वैलेस को पसंद आती है, वह दो करोड़ अस्सी लाख पाठकों को भी पसंद आयेगी। पत्रिका की इतनी बड़ी लोकप्रियता का रहस्य उसके संपादकीय दृष्टिकोण में है, जिसमें आज भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

वर्षों से कुछ विषय पत्रिका में एक ही रूप में चलते आ रहे हैं—मानवीय दिलचस्पी वाले विषय-निबंध, हास्य, प्रेरणा, साहसिक कारनामे, विज्ञान, नैतिकता, राजनीति, आत्मसुधार। वैलेस[1] ने पहले ही अंक में यह घोषणा की थी कि 'डाइजेस्ट' में ऐसी रचनाएं नहीं छापी जायेंगी, जो थोड़े-से ही पाठकों को अपीड़ित करती हैं।

[1] डीविट के साथ—डीविट वैलेस

संपादकीय नीति के अतिरिक्त 'डाइजेस्ट' की दूसरी चीजों में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। न उसका आकार बदला है, न रंग-रूप, और न पहले पैंतीस वर्षों में उसकी कीमत ही घटायी या बढ़ायी गयी। इसका खास फायदा हुआ है। पाठकों को वह अपनी जानी-पहचानी पत्रिका लगती रही है। नया अंक आने पर पाठकों को पता होता है कि कौन-सा विषय कहां मिलेगा। 'डाइजेस्ट' पढ़ने की उन्हें आदत पड़ गयी है, और आदतें आसानी से जाती नहीं हैं।

डीविट वैलेस की एक बुनियादी सूझ यह थी कि आज की तेज रफ्तार वाली दुनिया में लोग लंबे-चौड़े लेख पढ़ना नहीं चाहते। किसी भी विषय पर वे संक्षेप में जरूरी जानकारी पा लेना चाहते हैं। सो वैलेस ने शुरू में खुद अपने हाथ से लेखों की काट-छांट करके उन्हें संक्षिप्त रूप में लिखा। बाद में तो रचना का संक्षेप करना 'रीडर्स डाइजेस्ट' की विशेष कला बन गया।

यह काम इतनी मेहनत, सूक्ष्मता और कुशलता से किया जाता है कि एच. एल. मेन्केन जैसे कड़ी नजर रखने वाले अमरीकी आलोचक ने कहा है—"अभी तक मैंने 'डाइजेस्ट' में कोई ऐसा लेख नहीं देखा है, जो संक्षिप्त करने के कारण खराब हो गया हो; पर मैं ऐसे दर्जनों लेख बता सकता हूं, जो संक्षिप्त होने से ही पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सुंदर बन गये!"

रचना को संक्षिप्त करते समय यह भी देखा जाता है कि उसकी भाषा इतनी स्पष्ट और चुस्त हो कि उसे साधारण पाठक भी आसानी से समझ ले। न तो वाक्य बहुत लंबे हों, न पैराग्राफ बहुत बड़े हों। पढ़ते समय पाठक को दिमाग पर जोर न डालना पड़े। लेखों के शीर्षक छोटे, चुस्त और दिलचस्प हों, और उनके नीचे लेख के विषय में जो एक-दो पंक्तियों की भूमिका दी जाये, वह इतनी औत्सुक्यवर्धक हो कि पाठक लेख को पढ़ने के लिए लालायित हो उठे।

सन १९३३ से वैलेस ने 'डाइजेस्ट' में मौलिक लेख भी देने शुरू किये, जो लेखकों से विशेष रूप से लिखवाये जाते थे। इस तरह वह अपने मनपसंद विषयों पर ऐसे लेख तैयार करवाकर पाठकों तक पहुंचाने लगा, जो आम पत्रिकाओं में नहीं मिलते थे। अगले साल से प्रत्येक अंक में एक पुस्तक का सार-संक्षेप देना शुरू किया गया, जिसे पाठकों ने बहुत पसंद किया। इस प्रकार संसार की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें संक्षिप्त रूप में पाठकों तक पहुंचने लगीं।

इन्हीं दिनों वैलेस को एक नयी बात सूझी। वह मौलिक लेख लिखवाकर उन्हें अपनी ओर से पहले दूसरी पत्रिकाओं को भेजता, और उनमें छप जाने के बाद उन्हें संक्षिप्त करके 'डाइजेस्ट' में छापता। आज तो 'रीडर्स डाइजेस्ट' में छपने वाली लगभग सत्तर प्रतिशत रचनाएं इसी प्रकार की होती हैं।

सन १९३० में 'डाइजेस्ट' में हास्य और अन्य दिलचस्प विषयों के स्थायी स्तंभों

का समावेश किया गया। इन स्तंभों के लिए खास तौर पर पाठकों से छोटी-छोटी रचनाएं मांगी जाने लगीं। इससे पत्रिका की लोकप्रियता और बढ़ी। शुरू में ऐसी प्रत्येक रचना पर दस डालर पारिश्रमिक दिया जाता था, जो कुछ अरसे के बाद सौ डालर कर दिया गया। लंबी रचनाओं पर साढ़े सात हजार डालर तक दिये जाते हैं। हर महीने लगभग पैंतीस हजार छोटी-बड़ी रचनाएं पाठकों की ओर से 'डाइजेस्ट' को प्राप्त होती हैं।

'डाइजेस्ट' की लोकप्रियता दिनों-दिन बढ़ने का एक कारण शायद यह भी है कि जीवन के बारे में उसकी एक विशेष दृष्टि है। उसमें वही चीजें दी जाती हैं, जो पाठकों के मन में जीवन के प्रति विश्वास पैदा करती हैं, उन्हें आशावादी बनाती हैं और साहसपूर्वक जीने की प्रेरणा देती हैं। और 'डाइजेस्ट' की आवाज कितनी बुलंद और प्रभावशाली है, इसका अनुमान उसमें छपे दो लेखों के प्रभाव से लगाया जा सकता है।

अगस्त १९३५ में उसमें एक मौलिक लेख छपा था—'...और अचानक मौत'। इस लेख में बताया गया था कि अमरीका में लापरवाही से मोटर चलाने से होने वाली दुर्घटनाओं में किस प्रकार हजारों लोगों की जानें जाती हैं। इन दुर्घटनाओं का बड़ा भयानक वर्णन किया गया था। लेख के छपते ही अमरीका-भर में उसकी चर्चा होने लगी। देश की लगभग प्रत्येक पत्रिका ने उसे उद्धृत किया, रेडियो-प्रोग्रामों में उस पर बहसें हुईं और उसके आधार पर एक फिल्म तक बनी। इन सबसे बढ़कर, उसका असर मोटर-उद्योग पर पड़ा। अमरीकी मोटर-उद्योग ने दुर्घटनाओं से बचने के तरीकों और उस दृष्टि से मोटरों में आवश्यक सुधार कराने की ओर ध्यान दिया।

इसी प्रकार, अप्रैल १९४७ के अंक में एक नये प्रकार के गोंद के बारे में लेख छपा था। लेख छपने के पहले गोंद की बिक्री हर महीने नौ हजार डालर की थी। लेख छपने के कुछ ही अरसे के बाद बिक्री ८० हजार डालर तक होने लगी।

'डाइजेस्ट' में कोई रचना तब तक नहीं छापी जाती, जब तक उसकी प्रामाणिकता की जाच न कर ली जाये। 'डाइजेस्ट' का एक खोज-विभाग है, जो यह पता लगाता है कि रचना में कोई गलत या झूठी बात तो नहीं लिखी गयी है। इस विभाग में प्रत्येक विषय के ज्ञानकोशों और अन्य प्रामाणिक पुस्तकों का बहुत बढ़िया संग्रह है। खोज-विभाग के कर्मचारी उन व्यक्तियों से मिलते हैं, उन स्थानों पर जाते हैं, जिनका लेख में जिक्र हो, और इसका पता लगाते हैं कि लेखक ने कोई गलत बात तो नहीं लिख दी।

उदाहरणार्थ, फ्रांस से एक लेखक ने ब्रोफियेर नामक चरवाहे के बारे में एक लेख भेजा था। लेख में उसने बताया था कि किस तरह उस चरवाहे ने एक

वीरान इलाके में शौकिया तौर पर वृक्ष लगाने शुरू किये थे। लेखक उससे प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू में मिला था, और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पुन: मिला और उसने उसका दस हजार वृक्षों का जंगल भी देखा। उस जगल की बदौलत वह वीरान इलाका हरा-भरा बन गया था और वहा पानी का अभाव नहीं रहा था। इससे वहा के वेरगोन्स नामक गाव के लोगों की रूखी-सूखी और वीरान जिंदगियों में खुशी भर गयी थी।

लेख बहुत दिलचस्प था। तो भी 'डाइजेस्ट' के पेरिस दफ्तर से एक कर्मचारी लेख की प्रामाणिकता का पता लगाने के लिए वेरगोन्स गांव में गया, और वहा के लोगों से चरवाहे के बारे मे पूछताछ की। किसी से उसके बारे में कुछ भी पता न लग सका।

आखिर काफी लंबी खोजबीन के बाद यह सिद्ध हुआ कि बोफियेर नाम का कोई व्यक्ति वहां न कभी रहा था, न कभी जनमा था। और जगल लगाने की बात तो सरासर झूठ थी। लेखक ने काल्पनिक बातें लिखकर भेज दी थीं। बहुत दिलचस्प होने पर भी वह लेख नहीं छप सका।

पाठकों के इतने बडे दायरे तक पहुंचने वाली पत्रिका विज्ञापनों के लिए कितना अच्छा साधन हो सकती है, इसका अदाज हर किसी को शुरू से ही था। लेकिन हैरानी की बात थी कि शुरू से ही कुछ कारणों से वैलेस पत्रिका में विज्ञापन छापने के पक्ष में नहीं था। उसे पूरा यकीन था कि विज्ञापनों के बिना भी पत्रिका आर्थिक दृष्टि से सफल बनायी जा सकती है, बशर्ते उसकी बिक्री खूब बढ़ायी जाये। तैंतीस वर्षों तक उसने कोई विज्ञापन नहीं छापा।

लेकिन फिर खर्च इतने बढ गये कि पत्रिका को पुरानी कीमत में बेचना घाटे का सौदा हो गया। छपाई का खर्च १७० प्रतिशत बढ़ गया था। पत्रिका के पृष्ठ भी पहले से तीन गुना ज्यादा कर दिये गये थे। साथियों ने विज्ञापन छापने के लिए वैलेस पर जोर डालना शुरू किया।

आखिर उसने पाठकों की राय ली कि क्या वे पुरानी कीमत (२० सेंट) मे विज्ञापन-युक्त 'डाइजेस्ट' चाहते हैं, अथवा बढ़ी हुई कीमत (३५ सेंट) मे विज्ञापन-रहित 'डाइजेस्ट'? यह राय कनाडा के पाठकों से ली गयी थी। ८० प्रतिशत पाठकों ने विज्ञापन छापने के हक में राय दी। फिर भी वैलेस विज्ञापन छापने को तैयार नहीं हुआ। खर्च बढ़ता गया, घाटा होता रहा, और वैलेस के साथी उस पर जोर डालते रहे।

अंत में १९५४ मे सयुक्त राज्य अमरीका के पाठकों से राय ली गयी। इस बार ८१ प्रतिशत पाठकों ने विज्ञापन छापने के हक में राय दी। फैसला हुआ कि एक साल के लिए प्रत्येक अंक मे ज्यादा-से-ज्यादा ३२ पृष्ठ विज्ञापन छापे जायें;

लेकिन उनमें शराब, सिगरेट आदि के विज्ञापन बिलकुल न हों। यह भी तय किया गया कि इन विज्ञापनों के लिए पत्रिका में ३२ पन्ने बढ़ा दिये जायें, ताकि पाठकों को पहले जितनी ही पाठ्य-सामग्री मिलती रहे।

जब विज्ञापन-कंपनियों को इसका पता लगा, तो उन्होंने 'डाइजेस्ट' में ज्यादा-से-ज्यादा पृष्ठ हासिल करने की कोशिश की। किसी ने नहीं पूछा कि विज्ञापन की दर क्या है। उस समय एक सादे पृष्ठ के विज्ञापन की दर २६॥ हजार डालर थी और रगीन पृष्ठ की ३१ हजार डालर। विज्ञापन छापने के लिए इतने ऊंचे दाम शायद ही किसी और अमरीकी पत्रिका ने मागे हों।

दो हफ्तों मे ही १,१०७ पृष्ठों के विज्ञापनों के आर्डर मिल गये, जिन्हें छापकर 'डाइजेस्ट' १ करोड़ १० लाख डालर प्राप्त कर सकता था। लेकिन वैलेस ने तो एक अंक मे ३२ पृष्ठ से ज्यादा विज्ञापन न छापने की कसम खा रखी थी। सो उन विज्ञापनों में से विशेष दृष्टिकोण से चुनाव किया गया। अगले साल फैसला किया गया कि ३२ पृष्ठों के बजाय, पत्रिका के २० प्रतिशत पृष्ठ विज्ञापनों के लिए सुरक्षित रखे जायें। (दूसरी पत्रिकाएं ४७ प्रतिशत तक पृष्ठ विज्ञापनों के लिए देती थीं।)

'डाइजेस्ट' के पाठकों का दायरा इतना बड़ा होने का मूल कारण तो उसकी सामग्री के चयन का सपादकीय कौशल है; लेकिन इसका काफी श्रेय बिक्री-व्यवस्था को भी है। यह व्यवस्था वैलेस ने १९२२ में स्वयं ही सोची थी। जब वह किसी भी प्रकाशक को 'डाइजेस्ट' निकालने के लिए तैयार नहीं कर पाया, तो उसने निजी चिट्ठियो के जरिये पाठकों से सबध स्थापित किया। आज भी यह तरीका बिक्री बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय सिद्ध हो रहा है।

समय-समय पर पत्रिका मे पाठकों से चंदादार बनने और दूसरो को चंदादार बनाकर रियायतें और उपहार प्राप्त करने तथा 'डाइजेस्ट' की ओर से प्रकाशित होने वाली पुस्तकें रियायती कीमत पर प्राप्त करने की अपीलें की जाती हैं। ये कभी निष्फल नहीं जातीं। हर साल पत्रिका की बिक्री बढ़ती रही है।

वैलेस अब अस्सी पार कर चुका है। कुछ वर्षों से वह पत्रिका के सपादन का काम छोड चुका है, और हफ्ते मे दो-तीन दिन एक घंटे के लिए दफ्तर मे आता है। लेकिन आज भी उसकी राय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाती है।

'डाइजेस्ट' का भारतीय सस्करण बंबई में छपता है। वह सन १९५४ मे ४० हजार प्रतियों से शुरू हुआ था और आज उसकी १ लाख ५० हजार प्रतियां हर महीने छपती हैं।

'डाइजेस्ट' में हर महीने एक या दो पुस्तकों के सक्षेप तो छपते ही थे, १९५० में वैलेस ने 'संक्षिप्त पुस्तक क्लब' की योजना शुरू करके पाठकों को पुस्तकाकार पुस्तक-संक्षेप देने शुरू किये। हर तीन महीनों के बाद वह चार या पांच पुस्तक-

संक्षेपों का लगभग साढ़े पाँच सौ पृष्ठों का संकलन निकालने लगा। उसने पाठकों को 'संक्षिप्त पुस्तक क्लब' के सदस्य बनने का निमंत्रण दिया।

जब चार पुस्तकों के सार-संक्षेप से युक्त पहली जिल्द छपी, तब तक पुस्तक क्लब के १ लाख ८३ हजार सदस्य बन चुके थे। एक साल पूरा होने से पहले ही क्लब की सदस्य-संख्या ५ लाख को पार कर गयी और चार साल के बाद २५ लाख तक पहुंच गयी। अर्थात् 'क्लब' की ओर से जो भी पुस्तक छपती है, उसकी कम-से-कम पचीस लाख प्रतियों की बिक्री की पहले से गारंटी होती है।

'संक्षिप्त पुस्तक क्लब' के लिए अलग संपादकीय विभाग है, जिसमें हर साल लगभग चार हजार पुस्तकें पढ़ी जाती हैं। संक्षिप्त करने के लिए चुनी गयी पुस्तक तीन या चार संपादकों के हाथों से गुजरती है। ये उसे इस ढंग से संक्षिप्त करते हैं कि पुस्तक की सभी मूल विशेषताएं कायम रहती हैं। अंत में वह मुख्य संपादक राल्फ हेंडर्सन की नजर से गुजरती है। पूरा संतोष हो जाने पर वह उसके छापने की स्वीकृति देता है। इस विभाग में लगभग पंद्रह संपादक हैं और पांच सौ से अधिक क्लर्क।

'संक्षिप्त पुस्तक क्लब' की योजना पहले साल में ही इतनी लोकप्रिय हो गयी कि अगले साल से फ्रांसीसी, इतालवी, जर्मन, स्वीडिश, डच, स्पेनी और पुर्तगाली भाषाओं में भी संक्षिप्त पुस्तक-संग्रह निकलने लगे। संग्रह के लिए चुनी गयी प्रत्येक पुस्तक पर लेखक को दस हजार से लेकर एक लाख डालर तक पारिश्रमिक दिया जाता है।

निःसंदेह 'रीडर्स डाइजेस्ट' ने प्रकाशन के इतिहास में करिश्मा कर दिखाया है।

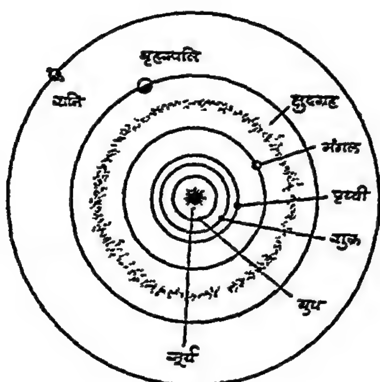
आधार : कार्मेन् कागल का लेख (स्पान, फरवरी १०६०)
और जेम्स प्लेस्टेड वुड की पुस्तक 'आफ़ लास्टिंग इंटेरेस्ट'।

❀ ❀ ❀

इयं नाणं कियाहीणं, हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो अ अंधओ॥

—क्रियारहित ज्ञान और ज्ञानरहित क्रिया सर्वथा व्यर्थ हो जाती है। जंगल में आग लगने पर चुपचाप खड़ा देखता हुआ लंगड़ा और भागदौड़ करता हुआ अंधा दोनों जलकर मर जाते हैं।

—आवश्यकनिर्युक्ति



विराट्

सूर्य के बौने बेटे

जब हम सौर मंडल की चर्चा करते हैं, तो प्रायः हमारा ध्यान चंद्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि तक जाकर रुक जाता है। आखिर सप्ताह के सात दिनों के साथ इन्हीं के नाम तो जुडे हुए हैं। यदि हम कुछ धार्मिक प्रवृत्ति के हिन्दू हैं, तो राहु और केतु को भी इसमें जोड़ लेते हैं और यह जानते हुए भी कि चंद्रमा पृथ्वी का उपग्रह मात्र है, उसका नाम ग्रहों की सूची में से काटते नहीं हैं; क्योंकि हमारे दिमाग में नवग्रह की कल्पना बसी हुई है।

यदि हम जरा नयी रोशनी के आदमी हैं और खगोल-संबंधी लेख पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ा करते हैं, तो युरेनस, नेपच्यून और प्लूटो को याद कर लेते हैं और शायद उन धूमकेतुओं को भी, जो कभी-कभी दिगंत पर उदित हो, मनुष्य को घबराहट में डालकर ओझल हो जाते हैं। लेकिन हममें से अधिकाश को इसकी कल्पना भी नहीं होती कि सूर्य के कुनबे में और भी बहुत-से सदस्य हैं, जो बहुत छोटे होने के कारण हमारे दृष्टिपथ में नहीं आते। सूर्य के इन बौने बेटों को खगोलशास्त्र में भी 'एस्टेरायड' या 'क्षुद्रग्रह' कहकर अपमानित किया जाता है।

सौर मंडल एक ऐसा किला है, जिसके अनेक परकोटे हैं। बीचों-बीच सूर्य है। उसके चारों ओर एक के बाद एक चार परकोटे हैं, काफी सटे हुए। इन पर क्रमशः बुध, शुक्र, पृथ्वी और मंगल गश्त लगाते हैं। इनके बाद बड़ी दूर तक खाली जगह पडी है, जिसके उस पार बृहस्पति का परकोटा है। फिर हैं क्रमशः शनि, युरेनस और नेपच्यून के परकोटे। ये चारों ग्रह बड़े भीमकाय हैं। नन्हा ग्रह प्लूटो भी चालाकी से इन 'सात सवारों' में शामिल हो गया है। सम्भवतः प्लूटो असली ग्रह नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि पहले वह नेपच्यून का उपग्रह था, फिर कभी मौका पाकर दूर छिटक गया और मानो अपने को स्वतंत्र ग्रह घोषित कर सूर्य की परिक्रमा करने लगा।

बहुत पहले से खगोलशास्त्रियों को शक था कि मंगल और बृहस्पति के बीच की

करोड़ों मील की खाली जगह में अवश्य कोई ग्रह घूमा करता होगा। अठारहवीं सदी में बोड के बनाये समीकरण से भी इस अनुमान की पुष्टि हुई। अंत में १८०१ में इटली के खगोलविद् पियाजी ने मंगल और बृहस्पति के बीच एक ग्रह खोज निकाला। इसका व्यास ४२७ मील था और बिना दूरबीन की मदद के इसे देखा नहीं जा सकता था। पियाजी ने इसका नाम रखा—सीरिस।

फिर तो और भी ग्रहों का पता चला। १८०२ में पैलास, १८०४ में जूनो और १८०७ में वेस्टा की खोज हुई। एस्ट्रिया के अस्तित्व का पता १८४७ में लगा। उसके बाद से तो कोई साल नहीं जाता, जिसमें आठ-दस नये क्षुद्रग्रहों की खोज नहीं होती। अब तक हजारों क्षुद्रग्रहों का पता लगा है, इनके भ्रमण-पथों के नक्शे बनाये गये हैं।

वैसे इनमें से अधिकांश का नामकरण बाकायदा हो चुका है, लेकिन जेल के कैदियों की तरह प्रायः ये अपने क्रमांक से पहचाने जाते हैं। वैसे कौन इनके नाम याद रखे! ये हैं भी तो हजारों। अमरीकी खगोलज्ञ आर. एस. रिचार्डसन ने इनकी संख्या ४४ हजार के करीब कूती है। लेकिन रूसी वैज्ञानिक मानते हैं कि इनकी आबादी एक लाख से ऊपर है।

क्षुद्रग्रहों की खोज का सर्वोत्तम साधन है कैमरा। आसमान की फोटो लेते हुए अगर काफी लंबा 'एक्सपोजर' दिया जाये और कैमरे को ग्रहों की गति के अनुसार धीमे-धीमे घुमाया जाये, तो तारे प्लेट पर उजले बिंदुओं की तरह अंकित हो जाते हैं और क्षुद्रग्रह पतली व छोटी लकीरों के रूप में अपनी छाप छोड़ जाते हैं।

अधिकांश क्षुद्रग्रह बहुत ही छोटे हैं—व्यास में पचास मील से भी कम। एक-डेढ़ मील व्यास के पिंड भी इनके झुंड में हैं। ये सभी प्रायः मंगल और बृहस्पति के बीच घूमा करते हैं। लेकिन इनमें से कुछ बड़े मनचले हैं। इसका उदाहरण है ईरोस, जिसका क्रमांक ४३३ है और जिसकी खोज १८९८ में हुई। यह धरती के डेढ़ करोड़ मील निकट तक पहुंच जाया करता है। इकैरस (क्रमांक १५६६) बड़ा ही साहसी है; वह सूर्य और बुध के बीच के भयंकर गर्म इलाके में से घूम आता है। हाइडाल्गो (क्रमांक ९४४) शनि के उस पार की सैर करने का शौकीन है।

सन १९३७ में एक मजेदार किस्सा हुआ। हर्मेस नाम का एक बौना ग्रह पृथ्वी के पांच लाख मील नजदीक तक चला आया। तहलका मच गया। आशंका प्रकट की जाने लगी कि वह आकर धरती से टकरा जायेगा। वैसे इसकी संभावना कम ही थी और अगर टक्कर हो भी जाती, तो धरती का कुछ खास नहीं बिगड़ता—शायद एक-आध शहर तबाह हो जाता। आखिर हर्मेस है ही कितना बड़ा! एक मील से भी तो कम है उसका व्यास।

क्षुद्रग्रहों की दुनिया के 'तीन बड़े' हैं—सीरिस, पैलास और वेस्टा। इन तीनों

में सबसे छोटा होते हुए भी वेस्टा विज्ञानवेत्ताओं को अधिक प्रिय है। बात यह है कि वह अन्य सब क्षुद्रग्रहों से अधिक चमकीला है। यों पृथ्वी से उसकी दूरी का मध्यमान २२ करोड़ मील के करीब है, और पृथ्वी के १० करोड़ मील से अधिक निकट तो वह कभी आता ही नहीं। सूर्य की परिक्रमा पूरी करने में उसे ३.६ वर्ष लगते हैं और अपनी धुरी पर घूमने में १० घंटे ४५ मिनिट।

अत्यधिक छोटा और अत्यधिक दूर होने के कारण वेस्टा आंखों से उन्हीं रातों में देखा जा सकता है, जिनमें आसमान बहुत ही साफ हो। वैसे सामान्य बाइ-नाक्युलर की मदद से वह दिखाई दे जाता है। हमने कहा था, सीरिस और पैलास से छोटा होते हुए भी वह उनसे अधिक चमकीला है। इसका कारण यह है कि उसमें सूर्य की किरणों को प्रतिक्षिप्त करने की अधिक क्षमता है। हमारा चंद्रमा लगभग १० प्रतिशत प्रकाश प्रतिक्षिप्त करता है, जबकि वेस्टा २५ प्रतिशत तक कर देता है। इससे अनुमान किया गया है कि वह चंद्रमा से अधिक समतल है।

इसके बावजूद वैज्ञानिक जान नहीं पाये हैं कि वेस्टा का धरातल कैसा है। यों कुछ बातें अनुमान से भी सिद्ध की जा सकती हैं। वेस्टा की काया बहुत छोटी है, इस कारण उसकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति भी बहुत क्षीण होगी। इसका मतलब है कि उसकी तमाम हाइड्रोजन गैस एवं पानी की भाप उड़कर आकाश में विलीन हो चुकी होगी और जल के अभाव में वहां वृक्ष-वनस्पति और जीव-जंतु भी नहीं होंगे। यही बात अन्य सब क्षुद्रग्रहों के बारे में भी कही जा सकती है।

क्षुद्रग्रहों की उत्पत्ति कैसे हुई, यह एक रोचक प्रश्न है। कुछ विद्वानों का खयाल है कि कभी मंगल और बृहस्पति के बीच कोई ग्रह रहा होगा, जिसका किसी कारण से विघटन हो गया। या संभव है कि दो ग्रह रहे हों और वे आपस में टकराकर चूर-चूर हो गये हों। इस विघटन या टक्कर से जो खंडहर टूटकर गिरे, वे ही क्षुद्रग्रह बन गये।

वैसे यह कल्पना करना कठिन है कि सौर मंडल का कोई ग्रह अपने आप टूटा होगा, अथवा दो ग्रह आपस में टकराकर नष्ट हो गये होंगे। एक बात और है। यदि तमाम क्षुद्रग्रहों को जोड़कर एक पिंड बनाया जाये, तो भी उसका आकार हमारे चंद्रमा से छोटा ही रहेगा।

इसलिए यह कल्पना की गयी है कि मुख्य ग्रहों के बनने के बाद सौर मंडल में जो सामग्री बची रह गयी, उसने क्षुद्रग्रहों का रूप धारण कर लिया होगा।

विज्ञान-कथाओं के लेखकों ने क्षुद्रग्रहों को लेकर तरह-तरह की दिलचस्प बातें लिखी हैं। जैसे आज महाद्वीपों के बीच वायुयान चलते हैं, वैसे ही जब लोक-लोकांतरों के बीच अंतरिक्ष-यान चला करेंगे, तब वेस्टा जैसे बड़े क्षुद्रग्रहों पर स्थापित सिग्नल-स्टेशनों से उन्हें संकेत दिये जाया करेंगे। कुछ क्षुद्रग्रहों को उनके

भ्रमण-पथ से खींचकर अपने अनुकूल कक्षाओं में बैठा दिया जायेगा, जिससे दूसरे लोकों को जाते हुए अंतरिक्ष-यान वहां पड़ाव डाल सकें। क्षुद्रग्रह इन कामों के लिए विशेष रूप से उपयोगी रहेंगे। उनकी गुरुत्वाकर्षण-शक्ति बहुत क्षीण होती है, लिहाजा यान उन पर धीरे-धीरे सुरक्षित उतर सकेंगे और आसानी से उनसे रवाना भी हो सकेंगे।

अमरीकी वैज्ञानिकों ने इन योजनाओं पर हर तरह से विचार करके देखा है। किसी क्षुद्रग्रह को भी अपने भ्रमण-पथ से विचलित करने के लिए जबर्दस्त ताकत चाहिये और उतनी शक्ति उत्पन्न करना अभी मनुष्य के बूते की बात नहीं है।

एक और मजेदार कल्पना यह है कि मनुष्य क्षुद्रग्रहों को पकड़कर धरती पर ले आया करेंगे और उनसे तरह-तरह की धातुएं प्राप्त करेंगे। इससे कुछ मिलते-जुलते संकट का सामना क्षुद्रग्रहों को पहले भी करना पड़ा है। कई विद्वानों का खयाल है कि कुछ बड़े ग्रहों ने क्षुद्रग्रहों को पकड़कर अपना गुलाम बना रखा है। मंगल के दो छोटे उपग्रह फोबोस और डेइमोस व्यास में १२ मील से भी कम हैं। बृहस्पति के सात बाहरी उपग्रह और शनि के छोटे उपग्रह भी बहुत ही नन्हे हैं। खगोलज्ञों का अनुमान है कि ये सब गुलाम बनाये गये क्षुद्रग्रह हैं।

❀ ❀ ❀

एक बार किसी ने लोकमान्य तिलक से पूछा—"भारत में स्त्रियां अच्छा वर पाने के लिए गौरी का व्रत करती हैं, लेकिन पुरुषों के लिए ऐसी कोई व्यवस्था क्यों नहीं है?" उत्तर मिला—"भारत की स्त्रियां सभी अच्छी हैं—मुश्किल केवल अच्छे पुरुष को ढूंढ़ने की है। इसलिए स्त्रियों को ही गौरीव्रत करना पड़ता है।"

* * *

कन्नड़ के विख्यात उपन्यास-लेखक शिवराम कारत जिस हाईस्कूल में पढ़ते थे, उसके मुख्याध्यापक ने नियम बना रखा था कि बड़ी क्लासों के विद्यार्थी सदा अंग्रेजी में ही बातचीत किया करें। मुख्याध्यापकजी जिसे भी कन्नड़ में बातें करते देख लेते, उसे सजा भुगतनी पड़ती थी। कारतजी इसका इलाज करना चाहते थे। एक दिन जब मुख्याध्यापकजी कहीं पास ही थे, उन्होंने अपने एक साथी से कोई मजाकिया बात कही और जब वह हंसने लगा, तो बनावटी गुस्से में जोर से बोले—"फूल! हाउ डू यू लाफ इन कन्नड? यू आर ए हाईस्कूल स्टूडेंट। लाफ इन इंग्लिश।" तीर ठीक निशाने पर लगा। मुख्याध्यापक ने फिर कभी किसी को कन्नड़ में बात करने पर दंड नहीं दिया।



श्याम् संन्यासी

एक दुर्लभ विभूति

पूंजा बाबा लंगड़े और लूले, घायल और बीमार वन्य पशुओं तथा पक्षियों का सेवक और सरक्षक है। आधुनिक सभ्यता से बहुत दूर, विंध्य और सतपुडा के मिले-जुले घनघोर जंगलों में डेढ़-एक मील के घेरे में, उसने अपना बाडा-सा बना रखा है। इसी बाड़े मे वह मूक साधक रहता है और अपने मूक 'जीवडों' की सेवा करता हुआ करुणा को साकार कर रहा है।

जंगल के घायल और रोगी जीव-जंतुओं का समवतः सारे विश्व में यह अपने ढंग का निराला आश्रय-स्थल है। निराला इसलिए कि मानव-सेवकों की अनेक सस्थाओं के बारे में हम जानते हैं, पालतू पशुओं पर दया दिखाने और उनकी सेवा करने वाले व्यक्तियों और सघटनो के बारे में भी प्रायः सुनाई दे जाता है परंतु वन्य पशुओं पर करुणा करने वाला और उनकी सतत सेवा के द्वारा उस करुणा को चरितार्थ करने वाला तो यह एक ही व्यक्ति मैंने देखा।

स्वयं मुझे भी आकस्मिक रूप से ही पूंजा बाबा के नाम और काम का पता चला। अपने तीन भील सहयोगी–माटेला, शोभला और डूंगर बाबा के साथ लोककथाओं की खोज में एक पाडे से दूसरे पाड़े की ओर जाते हुए जंगल में एक घायल लोमड़ी तड़पती हुई मिली। उसके अगले बायें पंजे में घाव था। हमें देख उसने भागना चाहा, पर तीन पांवों के बल थोड़ा-सा उचक्कर गिर पड़ी और चीखने लगी। मैंने कहा–"इसे तो गोली मारकर इसकी पीड़ा का अंत कर देना चाहिये।" इस पर डूंगर बाबा बोला–"नहीं, इसे पूंजा बाबा के आईठाण (आश्रय-स्थल) में पहुंचा देना चाहिये। वे इसकी पीड़ा को अच्छा कर देंगे।"

और मेरे परम कौतूहल के बीच, डूंगर बाबा के आदेशानुसार, माटेला और शोभला ने बडे परिश्रम से घायल लोमडी को अधिकार में किया, चादर की झोली में लपेटा और उठाते-धरते पूंजा बाबा के आईठाण पर ले आये।

जब हम आईठाण में पहुंचे, तो मझले कद का, छरहरे डील का एक भील उखडे

सींग वाले हिरन को गोद में लिये उसकी मरहम-पट्टी कर रहा था। उसने अपनी कमर में एक लंगोटी और माथे पर एक चिंदी लपेट रखी थी। शेष सारा शरीर नंगा था। सिर, दाढ़ी और मूंछों के बाल खिचड़ी हो रहे थे। आहट पाकर उसने हमारी ओर देखा। बायें कपोल से नाक की सीध में होता हुआ दायें कपोल तक घाव का एक लंबोतरा निशान उसके चेहरे पर खिंचा हुआ था। उसने हंसकर हमारा स्वागत किया। मोतियों की तरह दमकती हुई उसकी बत्तीसी ने खिलकर उस घाव वाले चेहरे को अत्यंत सुंदर बना दिया था।

हिरन को बड़ी सावधानी से समीप वाले नर्म दूब के बिस्तर पर रखकर वह उठ खड़ा हुआ। "आओ मोटा!" कहकर वह डूंगर बाबा से गले मिला, झोमला और मोटला के बढ़े हुए हाथों को छुआ, मेरी ओर जिज्ञासा से देखा और तब स्निग्ध-करुण स्वर में बोला– "मांदा झोली लाया के!" (बीमार को झोली में उठाकर लाये हो!)

यही व्यक्ति पूंजा बाबा थे।

पूंजा बाबा ने सबसे पहले लोमड़ी को झोली से मुक्त करके पंजे की मरहम-पट्टी की। उनकी दृष्टि और स्पर्श में ऐसा क्या जादू था कि उस जंगली लोमड़ी ने एक बार भी विरोध नहीं किया, दांत नहीं दिखाये, नोचने को साबुत पंजा तक आगे नहीं बढ़ाया।

मेरा परिचय पाकर और कौतूहल जानकर पूंजा बाबा ने बड़े उत्साह से अपना अाईठाण और उसके जीवड़ों को दिखलाया। उस समय वहां लगभग सवा सौ पशु-पक्षी उनकी स्नेह-शुश्रूषा में बसेरा लिये हुए थे।

दस-एक हिरन थे। किसी के खुर में चोट थी, तो किसी का घुटना टूटा हुआ था। कइयों के सींग उखड़े हुए थे। दो की पीठ पर घाव थे। एक का कान फट गया था।

चार नीलगायें थीं। तीन बंदर थे। हमारे द्वारा लायी गयी लोमड़ी समेत चार लोमड़ियां थीं। खरगोश सबसे ज्यादा, लगभग बारह होंगे। आठ-दस जंगली चूहे थे। एक गिलहरी थी। एक लगड़ा गधा भी था। एक गढे में टूटी कमर वाला सुअर भी पड़ा था। दो कछुए भी थे–एक के केवल तीन टांगें थीं और दूसरा शायद चंगा था।

पक्षियों में लंगड़ा मोर था, जिसके पर टूट गये थे। टूटे पंजों और नुचे परों वाले बूढ़े-जवान तोते, कौए, मैना, कोयल, नीलकंठ और मेरे कई जाने-अनपहचाने पक्षी थे। सारस का एक जोड़ा भी था। पता नहीं, उस जंगल में कहां से आ गया था! मादा के दायें पांव में घुटने के ऊपर एक पट्टी बंधी थी और वह खड़ी नहीं हो पा रही थी और नर पक्षी की चिंता और व्यथा बड़ी ही हृदयविदारक थी।

सब देख चुकने के बाद मैंने कहा–"आप तो बहुत बड़ा काम कर रहे हैं पूंजा बाबा!" इस पर वे खिलखिला पड़े और बोले–"इसमें बड़ा काम क्या हुआ? अबोले पशु-पक्षी है बेचारे। किसी के पास हाथ नहीं। मैं अपने हाथों से उनकी जरा-सी मदद कर रहा हूं। इसमें बड़ा काम क्या हुआ?"

थोडी देर चुप रहकर मैंने पूछा–"क्या कभी कोई पशु-पक्षी आप पर हमला नहीं करता?"

जवाब दिया डूंगर बाबा ने–"करता क्यों नहीं! एक बार लकडबग्घे की मरहम-पट्टी कर रहे थे, उसने वह पंजा मारा कि सारा चेहरा नुच गया। घाव का वह निशान देख रहे हो न? पर पूंजा बाबा अपनी बान क्यों छोडने लगे!"

"बान कभी किसी से छूटी भी है?" पूंजा बाबा ने खिलकर कहा–"जनावर तो जनावर की बान (पशुता) पर ही चलेंगे, उनकी बान ठहरी; मनख को अपनी बान (मनुष्यता) पर रहना चाहिये।"

मैंने मनुष्यता की बान पर अडिग रहने वाले उस 'जंगली' महात्मा को मन-ही-मन प्रणाम किया और सोचने लगा–कैसा विचित्र है मेरा देश और इसमे कैसे-कैसे अद्भुत और विरल नररत्न सभ्यता की चमक-दमक से कोसों दूर पडे हुए हैं!

※ ※ ※

जेन-गुरु र्‌योकन पर्वत की तलहटी में एक पर्णकुटी में सादगी से जिंदगी गुजारते थे। एक सांझ उनकी अनुपस्थिति में एक चोर कुटिया में घुस आया, मगर वहां कुछ न पाकर खाली हाथ लौट चला। तभी र्‌योकन उसके सामने पड़ गये। वे सारी बात समझ गये। बोले–"भैया, तुम इतनी दूर से मुझसे मिलने आये, सो मैं तुम्हें खाली हाथ कैसे जाने दूं? लो, मेरा यह चोगा लेते जाओ।" और अपना चोगा उतारकर उसे दे दिया। चकित चोर चुपचाप चोगा लेकर वहां से खिसक गया। तब तक चांद निकल आया था। नग्नदेह गुरु र्‌योकन एक चट्टान पर बैठकर मुग्ध-भाव से चांदनी की छटा देखते रहे। उनकी काया ठंड से कांप रही थी, परंतु उनकी आत्मा सौंदर्य-सिंधु मे स्नान कर रही थी। उनके मुंह से निकला–"अभागा आदमी! काश, मैं उसे यह खूबसूरत चांद उपहार मे दे सकता!"



महावीर त्यागी

आनंद भवन की एक शाम

सन १९३६ मे यू. पी. असेम्बली के चुनाव लड़ने के लिए जो कांग्रेस पार्लमेंटरी बोर्ड बना, स्व. रफी अहमद किदवई उसके सभापति और श्री जवाहरलाल नेहरू, टंडनजी, पंतजी, बाबू श्रीप्रकाश, सपूर्णानदजी और आचार्य नरेंद्रदेव आदि सदस्य थे। मैं भी इसका एक सदस्य था और मुझे इस बोर्ड ने मेरठ का चुनाव-कमिश्नर भी बना रखा था। मेरा काम यह था कि जिले-जिले में घूमूं और कार्यकर्ताओं से बातचीत करके बोर्ड को ऐसे साथियों का नाम सुझाऊं, जिन्हें कांग्रेस का टिकट दिया जाये।

एक दिन पंडित गोविंदवल्लभ पंत ने, जो केंद्रीय असेम्बली के मेम्बर थे, बातांबातों में कहा—"चुनाव लड़ना क्या कोई आसान काम है ? बिना रुपये के सूबे में जल्से और दौरा करना तो क्या, इश्तहार बांटने भी मुश्किल हो जायेंगे।"

हमारे कोष मे उस दिन केवल ७० या ८० रुपये थे। मेरी तेज जबान और फिर कांटपेंच का शौक, बोल उठा—"बीस या इक्कीस सीटें खाली रह गयी हैं, जहा से ताल्लुकेदार और जमींदार खडे हो रहे हैं। हमें तो वहा से कामयाबी की आशा है ही नहीं। फिर उनसे कुछ रुपया ही क्यों न झटक लिया जाये ?" पंतजी ने हसते हुए कहा—"तुम्हें मिले, तो ले आओ।"

मुझे तो बस इशारे की देर थी। बुलंदशहर जिले में दस हजार रुपये पर एक सीट का सौदा पक्का कर लिया। रफी साहब को उसकी खबर की, तो वे बोले—"इस सीट से हम अपने उम्मीदवार को हर्गिज न हटायेंगे, क्योंकि यह जीतने वाली सीट है। केवल उसी सीट से उम्मीदवार को वापस ले सकते हैं, जहा हमें जीतने की आशा न हो और जहां पर विरोधी उम्मीदवार रुपये के अलावा असेम्बली में भी हमारा साथ देने का वादा करे।" मेरा वह सौदा टप हो गया। इसी तरह एक और सौदा शाहजहापुर जिले में पंतजी ने टप करा दिया।

मैं हताश नहीं हुआ। लंबा हाथ मारने की इच्छा से एक और ताल्लुकेदार की

रियासत मे जल्से शुरू कर दिये। दो-तीन जल्से ही किये होंगे कि ताल्लुकेदार साहब ने बुला लिया खाने पर। फिर बोले—"त्यागीजी, आप मेरे पीछे क्यों पड गये हैं? मैंने आपका क्या बिगाडा है?" मैंने कहा—"राजा साहब, बिगाड़ा कुछ नहीं। आप तो ताल्लुकेदारों में सबसे अच्छे माने जाते हैं। मगर हमारी मुश्किल यह है कि अंग्रेज के मुकाबले में हमे अपना बहुमत बनाना है। इसीलिए एक-एक सीट पर लडना जरूरी है।"

ताल्लुकेदार साहब ने पूछा—"अच्छा सच बताइये, आपको यहां से जीतने की उम्मीद है?" मैंने कहा—"कतई नहीं; पर हम यहां जीतने के लिए थोडे ही लड़ रहे हैं। हम तो इसलिए लड़ रहे हैं कि आपको यहां कील दें। अगर आपको यहां कील न सके, तो आप हमें अपने ही जिले में नहीं, बल्कि आस-पास के और भी जिलों में सतायेंगे।" उन्होंने कहा—"अगर आप लड़ेंगे, तो हमारा दो लाख से ज्यादा खर्च हो जायेगा। फर्ज कीजिये, मैं आप ही का साथ दे दूं असेम्बली में जाकर?" मैंने कहा—"फिर क्या बात है, लिखकर दे दीजिये।" राजा साहब बोले—"लिखकर कैसे दे दें? ताल्लुकेदार हैं, हमारी सनद जो जब्त हो जायेगी!"

मैंने कहा—"हम तो आपकी जबान को ही दस्तावेज समझते हैं। बस, हो चुकी बात। पर कुछ सहायता भी तो करो कांग्रेस की। बयाने के रूप में कुछ दो, ताकि इस दस्तावेज की रजिस्ट्री करा सकें लखनऊ के दफ्तर में।" वे बोले—"आप जो भी कहें।" मैंने कहा—"आप जब कांग्रेस में आ गये, तो मेरे बताने का क्या सवाल? जितनी आपकी श्रद्धा हो, दे दो।" राजा साहब ने एक लंबी सांस लेकर कहा—"तो त्यागीजी, मैं बीस हजार दे सकता हूं।"

बीस हजार! बीस हजार सुनकर तो मेरे फरिश्ते तर गये। मैं तो केवल नौ या दस हजार की आशा से आया था। फिर भी अपने रिवाज के अनुसार मैंने कहा—"हैं तो कम, पर अब आप पर छोड़ ही चुका तो जो आप कहे मंजूर है।"

दिल में लालच आया कि मोटा असामी है, कुछ और बढ़ाओ। नीची-सी गर्दन करके मैंने कहा—"कुछ दक्षिणा के रूप में इस ब्राह्मण को भी मिले, बीबी चुनाव लड़ रही है देहरादून से।" शरीफ आदमी थे और फिर ठाकुर, एकदम जोश में खड़े हो गये और छाती ठोककर बोले—"बस, अब ठाकुर की परीक्षा हो जाये। बहनजी के चुनाव को मैं अपना चुनाव समझता हूं। कितने रुपये की जरूरत होगी? अपने मुंह से बताइये, शरमाइये नहीं। पहले आपने मुझ पर छोडा था; मैंने जो कहा, आपने मंजूर कर लिया। अब मैं आप पर छोडता हूं।" अपने नाम से मांग रहा था, मुझे सचमुच कुछ शर्म आ गयी। आदत मांगने की थी नहीं, मैंने दो हजार कह दिया। वे बोले—"बस?...दो नहीं, तीन।" मैंने कहा—"तो

२३ हजार का एक ही चेक काट दें।" अगले दिन चेक रफी अहमद किदवई के सुपुर्द करके मैं देहरादून लौट आया।

महीने-बीस दिन बाद कुछ ऐसा हुआ कि पार्लमेंटरी बोर्ड की बैठक इलाहाबाद बुलायी गयी। हम लोग आनंद भवन के गोल कमरे में इकट्ठे हुए। श्री जवाहरलाल नेहरू जरा देर से आये। कमरे में घुसते ही बोल पड़े—"रफी, मेहरबानी करके त्यागी को कमरे से बाहर निकाल दीजिये। जिस मीटिंग में यह बैठेगा, उसमें मैं नहीं बैठ सकता।" मैंने उनका मुंह चिढ़ाते हुए जरा जोर से कहा—"अमा, भाग पी रखी है? रफी साहब, जरा इनसे कहिये कि वापस चले जायें। एक तो पंद्रह मिनिट देर करके आये और फिर उस पर यह मिजाज!" सब लोग हंस पड़े; लेकिन जवाहरलालजी और जोर से बोले—"अभी आपको मजा चखाता हूं।"

उन्होंने अपने चमड़े के थैले से एक पत्र निकालकर रफी साहब के हाथ में दे दिया—"हजरत कांग्रेस के झंडे बेचते फिरते हैं।" उस खत के लिफाफे को देखकर मैं भाप गया कि उन्हीं का है, जिनसे चंदा लाया था। मेरा माथा ठनका कि आयी कोई आफत। अभी पता नहीं था कि खत में लिखा क्या है; पर रफी साहब ने जो पढ़कर यह कह दिया कि "मुझे इसकी कोई इत्तिला नहीं," इससे मेरी चिंता बढ़ गयी। फिर वह पत्र जोर से पढ़ा गया। सार यह था कि "इस-इस तरह से त्यागीजी यहा पर आये थे, मुझसे कुछ बातचीत की और बीस हजार रुपये इस वादे पर ले गये कि हमारे मुकाबले पर कांग्रेसी उम्मीदवार खड़ा नहीं होगा। अब लोग कहते हैं कि कोई साहब कांग्रेस की तरफ से खड़े हो रहे हैं। मैं आपसे अपील करता हूं कि यदि उस फैसले पर कांग्रेस कायम नहीं है, तो कम-से-कम मेरा बीस हजार रुपया तो वापस करा दिया जाये।" शरीफ आदमी थे, बीस हजार का ही जिक्र किया, उन तीन का नहीं जो मुझे दिये थे।

मैंने जब यह मजमून सुना, तो पंतजी के कान में कहा—"देखिये, रफी का यह जवाब उचित नहीं था।" पंतजी मेरे बराबर में बैठे हुए थे। उन्होंने चुपके-से मुंह पर अखबार ढंककर कहा—"महावीर, इस मामले में किसी भी दूसरे का नाम लेना ठीक न होगा।" मैंने कहा—"पंतजी, २३ हजार रुपये की चोट मैं अकेला कैसे बर्दाश्त करूंगा, गरीब आदमी हूं!" इस पर पंतजी ने एक ऐसी ऊंची बात कह दी कि जो उम्र-भर के लिए मेरे चरित्र का हिस्सा बन गयी। उन्होंने कहा—"महावीर देखो, दो मित्रों के बीच में परीक्षा का समय जीवन में केवल एक ही बार आता है।" पंतजी के ये शब्द मेरे दिल को पार कर गये। इतने में जवाहरलालजी ने पूछा—"कहिये जनाब, आप रुपया लाये थे?"

"जी, लाया था।"

"कहां गया वह रुपया?"

"क्या बताऊं मैं, बहुत शर्मिंदा हूं। बरसों से अपनी जायदाद बेच-बेचकर खा रहा था और कर्जा बहुत चढ़ गया था। झूठ कैसे बोलूं? बीवी चुनाव लड़ रही है, मेरी नीयत डिग गयी और मैंने रुपया अपने कर्जे में दे दिया। आहिस्ता-आहिस्ता करके मैं सारा रुपया उतार दूंगा।"

पार्लमेंटरी बोर्ड की निगाहें फिर गयीं। पल-भर में मैं मित्रों की घृणा का पात्र बन गया। सब हक्के-बक्के रह गये।

जवाहरलालजी वैसे तो लाल-पीले हो गये; परतु बहुत दुःखित हृदय के साथ धीमे से बोले–"अब इनको निकालिये।" किद्‌वई साहब ने अजीब ठंडे ढंग से कह दिया–"त्यागीजी, अब आपको बाहर चले जाना चाहिये।" कैसा ठंडा लोहा था वह! भट्‌ठी में डाल दो, लाल हो जायेगा, पर निकलेगा ठंडा।

खैर, मैं चल दिया। चप्पल पहन ही रहा था कि बहुत दुःख और दमन के साथ द्रवित स्वर में जवाहरलालजी ने कहा–"याद रखिये, या तो कल तक रुपया जमा कर दीजिये, वरना मैं अखबार में छपवा दूंगा कि आप कांग्रेस के नाम पर जालसाजी करते फिरते हैं। रुपया मांगते हैं कांग्रेस के नाम से, और गबन करते हैं।"

सुनकर चला गया। कानों में पंतजी के ये शब्द गूंज रहे थे–"मित्रों के बीच में परीक्षा का समय जीवन में केवल एक ही बार आता है।" इरादा कर लिया कि दुनिया मे काला मुंह भले ही हो जाये, पर रहस्य को अपने मुंह से न खोलूंगा। जाकर बैठ गया उसी बेंच पर, जिस पर कभी 'भाईजी' (पंडित मोतीलाल नेहरु) के वक्तों में बैठा करता था। आखों के आगे अंधेरा छा गया। सोचने लगा, दोस्त भी छूटे, घर भी छूटा, अब जाऊं तो कहां जाऊं? सगम में डूब मरूं? अगर घर गया, तो कल तक रेल के कुली भी पढ़ चुके होंगे कि यह ढोंगिया लीडर था उनका। पर जितनी-जितनी परेशानियां दिमाग में आयीं, उतना ही इरादा पक्का होता गया। चाहे कुछ भी हो, इस रहस्य को अपने मुंह से नहीं कहूंगा। पंतजी कहें तो कहें।

थोडी देर बाद क्या देखा कि पार्लमेंटरी बोर्ड की बैठक खत्म हो गयी और एक-एक करके सब सदस्य सीढ़ी से नीचे उतरकर चाय के कमरे की ओर जाने लगे। केवल केशवदेव मालवीय, जिन्हें सब हाल मालूम था, मेरी तरफ चले आये। जैसे ही उन्होंने मुझे आवाज दी, मैं रो पडा।

केशवजी ने कहा–"अरे पागल हो गये हो? वहां तो मजा आ गया। तुम्हें कुछ पता भी है!" उन्होंने बताया कि मेरे बाहर चले आने के बाद पंतजी ने रफी अहमद किद्‌वई से पूछा–"भाई, मेरे पास तुमने पचीस सौ रुपया भेजा था। मेरा खयाल है कि महावीर रुपया जरूर लाये होंगे।" इस पर जवाहरलालजी बौखला

उठे और बोले—"फिजूल की बात है। वे खुद अपने मुंह से कह गये हैं कि रुपया कर्ज में दे दिया।" पंतजी ने कहा—"फिर भी पूछने में क्या हर्ज है?" नीचे से मुनीम बुलाये गये। उन्होंने कहा—"त्यागीजी जो तेईस हजार रुपया लाये थे, उसी में से भेजा था।"

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' से बर्दाश्त न हुआ। उन्हें गुस्सा आ गया। जवाहरलालजी को बहुत कुछ कह डाला। बोले—"आइंदा से कभी कोई मीटिंग किसी के घर पर नहीं होगी। कांग्रेस के दफ्तर में मीटिंग होनी चाहिये। क्या इख्तियार था इन्हें यह कहने का कि त्यागी को बाहर निकालो? कौन माई का लाल है, जो इस तरह से अपने ऊपर बदनामी ओढ़कर चला जाये! यह अकेले का काम नहीं, इसमें सब शरीक हैं।"

अपनी सफाई देते हुए जवाहरलाल बोले—"तुम मुझ पर गुस्सा करते हो; उन्हें कुछ नहीं कहते, जो ड्रामा करके चले गये।" सबकी राय हुई कि अब उसे बुलाया जाये और चाय के लिए उठ गये।

केशवजी ने जो यह किस्सा सुनाया, तो इससे मेरे मन पर क्या-क्या असर पड़ा, यह बता नहीं सकता। तसल्ली हुई, गम दूर हुआ, मोहब्बत उमड आयी, नखरे की तबीयत हुई, मचलने को जी चाहा।

मैंने कहा—"केशव, चाहे कुछ भी हो, पर अब मैं चाय नहीं पी सकूंगा। तुम जवाहरलालजी से जाकर कह दो कि त्यागी कहता है कि उसके हिस्से में आनंद भवन की जितनी चाय बदी थी, 'भाईजी' के वक्तों में वह पी चुका। घोड़े मर गये, गधों का राज आ गया।" केशवजी ने पूछा—"ऐसे ही कह दूं?" मैंने कहा—"हां, ऐसे ही।"

केशव गये और उन्होंने मेरी बात दोहरा दी। सब लोग बहुत हंसे। पर अकेली माता स्वरूपरानी, जो चाय बना रही थीं, नहीं हंसीं। उन्हें यह सुनकर दुःख हुआ। बहन विजयलक्ष्मी को कहला भेजा—"उनके (मोतीलालजी के) समय के चाय पीने वालों को आनंद भवन में चाय न मिले?"

विजयलक्ष्मी ने आकर कहा—"अम्मा बुला रही हैं।" मैं पीछे-पीछे हो लिया।

अब सुनिये हमारे लीडर की बात, जिसने अपने जीवन में माफी तो कभी किसी से मांगी न होगी, सिवा इसके कि चलते हुए धक्का लग जाने पर कह दिया हो, माफ कीजिये। पर उसे माफी की जरूरत भी क्या है हृदय स्वच्छ, पुण्यात्मा, द्वेष-रहित, निर्दोष जीवन, माशूक आदमी है। कमरे में मेरे दाखिल होते ही बड़े अंदाज से मुस्कराते हुए बोले—"प्याले से क्या होगा अम्मा, बाल्टी मंगवाओ। देखती नहीं हो, घोड़े आ गये।"

यह कहना था कि सब लोग ठहाका मारकर हंस पड़े। मैं ठहरा उस कूचे का

पुराना आशिक, मेरा सारा प्यार उमड़ पड़ा। बोला—"बस, रहने दो अपनी आल्टी-बाल्टी, आपने तो निकाल ही दिया था।"

"यह कौन है निकालने वाला? अभी तो मैं बैठी हूं। आनंद भवन मेरा है, जवाहरलाल तो किरायेदार है।" कहते हुए अम्मा ने मीठे गुस्से से जवाहर की ओर देखा और प्याला मेरी ओर बढ़ा दिया।

♣ ♣ ♣

इंग्लैंड के राजा विलियम तृतीय के विरुद्ध विद्रोह का षड्यंत्र रचा जा रहा था। उद्देश्य था पदभ्रष्ट स्टुअर्ट-वंशीय राजा जेम्स द्वितीय को फिर से गद्दी पर बैठाना। षड्यंत्रकारियों में एक साधु-चरित धनिक भी शामिल था, और यह बात सिद्ध करने वाले गुप्त कागजात राजा विलियम के हाथ पड़ गये। उसने उस धनिक को महल में बुलवाया और वे कागज उसके सामने रख दिये। धनिक के तो होश उड़ गये, उसे निश्चय हो गया कि अब उसे प्राणदंड या आजीवन कारावास का दंड सुनाया जायेगा। मगर हुआ कुछ और ही। राजा विलियम ने कहा—"जो व्यक्ति अपने भूतपूर्व स्वामी के प्रति इतनी निःस्वार्थ वफादारी रखता हो कि उसके लिए अपने प्राण भी संकट में डालने को तैयार हो जाये, वह तो बड़ा सत्पुरुष है; वह दंडनीय नहीं, बल्कि सत्करणीय है। उससे तो मित्रता की याचना की जानी चाहिये।" और राजा विलियम ने उन कागजों को मोमबत्ती की लौ छुआयी और नष्ट कर दिया।

* * *

एक बार किसी ने जार्ज बर्नार्ड शा को पत्र लिखा, जिसमें उसने 'शा' के बजाय 'शाम' (Shawm) लिख दिया था। देखकर शा को गुस्सा आया। उन्होंने अपनी पत्नी को वह पत्र दिखाते हुए कहा—"इस मूर्ख को मेरा नाम भी सही ढंग से लिखना नहीं आता। फिर 'शाम' तो कोई शब्द भी नहीं है।" इस पर पत्नी ने शब्दकोश खोला और 'शाम' शब्द निकालकर शा को दिखाया। 'शाम' का अर्थ दिया हुआ था—"एक पुराने किस्म का साज, जो अब प्रयोग में नहीं आता।"



नदलाल वोस

कला : अस्तित्व की भूख

मानवता पर आज जो गहरा सकट छाया हुआ है, उसके समस्त कारणों के मूल में है–मानव की अपरिमित तृष्णा। हमारा व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन वास्तविक विकास के रास्ते से कोसों दूर जा पडा है। विकास की दिशाओं मे एक असतुलन है, जिससे वास्तविक विकास मारा जाता है। केवल राजनीतिक या आर्थिक उपाय इस अवस्था का तात्कालिक प्रतिकार ही कर पाते हैं। किंतु इसका अधिक प्रभावशाली और अधिक स्थायी प्रतिकार तो ऐसी प्रेरणाएं हैं, जो केवल इस जीवन की परिधि तक, अपने 'अह' की तुष्टि और 'अह' के प्रसार तक ही सीमित न हों।

साहित्य और कला का स्थान इन्हीं प्रेरणाओं मे है। सच्ची कला बिखरे हुए तत्त्वों को सयोजित करती है और आदमी को ऊपर उठाती है। ठीक इसी प्रकार के युग मे, जैसा हमारा है, जब स्पष्टतः सभी वस्तुओं में विघटन आ गया है, अध्यात्म-विद्या की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। बहुत-से लोग–और महत्त्वपूर्ण लोग–प्रश्न उठा रहे हैं कि ऐसे समय में, जब देश और दुनिया को ऐसे प्रश्न सुलझाने के लिए, जिन्हें आधारभूत समस्याएं कहा जाता है, अधिक शक्ति की आवश्यकता है, कला-साधना की उपयोगिता क्या है? मेरे विचार मे यह गलत है। कला की साधना विलास नहीं है, न वह स्वप्नलोक मे पलायन है। उच्चतम रूप मे कला की साधना में हमारा व्यक्तित्व अपनी उन्नतिशील आत्मानुभूति की ओर बढ़ता रहता है। चाहे कोई भी युग हो, कला की उपेक्षा करने पर हमें उसका दंड भरना ही पडता है। कला हमारे स्वभाव की एक अनोखी आवश्यकता है।

चारों तरफ एक अंधेरा छाया हुआ है, जो हमारे 'अहं' और अज्ञान के कारण और भी गहरा हो गया है। उसमें जो आत्मज्योति दीख पडती है, कला उसी के प्रकाश की किरण है। ये किरणें दीये तले के अंधेरे को दूर करती हैं। ये अगर हमारी पीडा को नहीं, तो कम-से-कम पीड़ा के कारणों को तो दूर करती ही है।

प्रत्येक मनुष्य में कहीं-न-कहीं एक कलाकार है। और, जो समाज हर युग और

हर काल की कला की थाती को अपने हर एक सदस्य के लिए सुलभ बना देता है, वही सही अर्थों में सभ्य समाज है।

इस संबंध में कलाकार का भी एक विशेष उत्तरदायित्व है। उसे सस्ती और महत्त्वहीन वस्तुओं में नहीं उलझ जाना चाहिये। किसी सुसघटित समाज में कलाकार एक बेकार की वस्तु नहीं होता, वैयक्तिक विकृतियों और ऊल्जलूल व्यवहारों का प्रदर्शन-मात्र नहीं होता। उसमे ईमानदारी और सतुलन होना चाहिये। उसे साधकों की तरह मनसा जागरूक और उच्च आदर्शों का प्रेमी होना चाहिये। अपने स्वधर्म का सावधानी से पालन करते हुए, नाम और रूप में अंतर्निहित अनंत तत्त्व के भक्त और समन्वय के स्रष्टा के रूप में वह अपना सामाजिक कर्तव्य पूरा करता है।

यह बात सदैव स्मरण रखने की है कि कला के क्षेत्र में परपरा की थाती वैसी ही है, जैसी कि व्यवसाय में पूंजी। यदि उसका उचित उपयोग किया जाये, तो बहुत लाभ हो सकता है। लेकिन दो वस्तुएं ऐसी हैं, जिनके सहारे परंपरा अपने को पूर्ण कर पाती है। वे हैं—प्रकृति और मौलिकता। प्रकृति, मौलिकता और परपरा तीनों मिलकर ही एक पूर्ण कलाकार का निर्माण करती हैं!

❀ ❀ ❀

क्या इस जीवन से बढ़कर 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति...' नाम की कोई वस्तु है! एक बार क्रांति के विकट दिनों में होशंगाबाद के नर्मदा घाट से बुधनी गाव होकर कोई सत्रह मील विंध्य के जंगलों में, एक पहाड़ी नाले के किनारे बबूल के दरख्त के नीचे मैं लेटा था। मन में कुछ ध्रुपद-सा उठ रहा था। मैं तालियां बजाकर उसे गुनगुना रहा था। दायीं तरफ ऊंचे उठे आकाश से बातें करता पहाड़ और रास्ता न देने वाले घने जंगल; और मैंने जरा बायें देखा, एक बहुत गहरा गड्ढा। उसमें एक गुलबास फूल रहा था और एक नाग-नागिन का जोड़ा आपस में खिलवाड़ कर रहा था। झरने के रूप में जीवन और नागों के रूप में मरण गुलबास के फूलों के पास कितने पास-पास बैठे थे। मैं ध्रुपद की चौकड़ी भूल गया। मन में यही बोला—"संपूर्ण जीवन को कितने सुंदर रूप में यहा आकर देखा है!" खतरों पर जो खेल न सके, वह भी क्या कोई सौंदर्य है?

—माखनलाल चतुर्वेदी



ना. वि. सप्रे

डाक-टिकटों के रहस्य-रोमांस

डाक-टिकटों का संकलन और उनका प्रदर्शन अब तो सांस्कृतिक जीवन का एक अंग हो गया है। उनके संग्रह और वर्गीकरण का पूरा एक शास्त्र ही बन गया है, जिसे 'फिलैटली' कहते हैं।

'फिलैटली' का किस प्रकार और कहां प्रारंभ हुआ, इसका इतिहास भी काफी दिलचस्प है। ब्रिटेन की एक औरत के मन में आया कि बैठक की दीवारों को डाक-टिकट चिपकाकर क्यों न सजाऊं। उसने अखबारों में इसके लिए विज्ञापन दिया। यह विज्ञापन पढ़कर और भी कई लोगों के मन में डाक-टिकट इकट्ठा करने की इच्छा जाग्रत हुई। धीरे-धीरे यह इच्छा शौक के रूप में बदल गयी। लेकिन आज इस शौक को जो व्यावसायिक रूप प्राप्त हुआ है, उसका श्रेय बर्जर-लेवरा नामक युवक को है। सन १८६१ में उसने उस समय संसार में प्रचलित समस्त डाक-टिकटों की सूची बनायी थी।

डाक का पहला टिकट आज की तरह चिपकाया जाने वाला नहीं था। पत्रों पर केवल तारीख की छाप रहती थी। इसे 'बिशप्स मार्क' कहा जाता था, क्योंकि इसे सन १६६१ में इंग्लैंड के तत्कालीन पोस्टमास्टर-जनरल हेनरी बिशप ने चलाया था। तब टिकट का दाम चिट्ठी के वजन व गंतव्य स्थान की दूरी के अनुसार अधिक या कम हुआ करता था।

सन १८४० के आस-पास इंग्लैंड में हिल नामक व्यक्ति ने सभी पत्रों पर एक पेनी का टिकट लगाने का आंदोलन चलाया और उसी साल के मई महीने में एक पेनी का टिकट छापा गया, जिस पर महारानी विक्टोरिया का चित्र था। सन १८५० से अन्य देशों ने भी इंग्लैंड का अनुकरण किया।

टिकटों की मूल कीमत चाहे कुछ भी हो, जो टिकट जितना ही दुष्प्राप्य होता है, उसकी कीमत टिकट-संग्राहकों की दृष्टि में उतनी ही बढ़ जाती है। कभी-कभी तो एक-एक टिकट की कीमत लाख-दो लाख रुपये तक हो जाती है। इतना ही

नहीं, दुष्प्राप्य टिकटों को प्राप्त करने के लिए टिकटों के शौकीन चोरी और खून जैसे अपराध भी कर गुजरे हैं।

कभी-कभी मुद्रण की भूल के कारण कोई एक-आध टिकट गलत छप जाता है। डाकखाने की दृष्टि से यह एक दोष माना जाता है। परतु टिकट-संग्रह के शौकीन ऐसे टिकट प्राप्त करने के लिए मुंह-मांगे दाम देने को तैयार हो जाते हैं।

सन १९१८ में अमरीका में एयर मेल के २४ सेंट कीमत वाले टिकट छपे थे। एक उडते हुए हवाई जहाज का चित्र उस पर था। राब नामक एक आदमी ने ये टिकट लगाकर अपने न्यूयार्क और फिलाडेल्फिया के मित्रों को पत्र भेजने का निश्चय किया। जिस दिन इन नये टिकटों की बिक्री आरंभ होने वाली थी, राब पड़ोस के पोस्ट-आफिस में टिकट खरीदने पहुंचा। क्लर्क ने जब मेज की दराज खोली और टिकटों का ताव निकाला, तो राब की नजर उस पर पडी और उसका मुख आनंद से चमक उठा। टिकटों पर चित्र उलटे छपे थे। राब ने वह पूरा ताव खरीद लिया। फिर यह देखने कि इस प्रकार के गलत टिकट और तो नहीं छपे हैं, उसने और टिकट मागे। लेकिन क्लर्क ने दूसरे जो टिकट दिये, वे सब ठीक तरह से छपे थे। राब ने यह गलती क्लर्क को बतलायी। फिर उसने शहर के अन्य डाकघरों में जाकर यह तसल्ली कर ली कि वह गलती अन्य टिकटों पर नहीं हुई है। घर आकर उसने टिकटों का वह ताव अपने एक टिकट-सग्रही मित्र को दिखाया। धीरे-धीरे खबर शहर-भर में फैल गयी और सभी वैसे टिकट प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे।

राब ने देख लिया कि उन टिकटों पर काफी रकम मिल सकती है। एक व्यवसायी उस ताव के लिए पांच सौ डालर देने को तैयार था। लेकिन राब को विश्वास था कि उससे भी बड़ी रकम मिल सकती है और अंत में उसने वह ताव फिलाडेल्फिया के यूजीन कीन को अठारह हजार डालर में बेचा।

भारत में भी सन १८५४ में रानी विक्टोरिया के चित्र वाले जो चार आने के टिकट छपे थे, उनमें से कुछ पर रानी का ब्लाक उलटा छपा था। आज इस टिकट की कीमत ५,००० रुपये से भी अधिक है। ऐसा एक टिकट न्यूजीलैंड की एक लडकी के अलबम में प्राप्त हुआ था।

अप्राप्य टिकटों के लिए खून-खराबी हो जाने का वृत्तांत भी सुनिये। सन १८९२ में प्रसिद्ध टिकट-सग्रही गैस्टन लेओरां का, उनके घर पर खून हो गया। पुलिस काफी जाच-पड़ताल के बाद भी हत्या का कोई कारण-सूत्र नहीं खोज सकी। प्रमाणों से यह स्पष्ट था कि खून सपत्ति की लालसा से नहीं किया गया।

इस खून का रहस्य सुलझाने का कार्य पेरिस के अत्यंत चतुर गुप्तचरों को सौंपा गया; और उनमें से एक ने कारण ढूंढ़ भी निकाला। लेओरां का टिकट-सग्रह

देखते समय, उसके ध्यान में आया कि बाकी सब टिकट तो अपनी-अपनी जगह पर हैं, पर दो सेंट का एक 'हवाइयन' टिकट नदारद है। 'हवाइयन मिशनरी' नाम से प्रसिद्ध ये दो और तीन सेंट के दुर्लभ टिकट दुनिया-भर में केवल बारह मिले हैं, जिनमें से चार तो फेरारी-संग्रह की शोभा बढ़ा रहे हैं।

हां तो गुप्तचर को निश्चय हो गया कि यह खून किसी टिकट-शौकीन का ही काम है। टिकट बेचने वालों के यहां पता लगवाया गया, लेकिन उनके पास वह टिकट नहीं था। सो अनुमान किया गया कि किसी ने अपने टिकट-संग्रह के लिए ही उसे चुराया है। धीरे-धीरे मालूम हुआ कि हेक्टर गिरा नाम के एक आदमी ने 'हवाइयन' टिकट प्राप्त करने के लिए काफी दौड़-धूप की थी। खुफिया पुलिस ने गिरा से परिचय बढ़ाकर, बड़े उपाय से उसके ही मुंह से यह कबूल करवा लिया कि दो सेंट का एक 'हवाइयन' टिकट उसके पास है। बस, अगले ही दिन वह गिरफ्तार कर लिया गया। उसने स्वीकार किया कि लेओरा किसी भी मूल्य पर वह टिकट देने को तैयार नहीं थे, इसलिए उसे यह भयंकर तरीका इख्तियार करना पड़ा।

कितनी ही बार टिकट-संग्रही किसी टिकट को पाने या बचाने के लिए बड़े-बड़े खतरे मोल लेते हैं, फिर भी भाग्य उन्हें धोखा दे जाता है। रूस के राजकुल से संबंधित प्रिंस ओल्डनबर्ग का टिकट-संग्रह बेजोड़ था। जब १९१७ में रूस में राज्यक्रांति हुई, ओल्डनबर्ग ने देश छोड़कर स्वीडन भागने की तैयारी की। वह अपना टिकट-संग्रह भी ले जाना चाहता था। मगर इसमें बड़ा खतरा था। जो देशत्यागी मूल्यवान चीजें ले जाता हुआ पकड़ा जाता, उसे फांसी दे दी जाती थी।

आखिर उसने अपने पास के अत्यंत कीमती टिकट ही ले जाने का निश्चय किया। इनमें १८६१ का 'प्रीमियर ग्रेव्योर्स' टिकट भी था। ओल्डनबर्ग ने उसे कोट के कालर में छिपा लिया। पर स्वीडन में वह इस बात को भूल ही गया कि उसके कोट के कालर में वह टिकट भी है। कोट उसने एक शरणार्थी को दे दिया। शरणार्थी ने कोट को उलटवाने के लिए दर्जी को दिया, जिसे यह टिकट दिखाई पड़ा। उसने उसे शरणार्थी को वापस दे दिया। शरणार्थी ने वह टिकट अपने लड़के को दिया। लड़के ने करीब पंद्रह वर्ष बाद, उसे एक प्रसिद्ध संग्राहक को दे दिया। अंत में उस टिकट की कीमत ५२५ पौंड मिली।

स्वीडन ने १८७२ में टिकटों की एक सीरीज निकाली थी। जब सन १८७९ में उसका पुनर्मुद्रण किया गया, तो उसमें '२' की संख्या की जगह गलती से '३०' छप गया। इन टिकटों के लिए लोगों में काफी होड़ हुई। (आज ऐसे एक टिकट की कीमत कम-से-कम ५० पौंड है।) एक संग्राहक ने काफी प्रयत्नों के बाद ऐसा एक टिकट खरीदा। उसे साफ करने के उद्देश्य से, उन्होंने उसे पानी-भरे गिलास में डाल दिया। बैठे-बैठे उन्हें नींद आ गयी। जब नींद खुली, तो उनका गला सूख

रहा था। उन्होंने पानी का गिलास उठाया और एक ही झटके मे सारा पानी पी गये। जब उन्हें टिकट का ध्यान आया, तब तक तो पानी के साथ वह उनके पेट में प्रवेश कर चुका था।

इससे भी दुःखद घटना है लार्ड कार्लटन की, जो टिकटों के बड़े ही शौकीन थे। टिकटों के सिलसिले में जब वे हालिवुड पहुंचे, तो वहां की एक सुंदर अभिनेत्री नेवेरा से उन्हें प्रेम हो गया और हफ्ते-भर में विवाह करके दोनों लदन पहुंच गये। कुछ समय के बाद कार्लटन कहीं बाहर गये। उनके जाने के बाद नेवेरा ने सहेलियों को चिट्ठिया लिखीं। उनके लिए टिकटों की आवश्यकता थी, पर डाकघर वहा से तीन-चार मील दूर था। अत में उसके दिमाग मे एक मौलिक बात आयी। उसने अपने पति का टिकटों का अलबम देखा था। उसने उसमें से अपने मनपसद टिकट निकाले और चिट्ठियों पर लगाकर उन्हें पास के बंबे में डाल दिया। जब कार्लटन लौटे, तो उन्हें किसी कारण से अपना टिकटों का अलबम देखना पड़ा। उसमे कई टिकटों को न पाकर उन्होंने घर में जो तांडव मचाया, वह बेचारी नेवेरा की समझ से परे था। सुंदर पत्नी की मौलिक सूझ लार्ड कार्लटन के लिए बहुत असुंदर साबित हुई। उन्होंने वे टिकट कई हजार पौंड में खरीदे थे।

⁂ ⁂ ⁂

लंदन के एक खस्ताहाल मुहल्ले मे एक महिला रहती थीं–श्रीमती स्टाकवेल। उनकी माली हालत भी उस मुहल्ले जैसी ही थी; मगर उनके पूर्वज कभी बहुत संभ्रात रहे थे। लिहाजा राजकुमारी एलिजाबेथ के विवाह पर उन्हें भी निमंत्रण मिला। सवाल था कि भेंट में क्या दें? यही सोचती हुई वे गुदड़ी बाजार मे घूम रही थीं। एक जगह उन्हें शतरंज के सिर्फ तीन मोहरे रखे दीख गये। स्पष्ट ही वे पुराने जमाने के किसी दक्ष कारीगर के बनाये हुए थे। उन्होंने १५ शिलिंग मे मोहरे खरीदकर उन्हें अपने कार्ड के साथ राजमहल भिजवा दिया। नियत दिन पर वे शादी के 'रिसेप्शन' मे भी गयीं। देश-विदेश से आये उपहारों की प्रदर्शिनी लगी हुई थी। श्रीमती स्टाकवेल को पूरा विश्वास था कि उनकी अदना भेंट वहा नहीं होगी। मगर नहीं, कांच के एक डिब्बे में तीनों मोहरे रखे हुए थे और साथ एक तख्ती पर लिखा हुआ था–"ये तीन बेशकीमती मोहरे खो गये थे। तीन पीढ़ियों से राज-परिवार इनकी खोज करवा रहा था। श्रीमती हेनरी स्टाकवेल ने इन्हें ढूंढ़ निकाला। उनके इस अमूल्य उपहार से राजपरिवार का यह शतरंज-सेट, जो दुनिया के सबसे सुंदर शतरंज-सेटों में गिना जाता है, फिर से पूरा हो गया है।"



मेवाराम गुप्त

मुल्ला नसरुद्दीन

हास्यावतार मुल्ला नसरुद्दीन के भक्त आधी से अधिक दुनिया में फैले हुए हैं। यूनान और रूस से लेकर ईरान व हिन्दुस्तान होते हुए ठेठ चीन तक लगभग हर देश का दावा है कि वे उसके नागरिक थे। और जन्मस्थानों की तरह ही उनके जन्मकाल और नाम भी अनेक हैं। रूस में वे मुल्ला नसेरुद्दीन हैं। तुर्की में उसके नाम के पीछे 'होज़ा' शब्द जुड़ा हुआ है। अरब में वे मुल्ला जआ के नाम से याद किये जाते हैं। ईरान में मुल्ला नसीरुद्दीन हैं। हिन्दुस्तान में वे मुल्ला दोप्याजा बन जाते हैं। चीन में उन्हें मुल्ला ओंती कहते हैं। कहीं वे काजी हैं, कहीं मौलवी हैं, कहीं हकीम हैं और कहीं सूफी।

अब यह फैसला करना इतिहासज्ञों का काम है कि क्या वे इन सब देशों में एक साथ या अलग-अलग समयों पर जनमे थे; अथवा क्या अपने सीधे-सुस्त स्वामिभक्त गधे पर कभी सीधे मुंह और कभी उलटे मुंह बैठकर जब उन्होंने इन सब देशों की हास्य-यात्रा की, तो वे अपने मासूम चेहरे और निर्मल हास्य की फुलझड़ियों के कारण इतने अधिक लोकप्रिय हो गये कि लोगों ने उन्हें अपने देशबांधव का दर्जा दे दिया?

वैसे उनकी मातृभूमि होने का सबसे जोरदार दावा है तुर्की का। कहा जाता है कि वे एशियाई तुर्की के अक्शेहिर नामक शहर में १४ वीं सदी में जनमे थे और जिये थे। तुर्की में उन्हें राष्ट्रीय पुरुष का दर्जा प्राप्त है। वहां उनका मजार भी है, जिस पर हर साल हास्य-मेला भरता है। इस मेले में मुल्लाजी के बेजोड़ लतीफों का अभिनय किया जाता है। यों भी मुल्लाजी पर तुर्की रंगत बहुत ही गहरी है। तुर्की को पददलित करने वाले तैमूरलंग से उनकी नोक-झोंक के किस्से तुर्की में बेहद चाव से सुनाये जाते हैं।

किस्सा है कि जब तैमूर पश्चिम एशिया को सर कर रहा था, तो मुल्लाजी एक मस्जिद में प्रवचन दे रहे थे। उन्होंने प्रार्थना की कि तातारों पर खुदा का कहर बरसे। यह सुनते ही एक लंगड़ा दरवेश बोल पड़ा—"आपकी प्रार्थना अल्लाह

मंजूर नहीं करेगा। अल्लाह उन लोगों पर कभी गुस्सा नहीं करता, जो पापियों को दंड देते हैं।" मुल्लाजी का माथा ठनका। उन्होंने दरवेश से सवाल किया–"तुम्हारा नाम क्या है?" उत्तर मिला–"तैमूर!" तभी नमाजियों के बीच से बहुत-से तातार सैनिक उठ खड़े हुए। मुल्लाजी ने अपनी घबराहट छिपाते हुए पूछा–"तुम्हारे नाम के साथ 'लंग' (लंगड़ा) शब्द तो नहीं जुड़ा हुआ है?" दरवेश ने कहा–"हां!" इस पर मुल्लाजी नमाजियों की ओर मुड़े और बोले–"भाइयो, अब तक हम सामूहिक प्रार्थना कर रहे थे। आओ, अब हम सामूहिक मर्सिया पढ़ें!" तैमूर को इतनी हंसी आयी कि उसने मुल्लाजी और सभी नमाजियों की जान बख्श दी।

तैमूर और मुल्ला नसरुद्दीन की नोक-झोंक के और भी किस्से हैं। कहते हैं, एक बार दोनों की मुलाकात एक हम्माम में हो गयी। विश्वविजयी तैमूर ने पूछा–"मुल्ला, बताओ मेरी कीमत क्या है?" मुल्लाजी ने क्षण-भर उसे गौर से देखकर कहा–"पचास अशर्फियां जहांपनाह!" तैमूर ने अपने पहने हुए स्नानवस्त्र पर हाथ फेरते हुए कहा–"पचास अशर्फी का तो यह चोगा ही है।" मुल्ला ने कहा–"जहांपनाह, मैं भी उसी की कीमत तो आंक रहा था।"

एक बार मुल्लाजी को उन्हीं की जबान ने फंसा दिया। तैमूर के आगे उन्होंने डींग हांकी कि उन्हें बहुत बढ़िया तीरंदाजी आती है। तैमूर ने तुरत तीर-कमान उनके हाथ में देकर कहा कि निशाना साधो। मुल्लाजी ने तीर छोड़ा, जो कि काफी बड़े अंतर से निशाना चूक गया। मुल्लाजी ने हंसते हुए कहा–"यह थी काजियों की निशानेबाजी।" दूसरा तीर भी जब निशाने पर नहीं लगा, तो मुल्लाजी ने कहा–"यह थी, कोतवालों की तीरदाजी।" तीसरा तीर संयोग से निशाने पर बैठ गया। मुल्लाजी रुआब से बोले–"और यह है मुल्ला नसरुद्दीन की तीरदाजी।"

मुल्लाजी का और भी कई दरबारों में आना-जाना था, मगर दिल से वे सच्चे प्रजातंत्री थे। एक सुलतान शिकार पर जा रहा था कि मुल्लाजी पर उसकी नजर पड गयी। उसने इसे असगुन माना और सिपाहियों से मुल्लाजी को कोडे लगवा दिये। मगर उस रोज शिकार में कई जानवर उसके तीर के निशाना बने। वह खुश हो गया और शाम को वापस लौटने पर मुल्लाजी को बुलवाकर बोला–"मुझे अफसोस है मुल्ला! मैंने सवेरे तुम्हें असगुनी समझा।" मुल्ला का उत्तर था–"हुजूर, मैंने आपको देखा और मुझ पर कोड़े पड़े, आपने मुझे देखा और आपका शिकार सफल हो गया। आप ही बताइये असगुनी कौन हुआ?"

मुल्ला नसरुद्दीन जितना ही अमर है उनका साथी-सहयात्री गधा भी। कहा जाता है, वे उस पर अक्सर उलटी ओर मुंह करके बैठते थे। इस अजीब आदत की जन्मकथा बड़ी मजेदार है।

एक बार कुछ लडकों ने आकर मुल्लाजी से आग्रह किया कि हमें पढ़ाइये। मुल्लाजी उनके साथ मस्जिद की पाठशाला की ओर चल दिये और चले भी अपने गधे की पीठ पर पीछे की ओर मुंह करके बैठकर। लोगों ने सवाल किया—"मुल्लाजी, यह क्या अजीब ढंग है सवारी गांठने का!" मुल्लाजी ने उन्हें समझाया—"अगर मैं सीधे ढंग से बैठूं और ये लडके मेरे आगे-आगे चलें तो इनकी पीठ मेरी तरफ होगी, जो कि बेअदबी है। और अगर मैं आगे चलूं और ये मेरे पीछे चलें तो मेरी पीठ इनकी ओर होगी, वह भी बेअदबी होगी। इसलिए मैंने यह तरीका निकाला है।" और ऐसा लगता है कि तभी से उन्हें उल्टे मुह सवारी गांठने की आदत पड गयी।

अपने गधे से उन्हें बहुत प्यार रहा होगा। वह उनका सुख-दुःख का साथी और विश्वयात्रा में उनका हमसफर था।

केवल एक चुटकुला ऐसा है, जिसमें गधे के प्रति उन्होंने कोई अवज्ञा की बात कही है। एक पडोसी ने आकर मुल्लाजी से एक दिन के लिए उनका गधा उधार मांगा। मुल्लाजी उसे टालने के लिए कहने लगे—"भैया, गधा तो तुम्हारे आने से कुछ ही देर पहले एक साहब को दो दिन के लिए उधार दे दिया गया।" गधा तो वास्तव में मकान के पीछे बंधा हुआ था और ठीक उसी समय जोर-जोर से रेंकने लगा। पडोसी बहुत बिगडा, बोला—"मुल्लाजी, इस बुढ़ापे में झूठ बोलते आपको शर्म आनी चाहिये। गधा मौजूद है और आप कहते हैं, उसे कोई उधार ले गया है।" मुल्लाजी ने बड़ी ठंडी आवाज में कहा—"अब ऐसे आदमी से क्या बहस की जाये, जो मेरा नहीं, मेरे गधे का एतबार करता हो।"

ऐसा लगता है कि देश-विदेश के दौरों में कई बार मुल्लाजी और उनके प्यारे गधे को फाकाकशी करनी पड जाती थी। एक बार उपवास का दौर इतना लंबा चला कि आखिरकार गधा बेचारा भूख से तडपकर मर गया। मुल्लाजी ने इस पर यह करुण व्यंग्य किया—"गधा, आखिर गधा ही निकला। मरा भी तब, जब उसे बिना चारे के गुजारा करने का अभ्यास हो चला था।"

यह वाकया भी कई दिन की फाकाकशी के बाद का ही था शायद। मुल्लाजी किसी नये शहर में पहुचे, तो वहां एक घर में रोना-धोना मचा हुआ था। पूछताछ से पता चला कि कोई गमी हो गयी है। मुल्लाजी ने लोगों से कहा कि अगर मुझे अच्छा खाना भरपेट खिलाया जाये, तो मैं मुर्दे को जिला सकता हूं। वैसा ही किया गया। अब मुल्लाजी की बारी थी। उन्होंने पूछताछ शुरू की कि मरने वाले का पेशा क्या था? उत्तर मिला कि पटवारी। मुल्लाजी एकदम भड़क उठे—"पहले क्यों नहीं बताया? पटवारी कभी मरकर फिर जिंदा नहीं होते। बेकार मेरा समय नष्ट किया।"

बहुत ही लाचारी की हालत में मुल्लाजी ने मन मारकर ऐसा किया होगा। वरना मुल्लाजी कमीनेपन से कोसों दूर थे। सच तो यह है कि वे चतुर अवश्य थे, मगर धूर्त नहीं थे। बल्कि कहना चाहिये, वे हद दर्जे के शिष्ट व्यक्ति थे। एक उदाहरण लीजिये।

मुल्लाजी की बुद्धिमत्ता की ख्याति से चिढ़ा हुआ एक फिलासफर उनसे शास्त्रार्थ का समय ठहराकर उनके घर पहुंचा और मुल्लाजी को घर पर न पाकर चिढ़ गया और दरवाजे पर ये शब्द लिखकर लौट गया—"बेवकूफ आवारा!" ज्यों ही मुल्लाजी घर लौटे, सीधे दौड़ते-दौड़ते उस फिलासफर के घर पहुंचे और बोले—"दरअसल मैं शास्त्रार्थ की बात बिलकुल ही भूल गया था। मगर जब घर लौटा और दरवाजे पर आपके दस्तखत देखे, तो मुझे याद आ गया कि आज आपको समय दिया था। माफ कर दीजियेगा।"

यहां तक कि भिखारियों से भी वे हमेशा बड़े अदब के साथ पेश आते। एक दिन वे अपने मकान की छत पर खड़े धूप खा रहे थे कि नीचे एक आदमी आया और इशारे से उन्हें बुलाने लगा। वे यह समझकर झटपट नीचे गये कि कोई काम होगा। तब उस आदमी ने कहा—"मैं सायल (भिक्षुक) हूं, मेरी कुछ मदद कीजिये।" मुल्लाजी उसे बड़ी शिष्टता से अपने साथ छत पर ले गये और उससे बोले—"मुझे अफसोस है, अभी तो मैं आपकी कोई मदद नहीं कर सकता।"

और उनकी अतिथि-परायणता की तो दूर-दूर तक चर्चा थी और इसका काफी नुक्सान उन्हें उठाना पड़ जाता था।

एक दिन एक बहुत पुराने मित्र जलाल आ गये मुल्लाजी से मिलने। मुल्लाजी कुछ लोगों से मिलने बाहर जा रहे थे। मित्र से बोले—"आप भी साथ चले चलिये।" मित्र ने कहा—"मगर इस वक्त मैंने मुलाकात के लायक कपड़े नहीं पहन रखे हैं; अपना कोई चोगा दे दीजिये।" मुल्लाजी ने अच्छा-सा एक चोगा निकालकर उन्हें पहना दिया।

पहले मुलाकाती के घर मुल्ला ने अपने दोस्त का परिचय दिया—"ये जलाल साहब हैं, मेरे बहुत पुराने दोस्त: मगर ये जो चोगा पहने हुए हैं, वह मेरा है।" जब बाहर निकले, तो मित्र ने डांटा—"भला यह क्या बात हुई? ऐसी बात फिर न कहना।" मुल्लाजी ने कहा—"ठीक है।"

अगले मुलाकाती के घर मित्र का परिचय देते हुए मुल्लाजी ने कहा—"ये जलाल साहब हैं, मेरे पुराने दोस्त। ये जो चोगा पहने हुए हैं, वह इन्हीं का है।" मित्र को इस बार भी बुरा लगा। बाहर निकलकर बोले—"भला यह क्या कहा आपने!" मुल्लाजी ने आश्वासन दिया कि अब वे चोगे के बारे में कुछ नहीं बोलेंगे।

तीसरे मुलाकाती से मित्र का परिचय कराते हुए उन्होंने कहा—"ये जलाल

साहब हैं, मेरे पुराने मित्र। इन्होंने जो चोगा पहन रखा है...नहीं-नहीं, मुझे उसके बारे में कुछ नहीं कहना चाहिये। क्यों ठीक है न, जलाल साहब?"

एक बार किसी शहर से मुल्लाजी का कोई रिश्तेदार उनसे मिलने आया और भेंट में एक बढ़िया-सी बतख लेता आया। बतख से रिश्तेदार की आवभगत की गयी। इसके बाद तो मुल्लाजी के यहा उस शहर से आने वालों का ताता बंधा रहता। कोई कहता कि मैं बतख लाने वाले सज्जन का दोस्त हूं, कोई कहता कि मैं उनके दोस्त का दोस्त हूं। मुल्लाजी सबकी आवभगत करते। एक बार बतख लाने वाले रिश्तेदार के दोस्त के दोस्त के दोस्त आकर उनके घर ठहरे। मुल्लाजी ने उनके लिए शोरबा मंगवाया। अतिथि ने चखा तो वह गर्म पानी के सिवा कुछ नहीं था। उसने चिढ़कर पूछा—"आप इसे शोरबा कहते हैं?" मुल्लाजी ने सफाई दी—"हा जी, यह उस बतख के शोरबे के शोरबे का शोरबा है।"

दूसरों की इज्जत का वे जितना ध्यान रखते थे, उतने ही स्वाभिमानी भी थे। किसी दुकानदार के ५० रुपये के कर्जदार थे। एक दिन जब उसकी दुकान के सामने से होकर वे अपने मित्र के साथ बाजार में जा रहे थे, तो दुकानदार ने उनसे अपने रुपये वापस मागे। मुल्लाजी ने तुनककर पूछा—"तुम्हारे कुल कितने रुपये निकलते हैं?" उत्तर मिला—"पचास।" मुल्लाजी बोले—"उनमें से २८ रुपये तो कल ही तुम्हें मिल जायेंगे और २० परसों। बाकी कितने रह जाते हैं?" दुकानदार बोला—"दो!" मुल्लाजी झल्ला पड़े—"अरे खुदा, तुम्हें शर्म आनी चाहिये कि तुम दो रुपयों के लिए किसी भले आदमी की सरेबाजार इज्जत उतार रहे हो!"

कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी दिमाग को ठंडा रखने की क्षमता उनमें थी। एक रात वे कब्रिस्तान से होकर कहीं जा रहे थे कि पीछे से कुछ लोगों ने उन्हें आवाज दी। मुल्लाजी जान गये कि लुटेरे हैं और एक ताजी खुदी कब्र में बैठ गये। लुटेरे पास आये और उन्हें डांटने लगे—"तू कौन है? इस वक्त यहा क्या कर रहा है?" मुल्लाजी ने उत्तर दिया—"मैं दो दिन पहले ही यहा दफनाया गया था। अदर गर्मी लगी तो सोचा, थोड़ा टहल लूं।" यह सुनना था कि लुटेरे मारे डर के हवा हो गये।

वे तत्वज्ञानी थे, अत: स्वभावतया उन्हें सब जीव-जन्तु प्यारे थे। एक बार हिन्दुस्तान के दौरे पर थे कि एक अजीब-से मकान के आगे उन्हें ध्यानमग्न बैठा एक आदमी दिखाई दिया। मुल्ला के पूछने पर उस आदमी ने कहा कि मैं साधु हू और सबको जीव-जंतुओं पर दया करने का उपदेश दिया करता हूं, खासकर पक्षियों और मछलियों पर। मुल्लाजी ने फरमाया—"यह तो बड़ी ही अच्छी बात है खासकर इसलिए कि एक बार एक मछली ने मुझे मरने से बचाया था।" साधु बहुत खुश हुआ और कहने लगा कि आपको अपना यह अनमोल अनुभव सुनाना ही

होगा। मुल्लाजी ने उस पर अनुग्रह करके अपना अनुभव सुनाया – "लगातार कई दिन से फाके चल रहे थे कि यह मेहरबान मछली मेरे काटे में फंस गयी। तीन दिन तक भरपेट खाया। वह काटे में न फंसती, तो भूख से मेरी मौत होना तय था।"

मुल्लाजी एक रोज बाजार से साबुन की टिकिया लाये और बीबी से बोले कि मेरी कमीज धो डालो। बेचारी बीवी कमीज धोने बैठी ही थी कि एक कौआ झपटा और साबुन की टिकिया छीनकर उड़ गया। मुल्लाजी बीवी को तसल्ली देते हुए बोले – "जाने दो, उसे साबुन की ज्यादा जरूरत है। देखा नहीं, उसकी कमीज किस कदर काली हो गयी है!" कौए से तो नहीं, मगर कमीज से ही जुड़ा हुआ दूसरा किस्सा है। धोकर छत पर सुखायी हुई उनकी कमीज हवा से उड़कर नीचे आ गिरी, तो उन्होंने बीवी को खैरात बांटने को कहा। जब उसने इसका कारण पूछा, तो बोले – "भली औरत, यह तो सोच कि अगर मैं इस कमीज में होता, तो इसके गिरने से तू बेवा न हो जाती।"

वे इमाम के बेटे थे, धर्मशास्त्रों के ज्ञाता थे। मगर भाषणबाजी के कतई शौकीन न थे। एक बार गांव वालों ने मस्जिद में प्रवचन देने के लिए उन पर जोर दिया। मुल्लाजी मिंबर पर चढ़े और बोले – "भाइयो, जानते हो मैं तुम लोगों से क्या कहने वाला हूं?" लोगों ने कहा – "नहीं!" इस पर मुल्लाजी यह कहते हुए मिंबर पर से उतर गये कि "जो इतना भी नहीं जानते, उनके सामने क्या प्रवचन दूं!"

अगले शुक्रवार को गांव वालों ने उन्हें फिर जा पकड़ा। मुल्लाजी ने मिंबर पर चढ़कर पूछा – "भाइयो, जानते हो मैं क्या कहने वाला हूं?" लोग बोले – "हां!" इस पर मुल्लाजी यह कहते हुए मिंबर पर से उतर गये – "जब तुम लोग जानते ही हो, तो मुझे प्रवचन देने की क्या जरूरत!"

तीसरे शुक्रवार को भी गांव वालों ने पिंड न छोड़ा। इस बार लोग पहले से तैयार होकर आये थे। ज्यों ही मुल्ला ने मिंबर पर खड़े होकर वही सवाल दोहराया, आधे नमाजियों ने 'हां' कहा, आधों ने 'ना' कहा। इस बार भी मुल्लाजी फौरन मिंबर पर से उतर गये, यह कहते हुए कि "जो जानते हैं, वे उन लोगों को बता दें, जो नहीं जानते।"

मस्जिद में अक्सर उन्हें गहरे दार्शनिक विचार सूझा करते। प्रातःकाल की नमाज पढ़ा चुकने के बाद मुल्ला नसरुद्दीन देर तक बड़ी गंभीरता से छत की ओर देखते रहे। बोले – "हम सबको खुदा का शुक्र अदा करना चाहिये।" किसी ने पूछा – "क्यों?" जवाब मिला – "इसलिए कि उसने ऊंट को पंख नहीं दिये। अगर वह उसे पंखदार जानवर बना देता, तो ऊंट हजरत उड़-उड़कर मकानों की छतों पर बैठते। उनके वजन से छतों में दरारें पड़ जातीं और वे टूटकर लोगों के सिरों पर आ गिरतीं, तो कैसा गजब होता!"

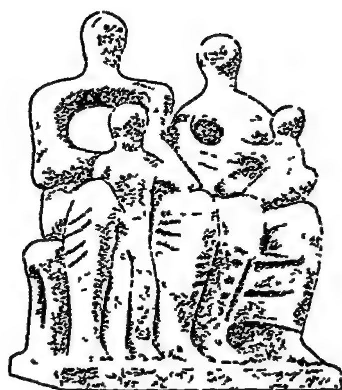
मुल्लाजी के बाल-बच्चे कैसे थे, कितने थे, यह तो हम नहीं जानते। मगर बीवी उनकी एक थी और निश्चय ही बड़ी नेक थी। पाकविद्या में पटु थी। मांस बड़ा जायकेदार पकाती थी और मुल्लाजी को इस पर बड़ा गर्व था। एक रोज वे कलेजी खरीदकर बड़ी खुशी से घर ले जा रहे थे कि एक चील ने झपटकर कलेजी उनके हाथ से छीन ली और उड़ गयी। मुल्लाजी उदास नजरों से उसे देखते हुए बोले— "भली मानस, पहले मेरी बीवी से इसके पकाने का ढंग तो पूछ लिया होता!"

दूसरे वक्त की बात है, मुल्लाजी ने बाजार से एक सेर गोश्त खरीदकर घर भेजा और कहलवाया कि मैं शाम को ही घर लौट सकूंगा, गोश्त पकाकर तैयार रखा जाये। गोश्त इतना बढ़िया पका कि सबका-सब उनकी बीवी की सहेलियां चाट गयीं। मुल्लाजी ने शाम को घर लौटकर गोश्त मांगा, तो बीवी ने डरकर झूठ बोल दिया कि सारा गोश्त घर की पालतू बिल्ली खा गयी। मुल्लाजी ने बिल्ली को पकड़कर तराजू में तौला, तो संयोग से बिल्ली का कुल वजन एक सेर निकला। मुल्लाजी ने बीवी को बुलाया और तराजू पर बैठी बिल्ली को दिखाते हुए बोले—"बीवीजान, यह बिल्ली पूरे एक सेर की है। अगर यह बिल्ली है, तो एक सेर गोश्त कहां गया? और अगर यह एक सेर गोश्त है, तो बिल्ली कहां गयी?"

दूसरे बहुत-से महापुरुषों की तरह वे भी अपनी बीवी से बहुत मजाक किया करते थे। और तो और, मरते क्षण भी उसे हंसा गये। जब उनका अंत निकट आया, तो बीवी बेचारी काला लिबास पहने, आंखों में आंसू भरे, पलंग के पास बैठी हुई थी। मुल्लाजी बोले—"बीवीजान, यह क्या बुरी हालत बना रखी है! उठो, मुंह धोओ, अच्छे कपड़े पहनो और मुस्कराती हुई आओ।" बीवी ने तड़पते हुए कहा—"जब आप मौत के नजदीक हैं, मैं यह सब कैसे कर सकती हूं?" बोले— "मैं मौत के नजदीक हूं, इसीलिए तो तुम्हें ऐसा करने को कह रहा हूं। मौत का फरिश्ता किसी भी क्षण आ धमकेगा। तुम्हें सजी-धजी देखकर हो सकता है, तुम्हें उठा ले जाये और मुझे छोड़ दे।" बीवी की हंसी फूट पड़ी और उसी बीच मुल्ला नसरुद्दीन ने सदा के लिए आंखें मूंद लीं।

कहते हैं, मुल्ला नसरुद्दीन ने वसीयत की थी कि मेरी कब्र पर ऐसी यादगार बनायी जाये कि देखने वाला बरबस हंस पड़े। तुर्की वालों ने उनकी इस आखिरी इच्छा का पूरा ध्यान रखा है। मुल्लाजी के मकबरे का एक दरवाजा खुला रहता है, दूसरी ओर बड़ा-सा ताला पड़ा रहता है। मुल्ला नसरुद्दीन ने अपने वफादार गधे की पीठ पर चढ़कर रूस से चीन तक की यात्रा सचमुच की हो या न की हो, मगर अपनी हास्य-फुलझड़ियों और लतीफों की पीठ पर चढ़कर वे सारी दुनिया में घूम-घूमकर लोगों को हंसा रहे हैं, और क़यामत तक हंसाते रहेंगे।

ः ः ः



शरद राकेश

दांपत्य के दायरे

जीवन को नयी निगाह से देखने की प्रवृत्ति का एक लाभ अवश्य हुआ है। अब निःसकोच यह स्वीकार किया जाने लगा है कि विवाह सुख और सतोष के लिए किया जाता है। इसका सीधा असर यह हुआ है कि अब दिन-प्रतिदिन प्रेम-विवाहों की सख्या बढ़ती जा रही है।

यों हमारे देश में—और भी कई देशों मे—अब भी ज्यादातर विवाह माता-पिता के द्वारा तय किये जाते हैं। मगर वहा भी दृष्टिकोण मे सूक्ष्म अंतर आ गया है। बडे-बुजुर्ग भी अब यही कहते मिलते हैं कि माता-पिता द्वारा निर्धारित विवाह भी प्रेम-विवाह ही हैं; अंतर इतना ही है कि इनमें विवाह के अनंतर प्रेम आरभ होता है।

किंतु क्या प्रेममंत्र की इस व्यापक उपासना से सुखी दंपतियों की सख्या में सचमुच वृद्धि हुई है? पश्चिम के आकड़े बताते हैं कि वहा विवाह-विच्छेद सामाजिक बुराई की सीमा तक पहुंच गया है। हमारे यहां तलाक अभी एक विरल अपवाद है। फिर भी सुखी दंपतियों की सख्या उतनी बडी नहीं है, जितना कि हमारे धार्मिक नेता सार्वजनिक भाषणों में बताया करते हैं।

असलियत यह है कि बहुत-से दांपत्य जवानी की ऊष्मा का जोर घटने पर बस जैसे-तैसे निभाये जाते हैं; वे पति-पत्नी के लिए आत्मिक सुख व समाधान का स्रोत नहीं बन पाते। सभव है, सदा ही यही स्थिति रही हो।

सवाल यह है कि सच्चा सुख पाने मे सभी दपति सफल क्यों नहीं हो पाते? इसका उत्तर पाने के लिए हमे दापत्य को यानी पति-पत्नी के सबध को समझना होगा। सफल दापत्य का आधार क्या है? सुखी दापत्य का स्वरूप क्या है? उसका साधन क्या है?

हमारे यहां अभी तक ये सब बातें धर्म और नैतिकता के क्षेत्र मे आती हैं। कोरे शास्त्र-वचनों और दलीलों से इनका सुलझाव पाने का प्रयत्न किया जाता है। दांपत्य-संबंधी आकडों के सकलन और तटस्थ विश्लेषण की परपरा अभी हमारे

यहां पनपी नहीं है। इसलिए सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रश्न को समझने में हमें पश्चिम से कुछ सहायता मिल सकती है, जहां समाज-विज्ञान विवाह पर विशेष ध्यान दे रहा है।

अंग्रेज विशेषज्ञ डा० ल्यूविस टर्मन ने इस विषय में काफी शोध किया है। वे कहते हैं कि सफल दंपति वे हैं, जो यह दावा कर सकें:

क. हम अच्छे साथी हैं और हममें आपसी खींचतान बहुत कम होती है।
ख. जब कभी मतभेद या रुचिभेद उपस्थित होता है, हम एक-दूसरे की सुविधा के अनुसार अपने को ढालने की चेष्टा करते हैं।
ग. हमें अपने दापत्य से कोई खास शिकायत नहीं है।
घ. हमें इसका तनिक भी अफसोस नहीं कि हम पति-पत्नी बने, अगर दुबारा शादी करनी पड़े, तो हम एक दूसरे से ही शादी करेंगे।
ङ. हमारा विश्वास है कि औसत दंपतियों की तुलना में हमारा दांपत्य कहीं अधिक सुखमय है।

दापत्य-संबंधी समस्याओं में सलाह देने वाले डाक्टरों और समाज-सेवकों का यह भी अनुभव है कि उनके पास मार्गदर्शन के लिए आने वाले ज्यादातर दंपतियों की कठिनाइया कुछ इनी-गिनी होती हैं और जिनके सामने ये कठिनाइया न आती हों, उन्हें सामान्यतया सुखी दंपति कहा जा सकता है।

अनेक अनुभवी समाज-सेवकों और डाक्टरों का मत है कि बहुत-से विवाह इसी लिए असफल रहते हैं कि पति-पत्नी बिना खास प्रयत्न किये ही विवाह से अनत आनंद की प्राप्ति की आशा करते हैं। इसी को एक विनोदी विशेषज्ञ ने समीकरण का जामा पहनाकर इस तरह पेश किया है. आशा – अमलियत = असंतुष्ट दापत्य। यानी आप जितनी ही ज्यादा आशा करेंगे, आपका संतुष्ट हो पाना भी उतना ही कठिन होगा।

मुझे एक मित्र की याद आती है। जब वे कश्मीर की यात्रा से लौटे, तो मुझे लगा कि वे उतने खुश नहीं हैं। कारण पूछा, तो बोले–"अजी, हमने तो वहां के सौंदर्य की बड़ी-बड़ी प्रशस्तिया सुन रखी थी और बड़े रंगीन चित्र मन में बना रखे थे। मगर वहा तो पहाड, झील, जगल और झरनों के सिवा हमें कोई खास चीज नजर नहीं आयी। पता नहीं, कवियों ने 'काश्मीरसुषमा' जैसी कविताए क्यों लिख डाली हैं?"

बहुत-से नव-विवाहितों की भी मनोभूमिका कुछ-कुछ ऐसी ही होती है। वे वैवाहिक आनंद की बहुत ही रूमानी तस्वीरें कल्पना की कूची और भावुकता के रंगों से बना लेते हैं और समझते हैं कि दापत्य कल्पवृक्ष पर फलने वाला स्वर्गिक सुख है, जो चाहने-भर से दामन में टपक पडेगा। वे यह बात भूल जाते हैं कि

वैवाहिक जीवन अंतरिक्ष में नहीं, धरती पर जिया जाता है. पति-पत्नी अशरीरी आत्माएं ही नहीं हैं, वे हाड-मांस के पुतले भी हैं; और धरती के जीव केवल मलय-पवन और शरत-चांदनी पर नहीं पल सकते।

दांपत्य मनुष्य के बहुत-से उपक्रमों में से एक है; और दूसरे उपक्रमों में सफलता-प्राप्ति के जो नियम हैं, लगभग वे ही दांपत्य पर भी लागू होते हैं। दांपत्य में प्रायः वे ही लोग सफल हो पाते हैं, जो जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी अच्छे मानवीय संबंध बनाने में सफल होते हैं। अच्छा मित्र, अच्छा सहकर्मी, अच्छा खिलाड़ी एवं अच्छा पडोसी प्रायः अच्छा पति भी होता है।

इसका यह मतलब नहीं कि दांपत्य में रूमानियत के लिए कोई स्थान नहीं है। सच्चे दंपति परस्पर बहुत प्यार करते हैं—अंतर्मन से प्यार करते हैं। किंतु वह प्यार उबाल या ज्वार नहीं होता। वह हवा से सुरक्षित आले में रखे दीपक की लौ की तरह अचंचल और उज्ज्वल होता है।

महाकवि भवभूति का कहना है कि समय बीतने के साथ-साथ दंपति के हृदयों पर से एक-एक करके सब आवरण उतरते चले जाते हैं और अंत में उनका प्रेम स्फटिक की तरह स्वच्छ और घनीभूत हो जाता है।

मगर सवाल यह है कि प्रेम क्या है? बहुत-से लोग 'सेक्स-अपील' को ही प्रेम समझ बैठते हैं। बेशक प्रेम को जगाने में 'सेक्स-अपील' का भी अपना स्थान है। मगर वह आरंभ-बिंदु है, पर्यवसान-स्थल नहीं। प्रेम में और भी बहुत कुछ आता है। वह एक प्रकार का सख्य-भाव है, साहचर्य है, उसमें मैत्री का भी पुट होता है, हमराहीपन का भाव भी आ जाता है। और भी आगे बढ़ने पर तो उसमें एक प्रकार की सहजातता की अनुभूति भी आ जाती है।

आदर्श दांपत्य में पति-पत्नी एक प्रकार के भाई-बहन बन जाते हैं। वे एक दूसरे को अपनी अमूल्य निधि समझते हैं; एक दूसरे की सहायता करने को तत्पर रहते हैं; बच्चे की भांति एक दूसरे की रक्षा करना चाहते हैं। दांपत्य-प्रेम उत्सर्ग करने के लिए सदा तैयार रहता है; किंतु उत्सर्ग के अवसर पैदा करने में नहीं जुटा रहता, परीक्षा के लिए नहीं ललकारता। वास्तव में वह आग्रहहीन आत्मनिवेदन है।

तो फिर दांपत्य-सुख में काम का स्थान क्या है? इसका उत्तर देना आसान नहीं है। नयी रोशनी के अनेक लेखकों ने ऐसा दिखाना शुरू किया है, जैसे काम ही विवाह की नींव है। इसी तरह पुराने विचारक सोचते थे कि संतानोत्पादन ही विवाह का एकमात्र औचित्य है। डाक्टरों और समाज-सेवकों का अनुभव कुछ और ही है। उन्होंने देखा है कि सेक्स की दृष्टि से सफल न होते हुए भी कई दांपत्य सफल होते हैं, और सेक्स की दृष्टि से सफल होते हुए भी कई दांपत्य दुःखमय रहते हैं।

वैसे वैवाहिक जीवन की सफलता में सेक्स का भी महत्त्व है ही। क्योंकि बहुतों के लिए वह दांपत्य-प्रेम की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। कामविज्ञान की जानकारी और सदुपयोग विवाह-सूत्र को सुदृढ बनाने में, प्रेम को घनीभूत बनाने में सहायक हो सकता है। इसके विपरीत, काम-संबंधों में विफल दंपति को एक दूसरे के प्रति प्रेमल और स्निग्ध बनने में कठिनाई होती है।

किंतु दांपत्य केवल दो व्यक्तियों का प्यार ही तो नहीं है। वह तो एक व्यापक साझेदारी है। और यह साझेदारी अच्छी तरह चले, तभी दांपत्य सफल होता है।

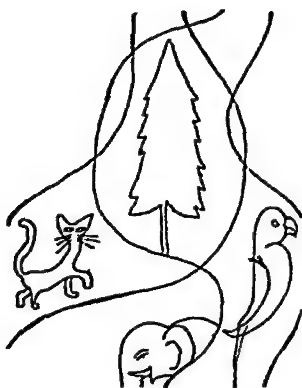
विवाह में प्रेम के साथ ही कर्तव्य की भावना भी बहुत बड़ा स्थान रखती है। पति-पत्नी एक ही गाडी के दो पहिये हैं और गृहस्थी का भार समान रूप से दोनों को उठाना चाहिये। कोरी भावुकता सुखी दांपत्य की आधारशिला नहीं बन सकती। अगर पत्नी यह सोचे कि पति हरदम उसके पास बैठकर चांद-तारों की बातें किया करे और लालित्य-भरे शब्दों में अपने प्यार की अभिव्यक्ति तथा उसकी सुंदरता की प्रशंसा करता रहे, तो यह उसकी नादानी है। पति भी अगर इस प्रकार की आशा करता है, तो वह मूर्ख है। ये सारी बातें समझने की होती हैं।

पति-पत्नी दोनों को जीवन की समस्याओं को पूरी तरह समझकर अपने-अपने कर्तव्य बांट लेने होंगे। जैसे पति पत्नी और बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थोपार्जन में जुटता है, पत्नी का भी यह कर्तव्य है कि वह उसकी कमाई का उपयोग सही ढंग से करे। और पति भी यह न समझ बैठे कि पैसा लाकर घर में डाल देने से उसका कर्तव्य समाप्त हो जाता है। पति को अच्छा गृहस्वामी और पत्नी को अच्छी गृहस्वामिनी होना चाहिये। वे दंपति निश्चय ही गृहपति और गृहिणी नहीं हैं, जो घर को बाहरी आमोद-प्रमोद व काम-काज से बचा हुआ समय गुजारने की सराय समझते हैं।

ॐ ॐ ॐ

अरहाउस जाते हुए मैंने एक दिलचस्प दृश्य देखा। दो गायें, जिनकी गरदनें एक ही रस्सी से बंधी हुई थीं, मेरे पास से गुजरीं। एक बड़ी ही मस्त थी और उछलती-कूदती जा रही थी। दूसरी उदास-सी थी, अपनी साथिन के इस अर्थहीन उल्लास में भाग लेने की विवशता पर कुढ़ती हुई, पांव घसीट घसीटकर चल रही थी। क्या अधिकांश दांपत्य कुछ इसी तरह नहीं निभते?

—कीर्केगार्ड के 'जर्नल्स' से



डेविड गन्स्टन

किसकी उम्र कितनी

आस्ट्रेलिया के क्वींसलैंड नगर में संसार का सबसे पुराना वृक्ष है। 'मेक्रोजामिया' जाति का यह वृक्ष है तो सिर्फ २० फुट ऊंचा; परंतु इसकी आयु है बारह हजार साल! इस वृक्ष ने मनुष्य को जंगली जीव के रूप में भी देखा है और सभ्य नागरिक के रूप में भी। मनुष्यों की सैकड़ों पीढ़ियों ने इस वृक्ष के नीचे विश्राम किया है और पता नहीं, भविष्य में कितनी शताब्दियों तक यह वृक्ष अपने पास आने वालों को इसी प्रकार छाया देता रहेगा।

किंतु हजारों वर्ष की आयु भोगने वाला वृक्ष यही अकेला नहीं है। ऐसे अनेक वृक्ष हैं, जिनकी आयु पांच-छः हजार वर्ष की है। कैनरी द्वीपपुंज के ला आरोटावा नामक स्थान में पाये जाने वाले 'सर्पवृक्ष' अपनी लंबी उम्र के लिए सुप्रसिद्ध हैं। यद्यपि इनमें से ज्यादातर वृक्ष अब नष्ट हो चुके हैं, तथापि जो बच गये हैं, वे छः हजार वर्ष से कम पुराने नहीं समझे जाते।

दक्षिण मेक्सिको के साता मारिया देल तुले ग्राम में भी एक बहुत पुराना वृक्ष है—लगभग पांच हजार वर्ष पुराना। साइप्रस जाति का यह वृक्ष डेढ़ सौ फुट ऊंचा है और इसके तने की गोलाई १६५ फुट है। कैलिफोर्निया के कई 'सीकोया' वृक्ष भी चार हजार वर्ष पुराने बताये जाते हैं।

धरती के समस्त जीवधारियों में वृक्षों की उम्र सबसे लंबी होती है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि सभी वृक्ष लंबी उम्र वाले होते हैं। ऐसे फूल-पौधों की भी कमी नहीं है, जो कुछ घंटों में ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। इन अत्यल्पजीवी फूलों में गेहूं के फूल का स्थान सर्वोपरि है, जो खिलने के केवल दो घंटे बाद मुरझा जाता है।

वृक्षों के बाद दीर्घजीवियों में दूसरा स्थान है कछुओं का। उनकी आयु साधारणतः एक सौ वर्ष मानी जाती है। परंतु गालापेगोस और सीशेल द्वीपों के कछुए सवा सौ-डेढ़ सौ साल तक जीते हैं। उनमें से कोई-कोई तो दो सौ वर्षों तक भी

जीवित रहता है। मारिशस द्वीप का एक कछुआ १५२ वर्ष की आयु भोगकर सन १९१८ में एक दुर्घटना का शिकार हुआ था। यदि वह दुर्घटना नहीं घटती, तो सम्भव है, वह भी दो सौ वर्ष तक जी लेता।

हाथियों की उम्र लगभग मनुष्यों के बराबर ही होती है। बर्मा-बर्मा ट्रेडिंग कंपनी के पास कुछ काल पूर्व बहुत-से हाथी थे। कंपनी ने अपने हाथियों की मृत्यु के आधार पर, उनकी आयु के संबंध में जो आंकड़े तैयार किये हैं, उनसे इस संबंध में काफी जानकारी मिलती है। सिर्फ दो प्रतिशत हाथी ६५ वर्ष से अधिक जीते हैं, ६५ वर्ष की आयु तक पहुंचने वाले हाथियों की संख्या ९ प्रतिशत होती है और बाकी ८९ प्रतिशत हाथियों में से थोड़े ही ५५ वर्ष तक जीवित रहते हैं।

चिड़ियाखानों के आंकड़ों के अनुसार, अधिकांश हाथी ४० वर्ष की आयु तक पहुंच जाते हैं। अमरीका के एक चिड़ियाखाने में एक हाथी ८६ वर्ष की आयु भोगकर मरा था।

घोड़ों की उम्र लगभग हाथियों के बराबर ही होती है। ५० वर्ष की आयु तक बहुत-से घोड़े जीते हैं। कुछ घोड़े तो इससे भी अधिक जीते हैं। एक घोड़ा ६२ वर्ष की उम्र में मरा था। प्राणिशास्त्रियों की धारणा है कि घोड़ों की ठीक से देख-रेख की जाये, तो ६० वर्ष तक वे निश्चय ही जीवित रह सकते हैं। घोड़ों से कुछ ही कम आयु है गधों की—४०-४५ वर्ष। एक गधा ४७ वर्ष की आयु में मरा था।

कुत्तों की आयु साधारणतः २० वर्ष होती है, परन्तु १८ वर्ष की आयु तक भी बहुत कम कुत्ते ही जीवित रहते हैं। केवल एक कुत्ता ३४ वर्ष तक जीवित रहा था और अभी तक किसी अन्य कुत्ते ने यह कीर्तिमान नहीं तोड़ा है।

बिल्लियां कुत्तों से अधिक जीती हैं। २० वर्ष से अधिक तो अनेक बिल्लियां जीवित रहती हैं, एक बिल्ली ३८ वर्ष की आयु तक जीवित रही थी।

सबसे विशाल जलीय जीव ह्वेल की आयु ३७ वर्ष होती है; पर अधिकांश ३० वर्ष से अधिक नहीं जीतीं। समुद्र में निवास करने वाले दूसरे प्राणियों की आयु उनके आकार की विशालता और लघुता के आधार पर आंकी जाती है।

पशुओं की आयु के विषय में सबसे मजेदार बात यह है कि जंगली पशुओं की अपेक्षा मानव-पोषित पशु अधिक जीते हैं। जंगलों में भोजन की तलाश में सतत घूमते रहने से उनकी स्फूर्ति और शक्ति बहुत जल्दी नष्ट हो जाती है और वे शीघ्र ही वृद्ध हो जाते हैं। दूसरी ओर पोषित पशुओं को नियमित रूप से पर्याप्त भोजन मिलने के साथ-साथ, ऋतु के अनुकूल निवास-स्थान भी प्राप्त हो जाता है। परिणामतः जहां जंगली लोमड़ी १४-१५ की उम्र में ही वृद्ध हो जाती है, वहां चिड़ियाखाने की लोमड़ी २५ वर्ष तक भी पूर्ण स्वस्थ रहती है।

सन १८८७ में लंदन में एक हंस गोली से मारा गया था। उसके पैर में एक

छल्ला मिला, जिस पर सन १७१२ अथवा सन १७१७ खुदा हुआ था। अर्थात् मृत्यु के समय उसकी आयु लगभग १७० वर्ष थी। इसी प्रकार फ्रांस में सन १८४५ में एक बाज मारा गया था। उसके गले में धातु का एक तमगा बंधा था। उस तमगे पर अंकित बातों के अनुसार, सन १७५० में काकेशस पहाड़ों में एक शिकार में उस बाज का उपयोग किया गया था। प्राणिशास्त्रियों का कथन है कि यदि इन दोनों घटनाओं को सत्य मान भी लिया जाये, तो इन्हें अपवाद ही समझना चाहिये।

साधारणतः जंगली पक्षियों में सबसे अधिक आयु कौए की होती है। यह पक्षी आम तौर पर ६९ वर्ष तक जीता है। दूसरे जंगली पक्षियों के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है; पर साधारणतः अधिकांश छोटे पक्षी दस वर्ष तक और बड़े पक्षी बीस वर्ष तक जीवित रहते हैं।

पालतू पक्षियों में तोता सबसे अधिक जीता है। नब्बे वर्ष की आयु तक तो बहुत-से तोते जीवित रहते हैं; पर दो तोते क्रमशः १४० और १२५ वर्ष की आयु तक जीवित रहे थे। काकातुआ भी लगभग १०० वर्ष की उम्र तक जीते हैं। एक काकातुआ के पूरे १०७ वर्ष की आयु भोगकर मरने का प्रमाण मिला है।

जीवेम शरदः शतम्—मनुष्यों की यह कामना वैदिक काल से रही है और कुछ मनुष्य सौ वर्ष से अधिक भी जीते हैं। रूस में सौ वर्ष से अधिक उम्र के अनेक मनुष्य हैं। उनमें से कुछ तो डेढ़ सौ वर्ष से भी अधिक आयु के हैं। किंतु दुनिया की आबादी में ऐसे आदमियों का प्रतिशत नगण्य ही है और आज भी दीर्घायु बनने के लिए मनुष्य का प्रयत्न जारी है। संभव है, इस प्रयत्न में वह सफल हो जाये और दीर्घायु बनने का रहस्य पा ले। किंतु प्रकृति की गोद में निर्द्वंद्व-निर्विकार भाव से जीवन बिताने वाले वृक्षों की समता क्या वह कभी कर सकेगा?

ꣲ ꣲ ꣲ

एक बार एक गोष्ठी में स्वर्गीय बेढबजी बलिया के अनुभवों का उल्लेख कर रहे थे। महफिल रौ में थी। बेढबजी कह रहे थे—"अरे साहब, वहां के मच्छर भी गजब के! एक-से-एक दानव!" एक सज्जन ने फिकरा कसा—"क्यों बेढबजी, मच्छर आपको उठा तो नहीं ले गये?" बेढबजी बोले—"भाई, उठा ले जाने में उन्होंने तो कोई कसर नहीं छोड़ी थी। पर क्या करते, मजबूर हो गये।" "क्यों क्या हुआ?" एक साथ कई लोग बोल उठे। उत्तर मिला—"भाईजान, नीचे से खटमलों ने इतनी जोर से जकड़ रखा था कि वे मुझे हिला तक न सके।"

पैट्रिक मूर



धरती कितनी बूढ़ी ?

ग्रहों की उत्पत्ति कैसे हुई, यह निश्चयपूर्वक कहना बहुत कठिन है। सर जेम्स जीन्स ने इस संबंध में एक सिद्धात का प्रचार किया था, जिसे ज्वार-भाटा सिद्धान्त कहते हैं। इसके अनुसार, कभी सूर्य के पास से एक तारा निकला और उस समय ये ग्रह सूर्य के पिंड में से खिंचकर बाहर निकल आये। कुछ समय तक यह सिद्धान्त बहुत लोकप्रिय रहा। लेकिन बाद में इसे तिलांजलि दे दी गयी· क्योंकि यह गणित के कुछ आक्षेपों का उत्तर नहीं दे पाता था।

उसके बहुत बाद सी. फान वीजसैकर ने यह सुझाया कि सूर्य एक बार अंतरिक्ष में गैस और धूल के एक बादल में से गुजरा और उसमें से उसने बहुत-सा द्रव्य बटोर लिया, जिससे बाद मे धीरे-धीरे ग्रहों का निर्माण हुआ। यह विचार काफी हद तक ठीक प्रतीत होता है लेकिन सारा मामला अभी तक सवाल की अवस्था में ही है।

परतु पृथ्वी की उम्र के बारे मे हम अधिक ठोस धरती पर खड़े हैं। आजकल प्राय· उसकी उम्र ४ अरब, ५० करोड़ साल मानी जाती है। कुछ ही सौ बरस पहले विद्वान यह मानने को तैयार न होते। पश्चिम में बाइबल की उक्तियों को शब्दशः सत्य माना जाता था और ऐसा समझा जाता था कि पृथ्वी कुछ हजार वर्ष से ज्यादा पुरानी नहीं हो सकती।

बाइबल के 'जेनेसिस' मे वर्णित कुल-वृद्धों (पेट्रियार्को) की आयुओं के योग-फल तथा ऐसी ही अन्य सरल गणनाओं के द्वारा सत्रहवीं सदी में आर्माग के आर्चबिशप जेम्स अशर ने यह दावा किया कि पृथ्वी का जन्म ४००४ ई० पू० में हुआ। अगर महीना, दिन और घंटा भी जानना चाहें, तो सुन लीजिए—२६ अक्टूबर को सवेरे ९ बजे। बहुत-से पादरियों और धर्मप्राण ईसाइयों को इससे पूरा संतोष हो गया। उन्होंने समझा कि यह मामला हमेशा के लिए तय हो गया है।

* टीका के साथ : सूदेवी, अल्टे-गिन्टर मूल्यिन, लंदन

इस पर शंका का पहला प्रहार तब हुआ, जब भूगर्भशास्त्र का विकास शुरू हुआ। भूगर्भशास्त्रियों को यह जान पाने में बहुत समय नहीं लगा कि पृथ्वी के स्तरों के निर्माण के लिए अतिसुदीर्घ काल अपेक्षित है; और इस दृष्टि से आर्चबिशप अशर की बतायी तारीख सर्वथा अपर्याप्त प्रतीत होने लगी।

ईसाई पादरियों को तब एक नयी युक्ति सूझी। उन्होंने कहा कि पृथ्वी भले ही ज्यादा पुरानी हो, मगर जीवों की सृष्टि बहुत बाद में एक साथ ही हुई। परंतु द कूवे आदि फ्रांसीसी जीवाश्मविदों ने दिखा दिया कि अत्यंत प्राचीन पत्थरों में भी जीवाश्म मिलते हैं। ये जीवाश्म उन पत्थरों से कम पुराने नहीं हो सकते; इसलिए पृथ्वी व जीव बहुत प्राचीन काल से अस्तित्व में होंगे।

दूसरे पक्ष ने हथियार डाल देने से पहले यह आखिरी दलील दी कि जीव भले ही बहुत पुराने हों, परंतु शायद आदमी बहुत बाद में बना। बेशक पृथ्वी की तुलना में मनुष्य और उसके पूर्वज बहुत अर्वाचीन हैं; तो भी मानव-जाति की उम्र लाखों वर्षों में नापनी पड़ेगी। स्तनपायी प्राणियों की अस्तित्व-गाथा तो करोड़ों वर्ष पीछे तक जाती है।

इसका पक्का और अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किया द पेर्थ नामक एक फ्रांसीसी ने। वह एवेविल में अपने घर के पास बजरी की खदानों की जांच-पड़ताल कर रहा था कि उसे ऐसे चकमक पत्थर मिले, जो निश्चय ही आदमी के हाथों से तराशे गये थे। द पेर्थ ने अपनी जांच जारी रखी और १८३८ तक वह इस सुनिश्चित परिणाम पर पहुंचा कि सामान्यतः जैसा समझा जाता है, उससे बहुत पहले से ही फ्रांस में मानव का निवास है। दरअसल बाइबल-वर्णित जलप्लावन की जो तिथि साधारणतया मानी जाती है, उससे ये चकमक पत्थर के हथियार बहुत अधिक पुराने थे। विद्वानों को पत्थर के इन औजारों पर नजर डालने के लिए राजी करने को भी द पेर्थ को वर्षों मेहनत करनी पडी। मगर १८५९ में उसके सिद्धांत ब्रिटेन की रायल एकेडमी के समक्ष प्रस्तुत हुए और विद्वानों ने उसे मान्यता प्रदान की। फिर डार्विन के विकासवाद सिद्धांत ने विद्वानों के दृष्टिकोण को बदलने का शेष कार्य भी पूरा कर दिया।

हमने ऊपर देखा कि भूगर्भशास्त्र ने दिखा दिया कि पृथ्वी की उम्र नापने के लिए काल का बहुत लंबा फीता चाहिये। पृथ्वी की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए भूस्तरों और जीवाश्मों के अलावा भी कई प्रमाण थे। उदाहरण के लिए, सोडियम पृथ्वी पर से समुद्र में किस दर से पहुंचता है, इसका काफी हद तक सही-सही हिसाब लगाया जा सकता है। समुद्र निश्चय ही पहले मीठे पानी के रहे होंगे और यह स्पष्ट है कि उन्हें खारा बनने में लाखों वर्ष लगे होंगे। इसका भी हिसाब लगाया गया कि बड़ी नदियां प्रतिवर्ष किस परिमाण में गाद-मिट्टी समुद्र में उडेल रही हैं,

और उसके आधार पर समुद्र-तल में जमी तलछट के स्तरों की उम्र कूती गयी।

लेकिन यहां आकर भूगर्भशास्त्र और भौतिक विज्ञान की गवाहियों में विरोध दिखाई देने लगा। महान वैज्ञानिक लार्ड केल्विन ने इस समस्या को तीन तरीकों से सुलझाने का प्रयास किया। प्रथम, यह सवाल था कि पृथ्वी (जो कि उस समय की लगभग सर्वसम्मत मान्यता के अनुसार मूलतः सूर्य का अंश थी) किस रफ्तार से ठंडी हुई? यदि यह माना जाये कि मूलतः उसका तापमान इतना था और वह इस रफ्तार से ठंडी होती गयी, तो यह पता लगाना कठिन नहीं है कि आज के तापमान पर पहुंचने में उसे कितने वर्ष लगे होंगे।

केल्विन का दूसरा मापदंड था पृथ्वी के अपने अक्ष पर घूमने की रफ्तार। यह वैज्ञानिकों को मालूम था कि ज्वार-भाटे के प्रभाव से दिन की, अर्थात् अहोरात्र की लंबाई धीरे-धीरे बढ़ रही है। विभिन्न कारणों से केल्विन ने यह हिसाब लगाया कि १ अरब (१,००,००,००,०००) वर्ष पूर्व पृथ्वी आज की अपेक्षा १५ प्रतिशत अधिक तीव्र गति से अपने अक्ष पर घूमती थी। अगर पृथ्वी की ऊपरी परत उस समय निर्मित हुई होती, तो पृथ्वी ध्रुवों पर आज की तुलना में कहीं अधिक चपटी होती। किंतु यदि पृथ्वी ने आज से केवल १० करोड़ (१०,००,००,०००) वर्ष पूर्व ठोस रूप धारण किया, तो उसका आकार लगभग आज जैसा ही होता, जिसमें ध्रुवों और भूमध्य-रेखा पर के व्यासों में केवल ३० मील का फर्क है।

केल्विन का अंतिम तर्क था कि सूर्य का वर्तमान रूप ५० करोड़ वर्ष से अधिक पुराना नहीं हो सकता। शुरू में वे ऐसा मानते थे कि सौर-विकिरण का ऊर्जा-स्रोत सूर्य पर गिरने वाले उल्का-पिंडों की गति है। मगर जब यह सिद्धांत गलत सिद्ध हो गया, तो उन्होंने हेल्म होल्ट्ज का यह सिद्धांत अंगीकार कर लिया कि सूर्य की ऊर्जा का स्रोत गुरुत्वाकर्षणीय आकुंचन है। इन सब बातों के आधार पर केल्विन ने यह परिणाम निकाला कि पृथ्वी की उम्र २ करोड़ से १० करोड़ वर्ष के बीच होगी। २ करोड़ की संख्या उन्हें अधिक संभव लगी, जो कि भूगर्भशास्त्रियों की दृष्टि से बहुत ही अपर्याप्त थी।

भौतिकशास्त्रियों और भूगर्भशास्त्रियों का विवाद तब तक समाप्त नहीं हुआ, जब तक द्रव्य के स्वरूप और प्रकृति के बारे में नयी बातें नहीं पता चलीं। उदाहरण के लिए, विकिरण की खोज होने के बाद 'पृथ्वी के ठंडा होने' की बात निराधार हो गयी। बाद में नक्षत्रों के ऊर्जा-स्रोत के विषय में जो जांच-पड़ताल हुई, उससे प्रकट हुआ कि सूर्य ५० करोड़ वर्ष से बहुत ज्यादा पुराना है। सूर्य के विकिरण का कारण उल्काओं का गिरना या गुरुत्वाकर्षणीय आकुंचन नहीं है, बल्कि सूर्य के गर्भ में होने वाली नाभिकीय प्रक्रियाएं उसका कारण हैं। सूर्य के भीतर का हाइड्रोजन कुछ ऐसे ढंग से निरंतर हीलियम में परिवर्तित होता रहता है कि सूर्य का द्रव्यमान

घट रहा है और ऊर्जा उत्पन्न हो रही है। उसका द्रव्यमान प्रति सेकेंड ४० लाख टन के हिसाब से घट रहा है। मगर सूर्य के अतिविशाल आकार को देखते हुए यह द्रव्यहानि न के बराबर है।

पृथ्वी की प्राचीनतम चट्टानों की सही आयु का पता लगाने का साधन भी विकिरण ने ही प्रस्तुत किया। अनेक चट्टानों में युरेनियम रहता है, जो कि प्रकृति में मिलने वाला सबसे भारी तत्त्व है। आप जानते हैं कि युरेनियम ह्रासशील पदार्थ है और अपने आप परिवर्तित होते-होते अंत में सीसे का आइसोटोप बन जाता है। ऐसा माना जाता है कि युरेनियम के ह्रास की रफ्तार स्थिर है और परिस्थितियों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। युरेनियम-२३८ का 'अर्धकाल' (अर्थात् जितने समय में युरेनियम ह्रास होकर अपने मूल परिमाण का आधा रह जाता है) ४ अरब वर्ष से अधिक है। इसलिए यदि किसी चट्टान में युरेनियम और युरेनियम-सीसा दोनों एक साथ उपस्थित हों, तो उन दोनों की मात्रा का अनुपात यह बता देगा कि युरेनियम का ह्रास कितने समय से चल रहा है।

इस आधार पर प्राचीनतम चट्टानों की उम्र ३ अरब वर्ष प्रतीत होती है। और यह भूगर्भशास्त्रीय प्रमाणों से भी मेल खाता है; क्योंकि भूगर्भशास्त्र के अनुसार कुछ तलछटी पत्थरों की उम्र १.५ अरब वर्ष जान पडती है, जब कि ऐसा लगता है कि पृथ्वी पर जीवन का आरंभ २ अरब वर्ष से पहले ही हो गया था।

इन समस्त तथ्यों पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वी का स्वतंत्र अस्तित्व कोई ४॥ अरब वर्ष पहले आरभ हुआ। यह हिसाब सर्वथा पक्का तो नहीं है, फिर भी लगभग ठीक है।

इतनी लंबी उम्र की कल्पना करना किसी भी मानव-मन के लिए सभव नहीं है। लेकिन यदि पृथ्वी के अस्तित्व-काल को हमारे एक दिन (चौबीस घंटे) के बराबर मान लिया जाये, तो हमारी कल्पना पर बहुत जोर नहीं पड़ेगा। इसके आधार पर नीचे की तालिका बनायी जा सकती है:

घटना	वास्तव में कितने वर्ष पहले हुई	पृथ्वी की उम्र १ दिन मानें, तो कितने पहले
पृथ्वी का निर्माण	४,५०,००,००,०००	२४ घंटे
जीवाश्मों का बाहुल्य	६०,००,००,०००	३ घंटे
मानव-तुल्य 'दक्षिणी बनमानुस'	१०,००,०००	२० सेकेंड
वास्तविक मानव	१,००,०००	२ सेकेंड
अंतिम हिमयुग की समाप्ति	१०,०००	१/५ सेकेंड
प्रथम मानव-निर्मित उपग्रह	११	१/७,००० सेकेंड

तो अगर पृथ्वी की उम्र को केवल एक दिन के बराबर माना जाये, तो उस पर मानव का अस्तित्व आरंभ हुए अभी बस दो ही सेकेंड हुए हैं। इस प्रकार ईसाई धर्माचार्यों की यह कल्पना बहुत गलत नहीं है कि मानव का अस्तित्व अपेक्षाकृत बहुत नयी चीज है। लेकिन जब आर्चबिशप अशर ने पृथ्वी की जन्मतिथि २३ अक्टूबर ४००४ ई० पू० निर्धारित की थी, तब से इस बारे में हम बहुत अधिक बातें जान चुके हैं। भले ही पृथ्वी कितनी ही पुरानी हो, पर उसने अभी अपने संभावित आयुष्य का आधा हिस्सा ही गुजारा है। उसका अंत कब व कैसे होगा, यह सूर्य के भाग्य के साथ जुड़ा हुआ है। इस विषय में भी सिद्धांत और मत बदलते रहे हैं।

पहले समझा जाता था कि सूर्य धीरे-धीरे ठंडा हो रहा है और अंत में वह मंद लाल रोशनी वाला धीमा नक्षत्र बनकर रह जायेगा, और ऐसा होगा तो पृथ्वी की समस्त जीवित वस्तुएं ठंड से अकड़ व जमकर मर जायेंगी। पर यह संपूर्ण सिद्धांत ही गलत है।

सूर्य ज्यों-ज्यों वृद्ध होता जाता है और अपने हाइड्रोजन ईंधन का उपयोग करता जाता है, उसकी चमक बढ़ती जाती है। और संभव है कि ८ से १० अरब वर्षों के अंदर वह 'लाल दैत्य' बन जाये। तब उसकी सतह पर का तापमान तो कम होगा, लेकिन वह आज के सूर्य से अधिक भीमकाय और चमकीला होगा। यदि ऐसा होगा, तो पृथ्वी का सारा वायुमंडल गायब हो जायेगा, सागर उबलकर भाप बन जायेंगे और समस्त जीवन नष्ट हो जायेगा। और इस संकट के आने में इतना दीर्घ समय लगने वाला है कि उसके बारे में ऊहापोह करना बेमानी है।

नक्षत्रों की ऊर्जा के संबंध में आधुनिक सिद्धांतों में बराबर सुधार व संशोधन चलता रहता है और हम सत्य का कुछ ही अंश जानने का दावा कर सकते हैं। बस हम इतना ही कह सकते हैं कि अगर हमारा अब तक का अनुमान सही है तो अंत में पृथ्वी के जीव-जंतुओं का विनाश जब कभी भी होगा, तो ठंड से नहीं, बल्कि गर्मी से होगा। उस समय भी यदि पृथ्वी पर बुद्धिमान जीवों का अस्तित्व बाकी होगा, तो वे शायद ग्रहांतर को प्रयाण कर जायेंगे।

पृथ्वी का ४ अरब साल से भी अधिक समय से अस्तित्व है और अभी भविष्य में लगभग इतने समय तक तो वह निवास-योग्य बनी ही रहेगी। यह शाश्वत तो नहीं है, परन्तु ब्रह्मांड में शाश्वत तो कुछ भी नहीं है। शायद स्वयं ब्रह्मांड भी शाश्वत नहीं है।



सफलता कानों की राह आती है

एक बहुत बड़े बैंक के सचालक का कहना है कि उन्होंने अपने हिस्से की आधी कागजी कार्रवाई कम कर ली है और इस तरह अपना बहुत-सा समय असली काम-काज के लिए बचा लिया है। जिस युक्ति से उन्होंने यह सब किया है, वह भी सुन लीजिये।

उन्होंने अपने से तुरत नीचे के सब कर्मचारियों से यह कह दिया है कि उन्हें जिस भी विषय में उनके मार्गदर्शन या निर्देश की आवश्यकता हो, वे उन्हें मौखिक रूप से बता दिया करें—नोट लिखकर न भेजा करें। जिन मामलों में लिखित हिदायतें अनिवार्य हों, उन्हीं में लिखा-पढ़ी करें—वह भी मौखिक बातचीत के बाद। और उन्होंने हर अधिकारी से उसके विभाग-संबंधी बातचीत के लिए निश्चित समय भी बाध दिया है।

इन बैंक-सचालक का कहना है कि यह व्यवस्था उनके यहां बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है। वे अपने सब मित्रों को इसका लाभ उठाने की सलाह देते हैं। और सचमुच यह तरीका बहुत लाभप्रद हो सकता है—बशर्ते ऊपर के अधिकारी को सुनना आता हो। वस्तुतः सुनना एक कला है और लोक-व्यवहार मे ही नहीं, उद्योग-व्यापार तथा प्रबंध-कार्य में भी सफल होने के लिए मनुष्य का इस कला में माहिर होना जरूरी है।

एक बहुत बडी दवा-निर्माता कंपनी के प्रबंध-सलाहकार का तो यहां तक कहना है कि अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से रचनात्मक तथा उपयोगी सुझाव प्राप्त करने का सबसे अचूक उपाय यह है कि दफ्तर में और बाहर उनके साथ मिला-जुला जाये, उनकी बातें ध्यान व दिलचस्पी से सुनी जायें।

इस कथन की सचाई आपके भी अनुभव में कई बार आयी होगी। कोई महत्त्व-पूर्ण तथ्य आपके ध्यान में आया है, जिसे आपके अधिकारी को अवश्य जानना चाहिये; या आपको कोई नयी बात सूझी है, जिससे दफ्तर को काफी लाभ पहुंच

सकता है। आप अपने अधिकारी के कमरे में जाते हैं और अपनी बात कहना शुरू करते हैं।

आप बोल रहे हैं; मगर देखते हैं कि आपका अधिकारी बीच में ही डाक खोलकर बैठ गया है। आप बोलना जारी रखते हैं। साहब इसी बीच में फोन का नंबर मिलाकर किसी से बातचीत शुरू कर देते हैं। उनके जो वाक्य इधर आपके कानों में घुस रहे हैं, उनसे स्पष्ट है कि यह कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण चर्चा नहीं थी, जो पांच-दस मिनिट बाद नहीं की जा सकती थी। जब तक फोन-वार्ता समाप्त होती है, आपका उत्साह भी समाप्त हो चुका है, और आप दो-चार वाक्यों में अपनी बात खत्म करके उठ जाते हैं।

आप सोच रहे हैं—"जब इन्हें फिक्र नहीं है, तो मुझे ही कौन-सी गरज पड़ी है!" उधर साहब सोच रहे हैं—"बस यों ही चले आते हैं, मेरा सिर चाटने!" यह बात उन्हें सूझती ही नहीं कि शायद कोई चीज, जो उन्हें सुननी चाहिये थी, अब कभी उनके कानों में नहीं पड़ेगी। दो-चार बार ऐसा हुआ कि सूचनाएं और सुझाव देने की प्रवृत्ति स्टाफ में खत्म हो जाती है।

जो भी प्रबंध और प्रशासन के काम से परिचित हैं, वे जानते हैं कि दफ्तर के आधे से भी अधिक काम का आधार ठीक से सुनने और सुने जाने पर है। ज्यादातर गलतियां और गलतफहमियां ठीक से न सुनने के कारण होती हैं। जब से टेलिफोन का प्रसार बढ़ा है, तब से तो मौखिक बातचीत की महिमा बेहद बढ़ गई है। पर मौखिक बातचीत तभी कारगर हो सकती है, जब उसे ध्यान से सुना जाये।

फिर भी परीक्षणों से यह सिद्ध हुआ है कि औसत आदमी केवल २५ प्रतिशत मनोयोग से सुनता है। इसका कारण यह है कि हमारी सारी शिक्षा-दीक्षा नेत्रोन्मुख और नेत्र-पक्षपाती बन गयी है। जब मुद्रण-कला इतनी विकसित नहीं हुई थी तब शायद ऐसी बात नहीं थी। वर्तमान शिक्षा में कानों की बड़ी उपेक्षा की जाती है।

सौभाग्य से इधर कुछ शिक्षाविदों और मनोवैज्ञानिकों का ध्यान इस दोष की ओर गया है और कहीं-कहीं इसे दूर करने का यत्न किया जा रहा है। डा० निकल्स एक अमरीकी विद्वान हैं, जिन्होंने लोगों की सुनने की आदतों का खूब अध्ययन किया है। वे इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि सुनने की छः खास गलतियां हैं, जिनके कारण हम सुनी हुई बात का पूरा लाभ नहीं उठा पाते। और ये 'गलतियां' इस प्रकार हैं:

१. मनोयोग का दिखावा—श्रोता ऐसी मुद्रा बनाकर बैठ जाता है, जैसे वह बड़े मनोयोग से सुन रहा हो, जबकि वास्तव में उसका मन और ही कहीं होता है। स्कूल-कालेजों में विद्यार्थी अक्सर ऐसा करते हैं। कुछ समय बाद यह उनकी आदत में शामिल हो जाता है।

२. तथ्य बीनना—जो कुछ कहा जा रहा है, उसमें से तथ्यों के नोट करने की

चिंता में रहना। तथ्यों को पकड़ने की फिराक में प्रायः वक्ता के विचारों और तात्पर्य की उपेक्षा हो जाती है। बातचीत या भाषण के अंत में श्रोता के पास मुट्ठी-भर तथ्य रह जाते हैं, जिनमें वह कोई पूर्वापर-संबंध नहीं जोड़ पाता; क्योंकि उन्हें एक सूत्र में पिरोने वाले विचार तो उसने ग्रहण किये ही नहीं। इसके बजाय विचार को हृदयंगम करने का यत्न किया जाये, तो मुख्य तथ्य स्वयं याद रह जाते हैं।

३. दुर्बोध चीज से कतराना–सुनते-सुनते जहां विषय जरा भी कठिन प्रतीत हुआ और उसे समझने के लिए जरा भी दिमाग लड़ाना पड़ा कि मन बड़बड़ाना शुरू कर देता है कि यह चीज मेरे बूते के बाहर की है। हम भी तुरत दयावश उसे इधर-उधर भटकने की छूट दे देते हैं। मन को बार-बार गंभीर विषयों में जोतना ही इस आदत पर विजय पाने का उपाय है।

४. नीरस कहकर टाल जाना–जो भी विषय हमारे तात्कालिक उपयोग के नहीं होते, उन्हें हम 'दिलचस्प नहीं है' कहकर अनसुना कर देते हैं। इस तरह हम ऐसी बहुत-सी चीजें जानने से वंचित रह जाते हैं, जो आगे चलकर हमारे काम आ सकती हैं।

५. वक्ता से विरक्ति–यह मन की बड़ी गहरी चाल है। वक्ता की सूरत-शक्ल, वेश-भूषा या बोलने के ढंग से चिढ़ बताकर हम उसकी बात सुनने से इन्कार कर देते हैं।

६. व्यवधानों से हार मान लेना–कई बार ध्यान केंद्रित करने और सुनी हुई बात को समझने में सच्ची कठिनाइयां भी हो सकती हैं। मगर प्रायः हमारा मन छोटी-छोटी चीजों का बहाना बनाना शुरू कर देता है। सड़क पर जाती हुई मोटर की आवाज, या खिड़की में से आती हुई धूप ऐसी बड़ी बाधा नहीं कि संकल्प-बल से उस पर विजय न पायी जा सके।

सुनने में मन आसानी से केंद्रित नहीं होता; इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य जितनी तेजी से सोच सकता है, उतनी तेजी से बोल नहीं सकता। जितने समय में दूसरा आदमी सौ शब्द बोलता है और हमारे कान उन्हें ग्रहण करते हैं, उतने में हम सौ से कहीं अधिक शब्द सोच सकते हैं। अर्थात् सुनने के साथ-साथ हमें अन्य बातें सोचने की कुछ फुरसत मिल जाती है।

अक्सर होता यह है कि फुरसत के इस समय में हमारा मन किसी अन्य विषय पर चला जाता है और फुर्ती से लौट आता है। बात लंबी खिंचने के साथ मन का यह सैर-सपाटा भी बढ़ने लगता है। अंततः वह किसी जगह ऐसा रम जाता है कि उसे लौटने की सुध नहीं रहती। सो सुनने की कला का रहस्य यह है कि फुरसत के इस समय का उपयोग जो विषय हम सुन रहे हैं, उसी में करें। और इसके पांच उपाय हैं:

१. वक्ता क्या कहना चाहता है, इसका अंदाज लगाइये। अगर अंदाज सही निकला, तो सुनी हुई बात को याद रखने में आपको आसानी होगी। अगर अंदाज गलत निकला, तो समझिये कि तर्कज्ञान का एक पाठ पढ़ा।

२. सुनने के साथ-साथ वक्ता के कथनों का विवेचन एवं मूल्यांकन करते चलिये। सोचिये कि क्या उसके तथ्य निर्भ्रांत हैं, तर्क ठोस हैं? और यह भी सोचिये कि इस सारी जानकारी से आप क्या लाभ उठा सकते हैं।

३. जब वक्ता एक मुद्दे से दूसरे मुद्दे पर जा रहा हो, तो पिछले सब मुद्दों पर उड़ती नजर डाल लीजिये। इससे वक्ता की विचारसरणी आपके मन में पक्की हो जायेगी।

४. वक्ता के शब्दों के पीछे छिपे भावों को ताड़ने की कोशिश कीजिये। जो कुछ वह कह नहीं रहा है, उसे पकड़िये।

५. वक्ता की आवाज क्या कहती है, यह सुनिये। रहस्य-कथाओं के विख्यात लेखक अर्ल स्टैनली गार्डनर ने एक बात बड़े पते की लिखी है—"आवाज और भी बहुत-से खयालों व भावनाओं को प्रकट कर देती है। सामान्यतः लोग आवाज की बारीकियों को पकड़ व नाप नहीं पाते। प्राणियों में यह खूबी होती है। कुत्ते के कान बड़े सूक्ष्म होते हैं। कुत्ता आपकी आवाज पर से ही आपकी भावनाओं के बारे में इतना कुछ जान जाता है कि अगर वह बोल सके, तो सुनकर आप चकित रह जायें।"

बातचीत का मतलब सिर्फ शब्द नहीं है। वक्ता की आवाज की तेजी या धीमापन, मधुरता या कठोरता, उसके हाथों की भंगिमा, आंखों का भाव—ये भी बातचीत के अंग हैं। तभी तो महान उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो ने कहा है—"जब कोई औरत आपसे बातें कर रही हो, तो सुनिये कि वह अपनी आंखों से क्या कह रही है।"

श्रवण-कला की आवश्यकता केवल प्रवचनों में ही नहीं, हर कहीं होती है। जीवन में बात करने वालों की अपेक्षा सुनने वालों की आवश्यकता कहीं अधिक अनुभव होती है। जो अच्छी तरह सुन सकता है, उसके मित्रों की संख्या सीमित नहीं होती।

[illegible]

* * *

एक भयानक रोग-कीटाणु है—बेचैनी। यह [illegible] में घर पैदा हो जाया करता है। इससे पैनी नजर कुंद पड़ जाती है। बुद्धि [illegible] असंतुलित हो जाती है। स्वस्थ व्यवहार में [illegible] पैदा हो जाती है। यह आनन्द-मंगल में [illegible] पैदा कर देती है। जिन कामों को अंजाम देने के लिए धैर्य और [illegible] आवश्यक है, उन्हें यह चौपट कर डालने को उतारू [illegible]। यह हमें इस लायक नहीं रहने देता कि हम अपना रोजाना का काम ठीक ढंग से किया करें।

[illegible]



क्लैरेन्स डब्ल्यू. हाल

वे स्वावलंबन देते हैं

दुनिया के किसी भी कोने में चले जाइये, आप देखेंगे कि किस्मत से जूझकर, मुसीबतों से मुष्टियुद्ध कर, अपने और अपनों के लिए जीवन की सुख-सुविधाएं प्राप्त करने वाले मामूली लोगों के चेहरों पर एक चमक होती है। लेकिन लाल चीन से भागकर आये हुए शरणार्थियों के गांव च्यूंग-शूंग के निवासियों के मुखड़ों पर जो निखार मैंने देखा, वह अविस्मरणीय था।

च्यूंग-शूंग हांगकांग उपनिवेश में चीन की सीमा से सटा हुआ है। जब मैं वहां गया, तो गांव वालों ने मुझे उत्साहपूर्वक घेर लिया। किसी ने मुझे अपना हरा-भरा खेत दिखाया, किसी ने मुझे अपना सुंदर साफ-सुथरा घर; कोई मुझे अपने मोटे-ताजे सूअरों के बाड़े में ले गया, कोई फलों से लदी मोसम्बी की बाड़ी में। अपने श्रम का सुफल मुझे दिखाते हुए बुजुर्ग बच्चों की तरह उछल रहे थे और बच्चे बुजुर्गों की तरह गंभीरता व गर्व से सिर ऊंचा किये चल रहे थे।

इतने में कोई चिल्लाया और सारी भीड़ मुझे छोड़कर सड़क की ओर दौड़ पड़ी, जिस पर एक पुरानी कार गांव की ओर बढ़ती आ रही थी। कार रुकी, दो गौरवर्ण व्यक्ति उछलकर बाहर आये और लोगों ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया। आगंतुकों में से एक जरा काम-काजी आदमी मालूम पड़ता था। वह लोगों से सवाल-जवाब करने लगा। दूसरा आदमी, जो जरा स्थूलकाय था, विनोदी स्वभाव का प्रतीत होता था। वह बच्चों को सेलोफेन की छोटी-छोटी थैलियां बांट रहा था, जिनमें मुनक्के थे।

ये आगंतुक कौन हैं, इसका पता मुझे तब चला, जब मेरे पूछने पर किसी ने कहा–"अरे, आप नहीं जानते इन्हें! ये कडूरी-बंधु हैं!" एशिया के राकफेलर कडूरी-बंधुओं के नाम से भला मैं अपरिचित कैसे रह सकता था! मैं जानता था कि वे हजारों परिवारों को अभाव-अभिशाप से मुक्त करने का एक महान आयोजन निजी पैसे से चला रहे हैं।

पिछले बीस-एक वर्षों में कडूरी एग्रिकल्चरल एड एसोसिएशन (के-ए-ए-ए) ने हांगकांग के तीन लाख अकिंचन शरणार्थियों की सहायता की है और ७५ हजार परिवारों को स्वावलंबी किसान बनाया है।

हांगकांग उपनिवेश में १९४८-५१ के बीच तीन साल तक लगातार बाढ़ आती रही। यह बाढ़ थी साम्यवादी चीन से भागकर आने वाले शरणार्थियों की। सरकारी और गैरसरकारी संस्थाओं ने यथासंभव सहायता-कार्य किया। लेकिन रोटी व कपड़ा बांटने मात्र से तो काम नहीं चल सकता था। और इस बात को सबसे पहले समझा करोड़पति कडूरी-बंधुओं ने।

शरणार्थियों के कष्टों व संकटों की सही तस्वीर देखने के लिए दोनों भाई हांगकांग की गंदी बस्तियों में खूब घूमे। दो सत्य उनके हृदय-पटल पर अमिट रूप से अंकित हो गये। एक यह कि ये शरणार्थी निरे घुमक्कड़ नहीं थे; ये अपनी आस्थाओं के लिए सर्वस्व छोड़कर चीन से चले आये थे। और दूसरे, ये काम-धंधा चाहते थे, भीख नहीं।

लेकिन क्या काम-धंधा दिया जाये इन्हें? हांगकांग का पनपता-फलता उद्योग कुछ लोगों को खपा सकता था। लेकिन अधिकांश शरणार्थी या तो किसान थे, या महज शारीरिक श्रम करने वाले मजदूर, या छोटे-मोटे दुकानदार। समस्या का एक ही सुलझाव संभव था—खेती और पशुपालन।

और कडूरी-बंधुओं ने इसी का सहारा लिया। २८ सितंबर १९५१ को उन्होंने के-ए-ए-ए (कडूरी एग्रिकल्चरल एड एसोसिएशन) की स्थापना की। वे अच्छी तरह जानते थे कि यह लाखों रुपये के खर्चे का मामला है। परंतु लाखों रुपये खर्चने के लिए वे तैयार थे। सरकार से उनकी इतनी ही मांग थी—"परती पड़ी हुई सरकारी जमीन हमें दे दीजिये और सरकारी कृषि-विशेषज्ञों की सहायता सुलभ कर दीजिये।"

कडूरियों ने कुछ जमीन चुनी और चार-छः अत्यंत निर्धन परिवारों को अपना 'साझीदार' बनाकर उन्हें नये खेतों पर बसा दिया। खेती के लिए औजार, बीज और खाद वगैरह सब चीजें के-ए-ए-ए ने खरीदकर दीं। कृषि, मछली-उद्योग और जंगल विभाग के अफसरों ने इन नौसिखिये किसानों को टेक्निकल सलाह दी। और देखते-देखते एक के बाद एक गांव बसने लगे।

'हैपी विलेज' का ही उदाहरण लीजिये। जब के-ए-ए-ए के कार्यकर्ता चौदह शरणार्थी परिवारों को यहां बसाने के लिए लाये, तो यहां केवल साढ़े तीन एकड़ जमीन थी और था एक टूटा-फूटा मकान, जो द्वितीय युद्ध की गोलाबारी में बरबाद हुआ था। जमीन एक ढालू पहाड़ी पर थी और पत्थरों से पटी हुई थी। किसानों ने शिकायत की, तो होरेस कडूरी ने जवाब दिया—"सब पत्थर हटाओ और उन्हें

चिनकर सूअरों के बाड़े बनाओ......सीमेंट मैं दूंगा, और हर बाडे के लिए दो-दो सूअर भी।"

किसानों ने सारे पत्थर चुनकर बाड़े चिन डाले। यही नहीं, उन्होंने सीढ़ीदार खेत बना डाले, सिंचाई के लिए नालियां खोद लीं और चूना व खाद बिछाकर जमीन को जरखेज बना दिया। पहले ही वर्ष इतना अनाज और मांस उत्पन्न हुआ कि हैपी विलेज के ६९ बाशिंदों का पेट भरने के अलावा ११,३७० हांगकांग डालर (लगभग १,९०० रुपये) का मुनाफा हुआ।

लानाटी द्वीप के निम-शू-चान गांव में समुद्र को पीछे हटाकर प्राप्त की हुई जमीन कुछ परिवारों को दी गयी। पास की पहाड़ी पर से चिकनी लाल मिट्टी ला-लाकर रेतीली भूमि में मिलायी गयी। कुएं खोदे गये, सिंचाई के लिए नालियां बनायी गयीं। के-ए-ए-ए ने सीमेंट, पानी खींचने के पंप, यातायात के लिए किश्ती और कई सूअर मुहैया किये। यही नहीं, १६,२०० हांगकांग डालर का कर्ज भी दिया। आज लगभग एक सौ खुशहाल मर्द, औरतें व बच्चे इस गांव में बसते हैं। के-ए-ए-ए को कर्ज की रकम वापस मिल चुकी है।

नयी जमीनों को कृषियोग्य बनाने और यातायात की व्यवस्था के लिए कुल १५० मील जितनी सड़कें बनवानी पड़ीं, १४२ पुल बंधवाने पड़े। इसके लिए सामान और इंजीनियर के-ए-ए-ए ने मुहैया किये, मेहनत शरणार्थियों ने स्वयं की। जो गांव टापुओं पर बसाये जा रहे थे, उनके लिए यातायात की व्यवस्था करनी जरूरी थी। कडूरियों ने किश्तियां बनवाकर दीं और २७ जेटियां भी बनवायीं। निर्माण के इन कामों में के-ए-ए-ए को काफी बड़ी रकमें दान के रूप में खर्च करनी पड़ीं।

हांगकांग में वैसे ही पानी का अकाल रहता है। २९३ नये बांध बांधे गये, ४०० कुएं खोदे गये, ८ जलाशय बनाये गये, ३० मील जितनी नहरों का निर्माण या जीर्णोद्धार किया गया। बाढ़ और ज्वार के पानी से खेत कट न जायें, इसके लिए २० बंध और ३० समुद्री दीवारों का निर्माण किया गया। पूरे ग्यारह सौ गांव इससे लाभान्वित हुए।

कृषि-अनुसंधान के लिए कडूरी एक फार्म चलाते हैं, जो पाक-एनगाउ-शेक में है। यह जगह पहाड़ की ढाल पर है। जमीन समुद्र की सतह से ४०० फुट की ऊंचाई से उठकर लगभग ७० अंश का कोण बनाती हुई २,५०० फुट की ऊंचाई तक चली गयी है। पंद्रह साल पहले यहां पत्थर-ही-पत्थर थे। अमरीकी और चीनी कृषि-विशेषज्ञों ने इसे खेती के लिए बिलकुल निकम्मी कह दिया था। कडूरियों ने यहां ३६० एकड़ जमीन खरीद ली। छः महीनों में शरणार्थी मजदूरों ने इस ऊसर पहाड़ी अंचल को पूर्वी एशिया के सर्वोत्तम कृषि-फार्म का रूप दे दिया।

यहां पर सरकारी कृषि-कालेज में शिक्षा पाये हुए पचास कृषि-विशेषज्ञ काम

करते हैं और हांगकांग की खेती व पशुपालन संबंधी समस्याओं के समाधान खोजते हैं। दुनिया के कोने-कोने से पेड़-पौधे, बीज और अच्छी नस्ल के पशु यहां मंगवाये जाते हैं और उन्हें हांगकांग में पनपाने व लोकप्रिय बनाने की कोशिश की जाती है।

इस शोधकार्य ने समृद्धि के नये स्रोत खोल दिये हैं। हांगकांग में पहले मोसंबी व संतरे की जाति के फलों की बागबानी नहीं होती थी। ऐसा समझा जाता था कि यहां की जलवायु में ये नहीं पैदा हो सकते। लेकिन एक दिन होरेस कडूरी ने पहाड़ी पर फूलों से लदा मोसंबी का पेड़ देखा, जिस पर भौंरों का मेला लगा हुआ था। शायद कोई सैलानी चिड़िया मोसंबी का बीज यहां डाल गयी थी।

होरेस ने सोचा—"जो काम चिड़िया कर सकती है, क्या वैज्ञानिक उसे और भी अधिक अच्छी तरह नहीं कर सकते?" पाक-एनगाड-शेक में परीक्षण शुरू किया गया। अस्सी गांवों में पचीस हजार पौधे बांटे गये। आज हांगकांग में नीबू, मोसंबी और संतरे के कितने ही बाग लहलहा रहे हैं।

फार्म ने सुधरी नस्ल के सूअर भी किसानों में बांटे हैं। इन मोटे-ताजे सूअरों ने हांगकांग की मांस की समस्या काफी अंश तक हल कर दी है। पहले सारा सूअर का मांस चीन से आयात किया जाता था।

*

कडूरियों के कार्यालय से कोई खाली हाथ नहीं लौटता और जिसके कंधे पर वे हाथ रख देते हैं, वह कभी असफल नहीं होता। वांग ताई और उसके साथी इसके उदाहरण हैं।

सत्रह वर्ष पहले वांग और उसके तीन मित्र अपने परिवारों के साथ चीन की सीमा पार करके हांगकांग आये। वांग के पास कुल छ: हांगकांग डालर थे। दूसरों के पास उतना भी नहीं था। वे अखबार, टाट और बांस के गंदे घरौंदे बनाकर रहने लगे। बेचारे कोई काम-धंधा तो जानते थे नहीं। मजदूर का काम भी मिलता नहीं था। भूखों मरने की नौबत आ पहुंची। तभी कडूरियों को उनकी हालत का पता चला।

चारों परिवारों को साथ-साथ लगे हुए चार प्लाट, कुछ सूअर, मुर्गियां और दो गायें दी गयीं। रहने के लिए सीमेंट और बांस के बने छोटे-छोटे मकान भी दिये गये। सिर्फ दो शर्तें थीं— १. एक साल पूरा होने के पहले वे अपनी जमीन किसी को बेच नहीं सकते, और २. उन्हें कृषि-विशेषज्ञों की सलाह के अनुसार ही सब काम करने होंगे।

तीन साल तक चारों परिवारों ने मिलकर खेती की। खेत सोना उगलने लगे। हर परिवार अधिक जमीन की आवश्यकता महसूस करने लगा। उन्होंने बंटवारा

कर लिया। हर परिवार के हिस्से में ३५ हजार हांगकांग डालर आये। सबने नयी जमीनें खरीदकर अपनी खेती का विस्तार किया।

वोंग के खेतों पर आज बहुत-से मजदूर काम करते हैं। उसने मुझे बड़े गर्व के साथ अपने पक्के गोदाम, आटा-चक्की, सूअरों का बाड़ा, मछलियों का पोखरा और आरामदेह मकान दिखाया। उसे इन सब चीजों से ज्यादा अभिमान है कृषि-प्रदर्शनियों में जीते हुए ग्यारह पुरस्कारों पर।

प्रथम वर्ष ही के-ए-ए-ए ने शरणार्थी किसानों को दस लाख हांगकांग डालर से ज्यादा का कर्ज दिया। १९५५ से सरकार ने ऐसी व्यवस्था कर दी है कि कर्ज के आवेदन-पत्र भरने और कर्ज उगाहने का काम कृषि-विभाग करता है। ऐसा बहुत कम ही हुआ है कि कर्ज का पैसा डूब गया हो।

* * *

लोकसेवा की दीक्षा कडूरी-बंधुओं को अपने पिता सर ईली कडूरी से मिली थी। सर ईली इराक के एक निर्धन यहूदी परिवार में जनमे थे। बहुत छुटपन में ही घर छोड़कर भारत चले आये, फिर चीन गये। बाद में उन्होंने ब्रिटिश नागरिकता प्राप्त कर ली और अपनी सूझबूझ व परिश्रम से रबर के व्यापार, महाजनी तथा जमीन-जायदाद की खरीद-फरोख्त का विशाल कारोबार जमा लिया।

उनकी मिल्कियत कई करोड़ की थी। लेकिन वे कहा करते थे–"पैसा तो ईश्वर की अमानत है ..समाज की भलाई के लिए है।" उन्होंने इराक, ईरान, सीरिया, तुर्की, फ्रांस, पुर्तगाल और चीन में अनेक स्कूलों और अस्पतालों का निर्माण कराया। बंबई में भी उनका बनवाया हुआ एक स्कूल है। पश्चिम एशिया के कितने ही इलाकों में लड़कियों के लिए खोले गये प्रथम स्कूल सर ईली कडूरी के ही बनवाये हुए थे।

सर ईली ने अपने दोनों बेटों को बचपन से ही सिखाया–"किसी भी आदमी को इसका अधिकार नहीं कि वह दुनिया को जितना देता है, उससे अधिक दुनिया से ले। जो दुनिया से जितना अधिक पाता है, उसे उतना ही अधिक दुनिया को देना चाहिये।" लॉरेंस कडूरी और होरेस कडूरी ने पिता का व्यापार-साम्राज्य ही नहीं, यह जीवन-दर्शन भी उत्तराधिकार में पाया है। आज दुनिया की ३६ सेवा-संस्थाओं के साथ 'कडूरी' नाम जुड़ा हुआ है।

साठ वर्ष के कुंआरे होरेस कडूरी के-ए-ए-ए का संचालन करते हैं। सवेरे-सवेरे वे घर से चल पड़ते हैं और शरणार्थी-गांवों में पहुंच जाते हैं। किसान उनसे हर विषय पर सलाह लेते हैं। होरेस कहा करते हैं–"एक परिवार को अपने पैरों पर खड़ा करने का आनंद, दस मिलें खड़ी करने के आनंद से बढ़कर है।"

लॉरेंस कडूरी ६३ वर्ष के चुस्त युवक हैं। व्यावसायिक स्वातंत्र्य में उनकी अटल

आस्था है। लेकिन वे मानते हैं कि व्यावसायिक स्वातंत्र्य के साथ भारी उत्तरदायित्व भी जुड़ा हुआ है। एक बार उन्होंने राजदूतों की एक सभा में कहा था–"संसार के संपन्न राष्ट्रों को समय रहते चेत जाना चाहिये। हमारे स्वतंत्र जीवन-क्रम की रक्षा भाषणों व पुस्तिकाओं से नहीं होगी और न दान-पुण्य से। हमें ऐसी परिस्थितिया पैदा करनी होंगी कि जो लोग जरूरतमंद हैं, वे अपनी मदद आप कर सकें।"

कड्डरी-बंधुओं को फिलिपाइन का रेमोन मैगसेसे पुरस्कार प्राप्त हो चुका है, जो सारे एशिया में सार्वजनिक सेवा के लिए दिया जाने वाला सबसे बड़ा अतर्राष्ट्रीय सम्मान है।

❀ ❀ ❀

सन १९२९-३० में काशी विश्वविद्यालय में पढ़ते समय पूज्य प्रसादजी के यहा मैं अक्सर दर्शनार्थ जाया करता था। एक दिन वहा गया, तो वे अकेले बैठे थे। शाम का वक्त था। भाई विनोदशंकर व्यास पास की झाड़ियों से फूल चुन रहे थे। मैंने प्रसादजी को अकेला पाकर उनसे 'आसू' के कुछ अश सुनाने की प्रार्थना की। प्रसादजी ने मुस्कराकर मुझसे पूछा कि तुम्हें 'आसू' की कौन-सी पंक्तिया बहुत पसद हैं? मैंने तुरत उन्हें निम्नलिखित पंक्तिया सुना दीं :

घन में सुंदर बिजली-सी, बिजली में चपल चमक-सी,
आंखों में काली पुतली, पुतली में श्याम झलक-सी।
प्रतिमा में सजीवता-सी बस गयी सुछवि आंखों में,
थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में॥

प्रसादजी ने मुस्कराकर कहा–"अब मेरे सुनाने के लिए 'आसू' में रह ही क्या गया है। तुमने तो नवनीत निकाल लिया।" लेकिन मैंने अपना आग्रह नहीं छोड़ा, तो उन्होंने बड़े ही मधुर स्वर में निम्न पंक्तिया सुनायीं :

मत कहो कि यही सफलता कलियों के लघु जीवन की,
मकरंद-भरी खिल जायें, तोड़ी जायें बेमन की।
यदि दो घड़ियों का जीवन कोमल वृंतों में बीते,
कुछ हानि तुम्हारी है क्या, चुपचाप चू पड़ें जीते!

उन्होंने इन्हीं पंक्तियों को क्यों चुना, यह रहस्य तब खुला, जब विनोद शंकरजी ने फूल चुनते-चुनते कहा–"कलियों की काफी वकालत हो चुकी। एक तीर से दो निशाने लगाना आप खूब जानते हैं। अब अधिक कष्ट की आवश्यकता नहीं, मैं आ रहा हूं।"

–सुरेश सिंह



पीटर गाडफ्रे

जीत जानवर की होती है

अफ्रीका की बहुत प्रचलित कहावतों में से एक है—"गोरा शिकारी चाहे कितना बली हो, लेकिन अंत में जीतते जानवर ही हैं।" और इसमें बहुत कुछ सचाई है; क्योंकि अफ्रीका के बहुत कम पेशेवर शिकारी खटिया पर स्वाभाविक मौत मरते हैं।

जोहान्स जैकोबस कोत्जर को ही लीजिये। जवानी के दिनों में वह एक माना हुआ शिकारी था और अफ्रीका के जंगलों में उसने मेजर प्रिटोरियस के साथ कई दफा शिकार खेला था। आज भी मेजर प्रिटोरियस का नाम अफ्रीका में हर शिकार-प्रेमी की जबान पर है। उम्र ढलने के साथ-साथ जब कोत्जर ने यह देखा कि उसके सारे साथी जंगलों में दुर्घटनाओं में मारे गये, तो यह निश्चय कर लिया कि मैं ऐसी मौत नहीं मरूंगा। उसने शिकार खेलना बंद कर दिया और पुलिस-विभाग में नौकरी कर ली।

भाग्य की लीला देखिये। उसके शिकार-अनुभव के कारण उसे लिंपोपो नदी पर एक पुलिस-चौकी पर नियुक्त किया गया। यह चौकी दक्षिण अफ्रीका और रोडेशिया की सीमा पर स्थित है। सीमा के जंगलों में उसे दूर-दूर तक गश्त लगानी पड़ती थी, जो जंगली जानवरों से भरे पड़े हैं। सुरक्षा के लिए हमेशा एक बंदूकधारी अंगरक्षक उसके साथ रहता था।

एक सुबह गश्त लगाते हुए कोत्जर अचानक ही रुक गया। करीब पचास गज की दूरी पर एक खूंख्वार जंगली हाथी अपनी सूंड़ ऊपर उठाये हवा को सूंघ रहा था। फिर अचानक ही वह कोत्जर की तरफ मुड़ा। उसके कान गुस्से से फड़फड़ा रहे थे और लगता था कि वह तुरंत हमला कर देगा। कोत्जर ने बिना पीछे मुड़े अपने अंगरक्षक से राइफल लेने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। लेकिन अंगरक्षक तो कभी का मैदान छोड़कर भाग चुका था और सौ गज दूर पहुंच चुका था।

हाथी ने आव देखा न ताव, और हमला कर दिया। बड़ी-बड़ी दौड़-प्रतियोगिताओं में तमगे जीतने वाला पेशेवर खिलाड़ी भी बिगड़ैल हाथी का मुकाबला दौड़

मे नहीं कर सकता। फिर भला कोत्जर की क्या बिसात! उसकी तो पचास वर्ष से भी अधिक उम्र हो गयी थी, अगरचे वह स्वस्थ था और उस जंगल से खूब अच्छी तरह परिचित भी था।

उसने सचेत हो, उड़ती नजर से चारों ओर की जमीन का सर्वेक्षण किया। बायीं ओर सीधी ढलान थी, वह उसी ढलान पर तेजी से भाग चला। भीमकाय प्राणी हाथी ढलान पर दौडने से काफी कतराता है, खासकर जब वह गुस्से में हो, क्योंकि उसके फिसलकर गिर पड़ने की काफी संभावना रहती है। और जब कोई हाथी फिसलकर गिर ही पडता है, तो छोटा-मोटा भूकंप आ जाता है।

लेकिन इस हाथी ने कोत्जर का पीछा नहीं छोड़ा। हां, उसकी रफ्तार जरूर जरा धीमी पड गयी थी। कोत्जर जान गया कि मौत को अब थोडी देर के लिए टाला भले जा सकता हो, उससे बचा नहीं जा सकता। लगभग आधे घंटे की भाग-दौड और प्राणरक्षा की पूरी कोशिश के बावजूद आधे मील की दूरी पर अंत मे वह मौत की पकड में आ ही गया। गुस्से में पागल हुए हाथी ने पहले तो उसे सूंड मे लपेटकर ऊपर हवा में झुलाया, फिर जमीन पर पटक दिया। और इसके बाद अपने पावों तले रौंदकर उसकी बची-खुची जान भी निकाल दी।

इस दुर्घटना से ठीक एक महीने पहले ऐसी ही आकस्मिक मृत्यु ने, जिसके कि दुःस्वप्न हर शिकारी को पडा करते हैं, ह्यू लम्बी हाल को धर दबोचा था। वह उन दिनों रोडेशिया के फोर्ट जेमिएसन में हाथी-नियंत्रण अधिकारी था।

किसी विदेशी चिड़ियाखाने ने एक नन्हे जिराफ की मांग की थी। उसे पूरा करने के लिए एक दिन सुबह-सुबह हाल जंगलों मे निकला। रास्ते मे उसका सामना एक सिंह से हुआ। साधारणतया जंगल का राजा दिन के वक्त आदमी से अपने आप छेडछाड़ नहीं करता। मगर यह सिंह अपवाद था। गुस्से से अपनी दुम ऐंठकर वह हाल की तरफ थोड़ा सिर घुमाकर खड़ा हो गया।

हाल ने राइफल उठायी और दायीं नाल से गोली दाग दी। सिंह पिछली टांगों के बल उछला और जमीन पर गिरकर तड़प उठा, मगर सिर्फ एक क्षण के लिए। दूसरे ही क्षण उसने हाल पर छलांग लगा दी। हाल राइफल की नली ताने तैयार था और बिलकुल ठंडे दिमाग से सिंह की हरकतें देख रहा था। सिंह के छलांग लगाते ही बायीं नाल की गोली भी दाग दी। लेकिन यह क्या? गोली तो छूटी ही नहीं! सिंह पहली गोली से घायल हो चुका था और बुरी तरह बौखला उठा था। वह पूरी ताकत से हाल पर झपटा। और यह सब पल-भर मे ही हो गया।

सूचना पाकर जब हाल के सहयोगी घटना-स्थल पर आये, तो उन्होंने देखा कि क्षत-विक्षत हाल बेहोश पडा था और उस पर चादर की तरह फैली हुई थी मृत सिंह की काया। जल्दी-जल्दी लकडी का एक स्ट्रेचर बनाकर उस पर हाल को लाद-

कर सबसे नजदीक के अस्पताल में ले जाया गया। मगर सब बेकार। अस्पताल में जाने के चार घंटे बाद हाल चिरनिद्रा में सो गया।

जंगली भैंसे की चालाकी और खूंख्वारपन का सिक्का अफ्रीका के बड़े-से-बड़े शिकारी भी मानते हैं। फिर भी मशहूर शिकारी मेजर जे. जे. बासमन की राय कुछ और ही थी – "सहज अवस्था में भैंसा बिलकुल खतरनाक नहीं होता। सच तो यह है कि यह काफी भीरु स्वभाव का जानवर है। लेकिन घायल हो जाने पर या एकदम संकट में फंस जाने पर इससे ज्यादा भयंकर और खूंख्वार दुश्मन शिकारी के लिए दूसरा नहीं हो सकता।" मगर बेचारे मेजर महोदय यह नहीं जानते थे कि एक दिन सहज अवस्था में ही भैंसा उनकी जान ले बैठेगा। मोजांबीक के चिकुलाकुला में यह दुर्घटना घटी।

मेजर बासमन किसी जंगली जानवर का पीछा उसके पदचिन्हों पर से कर रहे थे कि ऊंची और घनी घास के अंदर छिपे हुए एक भैंसे ने उन पर अचानक ही हमला कर दिया। बासमन अपनी राइफल का प्रयोग करने का भी अवसर नहीं पा सके। पल-भर में भैंसा उन्हें गिराकर सींगों से बींधता व रौंदता हुआ भाग गया। मेजर के सहायक उन्हें स्ट्रेचर पर लादकर लगातार १६० मील चलकर ट्रांसवाल के लुईस रिचार्ड के अस्पताल ले गये। लेकिन मेजर को बचाया नहीं जा सका।

दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के नौमुटनी के सरक्षित शिकारगाह से सटे नजकुसिब इलाके में एक किसान था—कार्ल हार्टमान। उसकी गणना अपने जमाने के अग्रणी शिकारियों में होती थी। पचासवें सिंह को धराशायी करने के बाद से तो उसने अपने हाथ से मरने वाले सिंहों का हिसाब रखना भी बंद कर दिया था। उसे वन के राजा से जरा भी भय नहीं लगता था। वह उसे हमेशा ही बहुत साधारण और आसानी से निबटाया जा सकने वाला खतरा समझता था।

हार्टमान के पालतू जानवर नौमुटनी के हिंस्र पशुओं के लिए जबर्दस्त प्रलोभन थे। लेकिन हार्टमान के फार्म में कदम रखने पर बिरला ही हिंस्र पशु सुरक्षित अपनी मांद में वापस लौट पाता था।

एक शनिवार को पौ फटने से कुछ ही पहले हार्टमान को एक सिंह पर गोली दागनी पड़ी, जो उसकी गोठ में घुस आया था। सिंह घायल हो गया; मगर भाग निकला। उसके शरीर से टपकती हुई लहू की बूंदों के सहारे हार्टमान अपने एक आदिवासी नौकर के संग दिन-भर जंगल की खाक छानता रहा।

दूसरे दिन सुबह दोनों फिर निकल पड़े घायल सिंह की खोज में। घास और झाड़ियों के विस्तार में भटकते हुए जब वे करीब १८ मील दूर निकल आये, तब अचानक ही सिंह से उनका सामना हो गया। पहल सिंह ने की। वह गुर्राकर झपट पड़ा। हार्टमान ने तुरत गोली दागी; पर निशाना चूक गया। सिंह एक छलांग में

उसके कंधों पर आ चढ़ा. परंतु हार्टमान जरा भी घबराया नहीं और निहत्था ही सिंह से दो-दो हाथ करने लगा।

अपने मालिक का काम तमाम हुआ देखकर नौकर भाग खड़ा हुआ। पर हार्टमान को छोड सिंह अब नौकर पर लपका और उनकी एक टांग ही चबा डाली। भय से अधमरा नौकर बिना हिले-डुले पडा रहा। सिंह ने उसे मरा हुआ समझकर छोड़ दिया और फिर हार्टमान के मुर्दे के पास पहुंचकर उसके मांस का भोग लगाने लगा। अब नौकर ने बच निकलने का मौका देखा और किसी तरह अपनी टांग को घसीटता हुआ भाग निकला। कई घंटों के प्रयत्न के बाद वह सुरक्षित स्थान पर पहुंचा। यहां उसकी भेंट दूसरे लोगों से हुई, जो हार्टमान की तलाश में निकले थे। जब वे मुर्दे तक पहुंचे, मुट्ठी-भर हड्डियों के सिवा कुछ भी नहीं बचा था। जो आदमी सिंह से कभी नहीं डरा, उसका अंत सिंह के ही हाथों हुआ।

इसी तरह से रोडेशिया के प्रसिद्ध शिकारी विक्टर फ्रैंक स्ट्रोवेल का भी अंत जंगल में ही हुआ। पांच अफ्रीकी आदिवासियों के साथ स्ट्रोवेल सफारी पर निकला था कि उसकी नजर हाथियों के एक छोटे झुंड पर पडी। सबके सब हाथी बेचैन और चिढ़े हुए नजर आते थे। इसलिए उसने अपने साथियों से जल्दी ही छिप जाने को कहा, पर स्वयं वहीं ठहरकर हाथियों का सामना करने का निश्चय किया।

साथी सुरक्षित स्थानों में छिप गये और उन्होंने देखा कि झुंड में से एक हाथी अलग हो गया है और सूंड उठाये स्ट्रोवेल की ओर चला आ रहा है। उस सधे हुए शिकारी ने घुटने के बल बैठकर बहुत ही सधकर फायर किया। मगर गोली की आवाज का गूंजना था कि पूरा-का-पूरा झुंड स्ट्रोवेल की तरफ उमड़ पड़ा। अगले पांच-दस मिनिट तक क्या हुआ, यह किसी ने नहीं देखा। किंतु जब पूरा झुंड विजय के गर्व में चूर हो चिंघाडता हुआ, वन-वीथियों में अदृश्य हो गया, तब नौकर साहस बटोरकर बाहर निकले और उन्होंने बचे-खुचे विक्टर फ्रैंक स्ट्रोवेल को नजदीक की पुलिस-चौकी पर ले जाकर उसका मृत्युपत्र लिखवाया।

अफ्रीका के नामी शिकारी धीरे-धीरे जंगलों से लुप्त होते जा रहे हैं और उनका शिकार कर रहे हैं ज्यादातर जंगली जानवर।

* * *

नेहरूजी से एक बार एक बालक ने कहा—"चाचाजी, आप दूसरे देशों में जानवर भेजते हैं, हमें क्यों नहीं भेजते?"

"अरे, तुम जानवर हो, मुझे तो आज ही मालूम पड़ा!" मुस्कराते हुए नेहरूजी ने कहा।



मकरंद दवे

शब्द-सत्य : शब्दातीत सत्य

अपने शब्द पर डटे रहने में एक शक्ति है। किंतु अपने शब्द पर ही डटे रह जाना पामरता है। इस सत्य को श्रीकृष्ण से अधिक स्पष्टता से किसी ने नहीं दिखाया है। पांडवों की सबसे बड़ी बेड़ी थी उनके शब्द। शब्द से भी परे चमकने वाले सत्य को देखने की दृष्टि उनमें नहीं थी; इसीलिए महापराक्रमी होते हुए भी जीवन में उन्होंने बार-बार मार खायी और यदि श्रीकृष्ण से उन्हें शब्दातीत सत्य की दीक्षा न मिली होती, तो महा-अधर्मी शत्रुओं के हाथों उनका नाश हो जाता। मानो धर्मराज के ही हाथों मानव-आत्मा के मूल और मुक्त धर्म का लोप हो जाता। श्रीकृष्ण ने ऐसा नहीं होने दिया। मानव-जाति को उन्होंने यह सत्य जीकर दिखाया।

पांडव शब्द की जंजीर में कैसे बंधते चले गये, इसके कुछ प्रसग देखिये :

अर्जुन ने मत्स्यवेध किया। द्रौपदी ने उसे वरमाला पहनायी। पाचों भाई द्रौपदी को साथ लिये माता के पास आये। भीम ठहरा मस्खरा। उसने बाहर से ही हांक लगायी–"मा, हम भिक्षा लाये हैं।" कुंती ने अदर से सहज ही कह दिया–"पांचों भाई मिलकर उपभोग करो।" कुंती को स्वप्न में भी खयाल नहीं था कि मामला द्रौपदी का है। बाद में उसे बहुत पछतावा हुआ। लेकिन पाडवों के लिए तो मां का शब्द पत्थर की लकीर। शब्द को पूजने में उन भाइयों में कोई कम न था। इसलिए द्रौपदी पाच पतियों की पत्नी बनी। यह एक बहुत ही बड़ा अनर्थ था। लेकिन धर्मभीरु पांडव उसी को धर्म मान, पकड़कर बैठ गये।

दूसरा प्रसंग देखें :

पाचों भाइयों ने तय किया था कि एक भाई जब द्रौपदी के पास हो, तब दूसरा कोई उसके पास न जाये, और जो इस नियम को तोड़े, वह बारह बरस वनवास भोगे। गायों की रक्षा करने के लिए जब अपने शस्त्र लेने अर्जुन को शस्त्रागार में जाना पड़ा, तब वहां धर्मराज द्रौपदी के पास थे। वचनभंग हो गया! और वचन का पालन तो हर हालत में होना ही चाहिये।

भाइयों के बीच किसी प्रकार की ईर्ष्या या वैमनस्य पैदा न हो, एक भाई दूसरे का छिद्रान्वेषण करने की कोशिश न करे, यह भावना इस नियम के पीछे थी। अर्जुन एक धर्मकार्य के लिए—गायों की रक्षा के लिए—अनिच्छा से वहां आया था। लेकिन पांडव तो शब्द को पकड़कर बैठ जाने वाले लोग थे। अपने शब्द को बचाने के लिए अर्जुन वन चला गया।

तीसरा प्रसंग :

अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि जो कोई गांडीव की निंदा करेगा, उसका मैं वध कर दूंगा। कर्ण से पराजित होकर युधिष्ठिर छावनी लौटे थे। बड़े भाई की कुशल पूछने अर्जुन दौड़ा चला आया। युधिष्ठिर ने सोचा कि अर्जुन कर्ण को जीतकर आया होगा। किंतु जब उन्हें पता चला कि कर्ण तो अभी अपराजित है, तो उनका दिमाग भन्ना उठा। एक तो कर्ण ने उनकी हंसी उड़ाकर उन्हें बहुत अपमानित किया था, और फिर घाव की पीड़ा से परेशान। वे अपनी सहज-संयत मन:स्थिति में नहीं थे। उन्होंने अर्जुन को फटकार दिया—"धिक्कार है तुम्हारे गांडीव को।"

अर्जुन को अपनी प्रतिज्ञा याद आ गयी। वह इस बात को भूल गया कि सामने कौन है और किस मनोवेदना से बोल रहा है। वह युधिष्ठिर का शिरच्छेद करने को झपटा। श्रीकृष्ण यदि बीच में न पड़ते, तो उस वचन-पालक महावीर का क्या होता! ऐसे देवतुल्य अग्रज की हत्या करके वह निश्चय ही दूसरे क्षण स्वयं भी आत्महत्या कर लेता। पहले तो ऐसी प्रतिज्ञाओं का ही कोई अर्थ नहीं होता; और फिर उनके पालन के लिए ऐसा हीन कृत्य करना तो निरी मूर्खता है। इस प्रसंग में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

त्वया चैव व्रतं पार्थ बालेनैव कृतं पुरा। तस्मादधर्मसंयुक्तं मौर्ख्यात् कर्म व्यवस्यसि॥

(महाभारत, कर्णपर्व)

कई बार जब हम ठंडे दिमाग से सोचते हैं, तो हमें यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि जैसे श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में कहा है, हमारे बहुत सारे शब्द बालिशता-पूर्ण एवं गलत आवेग में बहकर कहे हुए होते हैं। क्या ये शब्द ही जीवन-भर के लिए सच्चे रहेंगे और जिसे हमारा अंतरात्मा हमारा कर्तव्य कहकर पुकार उठे, वह गलत हो जायेगा? धर्मभीरु लोगों के लिए यहां सूक्ष्म बुद्धि और जाग्रत विवेक-दृष्टि की बहुत जरूरत है। अर्जुन में ऐसी विवेक-दृष्टि नहीं थी। धर्मभीरु होते हुए भी, वह बुद्धिहीन ही था—ऐसा श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं। अन्यथा ऐसा हीन कार्य करने को वह कैसे तैयार हो जाता। श्रीकृष्ण कहते हैं :

न हि धर्मविभागज्ञः कुर्यादेवं धनंजय। यथा त्वं पांडवाद्येह धर्मभीरुरपण्डितः॥

(महाभारत, कर्णपर्व)

श्रीकृष्ण का यह कथन बहुत बड़ा है। मनुष्य को धर्मज्ञ ही नहीं, धर्म-विभागज्ञ भी होना चाहिये। ऐसा ज्ञान न हो, तो वही धर्म जो मनुष्य को मुक्ति, आनंद और साफल्य देने के लिए बना है, उसके लिए घोर बंधन बन जाता है। वर्षों तक पांडव ऐसे ही शब्दों की कारा में छटपटाते रहे।

पांडवों की इस निर्बलता से कौरव अच्छी तरह परिचित थे। वे बड़े ही चतुर कानूनदां थे, कायदे की एक-एक धारा और एक-एक शब्द द्वारा विरोधी को पकड़कर पटखनी खिलाते थे। अतुल पराक्रमी होते हुए भी धर्मभीरु और आदर्श-परायण पांडव उनके सामने असहाय थे। शकुनि ने धर्मराज को छल-बल से हराया और धर्मराज ने यह जानते हुए भी कि इसके पीछे क्या कारण और उद्देश्य था, इस हार को हार स्वीकार कर लिया। उनमें यह ताकत नहीं थी कि ऐसे अन्यायपूर्ण निर्णय को ठोकर मार देते।

कौरवों को पक्का भरोसा था कि द्यूत की भाति युद्ध में भी पांडव अवश्य मुंह की खायेंगे। भीष्म, द्रोण और कर्ण जैसे महारथी भयानक अस्त्रों का खुलकर प्रयोग करें, अथवा शत्रु को छल-फरेब से मार डालें, जैसा कि अभिमन्यु के मामले में हुआ, तो भी धर्म की दुहाई देते ही पांडव ठंडे पड़ जायेंगे-यह बात कौरव अच्छी तरह जानते थे।

लेकिन एक व्यक्ति ने कौरवों का यह खेल धूल में मिला दिया। एक ऐसा पुरुषोत्तम पांडवों का पक्षधर था, जिसने स्वयं शस्त्रहीन होते हुए भी कौरवों के सब शस्त्रों को निकम्मा कर दिया। ऐन वक्त पर पांडवों को ये पुरुषोत्तम शब्दों से भी ऊपर विराजने वाले सत्य पर ले गये और स्वयं सरासर अन्याय करते हुए भी हर कदम पर धर्म की दुहाई देते रहने वाले उन शब्दधर शत्रुओं का संहार किया।

रथ का पहिया धंस जाने पर जब कर्ण अर्जुन को धर्म के लक्षण गिनाता है और धर्मज्ञ के कर्तव्य समझाने लगता है, तब श्रीकृष्ण उसके एक-एक अधर्मपूर्ण कृत्य की याद दिलाकर उससे पूछते हैं—क्व ते धर्मस्तदा गतः?...तब तुम्हारा धर्म कहां चला गया था? यदि उस समय धर्म नहीं था, तो अब सिर्फ धर्म-धर्म की रट लगाकर तालु सुखाने से क्या फायदा?

यद्येवं धर्मस्तत्र न विद्यते हि किं सर्वथा तालुविशोषणेन॥

सत्वहीन, प्राणहीन, अर्थहीन शब्दों से ऊपर उठने का यह कितना बड़ा सामर्थ्य था श्रीकृष्ण में! धर्म के पाश को विच्छिन्न कर, धर्म के प्राण को विमुक्त करने की कैसी निर्भीक घोषणा थी यह! आज भी आश्चर्य होता है।

कहा जाता है, युधिष्ठिर कभी असत्य नहीं बोले। किंतु द्रोण-वध के समय उन्होंने "अश्वत्थामा हतः" इतना असत्य अवश्य कहा और इस कारण उनका रथ, जो

कि जमीन से एक अंगुल ऊपर चला करता था, जमीन से छू गया। सच तो यह प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण के कहने के अनुसार यदि धर्मराज "अश्वत्थामा हतः" इतना कहकर चुप हो जाते, तो उनका रथ जमीन से एक अंगुल और ऊपर उठ जाता। अंतर्यामी श्रीकृष्ण के वचन को अन्यथा अपनाने के बजाय वे "नरो वा कुंजरो वा" करने गये और इसी कारण उनका जीवन-रथ नीचे उतर गया।

मानव-मन परमात्म-प्रेरणा को नीति-अनीति के दायरे में बांधे बिना निर्भय और निःसंशय भाव से अपना नहीं पाता। भीतर का सत्यात्मा जो कहता है, उसे हम अपनी निर्बलता के कारण नीति के धागे में जितना ही पिरोते हैं, उतने ही गिरते हैं। युधिष्ठिर नीचे उतर आये, क्योंकि इस सत्य-प्रेरणा को वे सीधे अपना नहीं सके और उन्होंने उसे शब्दों में घेरने की कोशिश की।

श्रीकृष्ण जैसा सामर्थ्य भला किसमें था! शस्त्र-ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा के बावजूद जब वे रथचक्र उठाकर भीष्म की ओर झपटते हैं, तब व्यर्थ के शब्दों को छिन्न-भिन्न करके यथाविमुक्त सत्य-पुरुष के रूप में कैसे प्रकाशमान हो उठते हैं! उस क्षण भीष्म पितामह भी हाथ जोड़कर उनका जो अभिवादन करते हैं, वह इसी सत्य के तेज के कारण ही तो। श्रीकृष्ण के मुखमंडल पर उस समय कैसा आलोक खेल रहा होगा! भीष्म-जैसे भी उसके दर्शन से मुग्ध हो जाते हैं। इसमें यदि कायरता या कुटिलता होती, तो क्या यह संभव था!

श्रीकृष्ण यह अच्छी तरह जान गये थे कि पांडवों पर शब्दों का कितना जबर्दस्त बंधन है; और महाभारत के युद्ध में प्रत्येक विकट प्रसंग पर उन्होंने यह बंधन भेद डाला। श्रीकृष्ण का स्पष्ट दर्शन है कि सत्य और धर्म शब्द में कैद नहीं हो सकते। इसीलिए शाब्दिक रूप से सत्य और धर्म का उल्लंघन करने के बावजूद वे सत्य-प्रतिज्ञ और धर्मनिष्ठ रहे। परीक्षित को जिलाते समय श्रीकृष्ण कहते हैं :

यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ॥

(महाभारत, आश्वमेधिक पर्व)

—जैसे सत्य और धर्म मुझमें निरंतर स्थिर रहे हैं, उसी तरह अभिमन्यु का यह मृत बालक सजीव हो उठे।

इन शब्दों से श्रीकृष्ण ने केवल परीक्षित को नहीं, अपितु परि+ईक्षित को अर्थात् मात्र शब्दों की पिटारी में कैद न होकर चारों ओर से जीवन को देखने और स्वीकारने वाले सत्य को भी पुनर्जीवन प्रदान किया। [गुजराती से अनूदित]

❧ ❧ ❧



जे० पी० वास्वानी

कोढ़ियों का देवता

एक पहुंचे हुए भक्त से लोगों ने पूछा—"आप अध्यात्म में बहुत पहुंचे हुए हैं। आपकी इस सिद्धि का रहस्य क्या है?" भक्त ने उत्तर दिया—"मैं ऊंचा पहुंचा हुआ हूं या नहीं, मैं नहीं जानता। मैं तो इतना जानता हूं कि मैंने एक काम किया है—जो कुछ भी मुझे मिला, उसे मैंने लुटा दिया।"

फादर दामियेन के जीवन का भी यही रहस्य था। जो कुछ भी उन्हें प्राप्त हुआ, उन्होंने लुटा दिया। उन्होंने अनुभव किया कि जीवन बटोरकर रखने के लिए नहीं, बल्कि ईश्वर और उसकी दुखियारी सतान की सेवा में लुटा देने के लिए मिला है।

अपना सपूर्ण जीवन उन्होंने कोढ़ियों की सेवा मे बिता दिया। कोढ़ियों के घिनौने जख्मों आर रिसते घावों में उन्होंने ईसा का सौम्य मुखड़ा देखा। कोढ़ियों की वीरान और अंधेरी जिंदगियों में वे बसत ऋतु की भाति नयी रोशनी और खुशी लेकर आये।

कोढ़ियो को अछूत समझा जाता था। हवाई द्वीपो में सरकार ने कानून बनाकर कोढ़ियो को समाज से बाहर कर दिया था। उन सबको मोलोकाई द्वीप में भेज दिया गया था। बाहरी दुनिया से उन्हें कोई सबंध नहीं रखने दिया जाता था। जो भी एक बार मोलोकाई द्वीप चला जाये, वह वहां से लौटकर नहीं आ सकता था।

फादर दामियेन ने इन्हीं बहिष्कृतों की सेवा में अपना जीवन समर्पित कर देने का सकल्प किया। वे जानते थे कि इसका क्या अर्थ होगा। अभी वे जवान थे, सिर्फ तेंतीस वर्ष के। शरीर उनका स्वस्थ और हृष्टपुष्ट था। आशाओं और सभावनाओं से भरी लंबी जिंदगी उनके सामने पडी थी।

जब उन्होंने यह गंभीर सकल्प किया, तो मित्रों और साथियो ने उन्हें चेताया। किसी ने कहा—"दामियेन, पागल न बनो।...कोढ़ियों के बीच रहोगे, तो तुम्हें भी यह रोग जरूर ग्रस लेगा।" दूसरा बोला—"कोढ़ी की जिंदगी तो कुरूपता, यातना और तिल-तिल करके मरने की जिंदगी होती है।" तीसरे ने चेतावनी दी—"उन

लंबे एकाकी वर्षों की बात तो सोचो, जब तुम मित्रहीन, असहाय पड़े-पड़े मौत का इंतजार करोगे।"

परन्तु फादर दामियेन संकल्प कर चुके थे। जवाब में उन्होंने कुछ भी नहीं कहा सिर्फ मुस्करा दिये। उनके साथ फूल मुस्करा उठे, पेड़ खुशी में झूमने लगे और बादलों की ओट से झांककर सूरज ने उन्हें आशीर्वाद दिया। उन्होंने अपने माता-पिता को लिखा—"मैं मोलोकाई जाऊंगा और कोढ़ियों की सेवा करूंगा, जिनके शारीरिक और आध्यात्मिक दुर्भाग्य पर अक्सर मैं खून के आंसू बहाता हूं।"

फादर दामियेन ईसा के सच्चे भक्त थे। वे प्रायः कहा करते थे—"मैं तो प्रभु के हाथों में हूं, जैसे कुशल मिस्त्री के हाथ में कोई औजार हो। जीवन और मृत्यु दोनों में मैं यीशु मसीह का हूं।" साथ ही वे बड़े कर्मशील व्यक्ति थे।

दामियेन मोलोकाई जा रहे थे। अपने प्रिय के निकट पहुंचने के लिए, कोढ़ियों की सेवा द्वारा प्रभु का सान्निध्य पाने के लिए। और उन्हें प्रभु के ये दिव्य वचन रह-रहकर याद आ रहे थे—"इन छोटों में से छोटे-से-छोटे के लिए भी तुम जो कुछ करोगे, वह मेरे ही लिए करोगे।"

मोलोकाई में फादर दामियेन का किसी ने हार्दिक स्वागत नहीं किया। द्वीप के एक छोर पर आठ सौ कोढ़ी रहते थे। उनके एक ओर समुद्र था, दूसरी ओर २,००० फुट लंबी पहाड़ी दीवार थी। वे मानो चलते-फिरते शव थे। जीवन में कोई दिलचस्पी नहीं थी उन्हें। वे बैठे शून्य में ताका करते थे, और मौत की प्रतीक्षा किया करते थे। फादर दामियेन जिधर भी जाते, कोढ़ियों की नाखुश नजरें उन्हें घूरतीं। कौन है यह अजनबी, जिसके शरीर पर कोढ़ का कोई निशान नहीं है? इसे हमारे बीच में आने का क्या अधिकार है?

कोढ़ी नाराज थे। मगर इससे क्या! दामियेन को तो उन्हें प्यार करना था, उनकी सेवा करनी थी क्योंकि वे लोग ईश्वर के जीते-जागते प्रतिरूप थे। दामियेन को उनके दिलों में स्थान पाने में ज्यादा समय नहीं लगा। जल्दी ही कोढ़ियों को विश्वास हो गया कि दामियेन उनके सच्चे भाई हैं, जो उनका दुःख-दुर्भाग्य बंटाने के लिए यहां आये हैं।

फादर दामियेन के प्यार और नम्रता ने चमत्कार कर दिखाया। कोढ़ियों की बस्ती में नयी जिंदगी की लहर दौड़ गयी। उनके जीवन में एक नयी आशा का संचार हुआ। फादर दामियेन ने उन्हें बताया कि तुम सब ईश्वर की प्रिय सन्तान हो और अपने रोगग्रस्त शरीरों के कारण ईश्वर के मातृ-हृदय को अधिक प्यारे हो। कोढ़ी उनके कामों में हाथ बंटाने लगे।

फादर दामियेन में संगठन और व्यवस्था की अद्भुत शक्ति थी। वे मेहनत से कभी मुंह नहीं मोड़ते थे। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट और तगड़ा था। उन्हें अपने कंधों पर शहतीर ढोने में शर्म नहीं आती थी। उन्होंने कोढ़ियों के लिए मकान बनाये,

गिरजे बनाये। बस्ती मे नालियां खोदीं, स्वच्छ पानी का इंतजाम किया। अनाथ बच्चो के लिए उन्होंने अनाथालय और स्कूल खोला।

वे निर्लिप्त भाव से काम करते जा रहे थे–भगवान का काम। एक पत्र में उन्होंने लिखा–"सांसारिक चिंताओ और सुखो से जितना ही निर्लिप्त होओगे, उतना ही यह अनुभव करोगे कि प्रभु ही श्रद्धालुओं की सच्ची सपत्ति है।"

सन १८८१ मे हवाई द्वीपों की महारानी मोलोकाई पधारी और फादर दामियेन के काम से बहुत प्रभावित हुई। उसने फादर को बहुत बड़ा खिताब दिया और साथ मे लाल रग की सोने की सलीब भेजी।

कुछ महीने बाद एक मित्र दामियेन से मिलने आया। उसने उनके कमरे के एक कोने में पड़ा एक छोटा-सा डिब्बा देखा, जिस पर धूल की तह जमी हुई थी। उसे खोला, तो उसमें वही खिताब वाली सलीब पड़ी हुई थी। हैरान होकर उसने फादर दामियेन से पूछा कि शाही खिताब की ऐसी उपेक्षा क्यों कर रखी है? "मै इसकी खातिर मोलोकाई नहीं आया था," फादर का सादा-सा जवाब था।

जब भी फादर दामियेन होनोलूलू जाते, उन्हें शाही मेहमान के रूप मे महल में ठहराया जाता। परंतु वहा भी वे अपना मोटा कंबल ओढ़कर फर्श पर ही सोते थे।

बारह साल तक उन्होंने कोढ़ियों की सेवा की। वे दिन-रात उन्हीं की देखभाल मे लगे रहे। वे उनकी भौतिक जरूरतों की पूर्ति करते, उनकी आत्माओं को शांति और समाधान देते। यदि उन्हें कोई दुःख था तो सिर्फ यही कि पूर्ण रूप से स्वस्थ होने के नाते वे कोढ़ियों से अलग पड जाते हैं, जबकि वे उनसे एकाकार होना चाहते थे।

आखिर, बारह साल की सेवा के बाद वह दिन आया, जब उन्होंने गर्म पानी में पाव डाला, तो उन्हे गर्माहट महसूस न हुई। हां, उन पर कोढ़ का आक्रमण हो गया था। अब वे कोढी थे। "भाइयो, अब मैं तुमसे भिन्न नहीं हूं।"...वे घबरा नहीं उठे। अपितु उन्होंने इसे ईश्वर का वरदान ही माना।

अब फादर दामियेन अधिक उत्साह से काम करने लगे; क्योंकि वे महसूस करने लगे थे कि शीघ्र ही वे काम करने में असमर्थ हो जायेंगे। अगले पाच साल तक वे लगातार काम करते रहे। आखिर १५ अप्रैल १८९९ को उनचास साल की अवस्था में वे ईश्वर को प्यारे हो गये।

कापते हाथों और दुःख से दरकते दिलों से कोढ़ियों ने उनका अतिम सस्कार किया। सबकी आंखों में आंसू थे। उनमे से एक रुदन-भरे कंठ से गा उठा :

रोशनी बुझ गयी है, सूरज डूब गया है।
हम सबको रात के अंधेरे में छोडकर!

❀ ❀ ❀



फ्रांस्वा मोरियेक

साल का पहला दिन

बचपन में भी मैं यह नहीं मानता था कि साल का पहला दिन दूसरे सब दिनों जैसा ही होता है। उस दिन मुझे सड़कों में से सुगंध-सी उठती मालूम होती थी, शहर पर छाये घने कुहरे में से रहस्यमय किरणें छन-छनकर आती-सी दिखती थीं। और आज भी मेरे मन को यह समझाने की कोशिश करना बेकार ही है कि मनुष्यों ने आपस में समझौता करके इस दिन को औरों से अलग चुन लिया है, बस और कुछ नहीं। मैं तो पाता हूं कि इस दिन पढ़ना-लिखना असम्भव है, काम-धाम करना असम्भव है क्योंकि कमरे में मैं अपने सामने एक अपरिचित वर्ष की लंबी, अवगुंठित आकृति को देखता हूं।

कहते हैं कि रोम का एक राजदूत संधि-विग्रह के संदेशों को अपने चोगे की चुन्नटों में छिपाकर रखता था। उसी तरह समूचे विश्व का, हममें से हर एक का भवितव्य इस बेशक्ल साल के लंबे लबादे की सलवटों में छिपा बैठा है।

उसमें युद्ध छिपा है कि शान्ति, यश कि अपयश—यह जानने की हमें उतनी चिंता नहीं होनी चाहिये। यह जानने की भी नहीं कि क्या हमारे जीवन की सबसे बड़ी साहस-यात्रा यानी हमारी मृत्यु इन्हीं आने वाले तीन सौ पैंसठ दिनों में से किसी दिन सुबह या सांझ को होने वाली है। क्योंकि जो सचमुच में महत्त्व की चीज़ है उसे यह लबादा भी नहीं छिपा सकता—और वह यह है कि इस गुमसुम मेहमान का सामना करने को हम कहां तक तैयार हैं। और यह बिल्कुल हम पर ही निर्भर है। हममें से हर एक के लिए यह अपनी ताकत आंकने का, अपने अंतःकरण की गहराई नापने का दिन होना चाहिये।

अधिकांश मनुष्य ऐसे होते हैं, जैसे उजड़ी हुई हवेलियां। मकान-मालिक छोटे-से कमरों में रहता है, बाकी खंडों पर ताला लगा देता है और उस तरफ कभी नहीं फटकता। लेकिन आज के दिन वह हिम्मत करके, दबे पांव उन अंधेरे कमरों में जाता है, झरोखे खोलकर देखता है कि सड़ांध कहां से आ रही है।

भगवान करे कि यह अज्ञात-अपरिचित नववर्ष हममे कोई कमजोरी न पाये। इस नववर्ष के अधखुले झोले मे कुछ चीजें कुलबुलाती, उचकती-झाकती दिख रही हैं। वे हैं आतंककारी खतरे, पतनकारी सुख-दुःख, विनाशकारी सफलताएं। हमारी ऐसी तैयारी होनी चाहिये कि सुख, दुःख, सफलता सबको स्वीकार करे–स्वीकार तो करें, परतु उनसे विदीर्ण न हो जायें। नये वर्ष की अगवानी का सबसे सरल और मेरे विचार से सबसे उपयुक्त तरीका है मनन करना। लेकिन बहुत लोग मनन से बहुत कतराते हैं।

आज मानव-समाज का बहुत बड़ा भाग–निरतर बड़ा होता हुआ भाग–अफीम खाकर मौत की छाह मे वेसुध बैठा है। इन अभागे इंसानो को नये साल की बिलकुल परवाह नहीं है। ये समय से कोई वास्ता नहीं रखते। ये मानो पलायन के पुजारी हैं। ये समय की गाड़ी से उतर गये हैं, जो हम सबको आगे ले जा रही है, और ऐसा मान बैठे है कि भवितव्यता की पकड़ से बच गये।

परंतु हममें से जो लोग अब भी आशान्वित हैं, वे बिना डरे इस झोली के खुलने की प्रतीक्षा करेंगे। इस झोली में जो कुछ कुलबुला रहा है, वह सुख हो या दुःख, उसका हम प्रेम से स्वागत करेंगे। हम तो एक ऐसा खेल खेल रहे हैं, जिसमें हम जीते बिना नहीं रह सकते। हमारे पास वह गुर है, जो हर हार को जीत में बदल डालता है। जीवन-खेल का विजयोपहार हमारी हथेली पर रख दिया गया है। वह है दैवी शाति, जो सब सुखों से बढ़कर है। खेल अभी शुरू भी नहीं हुआ, और हम जीत गये हैं।

फिर भी आज की रात, अज्ञात घटनाओं और आवश्यकताओं से घिरकर आते हुए इस नये वर्ष के स्वरूप पर चिंतन करना लाभप्रद होगा। यह हमारे लिए हितकर होगा कि हम बीते वर्ष के अपने जीवन पर दृष्टिपात करे, यह देखने के लिए कि वह हमें क्या नसीहत दे सकता है।

बारह महीनों में हमारे साथ जितना कुछ गुजरता है, वह सब गिनने बैठें, तो जिंदगी कितनी लंबी लगती है! कितनी आकस्मिक घटनाए, कितनी विपदाएं, शारीरिक खतरे, सफलता-विफलताएं, हृदय की अतल गहराइयों में खेले जाने वाले कितने नाटक! उन गहराइयों मे ऐसे तूफान भी उठे होंगे, जो हमारी चेतना की ऊपरी सतह को नहीं छू सके, जिन्हें भगवान ने बीच में ही शांत कर दिया। आइये, आज उस पाताल मे उतरने का साहस करे, जहां पराजित भावोद्वेग, काने-कुबड़े दैत्य और अधकुचली स्मृतियां सहमी-सिकुड़ी पड़ी हैं।

❀ ❀ ❀

ड्यूक आफ विंडसर



उस रात मैंने अपना भाग्य-लेख लिखा

आज जब यह कथा कहने के लिए मैं अपने अतीत पर दृष्टिपात करता हूं और उन द्रुतगामी घटनाओं का सिंहावलोकन करता हूं, जिन्होंने मेरे राज्य-शासन का असमय में ही अंत कर दिया, तो दो बातें मेरे स्मृतिपटल पर तीव्रता से उभर आती हैं। एक तो घटना-प्रवाह का क्षिप्र वेग और दूसरा, कोमल-व्यक्तिगत भावनाओं का दुर्दांत दमन। वह समस्त नाटक, विश्व की दृष्टि में एक दुःस्वप्न था, जो अचानक आरम्भ होकर दस ही दिन में अकस्मात् पटाक्षेप पर पहुंच गया।

४ दिसम्बर को जब मैं अपने किले में पहुंचा, तो ऐसा प्रतीत हुआ कि वह किसी संग्राम के प्रधान सेनापति का शिविर है—वैसा ही टेलिफोन का अनवरत क्रंदन तथा मोटर-साइकल-सवार दूतों का शोर। पहले जहां सब लोग मेरे विरोधी थे, अब वे मेरी दृढ़ता देखकर उत्सुक थे। मुझे अनेक लोगों ने सहानुभूति, नसीहत और सलाह से भरे पत्र मिल रहे थे। साम्राज्य के कोने-कोने से अत्यंत हृदयस्पर्शी संदेश तथा पत्र आ रहे थे। एक पत्र में एक आयरिश सामन्त ने अपनी तलवार मेरे चरणों में अर्पित करने की आज्ञा मांगी थी। वे मेरे लिए अपना तन मन और धन न्योछावर करने के इच्छुक थे। मुझे यह भी सूचना मिल चुकी थी कि घटनाओं के इस रुख से कुछ मंत्री भयभीत हो गये हैं। परन्तु मैं सहनशीलता की अंतिम सीमा तक पहुंच चुका था। बाल्डविन के लोकसभा के वक्तव्य से मेरी आशाएं धूल में मिल गयी थीं मेरी अब तक की सारी देशसेवा पर पानी फिर गया था।

मेरे समर्थकों का यह कथन सत्य हो सकता है कि जनमत मेरे पक्ष में था तथा मैं इशारे-भर से उसे अपने पक्ष में खड़ा कर सकता था। परन्तु जब मंत्रिमंडल ने रेडियो के द्वारा अपना पक्ष जनता के सम्मुख रखने की मेरी मांग को ठुकरा दिया, तो मैं उनके विपक्ष में किस मार्ग से बोल सकता था?

चर्चिल के प्रस्थान के बाद, आधी रात के निविड़ अंधकार में मैंने समस्या के विभिन्न अंगों को अपनी मानसिक तुला पर तौलना आरम्भ किया।

मुझे अच्छी तरह याद है वह दिन, जब वैलेस से मेरा प्रथम साक्षात्कार हुआ था। सन १९३१ की शीत-ऋतु की एक सध्या। मैं अपने एक मित्र के घर पर आमंत्रित था। वहा आये अनेक अतिथियों मे सिम्पसन-दंपति भी थे। मैंने उनसे बातचीत छेड़ने के लिए, साधारण औपचारिक प्रश्न किया—"हमारे ब्रिटिश मकान तो आपको शायद पसद नहीं आते होंगे। अमरीका की तरह उन्हें बिजली से गर्म रखने की व्यवस्था हमारे यहा नहीं है।"

मिसेज़ सिम्पसन की आखों में व्यंग्य की झलक-सी आयी और उसने कहा—"मुझे हार्दिक दुःख है, श्रीमन्। परतु आपने मुझे निराश किया है।"

"किस तरह?" मैंने पूछा।

"इंग्लैंड का हर आदमी, अमरीका से आयी हुई हर महिला से यही सवाल पूछता है। ब्रिटिश साम्राज्य के भावी सम्राट् से मैं किसी मौलिक प्रश्न की आशा रखती थी।"

कितना वाक्चातुर्य! मैं फौरन दूसरे लोगों से बात करने के बहाने वहां से खिसक गया। परतु उसके वे शब्द मेरे कानों मे बहुत दिनों बाद भी गूंजते रहे। इस प्रकार हमारा परिचय हुआ था। उसके बाद अगले वर्षों में हम अनेक बार प्रीतिभोजों और सप्ताहांत के स्नेह-सयोजनों में मिलते रहे। परंतु जिस दिन वह मेरे पिताजी के सम्मुख राजसभा में उपस्थित की गयी, वह दिन तो भुलाये नहीं भूलेगा। उसकी सहज अंग भंगिमा और मनोहारी गति पर तो मैं मुग्ध हो गया था।... और एक दिन मेरे जीवन मे उसका प्रमुख स्थान हो गया। बहुत दिनो तक तो शायद उसे मेरी इस भावना का आभास भी नहीं मिल पाया था।

धीरे-धीरे मैं उसे जीवन-सगिनी बनाने के स्वप्न देखने लगा। साथ ही उस स्वप्न की सिद्धि मे जो कठिनाइयां थीं, उनसे भी मैं पूर्ण परिचित था। राजवंशीय विवाह-विधान तथा मेरे स्वजनों के रूढ़िवादी विचार तो बाधक थे ही। फिर तलाकशुदा व्यक्ति के प्रति—चाहे वह निर्दोष ही क्यों न हो—राजदरबार का रुख अत्यंत अनुदार था। वैलेस को राजसभा मे उपस्थित होने की अनुमति किसी प्रकार भी नहीं मिल रही थी।

सिंहासनारोहण के बाद मैंने अनुभव किया कि अपने कार्यभार का वहन मैं तभी कर सकता हूं, जब वैलेस मेरी सहचरी हो। परतु मेरा यह स्वप्न कैसे पूर्ण होगा, यह मैं उस समय नहीं जानता था। पिताजी से इस विषय में चर्चा करने की मेरी इच्छा थी; परंतु उसका तो अवसर ही नहीं मिला।

१३ नवंबर की रात भी भुलायी नहीं जा सकती। मै विशाल साम्राज्य के अधिपति के दैनिक कार्यभार की थकावट से चूर होकर महल में आया था। मेरे मस्तिष्क मे उस समय यदि कोई विचार था तो वह था गर्म पानी से स्नान करके

स्फूर्ति पाने का। स्नानघर में घुसते ही मेरे व्यक्तिगत सचिव का जरूरी पत्र मिला। उसमें बताया गया था कि मेरे और वैलेस के संबंध को लेकर एक वैधानिक संकट उत्पन्न हो गया है। प्रधान-मंत्री ने हमारे विवाह को असंभव बनाने का निश्चय कर लिया है। यदि मैं प्रधान-मंत्री की इच्छा के अनुसार नहीं चलूंगा, तो वे त्यागपत्र दे देंगे, और इस समय नया मंत्रिमंडल बनाना संभव नहीं है। ..मैं क्रोध से तिलमिला उठा। "तो बाल्डविन मेरे प्रेम की परीक्षा लेना चाहते हैं .. वैधानिकता की पिस्तौल मेरे सिर पर तानकर वे मुझे वैलेस को छोड़ने की धमकी दे रहे हैं ..!" उन्होंने सचमुच मेरे आत्माभिमान पर चोट की थी, जिसे केवल कायर और बुजदिल ही शांति से सह सकते हैं।

वह रात आंखों में ही कटी। दूसरे दिन मैं वैलेस से मिला। पत्र उसे दिखाया। जब वह पढ़ चुकी, तो मैंने उसे अपनी ओर खींच लिया। उसके हाथ अपने हाथों में लेकर मैंने कहा—"वे तुम्हें मुझसे अलग करना चाहते हैं। कल ही मैं प्रधान-मंत्री से मिलूंगा; उन्हें साफ-साफ बता दूंगा कि अगर वे हमें विवाह करने की अनुमति नहीं देंगे, तो मैं सब-कुछ छोड़ दूंगा।"

"उतावली से काम मत करना," वैलेस ने कहा—"शायद कोई रास्ता निकल आये।"

"और कोई रास्ता है ही नहीं। इस चुनौती के भूत का सामना तो करना ही होगा, चाहे जैसे भी हो।"

अगले दिन मैं प्रधान-मंत्री से मिला। समस्त नम्रता और विनय से उन्होंने जो कुछ कहा, उसका सारांश यही था कि मुझे वैलेस और राजमुकुट दोनों में से किसी एक का त्याग करना ही होगा। मैं कैंटरबरी के आर्चबिशप से भी मिला, जो धार्मिक मामलों में सम्राट् के बाद सर्वोच्च सत्ता है। उनके साथ भी मेरा सैद्धांतिक संघर्ष हुआ।

कैसा विरोधाभास था! लोग मुझे वैलेस से अलग कर रहे थे—इसलिए नहीं कि मैं कोई जघन्य पाप कर रहा था, वरन इसलिए कि मैं एक सच्चे मनुष्य की भांति अपनी सर्वगुण-संपन्न प्रेमपात्री से पवित्रतम संबंध स्थापित करना चाहता था। प्रधान-मंत्री ने जो युक्तियां दीं, उन्हें उसी तर्क-मार्ग से आगे बढ़ावें, तो उनका यह निष्कर्ष निकलेगा कि उन्हें मेरे रखैल रखने में जरा भी एतराज नहीं होगा। गुप्त महल बाग की चाबी और चुने हुए परिचारक, मेरा चुपके छिपकर वहां जाना-आना—कितने हीन विचार थे! मैंने बाल्डविन से स्पष्ट कर दिया—"मैं वैलेस से विवाह करके ही रहूंगा। यदि सिंहासन पर रहते हुए मैं ऐसा कर सका, तो अच्छा है। परंतु यदि आप इस विवाह का विरोध करेंगे, तो मैं वैलेस की खातिर सिंहासन छोड़ना अधिक पसंद करूंगा।"

और इसके बाद बाल्डविन की राजनीतिक चालें, मंत्रिमंडल की गुप्त सभाएं, मेरा तथा वैलेस का अल्पकालीन वियोग, वैलेस पर अन्यायपूर्ण दबाव आदि घटनाएं तो विश्वविदित हैं। यहां तक कि उन लोगों ने वैलेस के मुंह से कहलवा दिया कि वह मुझसे किसी प्रकार का संबंध नहीं रखना चाहती, मुझसे दूर—बहुत दूर—चली जाना चाहती है। मैंने भी उत्तर दिया—"तुम कोई भी निर्णय करने में पूर्ण स्वतंत्र हो। तुम चाहे जहां जा सकती हो—चीन, लैब्रेडार या दक्षिणी सागर या जहा भी तुम चाहो। मगर तुम जहां भी जाओगी, मैं तुम्हारे पीछे आऊंगा।"

उफ!...मैं तेजी से चहल-कदमी करने लगा। कल की रात भी तो ऐसी ही विक्षुब्ध थी। रात के दो बजे मै महल में आया था। अभी सोने के कपडे पहन ही रहा था कि वाल्टर (वाल्टर मान्कटन) आया। उसने कागज के एक डिब्बे मे से दो गोलियां निकालीं और मेरी ओर बढ़ा दीं।

"क्या है, वाल्टर?"

"नींद की गोलियां, श्रीमन्; बहुत हल्की। मैंने सोचा, शायद आज रात आपको इनकी आवश्यकता पडे।"

कितना ममत्व था! मैंने सधन्यवाद वह डिब्बा ले लिया तथा दो गोलियां वाल्टर की ओर बढ़ाते हुए कहा—"और तुम भी स्वीकार करोगे वाल्टर कि इन गोलियों की जितनी आवश्यकता मुझे है, उतनी ही तुम्हें भी है।"

"आप ठीक फरमाते हैं।" वाल्टर मुस्कराते हुए बोला और फौरन उन्हें निगल गया। मैंने गोलियां नहीं खायीं और सारी रात निर्विघ्न सोया।

* * *

परतु आज की रात! यह तो आत्मनिर्णय की महारात्रि है। चहल-कदमी करते-करते मुझे अपने विगत जीवन की चक्करदार तथा जटिल पगडंडियों का स्मरण आने लगा।

यह सघर्ष में अकेला ही लड़ रहा था। प्रेस की सहायता लेने से मैंने इन्कार कर दिया था। सकट के आरभ से ही मेरी यह कोशिश रही थी कि विवाद बढ़ने न पाये, राष्ट्रीय एकता भंग न हो तथा राजपद को सघर्ष से ऊपर रखा जाये। साथ ही मुझे इस बात का भी डर था कि कहीं इस सारी दलबंदी और सघर्ष का शिकार वैलेस को न बना दिया जाये। मेरे अंतरग मित्र, दैनिक 'एक्स्प्रेस' के मालिक मैक्स बीवरब्रुक अपने पत्र में वैलेस का वक्तव्य प्रकाशित करना चाहते थे। यह तो वैलेस के लिए साक्षात् अग्निपरीक्षा थी; और मैं अपने प्राणप्रिय व्यक्ति को ऐसी परिस्थिति में डालना हर्गिज सहन नहीं कर सकता था। मैक्स का कहना है कि मेरी इस जिद के कारण उनका पत्र वैधानिक सकट के उन दिनों में सर्वथा प्रभावशून्य रहा।

मैक्स के अतिरिक्त विम्न में दूसरे भी ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे, जो मेरी अनुमति मिलते ही एक सुव्यवस्थित मोर्चा बना सकते थे। वास्तव में, "राजदल" नामक एक संस्था बन भी गयी थी। यद्यपि उसकी उत्पत्ति, संघटन और नेतृत्व के विषय में कोई कुछ नहीं जानता था· परंतु उसका गंभीर स्वर बकिंघम प्रासाद के बाहर चिल्लाये जाने वाले इन नारों से स्पष्ट था–"राजा का साथ दो", "भगवान राजा को बाल्डविन से बचाये।"

यहां तक कि मेरे कट्टर विरोधी कैंटरबरी के आर्चबिशप ने भी इस स्थिति को अनुभव किया था, जैसा कि उनकी डायरी से स्पष्ट है। आर्चबिशप के मत में यह दल उन नवयुवकों का था, जो इस संकट को बिलकुल सीधे रूप में देखते थे। इनका तर्क था कि राजा ठीक ही तो कर रहा है: यदि वह अपनी प्रेयसी से विवाह-सूत्र में बंधना चाहता है, तो इसमें आपत्ति की बात क्या है?

यों इसमें तनिक भी संदेह नहीं था कि मैं चाहता, तो मुझे काफी प्रबल समर्थन मिल जाता। परंतु समग्र राष्ट्र और ब्रिटिश साम्राज्य का समर्थन पाना टेढ़ी खीर थी। यदि मैं जिद पर अड़ा रहूं, तो मेरे मित्रों को कामनवेल्थ के कोने-कोने में जाना होगा, मेरे समर्थकों का दल बनाना पड़ेगा, और यह गृहयुद्ध का सूत्रपात होगा। गृहयुद्ध तो सब सदयों में अत्यंत हेय होता है–उससे उत्पन्न होने वाली उत्तेजना अत्यंत उग्र होती है, उसकी घृणा चिरस्थायी। और वह गृहयुद्ध तो और भी विनाशकारी होता है, जो शस्त्रों से नहीं, शब्दों से लड़ा जाये। ब्रिटेन का राजमुकुट साम्राज्य की स्वेच्छा-प्रेरित एकता का सजीव प्रतीक है। वही उस एकता का प्रेरणा-स्रोत है। उस राजमुकुट की सारी मान-महिमा मिट्टी में मिल जायेगी, यदि उसको धारण करने वाला व्यक्ति एक खंडित और अंतर्विभक्त राष्ट्र का शासक हो। और मैं पल-भर भी ऐसा सम्राट् नहीं रहना चाहता था, जो सारे साम्राज्य को स्वेच्छा से स्वीकृत न हो।

उस रात मैंने अपनी अंतरात्मा से प्रश्न किया–"क्या वैलेस और मैं इस परिस्थिति में सुख की आशा कर सकते हैं?" उत्तर "नहीं" में मिला। मैंने अनुभव किया कि मैं उस स्थितिस्थल पर पहुंच चुका हूं, जहां घटनाक्रम को बनाना और संकट को टालना मनुष्य के बस-बूते के बाहर हो जाता है; यदि कुछ भी समय मैंने गंवाया, तो मुझे भयंकर वात्याचक्र का सामना करना पड़ेगा।

इसलिए मैंने आत्मविश्वास और शांति के साथ, फिर भी हार्दिक दुःख के साथ इस सारे वैधानिक संकट को एकबारगी समाप्त कर देने का निश्चय कर डाला। मैं गौरवपूर्वक अपने राज्यकाल का अंत कर दूंगा; अपने अनुज को अपना उत्तराधिकारी घोषित करके इस समस्या का समूल उच्छेद कर दूंगा।

ये थे वे सिद्धांत, जिन्होंने मुझे इस निर्णय पर पहुंचाया। उन लोगों का मैं तीव्र

प्रत्याख्यान करता हूं, जो कहते हैं कि प्रेम और कर्तव्य के संघर्ष में मैंने प्रेम का वरण किया। निस्संदेह वैलेस से मैंने विवाह इसलिए ही किया कि मैं प्रेमपंथ का राही था। परंतु राज्य-सिंहासन का त्याग मैंने इसलिए किया कि मैं कर्तव्यपथ से डिगना नहीं चाहता था। राजमुकुट का परित्याग मैंने इतना शीघ्र इसलिए नहीं कर दिया कि उसके मूल्य का मुझे ज्ञान नहीं था; अपितु वह मेरी दृष्टि में इतना अमूल्य था कि उसके आगे आत्माहुति अर्पित करना ही मुझे उचित जंचा।

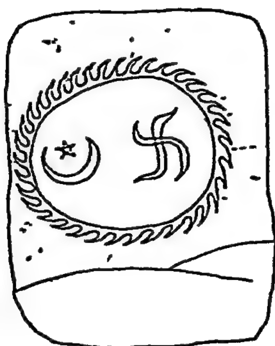
आखिरकार रात बीती, सवेरा हुआ। मैंने प्रधान-मंत्री को अपने निर्णय की सूचना भेज दी।

अगले दिन मेरा कक्ष मंद मर्मर से गुंजित था। समस्त राजकीय पत्रों पर हस्ताक्षर करके, मैंने अपने भाइयों के लिए कुर्सी सरका दी। अपने पदानुकूल क्रम से उन्होंने भी हस्ताक्षर किये। वह दृश्य नितांत हृदयस्पर्शी था। मैं उस तैराक की तरह, जो अथाह सागर के तल को स्पर्श करके निरायास ऊपर आया हो, कक्ष से बाहर निकल आया—उषा के उन्मुक्त समीरण में श्वास लेने।

❀ ❀ ❀

लगभग इन्हीं दिनों मुझे एक स्वप्न आया, जिसने मुझे आतंकित भी किया और उत्साहित भी। रात थी, कोई अनजान जगह थी और मैं बड़ी जोरदार हवा के विरुद्ध बहुत धीमे-धीमे, बहुत कष्ट से बढ़ता जा रहा था। चारों ओर भयंकर कुहरा मंडरा रहा था। मैंने हाथों की प्याली-सी बनाकर एक छोटे-से चिराग को ओट दे रखी थी। चिराग के किसी भी क्षण बुझ जाने का खतरा था। मैं चिराग को जलता रखूं, इसी पर सब-कुछ निर्भर था। सहसा मुझे अनुभव हुआ कि कोई चीज मेरे पीछे आ रही है। मैं मुड़ा और मैंने देखा—एक काली, दैत्य-सी आकृति मेरा पीछा कर रही है। लेकिन उसी समय, आतंकित होते हुए भी, मैं जानता था कि इस अंधकार और अंधड़ के बीच मुझे यह चिराग जलता रखना होगा—चाहे कितने ही खतरे क्यों न आयें। नींद खुलते ही मैं जान गया कि वह आकृति तो घुमड़ते हुए कुहरे पर मेरी अपनी ही परछाईं थी, जिसे मेरे हाथ के छोटे-से चिराग ने जन्म दिया था। मैं यह भी समझ गया कि यह छोटा चिराग मेरी ही अंतरात्मा है, जो मेरी एकमात्र ज्योति है। मेरा विवेक ही मेरी एकमात्र संपत्ति है, मेरी सबसे बड़ी संपत्ति। अंधकार की शक्ति के सामने वह एकदम दुर्बल है और नश्वर भी, फिर भी वह ज्योति है—मेरी एकमात्र ज्योति।

—कार्ल गुस्टाव यूंग



डा० सैयद महमूद

जब जागे तभी सवेरा

मेरे साथ जर्मनी में एक ऐसी घटना घटी, जिसने मेरी जिंदगी का रुख ही बदल दिया। जब मैंने घटना गांधीजी को सुनायी, तो उन्होंने कहा कि इसे बार-बार और हर जगह सुनाइये और इसे सुनाते हुए कभी न थकिये।

जब मैं जर्मनी पहुंचा, तो प्रोफेसर स्मिथ से मेरी मुलाकात हुई। वे बहुत बड़े विद्वान थे। उन्होंने हिन्दू संस्कृति और धर्म के बारे में मुझसे अनेक प्रश्न पूछे। मैं उनमें से किसी एक भी सवाल का जवाब नहीं दे पाया, तो डा० स्मिथ बड़े हैरान हुए। मुझे खयाल आया कि मैं बनारस से आया हूं, इसीलिए शायद प्रोफेसर साहब मुझे हिन्दू समझ रहे हैं। मैंने उनसे कहा कि मैं हिन्दू नहीं हूं। उन्होंने कहा—"मैं अच्छी तरह जानता हूं कि आप मुसल्मान हैं। आपका नाम महमूद है। आप सैयद खानदान के हैं। मगर क्या आप अरब से आकर हिन्दुस्तान में आबाद हो गये हैं?" इस पर मैंने जवाब दिया—"नहीं, पुश्तों से हमारे आबा व अजदाद हिन्दुस्तान में रहते आये हैं और मैं भी हिन्दुस्तान में ही पैदा हुआ हूं।"

"क्या आपने गीता पढ़ी है?" उन्होंने सवाल किया। मैंने कहा—"नहीं।" उनकी हैरानी बढ़ती जा रही थी। और मैं उनकी हैरानी और सवालों से परेशान भी था, शर्मिंदा भी। उन्होंने फिर पूछा—"मुमकिन है, आप अपवाद हों। या क्या सब पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों का यही हाल है?" मैंने उन्हें बताया कि ज्यादातर हिन्दुस्तानियों का, चाहे वे मुसल्मान हों या हिन्दू, यही हाल है। हम एक-दूसरे के धर्मों के बारे में बहुत कम जानते हैं। इस पर वे सोच में पड़ गये।

इस घटना ने मेरी जिंदगी पर भी बहुत गहरा असर डाला। मैंने सोचा, वाक़ई हम हिन्दुस्तानियों की यह कितनी बड़ी बदकिस्मती है कि हम सदियों से एक दूसरे के साथ रहते आये हैं, पर एक दूसरे के धर्म, सभ्यता और संस्कृति तथा रस्मो-रिवाज से कितने अनभिज्ञ हैं! और मैंने जर्मनी में रहते हुए ही हिन्दू धर्म और खास तौर पर गीता का अध्ययन आरंभ कर दिया।



दिङ्नाग के संस्कृत रूपक की कथा सत्यकाम विद्यालंकार द्वारा प्रस्तुत

कुंदमाला

लोकनिंदा के भय से राम ने सीता को अयोध्या से भेज देने का निश्चय तो कर लिया; परतु इसे संभव बनाने का कोई उपाय उन्हें नहीं सूझा। सयोग से उसी समय सीता के मनमें वन-सौंदर्य को देखने की इच्छा जागी। वनवास की मधुर स्मृतियों ने एक बार फिर उन्हीं वनवीथियों में विहार करने का कौतुक जगा दिया।

राम ने अवसर का लाभ उठाया। लक्ष्मण को आदेश दे दिया कि सीता को वनदर्शन कराने के बाद किसी आश्रम के निकट छोड़ आओ। लक्ष्मण अपने पूज्य अग्रज की आज्ञा न टाल सके।

सारथि सुमंत्र ने रथ को गंगा-तट के सघन वनों की ओर मोड़ दिया। गहन तरुलता-पल्लवों से अवरुद्ध एक स्थल पर पहुंचने पर लक्ष्मण ने सीता से कहा—"आर्ये, अब यह वनमार्ग बड़ा संकीर्ण हो गया है। रथ आगे न जा सकेगा। आइये, यहीं उतर जायें।"

सुमंत्र ने रथ रोक लिया। रथ के घोड़े विश्राम के लिए कुछ दूर चले गये। लक्ष्मण के मन में राम का आदेश गूंज रहा था; मगर वाणी उसे अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो रही थी। सीता को सामने देखकर उन्हें यही लग रहा था, जैसे वे घर में पली सर्वथा आश्वस्त हरिणी को कसाईखाने की ओर ले जा रहे हैं।

कुछ देर दोनों मौन रहे। सीता ने ही मौनभंग करते हुए कहा—"लक्ष्मण, मैं तो थक गयी हूं। पग आगे नहीं बढ़ते। परतु गंगा-दर्शन किये बिना नहीं लौटूंगी।

बतलाओ तो, अभी गंगा कितनी दूर है?"

"भाभी, घबराइये नहीं। भगवती भागीरथी अब निकट ही हैं।"

सीता बोलीं—"ठीक है, लक्ष्मण! अब तो गंगा की लहरों के जल-कणों से भीगी हवा का स्पर्श भी अनुभव हो रहा है।"

"किंतु भाभी, गंगा का यह तट बडा ढालू है। पैर अच्छी तरह जमाकर धीरे-धीरे उतरियेगा।"

"ठहरो, लक्ष्मण। कुछ देर इस घनी छाया मे विश्राम कर लं। मैं अत्यत परिश्रात हो गयी हूं।"

दोनों उस घनी छाया में बैठ गये।

थोड़ी देर बाद लक्ष्मण अकस्मात् ही सीता के चरणों में सिर नवाकर बोल उठे—"भाभी! देर से मैं एक बात कहना चाह रहा हूं। हृदय पर पत्थर रखकर उसे सुनने को तैयार हो जाइये।" सीता विचित्र सभ्रम में पड गयीं। बोलीं—"आर्यपुत्र कुशल तो हैं?"

"इस परिस्थिति में कुशलता कैसे सभव है?" लक्ष्मण ने गहन वन की ओर सकेत करते हुए कहा।

"क्या, मा कैकेयी द्वारा पुनः वनवास का आदेश हो गया है?"

"वनवास का आदेश तो हुआ है, परतु मा की ओर से नहीं।"

"फिर किसकी ओर से?"

"आर्य अग्रज की ओर से।"

सीता कुछ न समझ सकीं। चकित होकर उन्होंने पूछा—"कैसा आदेश?"

"भाभी, आर्य के आदेश को व्यक्त करने का ही प्रयास मैं कर रहा हूं। किंतु वाणी ने हृदय में गाठ-सी बाध दी है। अदर की बात बाहर नहीं निकल पाती।"

सीता समझ गयीं। बोलीं—"तो वनवास का आदेश मेरे लिए हुआ है?"

"आपके लिए ही नहीं, अपने लिए भी।"

"वह कैसे?"

"आर्य का भव्य राजप्रासाद भी अब वन-सदृश ही हो जायेगा। आमोद-प्रमोद एवं राग-रग का स्थान यज्ञ-याग ले लेंगे।"

कुछ-कुछ स्थिरमना होते हुए सीता ने कहा—"सब कुछ स्पष्ट रूप से कहो लक्ष्मण! जो-जो आदेश है, सब कह दो।"

लक्ष्मण बोले—"भाभी! यही सच है कि पूज्य भैया ने लोकनिंदा के भय से आपका परित्याग कर दिया है। मुझे भी आदेश है कि आपको छोडकर अयोध्या लौट जाऊं।"

सीता यह परित्याग-वार्ता सुनकर अचेत हो गयीं। जब मूर्च्छा टूटी, तो उन्होंने लडखडाते शब्दों में पूछा—"पर मेरा अपराध? .."

"आपका कोई अपराध नहीं!"

"तो क्या निरपराध ही दंडभागिनी बन गयी मैं!" लक्ष्मण चुप रहे। सीता पुनः बोलीं—"मेरे लिए कोई संदेश है उनका?"

"हां, उन्होंने कहा है:

तुल्यान्वयेत्यनुगुणेति गुणोन्नतेति दुःखे सुखे च सुचिरं सहवासिनीति।
जानामि केवलमहं जनवादभीत्या सीते! त्यजामि भवतीं न तु भावदोषात्।"

[तुम समान कुल की हो, मेरे लिए अनुरूप हो, उत्तम गुणों वाली हो, चिरकाल से मेरे सुख-दुःख की सहभागिनी हो—यह सब मैं जानता हूं। फिर भी तुम्हें छोड़ रहा हूं तो केवल लोकनिंदा के भय से, न कि भावनाएं दूषित हो जाने से।]

"कुछ और भी कहा हो, तो वह भी कह दो लक्ष्मण! मैं सुन रही हूं।"

"हां भाभी, और भी कहा है:

त्वं देवि चित्तनिहिता गृहदेवता मे स्वप्नागता शयनमध्यसखी त्वमेव।
दारान्तराहरणनिःस्पृहमानसस्य यागे तव प्रतिकृतिर्मम धर्मपत्नी।"

[देवि! तुम्हीं मेरे मन में समायी हो। तुम्हीं मेरी गृहलक्ष्मी हो। मेरी स्वप्न-सहचरी भी एकमात्र तुम्हीं हो। तुम्हारी अनुपस्थिति में तुम्हारी प्रतिमा ही मेरे यज्ञकार्य में समभागिनी होगी। मैं किसी भी और स्त्री का विचार पत्नी-रूप में मन में नहीं ला सकता।]

राम का यह संदेश सुनकर सीता कुछ आश्वस्त-सी हुई। लक्ष्मण ने सीता से पूछा—"आप भी आर्य के लिए कोई संदेश दीजिये।"

सीता ने कहा—"लक्ष्मण! मेरी ओर से उनके चरण छूकर कहना कि आपकी सीता वन के हिंस्र जंतुओं से घिरी आपके अनुग्रह की प्रतीक्षा करेगी। उसे भुला न दें...और कहना कि उस अभागिन के लिए अपने धर्म-पालन से विमुख न हों... और अपने शरीर को स्वस्थ रखने में सावधान रहें।"

"कुछ और भी कहना हो, तो कहिये भाभी।"

"हां, यह भी कह देना कि उस तपोवनवासिनी ने बद्धांजलि होकर प्रार्थना की है कि मैं परित्यक्ता हूं, तो भी चिरपरिचित हूं और अब तो अनाथ भी हूं—इसी नाते कभी-कभी मेरा स्मरण कर लिया करें...मैं इसी से कृतार्थ हो जाऊंगी।"

लक्ष्मण को स्तब्ध-से, हतप्रभ-से खड़े देख सीता ने कहा—"वत्स, सूर्य अस्त होने को है। बस्ती यहां से दूर है। जाओ, अब गहन वन में तुम्हारा देर तक रुकना ठीक नहीं।"

अंतिम प्रणाम कहकर लक्ष्मण ने जाते-जाते बद्धांजलि निवेदन किया—"भाभी! इस असीम दुःख को असह्य जानकर कहीं मृत्यु का आह्वान न कर लीजियेगा। इक्ष्वाकु-वंश की धरोहर आपके पास है, उसकी रक्षा कीजिये।"

सीता की आंखें आंसुओं से भर गयीं। लक्ष्मण दिशा-विदिशा के लोकपालों से सीता की रक्षा की प्रार्थना करने के बाद वापस लौट चले।

सीता एकाकी रह गयीं। हृदय का भय क्रंदन में फूट पड़ा। पास ही वाल्मीकि का आश्रम था। गंगा-तट से वापस आते आश्रमवासियों के मुख से अरण्य-रोदन का समाचार सुनकर मुनि वहां आये और सीता को आश्रम लिवा ले गये। मार्ग में भागीरथी की निर्मल जलधारा मिली। उसे प्रणाम करके सीता ने संकल्प किया :

"भगवति भागीरथि! यद्यहं सुखेन गर्भमभिनिर्वर्तयामि, तदा तव दिने-दिने सुग्रथितया कुन्दमालयोपहारं करिष्यामि।"

[हे भगवती भागीरथी! यदि मैं आपकी अनुकंपा से सकुशल माता बनी, तो संकल्प करती हूं कि प्रतिदिन कुंदपुष्पों की माला गूंथकर आपको अर्पित किया करूंगी।]

वाल्मीकि आश्रम में सीता ने दो पुत्रों को जन्म दिया। महर्षि ने उनका नाम लव और कुश रखा। सीता अपने संकल्प के अनुसार प्रतिदिन एक कुंदमाला आश्रम की समीपवर्तिनी गंगा की निर्मल जलधारा में प्रवाहित करती रहीं।

* * *

अनेक वर्ष बाद एक दिन वाल्मीकि-आश्रम के निकट से जाते हुए एक ऋषि ने बतलाया कि नैमिषारण्य में सम्राट् राम के अश्वमेध यज्ञ की तैयारियां हो रही हैं, यज्ञ में नाना देशों के ब्राह्मण एवं क्षत्रिय पधार रहे हैं। तभी राम का दूत मुनि वाल्मीकि को आमंत्रित करने के लिए आश्रम में आया। आश्रम से अनेक तपस्वी और मुनि भी यज्ञ में भाग लेने के लिए नैमिषारण्य गये।

वहीं राम और लक्ष्मण भी आये हुए थे। सीता-वियोग के संताप से राम बहुत दुःखी थे। जानकी-परित्याग के पश्चात्ताप से उनकी आत्मा स्वयं उन्हें धिक्कार रही थी। परित्यक्ता सीता के वनवास का स्मरण करके वे स्वयं सोचने लगे :

"पातयति सा क्व दृष्टिं कस्मिन्नासाद्य चित्तमाश्वसिति।
जीवति कथं निराशा श्वापदभवने वने सीता॥"

[आह! सीता की न जाने क्या दशा होगी? हिंस्र जंतुओं से घिरे वन में न जाने वह कैसे रहती होगी? किससे मिलकर धीरज बांधती होगी?]

अगले ही क्षण शीतल मलय-समीर ने उनका स्पर्श किया, तो राम कह उठे :

"मुक्ताहारा मलयमरुतश्चन्दनं चन्द्रपादा
सीतात्यागात्प्रभृति नितरां तापमेवावहन्ति।
अद्याकस्माद्रमयति मनो गोमतीतीरवायु-
र्नूनं तस्यां दिशि निवसति प्रोषिता मा वराकी॥"

[सीता-परित्याग के बाद से आज तक शीतल मुक्ताहार, मलय-पवन, चंदन तथा चंद्र-किरणों ने भी सदा संताप ही दिया। किंतु आज क्यों गोमती-तट का यह आर्द्र

पवन मुझे शांति दे रहा है? निश्चय ही यह पवन सीता को स्पर्श करके आ रहा है। शायद उस तापसी का इसी नदी-तट पर निवास हो।]

विरही राम का मन इसी ऊहापोह में व्यस्त था। लक्ष्मण ने उन्हें मार्ग की विषमता का स्मरण दिलाते हुए कहा—"भैया, नदी की यह ढाल बडी गहरी है। सावधानी से चलियेगा।"

राम सावधान हो गये। लक्ष्मण ने फिर कहा—"देखिये भैया, नदी के रेतीले तट पर मनुष्यों के पदचिह्न अंकित हैं। किसी ने तटवर्ती लताओं के फूलों को देवपूजा के लिए बीन लिया है।"

थोडी देर में लक्ष्मण ने नदी की धारा में प्रवाहित होता एक पुष्पहार देखकर कहा—"देखिये, नदी की लहरों में पडी यह कुंदमाला सर्पिणी की तरह बल खाती बह रही है!"

संयोगवश वह कुंदमाला नदी-प्रवाह में बहती-बहती उसी स्थान के पास आकर रुक गयी, जहां राम बैठे थे। राम तो उस पुष्पहार को देख ही रहे थे, परंतु लक्ष्मण ने उसे उठाकर राम को देते हुए कहा—"अवहितं प्रेक्षणीया विरचना!" (भैया, इस हार की गुंथाई कितनी सुंदर है, तनिक देखिये तो।)

राम माला हाथ में लेकर अनायास ही रोमांचित हो उठे। उसे एकटक देखते हुए कहने लगे—"वत्स, दृष्टपूर्वमिदं कुसुमरचनाविन्यासकौशलम्!" (वत्स, ऐसा सुंदर पुष्परचना-विन्यास मैंने अवश्य पहले भी देखा है।)

"कहां देखा है?"

"ऐसे मोहक विन्यास की संभावना अन्यत्र कहां होगी?" राम ने पुरानी यादों में डूबते हुए कहा।

"किससे अन्यत्र?......भाभी से?"

"और क्या!"

"ईश्वर का खेल भी विचित्र है! चलिये भैया, चलें। गोमती-धारा के साथ चलते हुए देखें, यह कुंदमाला कहां से आयी?" लक्ष्मण ने सुझाया। राम मान गये। वे छोटे भाई के मार्गदर्शन को स्वीकार कर साथ-साथ चल पडे। थोडी दूर जाकर राम ने लक्ष्मण से पूछा—"क्या इसी स्थान पर महर्षि वाल्मीकि का आश्रम है?"

"आपको इसका आभास कैसे हुआ?"

राम ने बताया:

"असौ तनुत्वादवधानदृश्या दिशः समाक्रामति धूमलेखा।
आकृष्यमाणा मृदुनानिलेन श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति सामनादः॥"

[ध्यान से वहां देखो! यज्ञाग्नि से उत्पन्न पतली-सी धूमलेखा मृदु पवन से इधर-उधर खींची जाती हुई आकाश में फैल रही है। और सुनो, आश्रम से उठते

साम-गान के मोहक स्वर मन को आनंद-विभोर करते हुए कर्ण-कुहरों में प्रवेश कर रहे हैं।]

लक्ष्मण कुछ पग आगे बढ़कर नदी-तट पर कुछ देखकर सहसा रुक गये। राम ने पूछा—"वत्स, तुम यहां अचानक रुककर एकटक क्या देख रहे हो?"

"भैया, मैं इन बालुका-कणों में अंकित ऐसे चरण-चिह्न देख रहा हूं, जिनमें नितांत सुकुमारता झलकती है। ऐसे सुकुमार पग केवल स्त्री के ही होने संभव हैं।" लक्ष्मण बोले।

"स्पष्ट क्यों नहीं कहते कि तुम विरहिणी सीता के पदचिह्न देख रहे हो?" राम ने कहा। उन्होंने भी वह चरण-पंक्ति देखी। उन्होंने देखा कि उन पदचिह्नों में वैसे ही रेखाकमल बने हैं, जैसे किसी महारानी के पैरों में होते हैं।

लक्ष्मण ने कहा—"चलिये, इन पदचिह्नों पर चलते हुए हम आश्रम की ओर चलें। भाभी अवश्य ही समीप ही कहीं होंगी।"

दोनों भाई आश्रम की ओर बढ़े। उधर उस समय तक सीता उपासनादि नित्य-कर्मों से निवृत्त होकर अतिथि-जनों के सत्कारार्थ फूल चुनने आश्रम से वन की ओर चल पड़ी थीं। कुछ दूर जाने के बाद वे एक अत्यंत रमणीय स्थल पर पहुंचीं, जहां से घने लता-कुंजों के पीछे से पदचाप सुनाई दी और किसी का धीर-गंभीर स्वर भी उनके कानों में पड़ा।

सीता उस ध्वनि को सुनकर पुलकित हो उठीं और इस पर उन्हें स्वयं विस्मय हुआ। किसी पर-पुरुष का स्वर उन्हें आज तक रोमांचित न कर सका था। मन में शंका उठी कि कहीं वही निष्ठुर प्राणनाथ तो नहीं आ गये? वह उन्हें देखने को उतावली हो उठीं। लज्जा और अभिमान ने आड़े आना चाहा। लेकिन चपल आंखें न मानीं। दृष्टिपात हो ही गया। देखा, वही थे। पहला ही विचार मन में यह आया कि कितने दुबले हो गये हैं! कई भाव एक साथ उमड़ पड़े। चिरपरिचय का अनुराग जागा। सुंदरता देख, लालसा जागी। मेरे स्वामी हैं, यह सोच गर्व भी हुआ। कुश-लव के पिता हैं, इस अनुभूति से गृहिणी-भाव भी उभरा। इन्होंने मुझे अपराधिनी ठहराया, यह सोचकर लज्जा भी हुई। उस एक क्षण ने सीता को कितनी ही भाव-तरंगों में बहा दिया। उसने सुना, लक्ष्मण राम से कह रहे थे—"भैया, आप इतने चुप क्यों हो गये? आंखें क्यों भर आयीं? इतने विषाद में क्यों डूब गये?"

"लक्ष्मण, इस एकांत विपिन-प्रदेश, तरुछाया और विस्तीर्ण बालुका-तट को देखकर वनवास के बीते दिनों की याद आ गयी!"

सीता ने भी राम की यह बात सुनी। स्वगत कहा—"वनवास तो याद आया, किंतु वनवासिनी का स्मरण नहीं किया नाथ ने!"

लक्ष्मण ने कहा—"वनवास के दुःख-भरे दिनों की याद छोड़ ही दीजिये भैया!"

राम बोले—"ऐसा न कहो लक्ष्मण! वह वनवास तो बड़ी ही मधुर स्मृतियों से भरा हुआ है। मुझे याद आ रहे हैं वे दिन—

किसलयसुकुमारं पाणिमालम्ब्य देव्याः
विविधरतिसखीभिः संकथाभिर्दिनान्ते।
चरणगमनवेगान्मन्थरस्य स्मरामि
सुतपयसि तटिन्याः सैकते चङ्क्रमस्य॥"

[जब मैं सीता के किसलय-सुकुमार हाथ पकड़कर प्रेमालाप करते हुए गोदावरी के तट पर धीरे-धीरे टहला करता था और हमारे पदचापों से रेत पर गहरी पद-पंक्तिया अंकित हो जाती थीं।]

राम की बात सुनकर सीता ने मन में कहा—"आर्यपुत्र! इस प्रसग को छेड़कर मुझ दुखियारी को और दुःखी करने से क्या लाभ?" तभी राम के मुख से आह के साथ ये शब्द निकले—"वनवास की साथिन! अब तुम कहा हो?"

राम को शोक-विह्वल देखकर लक्ष्मण ने धीरज बंधाया—"भैया, विनती करता हूं कि अब भाभी के लिए शोक न करें।"

"शोचनीया वैदेही का शोक न करूं, तो क्या करूं लक्ष्मण!"

राम के मुख से अपना नाम सुनकर सीता फिर चौंक उठीं। मन-ही-मन उत्तर दिया—"आर्यपुत्र, ऐसा न कहिये! अब मैं शोचनीय नहीं रही। जिस नारी के विरह में प्रेमी पति शोक-निमग्न हो जाये, वह कभी शोचनीय नहीं हो सकती।"

राम पुनः लक्ष्मण से कहने लगे—"वत्स, सीता कहां है, इसका कुछ पता लगा सकते हो?"

"दिन ढलने पर प्रिय-समागम की निषेधाज्ञा पाकर, अकेली चक्रवाकी जहां प्रभात-प्रतीक्षा में रहती है, वहीं सीता भी होंगी।" सीता ने मन-ही-मन उत्तर दिया।

लक्ष्मण बोले—"नहीं भैया, सीता के निवास-स्थान का पता लगाना अब दुष्कर ही प्रतीत होता है।"

यह सुनकर राम की आंखों से अश्रुधारा बह निकली। रोते-रोते वे बोले—"हाय! मैंने यह क्या किया? चिरकाल से फूलते-फलते रघुकुल को अपने हाथों नष्ट कर डाला!"

सीता भी राम का विलाप सुनकर अधीर हो उठीं। उनके मन में आया कि आगे बढ़कर प्राणप्रिय के आंसू पोंछ दें। परतु साहस न हुआ। जनापवाद की शंका दीवार बनकर खड़ी हो गयी। फिर यही निश्चय किया कि शीघ्र ही यह स्थान छोड़कर चली जाऊं; मगर लौटने को भी पग नहीं उठे। अंत में विवश हो लौटने का साहस बटोरा। सोचा, अकस्मात् कोई ऋषि इधर आ गये, तो क्या कहेंगे! कुश-लव का

स्मरण हो आया। सीता भारी मन से लौट पड़ीं।

उस समय तो सीता लौट गयीं, परंतु बाद में महर्षि वाल्मीकि से यह वरदान पाकर कि तुम तो राम के दर्शन कर सकोगी किंतु राम तुम्हें नहीं देख सकेंगे, वे पुनः उन्हीं वनप्रांतों में राम के दर्शनार्थ आती रहीं।

एक दिन शोक-विह्वल सीता जलाशय-तट पर बैठी थीं। कुछ ही दूरी पर राम लक्ष्मण के साथ थे। जल पीने की इच्छा से राम जलाशय पर आये। वहा जल मे सीता की छाया देखकर हर्ष-विस्मित स्वर से बोल उठे—"सीता यहां है!" राम उस ओर अग्रसर भी हुए, परंतु तब तक छाया दूर हो चुकी थी।

सीता सोच रही थीं—"स्वामी मेरी परछाईं तो देख पाते हैं. पर मुझे नहीं देख पाते!" महर्षि के वरदान का ही यह चमत्कार था। सीता वहा से हट गयीं, तो छाया भी न रही। राम वहां छाया को न देख मूर्च्छित हो गये।

सीता का मन मूर्च्छित राम के पास जाने को अधीर हो गया। मन मे कई शंकाएं जागीं। परंतु भावपरवश सीता अपने को न रोक सकीं। देवताओं मे क्षमा मागते हुए उन्होंने अचेत पड़े स्वामी के चरण छुए, उनका आलिंगन किया।

सीता का स्पर्श पाकर राम की मूर्च्छा टूट गयी। रोमाचित हुए उन्होंने अनुरोध किया—"गाढमालिंग वैदेहि!" (मुझे प्रगाढ़ आलिंगन में बाध लो वैदेही!)

"मुझसे अपराध हो गया नाथ!" सीता ने सहमे स्वर मे कहा।

राम को आलिंगन की अनुभूति हो रही थी, किंतु उनकी आखें सीता को देखने में अवश थीं। महर्षि का वरदान ही ऐसा था कि सीता आखों से ओझल रहेगी। राम सीता को न देख नितांत कातर हो उठे। बोले—"देहि मे दर्शन प्रिये!" (मुझे दर्शन दो प्रिये!)

सीता विवश थीं। उन्होंने उत्तर दिया—"कैसी मंदभाग्य हूं मैं! महर्षि का आदेश ही ऐसा है कि मैं समक्ष होकर भी समक्ष नहीं आ सकती।"

राम इस पहेली को न समझ सके, बोले—"अब तो क्रोध छोड दो प्रिये!"

"मैं भी नाथ से यही आग्रह करती हू।" सीता ने उत्तर दिया।

"तुम कितनी निष्करुण हो गयी हो सीता!" राम ने आर्त स्वर में पुकारा।

"यह उपालंभ तो मुझे देना चाहिये नाथ!" सीता ने कहा।

पूर्ण चेतना में आने के बाद राम ने सीता से कहा—"देवि, मैं हृदय की बात कहता हूं। देवता साक्षी हैं, तुम चरित्रशालिनी हो। मैंने लोकापवाद मे डरकर तुम पर व्यर्थ कलंक लगाया। अपराध मेरा है। क्षमाप्रार्थी मैं हू। मुझे क्षमा करो। मैं तो प्रतीक्षा कर रहा हूं :

कदा बाहूपधानेन पटान्तशयने पुनः।
गमयेयं त्वया सार्धं पूर्णचन्द्रां विभावरीम्॥"

[कब फिर पूनम की रात आयेगी, शय्या में मेरी भुजा पर तुम्हारा सिर होगा सारी रात इसी तरह बीत जायेगी !]

सीता को न देखकर राम पुनः मूर्च्छित हो गये। अदर्शिनी सीता ने समीप आकर अपने उत्तरीय से हवा झली। अर्द्धचेतना मे डूबे राम ने सीता का उत्तरीय पकड़ लिया। उत्तरीय तो उनके हाथ में रह गया; परतु उत्तरीय पहनने वाली हाथ न आयी। विरही राम ने प्रिया के परिधान से ही अपने को आवेष्टित करके प्रियास्पर्श की कल्पना कर ली।

किंतु कुछ क्षण बाद लोकापवाद-भीरु राम पुनः भयभीत हो गये और उन्होंने उत्तरीय छोड़ दिया। राम का देहस्पर्श पाकर वापस आये उत्तरीय को ओढ़कर सीता ने भी नया रोमांच अनुभव किया। उन्होंने उस उत्तरीय को सूंघा और स्वगत कहा :

"दिष्ट्या असंक्रान्तविलेपनामोदमार्यपुत्रस्योत्तरीयम्। सर्वथा सत्यसन्धा राघवाः!"

[मेरे अहोभाग्य! यह उत्तरीय लेपादि की सुगंध से अछूता है। निश्चय ही रघुवंशी अपने वचन के पक्के होते हैं।]

सीता सर्वथा मौन थी। विरही राम व्याकुल हो गये। बोले-"वैदेही, क्या मुझे तुमने सर्वथा विस्मृत कर दिया? पिछले दिनों की मधुर स्मृतियां भी क्या तुम्हें पुनर्मिलन के लिए उत्सुक नहीं करतीं?"

अब सीता सभल चुकी थीं। अपने भाग्य की विवशताओं का पूरा ध्यान करके उन्होंने उस स्थान से दूर चले जाने का निश्चय किया।

इसी समय वन-देवता कौशिक वहां आ पहुंचे और राम उनके साथ अपने वन्य राजप्रासाद में लौट गये।

अगले दिन कौशिक के सुझाव पर राम ने दो तापस कुमारों को अपने समक्ष आने का निमंत्रण दिया। ये दोनों राम के आत्मज लव और कुश थे। दोनों ने दशरथ के विवाह से लेकर सीता-वनवास तक रामायण का गान किया।

सम्पूर्ण आत्मचरित सुनकर राम इतने उद्विग्न हुए कि फिर चेतना खो बैठे। तब महर्षि वाल्मीकि वहां आये। उन्होंने राम से कहा :

"कुशलवजननीविशुद्धिसाक्ष्ये पवनसखा यदि देवता नियुक्ता।
कथमिव भवतो निरंकुशोऽयं हृदि निहितो नु पृथग्जनापवादः॥"

[हे राम! जब कुश-लव की माता सीता का पवित्र होना अग्नि-देवता स्वयं प्रमाणित कर चुके थे, तब आपने यह अनर्गल लोकापवाद हृदय में कैसे प्रविष्ट होने दिया?]

वाल्मीकि के आदेश पर राम ने लव-कुश को अपने उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार किया। किंतु सीता पुनः अयोध्या के राजप्रासाद में न लौटीं। उन्होंने पृथ्वी माता के आंचल में सदा के लिए आश्रय ले लिया।

❀ ❀ ❀



तमिल पंचमहाकाव्यों में से सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं इळंगोवडिहळ् रचित

शिलप्पदिकारम्

उत्तर में वेंकटगिरि (तिरुपति), दक्षिण में कन्याकुमारी और पूर्व-पश्चिम में सागर-तट तक फैला हुआ एक अत्यंत संपन्न देश है—तमिलनाडु। कवि के ही शब्दों में इसका विवरण देखिये—"यहां की सलिल-धाराएं हेमदायिनी हैं; यहां की धरती शस्यकोषा और रत्नगर्भा है, यहां के गिरि-पर्वत औषधनिधियों के अक्षय भंडार हैं, यहां की शिक्षा-दीक्षा तथा वीरता लोकविख्यात है।" इसी देश में धान की खान कहलाने वाला चोळ राज्य था, जिसकी राजधानी थी—पुहार नगरी। उसे अब 'कावेरिप्पूम्पट्टणम्' कहते हैं। वह नगरी व्यापार का प्रख्यात केंद्र थी। वहां वंग, कलिंग और यवन व्यापारियों का जमघट और चहल-पहल सदा बनी रहती थी।

उस नगरी में मानाय्हन् नामक एक संपन्न एवं दानी वणिक् था। उसके बारह साल की एक परम सुंदरी, सुलक्षणा कन्या थी, जिसका नाम कण्णकि था। मानाय्हन् की इस कन्या के रूप और सुचरित्र का परिचय स्वयं कवि की वरद लेखनी ने दिया है:

"पोदिलार् तिरुविनाळ् पुग्ऴुडैय वडिवेन्ड्रुम्, तीदिला वडमीनिन् तिरमिवळ् तिरमेन्ड्रुम्...।" [अर्थात्, सौंदर्य में महालक्ष्मी से समानता रखने वाली, सदाचार और सतीत्व में अरुंधती की तरह प्रख्यात, वह कण्णकि सारे संसार की नारियों से सम्मान पाने योग्य थी।]

उसी पुहार नगरी में माचात्तुवान नामक एक और धनी एवं उदारचेता वणिक् था। कोवलन उसी का सोलह वर्ष का सुंदर भावुक पुत्र था। कुलगुरु के निर्देशानुसार

एक शुभ दिन में कण्णकि और कोवलन का विवाह होना निश्चित हो गया। इस शुभ समाचार को सुंदरी-सुभूषिता स्त्रियों ने एक सुसज्जित हाथी पर हौदे में बैठकर नगर-भर में घोषित किया और एक निश्चित दिन मंगल-वाद्यों की शुभ ध्वनि के बीच कोवलन और कण्णकि का विवाह भी विधिवत् संपन्न हो गया।

एक दिन चोळ-राजा की सभा में उस नगर की अनुपम सुंदरी नर्तकी माधवी का नृत्य-समारोह हुआ। नगर के कई प्रतिष्ठित सज्जन वहां पर इकट्ठे हुए थे, जिनमें वणिक्-पुत्र कोवलन भी एक था। सजे-सजाये मंडप में नाट्याचार्य, गायक, कवि, वैणिक तथा मुरली, याळ (वीणा की तरह का एक वाद्य) आदि वाद्यों के बजाने वाले कलाकार बैठे थे। विद्युल्लेखा की तरह माधवी मंच पर आयी और नृत्य-चंचल दायें चरण को आगे बढ़ाते हुए उसने तल्लीन-भाव से नांदी गायी— "राज्य में मंगल बढ़े, अमंगल दूर हो.........।"

प्रार्थना के समाप्त होते ही सारे बाजे एक लय में बंधकर बजने लगे और राजनर्तकी का नृत्य शुरू हुआ। माधवी ने नाना नृत्यमुद्राओं का प्रदर्शन किया। काफी समय तक सारी सभा अपलक उसके रूपोद्यान-सदृश शरीर की मोहक भंगिमाएं देखती रही, मानो कोई अप्सरा इंद्रसभा के मंच को त्यागकर पृथ्वी पर उतर आयी हो। समारोह के समाप्त होते ही कला-रसिक सभासदों के अभिनंदनों के साथ चोळ-राजा ने १००८ स्वर्णमुद्राएं और एक हरित मणिमाला माधवी को पारितोषिक-रूप में प्रदान की।

इधर, कोवलन भी माधवी के रूप-लावण्य के आकर्षण से अछूता न रह सका। माधवी उसके रोम-रोम में समा गयी। और यह कोई एकपक्षीय प्रेम नहीं था। माधवी का युवा हृदय कैसे स्थिर रहता? कोवलन-जैसे रूपवान पुरुष को उसकी आंखों ने आज तक नहीं निहारा था। माधवी ने प्रथम क्षण में ही कोवलन को अपना सर्वस्व बना लिया। यह प्रेमवल्लरी ऐसी पनपी कि कोवलन की सारी सुख-भरी गृहस्थी इसकी बलि चढ़ गयी। अब अपनी परम साध्वी पत्नी कण्णकि को भूलकर वह रात-दिन माधवी के महल में ही निवास करने लगा। जीवन का पल-पल प्रेमोन्माद एवं केलि-क्रीडाओं में ही बीतने लगा। कोवलन ने कुल-परंपरागत वाणिज्य-व्यवसाय को संभालना तो दूर रहा, उलटे अपनी सारी संपत्ति माधवी को प्रेमोपहार के रूप में अर्पित कर दी।

सती कण्णकि के लिए यह भीषण वज्रपात था। पति की इस क्रूर विमुखता से प्रताड़ित वह घुट-घुटकर दिन काट रही थी। साज-शृंगार उसे सर्पवत् प्रतीत होने लगे थे तथा अन्न-जल गले से नीचे नहीं उतरता था। पतिपरायणा नारी के लिए इससे बड़े दुर्भाग्य की बात भला और हो ही क्या सकती थी?

इसी समय पुहार नगरी में इंद्रपूजा का दिन आया। धूमधाम से उत्सव-आयोजन

हुए। स्त्रियों ने नगर-देवताओं की पूजा की और इंद्र की स्तुतिया गाते हुए राजा और प्रजा के मंगल के लिए 'कूरवैक्कूत्तु' (सामूहिक नृत्योत्सव) मनाया। फिर इंद्र के मंदिर में बलि चढ़ायी गयी और ध्वजाएं फहरायी गयीं।

तदनतर चोळ-राजा ने पुत्र और परिजन-सहित परमपावनी कावेरी नदी के तीर्थजल से स्वर्णकुंभ भरकर इंद्र-मूर्ति का मंगलाभिषेक कराया। फिर शिव, षण्मुख, बलदेव और कृष्ण आदि देवताओं के मदिरों में विधिवत् होम किये गये। इस उल्लासमय त्योहार में भाग लेते हुए कोवलन और माधवी भी समुद्र-तट पर आ पहुंचे। सिंधु की लहरें भी आज उन्माद का अर्घ्य लिये खड़ी थीं। प्रेमियो ने दोनों बाहें फैलाकर उसे ग्रहण किया। केलि-क्रीडा मे दोनों अपने एव आस-पास के अस्तित्व को बिलकुल ही भूल गये।

माधवी ने अपनी सखी के हाथ में से याळ्वाद्य लेकर कोवलन की ओर बढ़ाया। कोवलन ने प्रेमिका के मनोरथ को समझकर वाद्य की तन्त्रियों से झंकार उठाते हुए गाना शुरू किया। पहले उसने कावेरी नदी की प्रशंसा गायी। फिर यों ही माधवी को चिढाने के लिए 'वरिप्पाडल्' शैली के गीत गाये। ये गीत प्रत्यक्ष में तो किसी अन्य प्रेमिका (सौत) पर नायक की आसक्ति को व्यक्त करते हैं, किंतु असल मे नायिका को चिढ़ाने के उद्देश्य से किये गये किसी काल्पनिक रमणी के ही झूठे वर्णन होते हैं। कोवलन ने ऐसे कई गीत गाये, जिनमें से इस गीत ने माधवी के मन पर वाछित असर किया .

वळैवळर् तरु तुरैये मणमविरि वरु पोळ्िले,
तळैयविळ् नरु मलरे तनियवळ् तिरियिडमे,
मुळैवळर् इळनकैये मळुमदि पुरै मुहमे
इळैयवळ् इणैमुलैये येनै इडर् चेडवैये।

[शंखों से भरा वह समुद्र-तट, वह रेतीली वाटिका, उन्मुक्त सौरभ फैलाने वाले वे फूल और वह एकात-स्थली, जहा वह सुदरी विचरण कर रही थी, उसकी मल्लिका की पक्ति-सी मुस्कान, पूर्णचंद्र-सा समुज्ज्वल मुख और उस कृशागी का सुस्वस्थ यौवन—मेरे मुग्ध हृदय में कचोट के सतत प्रहर जगा जाते हैं। उसकी स्मृति के बाण मेरे मर्म को बींधकर जीवन को विरह की सजल वाटिका बना जाते हैं।]

इस तरह के आठ-दस गीत गाने के बाद हंसते हुए कोवलन ने याळवाद्य को माधवी के हाथ में दे दिया। वह मानिनी भी पीछे क्यों रहती? वह भी बदले में उसी तरह के गीत गाने लगी। और, माधवी के इस गीत ने तो मानो कोवलन के हृदय को मर्माहत ही कर दिया •

नेन्डनट् कादलर् नेमि नेडुंदिण्डेर् ऊन्डै वळिशिदैय ऊहिन्ड् वोडमे
पून्वण् पोळ्िले पुणर्न्डाड्डु मन्नमे ईन्डण् तुरैये इदु तहादेन्नीरे!

[हे सरिता की बाढ़! तुमने उस तटमार्ग को डुबाकर विनष्ट कर दिया? उस पर तो मेरा प्रेमी मुझसे मिलने आया करता था! क्या तुम्हें यह सह्य नहीं था कि मैं कम-से-कम अपने जीवनाधार के रथमार्ग को देखकर ही इस सताप-विदग्ध मन को किंचित् शांत कर लिया करूं? हे प्रलयवाहिनी बाढ़! हे सुरभिकोष नंदनवन! मुग्ध विचरने वाले हे हंसयुगल! हे छांह-भरे शात-शीतल नदीतीर! तुम सब मेरे प्राणेश्वर के पास जाकर कहना कि निष्ठुर! विरहतप्ता को इस प्रकार अकेली छोडकर चले जाना उचित नहीं है।]

कोवलन माधवी के इस व्यंग्य को सहन न कर सका। उसके 'नेह चीकने चित्त' पर माधवी के प्रति सदेह का प्रभाव प्रत्यक्ष हो उठा। अपमान की अग्नि से उसका चेहरा तमतमा उठा। उसने सोचा कि माधवी वास्तव में अपने दूसरे प्रेमी के विरह से खिन्न होकर ही गा रही है। तो क्या मेरे अलावा उसके प्रेम का पात्र कोई और भी है? क्यों न हो? वह रूपजीवा जो ठहरी—उसे तो बस सपत्ति की ही कामना थी।

अदम्य कोप और क्षोभ में उबलता कोवलन तत्काल उठकर सीधे घर की ओर चल पड़ा। इस अप्रत्याशित घोर तिरस्कार से माधवी सन्न रह गयी। प्रेमप्लावित मीठे उपहास के इस दुष्परिणाम की कल्पना तक उसने नहीं की थी।

पति को सामने देख विरहिणी कण्णकि फूली नहीं समायी, जैसे उसकी खोयी सपत्ति वापस मिल गयी हो। सतीत्व की उस करुण मूर्ति की यह दशा देख कोवलन खेद और लज्जा से जडवत् हो गया। गद्गद स्वर में उसने कहा—"देवि! धनलोलुपा नर्तकी के प्रेमाभिनय को सत्य समझकर मैंने अपनी सारी कुल-सपत्ति का नाश कर दिया है। अब धन-मान-वंचित और दरिद्र होकर मैं किसी को मुंह तक दिखाने योग्य नहीं रह गया हूं...।"

पति के सतप्त मन को सात्वना देती हुई मधुर मुस्कान वाली सती कण्णकि ने कहा—"प्राणाधार! मेरे पास नूपुरों की एक बहुमूल्य जोड़ी है। उसे आप निःसकोच ले जाइये और अपनी प्रेमिका को उपहार में दे आइये।"

कोवलन लज्जित होकर बोला—"देवि! तुम्हारा एक नूपुर मैं लूंगा अवश्य, पर उस नर्तकी के लिए नहीं—अपने नये जीवन के शुभारंभ के लिए। मैं पांडिय देश जाकर उस नूपुर को बेचूंगा और फिर से वाणिज्य शुरू करूंगा। जब हम लोगों के पास काफी धनराशि एकत्र हो जायेगी, तो हम आनंद से अपनी गृहस्थी चलायेंगे।"

उपर्युक्त योजनानुसार दोनों ने पाडिय देश की राजधानी मदुरै की ओर प्रस्थान किया। सामने स्थित श्रीकृष्ण-मंदिर की प्रदक्षिणा करके और अर्हत्, सिद्ध आदि पंच-परमेष्ठियों को और बौद्ध विहारों में प्रणाम करने के बाद पति-पत्नी ने बिलकुल साधारण यात्रियों की भाति पैदल ही अपनी जन्मभूमि से प्रस्थान किया।

नगर-सीमा पार करने के बाद दोनों एक वाटिका में विश्राम करने के लिए ठहरे।

वहा कवुति अडिहळ् नामक एक जैन भिक्षुणी तपस्या कर रही थीं। दोनों ने चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया। उनका मदुरै जाना और उसका कारण जानकर कवुतिदेवी के मन में सहानुभूति उमड़ पडी। उन्होंने कहा—"मैं भी तमिलवाणी की प्रख्यात नगरी मदुरै के दर्शन करना चाहती हूं। चलो, तुम्हारी मार्गदर्शिका बनकर मैं भी साथ चलूंगी।"

दूसरे दिन तीनों ही मदुरै नगरी की ओर चल पडे। आर्या कवुतिदेवी ने कोवलन और कण्णकि को जैनमत के पंच बीजाक्षरों का उपदेश दिया, जिनके जपने से मार्ग में कोई बाधा न आने पाये।

मार्ग मे धान और ईखों से भरे हरियाले खेत, सागर-से उमड़ते जलप्रवाह से भरकर बहती कावेरी, निराई और बोआई में तन्मय कोकिल-कंठी ग्रामवधुओं के रसीले गीत, जुताई में जुटे युवक किसानो के मस्ताने तराने—ये ही उन तीनो निरीह यात्रियों के पाथेय थे।

फिर आगे बढ़कर उन्होंने ब्राह्मणों के पवित्र आश्रमों और धूम-कुडली से व्याप्त यज्ञशालाओं को पार किया और उन गांवों मे पहुंचे, जहां की कृषक-प्रजा अपने यहा आये अतिथियों को ही नहीं, बरन अपरिचितों को भी सस्नेह समादर देती है और जो अपने हितैषी राजा की शासनसत्ता की रक्षा करती हुई, अपने बाहुबल की कमाई से ससार-भर की भूख शात किया करती है।

दूसरे दिन जब वे एक सुंदर बगीचे मे विश्राम कर रहे थे, तो वहा कहीं से एक वेश्या और उसका धूर्त विट आये और दोनों कोवलन और कण्णकि से छेड-छाड़ करने लगे। कवुतिदेवी ने उनकी धूर्तता से कुपित होकर दोनों को शृगाल हो जाने का शाप दे दिया। तपस्विनी की मनोवेदना से निकला हुआ शाप था, तत्क्षण फलित हुआ। कोवलन के उदार हृदय को बडा आघात लगा। उसने दयाद्रवित हो आर्या कवुति से उन मूर्खों को क्षमा कर देने की प्रार्थना की। कवुति ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए कहा—"अच्छा, एक साल के बाद ये दोनों पापात्मा इस शाप से मुक्त हो जायेंगे।"

. .

चलते-चलते वे तीनों रात बिताने काल्किोट्टम् नामक बस्ती मे ठहरे। उस समय वहा अवस्थित मरवर जाति की एक युवती शालिनी पर उनकी कुलदेवी का आवेश हुआ और वह सिर हिलाती तथा कूदती हुई चिल्लायी—"तुम लोगों ने देवी की पूजा-बलि नहीं चढायी, इसीलिए तुम लोग अपना वीरत्व और सम्मान खो बैठे हो। अगर अब भी तुम उन्नत जीवन पाना चाहते हो, तो बलि की तुरत व्यवस्था करो।"

यह सुनते ही सारी मरवर जाति ने देवी की आवेशप्राप्ता उस शालिनी के बाल गूंथे, उन पर सूअर का सींग खोंसा, मंगलसूत्र में बघदंत पिरोकर उसे शालिनी

के गले में बांधा और देवी के ही वेश के अनुरूप उसे बघचर्म भी पहनाया। फिर उसके हाथ में धनुष-बाण देकर उसे एक बडे मेढ़े पर चढ़ाया। इस प्रकार उसे सांगोपाग देवी का आकार देकर सारे कबीले ने मुर्गी, मोर तथा अन्य पशुओं की बलि चढ़ायी। साक्षात् होने पर उस देवी के तेज से तेजस्विनी शालिनी कण्णकि और कोवलन पर भी बडी प्रसन्न हुई।

सवेरे तीनों उठकर इस आतिथ्यपूरित गांव से चल दिये और दोपहर होते-होते वेद-पारगत विप्रों की एक बस्ती मे पहुंचे। वहां पर कोवलन एक मंदिर में कण्णकि और कवुंतिदेवी को बैठाकर स्वयं पास के एक तालाब पर पहुंचा। वहां पुहार नगर से नर्तकी माधवी का भेजा हुआ कौशिक नामक ब्राह्मण उससे मिला और उसने माधवी का एक पत्र उसके हाथ में दिया। माधवी ने उस पत्र में अपने पश्चात्ताप और मनोवेदना का करुण परिचय देकर बार-बार क्षमा-प्रार्थना की थी और अनुनय-विनय करते हुए उसे वापस आने के लिए लिखा था।

कोवलन ने उस ब्राह्मण से कहा—"मैं अपने पूर्वकर्मों का दंड भुगत रहा हूं। जाकर आप माधवी को समझाइये कि उसके प्रति अब मेरे मन में कुछ भी घृणा नहीं है।" दूत चुपचाप उलटे पांव लौट गया।

तीनो ने फिर रात को ही अपनी यात्रा शुरु की और बहुत सवेरे मदुर की सीमा पर पहुंच गये। प्रातःकाल के मंगलवाद्यों और भेरियों की ध्वनियो, चतुर्वेद-पाठियों के उच्च वेदघोष, चिंघाड़ते हाथियों और हिनहिनाते तुरगों के गंभीर रवो को सुनकर तीनो अपनी थकान भूल गये।

वहा माडलन नामक महान कर्मठ विप्र, जो पहले ही कोवलन के परिचित थे, उन तीनों से मिले। कोवलन ने उनका सत्कार किया और अपनी दुःख-भरी कहानी के साथ-साथ पहली रात के तीसरे पहर में देखे हुए भयानक दुःस्वप्नों को भी उक्त ब्राह्मण से कह सुनाया। माडलन ने उसे सांत्वना दी और नगर के अंदर ठहरने को कहा। तीनो नगर के अंदर ग्वालों की एक बस्ती में पहुंचे। वहां मादिरी नामक एक वृद्ध साध्वी ग्वालिन अपने कुलदेवता की पूजा करके घर आ रही थी। उसने अपनी बस्ती में आने वाले उन तीनों का आदर से स्वागत किया। कवुंतिदेवी ने ग्वालिन मादिरी से कण्णकि के कुलगौरव, पातिव्रत्य और सद्गुणों की भरपूर प्रशंसा करते हुए कहा :

कप्पुंक्कटं पूंड इत्तेय्वमल्लदु
पोर्पुट्टैत्तैवम् याङ् कडिल्माल्
वानं पोय्यादु वळं पिळैप्परियादु
नीणिल वेन्दर् कोट्टं चिडैयादु
पत्तिनिप्पेण्डिर् इरुदं नाड्डु...।

[पातिव्रत्य का पवित्र आभूषण पहने हुए यह कण्णकि ही सच्ची देवी है। इतनी महान और पवित्र अन्य किसी देवी को मैं नहीं जानती। जिस देश में ऐसी पतिव्रता नारियां रहती हैं, उस देश में कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता, वहां की समृद्धि कभी क्षीण नहीं होती और उस देश में सुशासन सदैव अचल बना रहता है।]

ग्वालिन मादिरी ने सब सुविधाओं के साथ कोवलन और कण्णकि के रहने का प्रबंध कर दिया। दूसरे दिन कण्णकि ने एक नूपुर लेकर कोवलन उसे बेचने के लिए शहर गया। मार्ग में एक बिगड़ैल बैल अपने पैने सींगों को तानकर कोवलन की ओर उग्र वेग से झपटा। सौभाग्य से कोवलन बाल-बाल बच गया, किंतु उस वक्त उसने समझा कि यह भयानक अपशकुन है।

राजवीथि पर कोवलन के सामने ही राजदरबार का सुनार अपने सौ कर्मचारियों के साथ आ रहा था। कोवलन ने उस सुनार के पास अपना नूपुर देकर बेच देने को कहा। माणिक्य-भरे और हीरों से जटित उस कलापूर्ण स्वर्ण-नूपुर को सुनार ने ध्यान से देखा और कहा—"यह नूपुर केवल महारानी खरीद सकती हैं। आप यहीं थोड़ी देर रहिये। मैं अभी इसे महाराज को दिखाकर उनकी स्वीकृति के साथ लौटता हूं।"

जाते समय उसने अपने मन में सोचा—यह नूपुर तो मेरे चुराये हुए महारानी के नूपुर जैसा ही है। राजा के सामने इस आदमी को चोर बनाकर मैं इसे मृत्युदंड दिलवा दूंगा और रानी का नूपुर मेरी निजी संपत्ति बन जायेगा।

इस कपटपूर्ण इच्छा के साथ वह वंचक सुनार राजमहल में पहुंचा। उस समय पांडिय-नरेश नेडुंचेळियन् अपनी रूठी महारानी को मनाने के लिए कामांध होकर अंतःपुर की ओर जा रहा था। सुनार ने उसके सामने जाकर साष्टांग प्रणाम किया और चोर को पकड़ लेने का झूठा हाल कह दिया। फिर क्या था! नारी के पाश में बंधे कामांध नरेश ने राजधर्म और नीति को भूलकर नगरपालकों को आज्ञा दी—"महारानी का नूपुर चुराने वाले उस दुस्साहसी चोर को तत्क्षण मार डाला जाये।"

नगरपालकों ने कोवलन के हाथ में हीरक-जटित नूपुर देखा, किंतु कोवलन के निष्कलंक और तेजस्वी मुख को देखकर उन्होंने कहा—"ये तो कोई भद्र और कुलीन पुरुष दीख रहे हैं। ये चोर नहीं हो सकते। इन्हें मारना अनैतिक होगा।" परन्तु कुचक्री स्वर्णकार ने चोरों की चालबाजियों के बारे में लंबी-चौड़ी बातें गढ़कर बतायीं। फलतः नगरपालकों में से एक अपढ़-असभ्य युवक ने अपनी तलवार से कोवलन की देह पर जोर का वार किया और उसी क्षण कोवलन बहती रुधिरधारा के बीच निष्प्राण होकर गिर पड़ा।

दूसरे दिन सवेरे ग्वालों की उस बस्ती में तरह-तरह के घोर अपशकुन दिखाई पड़े। भयंकर उत्पात के इन अमंगलकारी चिह्नों से भयभीत सब ग्वालिनों ने एकत्र

होकर अपने कुलदेवता गोपाल को प्रसन्न करने के लिए धूमधाम से 'कुरवैक्कूत्तु' (सामूहिक नृत्योत्सव) मनाया।

इसी बीच ग्वालिन मादिरी को कोवलन के मारे जाने का समाचार नदी-घाट पर नहाने आयी स्त्रियों के द्वारा मिला। सुनते ही वह पागल-सी दौड़ती हुई अपनी बस्ती मे आयी। कोवलन की हत्या की बात सारी बस्ती में फैल गयी। कण्णकि ने जब सुना, तो वह एक धाड़ मारकर धरती पर गिर पडी। किंतु क्षण-भर बाद ही वह वीरांगना उठ खड़ी हुई। उसके नेत्रों से अंगारे बरस रहे थे। वह सूर्यदेव को देख आत्मा के परिपूर्ण आवेश में चिल्लायी—"हे पावन तपनदेव! तुम सर्वसाक्षी हो। तुमसे पूछती हूं, उत्तर दो कि क्या मेरे पतिदेव चोर थे?"

पतिव्रता की आज्ञा पर सूर्यदेव ने अशरीरिणी वाणी में कहा—"देवि! तुम्हारा पति चोर नहीं था। चोरी का झूठा आरोप लगाकर उसे मार डालने के कारण यह मदुरै नगरी तुम्हारी क्रोधाग्नि से जलकर शीघ्र ही भस्म हो जायेगी।"

इस सूर्यवाणी को बस्ती के निवासियों ने जब सुना, तो चारों ओर से जय-जय के नारे लगने लगे। कण्णकि ने अपने दूसरे नूपुर को हाथ में लेकर धधकते हृदय, कांपती देह और जलती आंखों के साथ मदुरै नगर में प्रवेश किया और प्रतिज्ञा की—"अगर मैं सच्ची सती हूं, तो अपने पति को सजीव देखूंगी।"

दुर्घटना-स्थल पर जाकर रक्तधारा के बीच वीभत्स रूप में पड़े अपने पति के शव को कण्णकि ने देखा। उस मृत देह से लिपटकर वह जोर से चिल्लाती हुई रो पड़ी, जिसे सुन निद्रा में से जाग उठा-सा कोवलन उठ खड़ा हुआ और कण्णकि के आंसू पोंछते हुए बोला—"प्रिये! तुम्हारा पूर्णचंद्र-सा मुखड़ा अब कितना मलिन हो गया है!" कण्णकि कोवलन के चरणों से लिपट गयी। लेकिन उसी क्षण कोवलन अपने विनश्वर पार्थिव शरीर को छोड़कर ज्योतिर्मय रूप में स्वर्ग की ओर चला गया। कण्णकि कुछ देर तक तो आश्चर्यचकित-सी देखती रही, फिर राजभवन की ओर चल पड़ी।

उस समय महारानी पिछली रात को देखे हुए दुःस्वप्न महाराज को सुना रही थी। अकस्मात् अपने सामने शोक और क्रोध की इस सजीव मूर्ति को देख पांडिय-नरेश ने पूछा—"तुम कौन हो, और क्या चाहती हो?" कण्णकि ने आंसू पोंछकर सारा हाल कहा। पांडिय-नरेश अपनी न्यायपरायणता पर गर्व करता हुआ बोला—"तुम्हारा पति चोर था, उसे उचित दंड दिया गया।"

"मेरे पतिदेव चोर नहीं थे। इसे सिद्ध करने के लिए ही मैं यहां आयी हूं। मेरे नूपुर के भीतर माणिक्य रखे हुए हैं, वही नूपुर उनके पास था।"

"नहीं, महारानी के नूपुर में मोती भरे हुए हैं। वही नूपुर तुम्हारे पति ने चुराया था।" और, राजा ने तत्क्षण ही कोवलन से बरामद किया गया नूपुर

कण्णकि के सामने रख दिया। कण्णकि ने कोपावेश में उस नूपुर को जमीन पर पटक दिया। आघात से नूपुर के टुकड़े-टुकड़े हो गये और उसमें से चमकीले माणिक्य उछलकर पांडिय-नरेश के मुंह पर जोर से लगे। सत्य का यह प्रत्यक्ष रूप देखकर राजा का सिर चकराया, उसके हाथ से न्यायदंड फिसल पड़ा और सिर पर शोभित धवल छत्र भी नीचे गिर गया।

"हाय! एक पापी सुनार की बात पर विश्वास करके अपने नीतिधर्म को भूलने वाला मैं राजगद्दी के योग्य नहीं हूं। कोवलन चोर नहीं थे, मैं ही उनका प्राणलेवा चोर हूं। अब मैं जीने योग्य नहीं रहा।" आत्मप्रताड़ना में इस प्रकार विलाप करता हुआ पांडिय-नरेश मूर्छित होकर गद्दी से गिर पड़ा और वहीं उसके प्राण-पखेरू उड गये। महारानी ने कण्णकि के चरणों पर गिरकर पति के अपराध की क्षमा मांगी और शास्त्रसम्मत विधि से पति के शव को साथ लेकर सती हो गयी।

किंतु कण्णकि का क्रोधानल अब भी शांत नहीं हुआ। "इस नरेश के साथ मैं इस नगरी का भी नाश कर दूंगी," इस वाक्य के साथ उसने अपने वाम स्तन को हाथ से उखाडकर क्रोधावेश में मदुरै नगरी की ओर फेंक दिया। तुरंत असंख्य लपटों के साथ धधकती हुई आग उस नगरी में फैली और अग्नि-देवता ने कण्णकि के सामने एक ब्राह्मण के रूप में आकर पूछा—"देवि! किनको जलाऊं और किनको बचाऊं?" कण्णकि ने आज्ञा दी—"वेदज्ञ ब्राह्मण, धर्मात्मा, गौएं, पतिव्रताएं, वृद्ध और शिशु इन्हें छोड़कर बाकी सब भ्रष्टों और पापियों को अपना भक्ष्य बना लीजिये।"

मदुरै नगरी की चारों दिग्देवियां अपने स्थान छोडकर चली गयीं। सुंदर, समृद्ध वीथियां वीरान हो गयीं, सारा नगर भस्मसात् हो गया। तब मदुरै की अधिष्ठात्री देवी कण्णकि के सामने आकर बोली—"देवि! इस पांडिय राज्य का कोई भी राजा कुशासक नहीं रहा। नेडुंचेळियन भी सुशासक ही था, जो अब मरा है। फिर भी इस अन्याय का कारण बताती हूं। पूर्वजन्म में कपिलपुर में भरत नामक एक नगरपालक था। उसने एक निरपराध वणिक् को शत्रु का गुप्तचर समझकर राजाज्ञा से मार डाला। उस वणिक् की सती पत्नी नीली शोक से तड़पती हुई चौदह दिनों तक भटकती रही। वह नीली मरते समय यह शाप दे गयी कि मेरे निरपराध पति को मारने वाले को अगले जन्म में इसी तरह का दंड मिलना चाहिये। वही नगरपालक माधव इस जन्म में तुम्हारे पति कोवलन के रूप में जनमा था। तुम भी चौदह दिन के बाद अपने पति के साथ स्वर्ग चली जाओगी।"

देवी की भविष्यवाणी सच हुई। कण्णकि भी उस पति-शोकातुरा नीली की भांति चौदह दिन बाद पांडिय देश को पैदल ही पार करके चेर देश के एक पहाड़ पर पहुंची। वहा देवताओं की पुष्पवर्षा के बीच आकाश से एक रमणीय विमान

उतरा, जिसमें देवोपम कोवलन मुस्कराता हुआ विराज रहा था। उसने स्वयं अपने हाथों से कण्णकि को विमान पर चढ़ाया और अपने साथ उसे स्वर्ग ले गया।

*　　　*　　　*

चेर देश के पहाड़ी कुरवर लोगों ने इस पुण्य-पुनीत दृश्य को देखा, तो उन्होंने सती कण्णकि को अपनी कुलदेवी स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् उन्होंने अपने राजा चेरन्चेंगुट्टुवन के पास जाकर आंखों देखी सब बातें कह सुनायीं। राजा के साथ मदुरै के प्रसिद्ध कवि चीत्तलैचात्तनार् भी थे। उन्होंने भी कोवलन-कण्णकि का सारा वृत्तात और मदुरै के नाश का हाल राजा को कह सुनाया। राजा ने रानी की सलाह से सती कण्णकि का एक भव्य मंदिर खड़ा करने का सकल्प किया।

दूसरे दिन राजसभा में प्रस्ताव रखा गया कि कण्णकि देवी की मूर्ति बनाने के लिए किस पहाड से शिला लायी जाये। विल्लवन्कोदै नामक महामंत्री ने उत्तर दिया–"उत्तम तो यही है कि उत्तर के राजाओं पर आक्रमण करके हिमालय की शिलाएं लायी जायें और उनसे सती कण्णकि की मूर्ति बनवायी जाये।"

राजा चेरन्चेंगुट्टुवन ने भी इसका अनुमोदन किया और कहा–"उत्तर भारत के आर्य नरेशों में एक है बालकुमार। उसके बेटे कनक और विजय ने एक भरी सभा में तमिल राजाओं की निंदा की है। उत्तर के तीर्थों से लौटे हुए साधुओं द्वारा मुझे यह समाचार मिला है। उन्हें इस धृष्टता का दंड अवश्य देना है। अतः मैं उन्हें परास्त करूंगा और कनक-विजय इन दोनों राजपुत्रों के सिरों पर ही हिमालय की पवित्र शिलाएं लदवाकर यहां लाऊंगा।" गगनभेदी जयघोष के साथ सभी सभासदों ने महाराज की इस शौर्यपूर्ण विज्ञप्ति का अनुमोदन किया।

विशाल सख्या में सेना इकट्ठी हुई। गांव-गांव में चेर-राजा की उत्तर पर चढ़ाई का ढिंढोरा पिटवाया गया। एक शुभ दिन में चेर-नरेश चेरन्चेंगुट्टुवन ने युद्धभेरियों के तुमुल घोष तथा वीरों के जयनाद के साथ, उत्तर की रणयात्रा शुरू कर दी। मार्ग में कई सामंतों और राजाओं ने बहुमूल्य भेंट-उपहारों के साथ चेर-राजा का स्वागत किया। कई दिनों की यात्रा के बाद चेर-राजा ने शत्रु के राज्य में डेरा डाला और उसके पास युद्ध का सदेश भेजा। कनक और विजय के साथ कई आर्य राजा तमिल-नरेश से युद्ध करने के लिए सेना सजाकर चल पड़े। दोनों दलों में घमासान युद्ध छिड गया। तमिल देश की मरवर (जाति-विशेष) सेना ने अद्‌भुत वीरता दिखायी। रणांगण शवों से पट गया। कवि के शब्दों में :

"तोळुं तलैयुं तुणिन्दु वेराहिय, शिलैत्तोण् मरवरुडुर् पोरैयडुक्क, तेरिप्पिण-मिडरिय कुरैयुडक्कवंदम्, परैक्कट्, पेमक्कळ् पाणिक्काड......"

[शत्रुओं के सिर धराशायी हुए, मरवर सैनिकों ने जयभेरियां बजायीं और मृत वीरों के शवों को इकट्ठा किया। शवभक्षी पिशाच तांडव-नृत्य के ताल बजाते थे।]

सारे शत्रुराज साधु, श्रमण और चारणों के वेश बनाकर भाग खड़े हुए। अंत में विजयी राजा चेंगुट्टुवन ने अपनी विजय-ध्वजा हिमगिरि की चोटी पर फहरायी और मंत्री को आज्ञा दी–"सती कण्णकि की मूर्ति बनाने के लिए अब हिमालय से उत्तम शिला लाओ।"

आदेशानुसार शिला खोदकर लायी गयी और संकल्प के अनुसार पराजित आर्य नरेशों–कनक और विजय–के सिरों पर उसे लदवाकर तमिल देश ले चलने की आज्ञा दी गयी।

वापस लौटते समय गंगा नदी के दक्षिण-तट पर आर्य नरेशों द्वारा निर्मित सुसज्ज छावनियों में चेर-सम्राट् अपनी सेना के साथ ठहरा। वह विराम-स्थल बड़ा मनोहर था :

"मन्पेरं कोयिलुं मणिमंडपंगळुम्
पोन्पुनैयरंगमुं पुनैपूं पंदरुम्
उरिमैप्पळ्ळियुं विरिपूंचोलैयुम्
तिरुमलर् पोरहैयुं वरिकाणरंगमुम्
पेरिदैमन्नक्कैप्पंवै पिरवुम्
आरिय मन्नर् अळ्कुरवमैत्त..."

[बड़े-बड़े मंदिर, सुंदर मणिमंडप, सोने से सज्जित रंगशालाएं, विशाल पटाल, फूल-भरी वाटिकाएं और शीतल तडाग आदि सब साधन और सुविधाएं आर्य नरेशों ने महाप्रतापी तमिल-सम्राट् के लिए वहां एकत्र कर दी थीं।]

चेरन्चेंगुट्टुवन ने अपने विजयी सैनिकों को स्वर्ण-पदक देकर सम्मानित किया। इसी समय कर्मठ विप्रवर माडलन, जो कोवलन के मित्र थे, चेर-सम्राट् के पास आये और कहने लगे–"राजाधिराज! मदुरै के जल जाने के बाद मैं वहां गया था। वहां की ग्वालिन मादिरी, जिसने कोवलन-कण्णकि को आश्रय दिया था, असीम शोक से प्राण त्याग चुकी है। जैन भिक्षुणी कवुंति भी कोवलन-कण्णकि का दुःसमाचार सुनकर इस नश्वर जीवन से मुक्त हो गयी है। तत्पश्चात्, मैं चोळ-राजधानी पुहार नगरी गया था। वहां कोवलन और कण्णकि की मृत्यु का समाचार सुनते ही उन दोनों की माताएं शोक से तड़प-तड़पकर मर गयीं और दोनों के पिता सारी संपत्ति गरीबों को बांटकर प्रव्रज्या लेकर कहीं चले गये हैं। नर्तकी माधवी भी यह शोकवार्ता सुनकर व्यथित हुए बिना न रह सकी और सभी कुछ त्यागकर भिक्षुणी बन गयी है।"

इतनी वार्ता सुनकर चेर-सम्राट् ने माडलन से पूछा–"पांडिय राज्य की अब क्या स्थिति है?"

माडलन ने कहा–"पांडिय-नरेश नेडुंचेळियन के मर जाने के बाद, युवराज वेट्रिवेल्चेळियन पांडिय-राजा बना। उसने एक हजार सुनारों को, जो कण्णकि मदुरै

नगरी से बचकर निकल भागे थे, सती कण्णकि देवी की बलि चढ़ाया है और इस प्रकार उस देवी को प्रसन्न करके ही वह सिंहासन पर पैर रख सका है।"

राज्य में वापस लौटकर चेर-सम्राट् चेरन्चेंगुट्टुवन ने अपनी राजधानी वंचिमा नगरी में सती कण्णकि देवी का एक बडा भारी मंदिर बनवाया, जिसमें पावन हिमगिरि की शिला से निर्मित सती कण्णकि की मूर्ति को प्रतिष्ठित किया गया। तत्पश्चात् विप्रवर माडलन की प्रार्थना से राजा ने कण्णकि देवी का महान उत्सव मनाने और यज्ञ करने की भी व्यवस्था करायी।

इस अवसर पर चेर-राजा ने उत्तर की रणयात्रा मे बंदी बनाकर लाये गये पराजित आर्य राजाओं को मुक्त कर दिया और उन्हे अपना माननीय अतिथि बना लिया।

यज्ञशाला में चेर-सम्राट् के प्रवेश करने के बाद, जब उसके कनिष्ठ भाई जैन साधु इळंगोवडिहळ् (इस महाकाव्य के रचयिता) भी गये, तो यज्ञशाला में देवंति नामक स्त्री पर कण्णकि देवी ने आविर्भूत होकर इळंगोवडिहळ् की प्रशंसा में कहा :

"साधुवर! जब आप अपने भाई और पिता के साथ दरबार में बैठे थे, तब एक ज्योतिषी ने आपको देखकर बताया था कि आपके भाल पर राजचिह्न चमकता है। तब आप बिगड़कर बोले थे कि अपने बडे भाई के रहते मैं क्यों राजगद्दी पर बैठूं? और उसी दिन आप जैन साधु बन गये थे। किंतु उस महान त्याग के फल-स्वरूप अब राजपद से भी कहीं महान पूज्यपद पर आप विराज रहे हैं। धन्य है, आपका त्यागमय पवित्र जीवन...।"

तब वहां उपस्थित आर्य नरेश कनक और विजय तथा कुडकु, कोंकण, मालव आदि के राजा लोग एवं लंकाधीश कयबाहु भी सती देवी को प्रणाम करके बोले—"देवि! हम अपने देश मे भी आपके पूजार्थ मंदिरों का निर्माण करेंगे। आप सदा हमारी रक्षा करती रहें—यही वरदान हम आपसे मागते हैं।"

सती देवी प्रसन्न हो गयी और उसी समय आकाशवाणी हुई—"मैं आप लोगों को अभीष्ट वर देती हूं।" [र. शौरिराजन् द्वारा प्रस्तुत कथासार]

❀ ❀ ❀

उस दिन मैंने एक लकड़हारे को बोझ से, एक धनिक को अपनी थैलियों से, एक सुंदरी को अपनी सुंदरता से और एक सम्राट् को अपनी ही तलवार से समाप्त होते देखा! उनका क्रंदन सुन जब मेरा मन डूब रहा था, तब मैंने एक फकीर को देखा, जिसकी एक मुस्कान सूरज उगाती, दूसरी चाद जगाती और तीसरी फूल खिलाती! तब मेरी आत्मा बोली—"देख, अपरिग्रह का बंदा खुदा भी है।"

—फरीदुद्दीन अत्तार



अजंता की पृष्ठभूमि पर श्रीगोपाल नेवटिया रचित सुकुमार कथा

प्रसाधिका

सह्याद्रि गिरिमाला की प्रशाखा इन्ध्याद्रि का वह बीहड़ प्रान्तर उन दिनों दिन में जितना जाग्रत रहता था, रात्रि में उतना ही सुप्त। बरसात की ऐसी ही एक रात को कुशलपाणि ताड़पत्र के बड़े छाते के नीचे पानी की तीव्र बौछारों से अपने ऊर्ध्वभाग का बचाव करता और बहती जलधाराओं के बीच सम्हलकर पाँव रखता अपनी पर्णशाला की ओर बढ़ा चला आ रहा था। कुटिया के द्वार के सम्मुख एक छोटा-सा आच्छादित चबूतरा था। नित्य के अभ्यास के अनुसार वहाँ पहुँचकर उसने अपना छाता चबूतरे पर रखा; परंतु कठोर कुट्टिम-भूमि के स्थान पर उसके चरणों को स्पर्श हुआ एक सुकोमल तन का।

कुशलपाणि चौंका। तभी आकाश में बिजली चमकी और उसके क्षणिक प्रकाश में उसने देखा—उसकी पर्णशाला के द्वार के सम्मुख एक कोने में एक नारी दुबककर बैठी हुई है। कुशलपाणि दो कदम पीछे हट गया। वह नारी उठ खड़ी हुई। दूसरी बार बिजली चमकी। वर्षाजल में आपादमस्तक नहायी वह नारी सौंदर्य, दैन्य और करुणता की मूर्ति-सी प्रतीत हुई।

नतमस्तक, निमीलित-नयन उस नारी ने कहा—"मार्ग भूली मैं यहाँ। ठहरने की ओट पाकर रुक गयी भन्ते!" बरसती रात में वह आगे कदम बढ़ाना चाहती थी, पर कुशलपाणि ने कहा—"देवि, पर्णशाला में जाओ, अरगनी पर की उत्तरासंग को पहनो और यह लो भोजन-पात्र, क्षुधा-निवृत्ति करो। यहीं पर शयन करो,

प्रातःकाल जहां चाहो जाना।"

मंत्रमुग्धा-सी वह नारी भोजन-पात्र लेकर भीतर चली गयी। एक भी तो प्रश्न नहीं कर सकी वह। कुशलपाणि वहीं कुटिया के बहिर्भाग में अपना निषीदन बिछाकर बैठ गया। पानी बरसता रहा, बिजली चमकती रही, उसका मन नाना दुविधाओं में भ्रमण करता रहा। फिर मातृतुल्या निद्रा ने कब आकर उसे अपनी गोद में समेट लिया, उसे भान नहीं हुआ।

जब उषा के प्रकाश ने उसे गुदगुदाया, वह चौंककर उठ बैठा। तत्क्षण उसे स्मरण हो आया, रात को एक अनजान युवती यहां आयी थी और अभी तक इसी कुटिया में है। कौन है यह एकाकी, असहाय युवती, रूपवती...?

इतने में कुटिया का द्वार खुला और सम्मुख उपस्थित थी वही अनिंद्य सुंदरी। भीगे बाल अभी पूरे सूखे नहीं थे, उन्हीं का जूड़ा बंधा था। देहवल्लरी को उसी के एक उत्तरासग से आवेष्टित किये वह रमणी कृतज्ञताज्ञापन, क्षमायाचना और आज्ञाकारिता की भाव-त्रिवेणी से आप्लुत सम्मुख उपस्थित थी।

केवल मूक धन्यवाद प्रदान करके वह आगे बढ़कर चली जाना चाहती थी; किंतु कुशलपाणि ने ही कहा—"देवि, रुको।" एक अनिर्वचनीय प्रेरणा से सचालित होकर वह तत्काल अपनी कुटिया में गया। क्षण-भर बाद ही वह बाहर आया, तो उसके हाथ में थे—एक बडा श्वेतपत्र, तूलिका और मसिपात्र। बाहर आकर उसने निवेदन एवं आदेश से मिश्रित स्वर में कहा—"वहीं उसी प्रकार खड़ी रहो देवि! अपना मुह कुछ मेरी ओर कर लो। अब मुड़कर वामस्कंध को थोडा पीछे कर लो।"

उसके एक-एक निर्देश का पालन अनायास होता गया। प्रसन्न होकर वह बोला—"हा देवि, ठीक इसी तरह अपने नयनों से सामने लटकती डाल को देखती रहो। तुम्हारा अधिक समय नहीं लूंगा।"

श्वेतपत्र वहीं काष्ठपट्ट पर फैल चुका था, तूलिका मसिपात्र मे डूब चुकी थी। कुछ पलों में ही वह नारीतन बाह्य रेखाओं के रूप में उस श्वेतपत्र पर अवतरित होने लगा। आदेशानुसार सामने की टहनी की ओर ही देखती हुई वह युवती बीच-बीच में उन रेखाओं को और कलाकार के वदन पर प्रस्फुटित होती प्रसन्नता को भी निहार लेती थी।

चित्रांकन समाप्त हुआ। कुशलपाणि एक दृष्टि उस सजीव मूर्ति पर डालता, दूसरी उस रेखांकिता नारी पर। रमणी ने मन-ही-मन ईश्वर का आभार माना कि उस उपकारी को वह कुछ समर्पित कर सकी। गमनोद्यत होकर भी वह रुकी; पिछली रात्रि को प्राप्त उत्तरासंग उसने एक ओर रख दिया। अनावृत वक्षस्थल पर वे उरोज-द्वय इन्द्राद्रि गिरि-द्वय की शोभा को लज्जित करते-से प्रतीत हुए। कलाकार

निर्निमेष उन्हें देखता रहा। रमणी घुटने टेककर अपने आश्रयदाता के चरणों में नतमस्तक हुई।

किसी अंतःप्रेरणा से कुशलपाणि की तर्जनी सुंदरी के चिबुक पर पहुंची और उसके सहारे सुंदरी का प्रशस्त मुख-मंडल ऊपर उठा। कलाकार के मुंह से इतना ही निकला—"सुंदर!......अतिसुंदर!" रमणी तत्काल खड़ी हो गयी। लज्जा, विनय समर्पण, असहायता से भरी वह न तो पग बढ़ा पा रही थी, न रुककर खड़ी रह पा रही थी। नारी की यह निरीहता कुशलपाणि से छिपी नहीं रही। उसने पूछा—"कहां जाओगी भद्रे?"

निरुत्तर उसने अपने विशाल नेत्र सम्मुख के पथ की ओर पसार दिये, मानो कह रही हो—गंतव्य अदृष्ट है, किंतु पथ सम्मुख है। कुशलपाणि के अंतर्मन ने उसे प्रेरित किया। खड़े होकर उसने उस अपरिचिता, असहाया अबला का हाथ पकड़ लिया। "मेरा अनुगमन करो भद्रे!...तुम्हारा नाम?"

"वभूति।"

"वभूति!...नहीं-नहीं, तुम तो रजत-रज हो, कनक-कण हो।" उसके श्यामल सुंदर तन पर बिखरी उदयकाल की सूर्यप्रभा को देखता हुआ कुशलपाणि कह उठा। जलधारा में अनायास बहती नाव की भांति वभूति उसकी अनुगामिनी हो गयी।

उस नारी के परिचय के लिए वाणी की आवश्यकता नहीं थी। सारी परिस्थिति स्पष्ट रूप से बता रही थी कि वह एकाकी है, निर्धन है, आश्रय की खोज में है। गुहा-मंदिरों के निर्माण के लिए पर्वत के कठोर हृदय को भेदने में तत्पर बलशाली पुरुष-वर्ग की सहायिकाएं, पर्वत के हृदय को अलंकृत करने में निमग्न कुशल कलाविदों की सहयोगिनियां वहां अनेक थीं। वभूति भी उनमें से एक बनने के निमित्त ही वहां आयी है। कई सहस्र नर-नारियों का जीवन-निर्वाह हो रहा है उस स्वर्गोपम निर्माण-कार्य के द्वारा।

कुशलपाणि सकरी पहाड़ी पगडंडी पर पग बढ़ाता आगे चला जा रहा था और सोच रहा था—क्या इस अनिंद्य सुंदरी को भी भारवाहिका बनना पड़ेगा? या नदी-तट से रंगीन कंकड़ चुनने-पीसने का काम करना होगा? नहीं। इस नारीतन का वह दूसरा ही उपयोग करेगा। उसके शरीर में वह देखेगा देवांगना को, राजलक्ष्मी को, गिवाली को, नृत्यांगना को और परम रूपवती मारसुता को।

ईसा की सातवीं सदी का पूर्वार्ध-काल था वह। पिछले तीन-चार सौ वर्षों ने इन्ध्याद्रि गिरि के उस कठोर अंतर्भाग को भेदकर दशाधिक गुफाएं बनायी जा चुकी थीं, जिनमें कई चैत्य थे तो कई विहार। बौद्ध धर्म एवं ज्ञान-ध्यान का अद्वितीय केंद्र था वह गिरिभाग। अनेक चैत्य एवं विहार अलंकृत तथा चित्रित किये जा रहे थे। नयी गुफाएं खोदी जा रही थीं और उनका शृंगार हो रहा था। धर्मधुरीण तथागत

स्थविरों और भिक्खु-जनों का वहां समारोह रहता, तो उसी प्रकार निर्माण-कुशल स्थपतियों एवं आकल्पन-चित्रण-प्रवीण कलाविदों का भी। बहिरंग और अंतरंग सौंदर्य की साधना-उपासना का वह अनुपम केंद्र था।

अनुगामिनी बभूति यह सोचने-समझने का यत्किंचित् भी प्रयास नहीं कर रही थी कि उसका सन्निकट भविष्य क्या है। यही अनुभूति उसके लिए पर्याप्त थी कि वह एक देवतुल्य पुरुष की अनुगामिनी है, उसकी डोर एक सत्पुरुष के हाथ में है।

कुछ ऊपर चढ़कर एक संकीर्ण किंतु सुनिर्मित मार्ग पर पहुंचकर वे दोनों मुख्य विहार के द्वार पर पहुंचे। वहां मनोहारी स्तंभों के बीच और तोरण के नीचे एक शिला-वेदिका पर महासंघस्थविर विराजमान थे। महासंघस्थविर के प्रश्नसूचक दृष्टिपात करने पर कुशलपाणि ने निवेदन किया—"भगवन्, यह देवी आजीविका की आज्ञा से यहां आयी है। यदि आज्ञा हो, तो मैं इसे अपनी प्रसाधिका नियुक्त कर लूं—श्रमिक के रूप में नहीं, किंतु मेरे चित्रों के लिए चित्रादर्श के रूप में।"

महासंघस्थविर ने बभूति के शरीर पर आपादमस्तक दृष्टि डाली, फिर नयन मूंदकर उन्होंने कहा—"कुशलपाणि, तुम्हें आज्ञा है। हमारा तुममें पूर्ण विश्वास है।"

* * *

प्रथम दृष्टिपात में ही कुशलपाणि ने बभूति की काया की विलक्षणता को पहचान लिया था। यथोचित साधना और प्रसाधन द्वारा इस तन से जो अद्वितीय रूप-भाव-सौंदर्य प्रकट हो सकता था, उसकी कल्पना उसका कलाविज्ञ अंतर कर चुका था।

कुछ ही दिनों में नृत्य-साधना एवं पौष्टिक आहार के प्रभाव से बभूति का शरीर देदीप्यमान हो उठा। कपोल, उरोज, नितंब एवं ऊरुभाग मांसल एवं पुष्ट हो गये। अंग-सौष्ठव, अंग-विक्षेप, अंगुलि-भंगिमा, भाव-प्रदर्शन में वह प्रवीण हो गयी। गत कई शताब्दियों के कुशलकर्मा कलाकारों द्वारा अंकित चित्रों को दिखाकर कुशलपाणि बभूति को शिक्षित करता। विविध नारी-आकृतियां दिखाकर उसे समझाता—इसमें राजतेज है, इसमें सेविका-भाव है; इसमें त्याग है, इसमें अनुराग है; यह मुद्रा आत्मसमर्पण की है, यह मुद्रा विजयोल्लास की है। बभूति जिस तत्परता और शीघ्रता से उसका आशय ग्रहण कर लेती थी, उससे वह विस्मित और सुप्रीत था।

विहार की भित्ति पर 'महाजनक जातक' का चित्रण-कार्य हो रहा था। राजमाता शिवाली अपने पुत्र राजा महाजनक के संसार-त्याग के निश्चय से अत्यधिक व्यथित थीं। महाजनक को संसार की ओर आकर्षित करने के लिए राजमाता सात सौ परम रूपलावण्यवती युवती कुमारियों को श्रेष्ठ रूप से शृंगारित करके उन्हें अपने समस्त सम्मोहन-कौशल का प्रयोग करने का आदेश देती हैं। महाजनक पधारते हैं, शिवाली उन्हें मनाने का प्रयत्न करती हैं। सुंदरी-समूह के बीच नर्तकी अपना नृत्य प्रस्तुत करती है।

कुशलपाणि नर्तकी के रूप में बभूति को चित्रित करना चाहता था। प्रसाधनकक्ष से नर्तकी की वेशभूषा में जब बभूति उसके सम्मुख आयी, वह अवाक् रह गया।

आजानु अधोवस्त्र तथा श्वेत बूंदों वाला गहरे रंग का कंचुक पहने, कंधों पर हंसदुकूल की गात्रिका डाले, प्रसाधित केशपाश को एक फीते से बांधे और अलंकृत मुकुट को शिरोधार्य किये वह नर्तकी जब चित्रादर्श के रूप में उपस्थित हुई, तो कुशलपाणि को प्रतीत हुआ कि प्रथम विजय उसके समक्ष उपस्थित है। अब विहार-भित्ति पर उसका अंकन करके कला-सृजन का परम सुख प्राप्त करना था।

नृत्यपरायणा बभूति ने अपनी दोनों भुजाओं को उसके आदेश से नृत्यभंगिमा में विमुक्त और पादद्वय को नर्तनोद्यत किया। उसके नेत्रों से, उसकी मुखाकृति से, उसके अंग-विक्षेप से, उसकी अंगुलि-भंगिमा से पुरुष-हृदय पर विजय पाने का संकल्प संपूर्ण रूप से प्रकट होने लगा।

नर्तकी के चित्रण के पश्चात् तो बभूति और कुशलपाणि मानो नर-नारीश्वर हो गये। नर था कुशलपाणि का कला-कौशल, नारी थी बभूति की रूपकांति। दोनों परस्पर एक दूसरे के ध्यान में विलीन रहते। बभूति के अंग-प्रत्यंग के वैशिष्ट्य से कुशलपाणि परिचित होता जा रहा था। पद्मपाणि बोधिसत्त्व का चित्रण करते समय उसके स्मृति-पटल पर बभूति के नयन आ जाते, आम्रफल के अंकन में बभूति के कपोल, हंस-युगल की ग्रीवा के चित्रण में उसके करद्वय, लता-पल्लव के निरूपण में उसकी भ्रूवक्रिमा उसे दृष्टिगोचर होती।

कुशलपाणि विशुद्ध बौद्ध था। वह कर्मशील था, परिवर्त्त सिद्धांत का परिपालक था—अपने ऐहिक कौशल को परमार्थ के निमित्त परिवृत्त करने वाला धर्मद्रष्टा कलाकार था। अपने नयनाभिराम हृदयग्राही चित्रों द्वारा वह महायान प्रतिपादित धर्मकाय को संभोगकाय के अलौकिक रूप में उपस्थित कर उसके द्वारा निर्वाणकाय का मार्ग प्रशस्त करता था।

बभूति का तो मानो यह नवजीवन ही था। धार्मिक वातावरण व कलाचरण को देखकर वह शीघ्र ही वहां की मर्यादाओं से परिचित हो गयी। नित्य वह प्रसाधिका का कार्य संपन्न करती, चित्रादर्श उपस्थित करती, बांसों के खटोले पर बैठे कुशल-पाणि को रंग व तूलिका पहुंचाती, यथासमय उसका भोज्य-पेय उपस्थित करती, अन्य कोई काम न होता तो अपनी उपस्थिति तथा वचनों के द्वारा उस कलाकार को उत्साह प्रदान करती।

नियमित नृत्य, यथावश्यक प्रसाधन-शृंगार, चित्रादर्श के रूप में आत्मप्रस्तुति, चित्रांकनों की प्रशंसा, चित्रकार की सुख-सुविधा का ध्यान—यही बभूति का जीवन-क्रम बन गया। वहां के नारी-मंडल में बभूति ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। उसका रूप-गुण प्रशंसा और ईर्ष्या दोनों का विषय था। किंतु प्रशंसा से गर्वित व

ों से दुःखित हुए बिना वह कुशलपाणि की सेवा में तल्लीन रही। कभी वह
ारग्राहिणी यक्षिणी बनती, तो कभी थाल उठाने वाली सेविका; कभी राजमहिषी
रूप में उपस्थित होती, तो कभी गृहकार्य में तल्लीन साधारण स्त्री के रूप में।
ुशलपाणि ही नहीं, उसके सहकर्मी कलाकार भी बभूति का चित्रादर्श के रूप में
योग करते और वह उसमें सार्थक्य और तृप्ति अनुभव करती।

चित्रण-कार्य से अवकाश मिलने पर कुशलपाणि बभूति को पूर्ववर्ती कलाकारों द्वारा
चित्रित कलाकृतियां दिखाने भी ले जाता था। बभूति को कला का मर्म समझाते हुए
कहता—"इस गुहा का निर्माण आज से आठ या नौ सौ वर्ष पहले हुआ था।
र देखो, बोधिवृक्ष की पूजा के निमित्त पधारते नागराज की छत्रधारिणी सेविका को।
ा सुंदर है इसका वेश-विन्यास! कैसा मनोहर है इसका अंगसौष्ठव!"

चैत्यों और विहारों का अवलोकन कराता हुआ कुशलपाणि बभूति को विविध
ातकों का चित्रण दिखाता—"यह है हस्ति-जातक का चित्रण, यह है महाकपि-
ातक और यह है हंस-जातक।" सुतसोम, मातृपोषक, महाउमग्ग आदि जातकों
चित्रण का अवलोकन कराकर वह जिस तन्मयता एवं विशदता से उनका मर्म
झाता था, वह मानो बभूति को एक नये लोक में पहुंचा देता था।

भगवान बुद्ध के विविध पूर्वजन्मों और जीवनचर्याओं के चित्रण उसे इस
ातल से ऊपर उठने को प्रेरित करते। भिक्षापात्र लिये, अपने महासत्त्व के अनु-
महादेह धारण किये हुए शाक्यमुनि के सम्मुख खड़े यशोधरा-राहुल के समान
वह अपने आपको लघुकाय पाती। उसे रह-रहकर अनुभव होता कि इन महान
तियों और इनके महान उद्देश्य के सम्मुख वह कितनी नगण्य है, कितनी क्षुद्र!
किंतु जब वह वस्त्रालंकार-सुशोभिता अप्सरा के अथवा प्रसाधन-रता श्यामासुंदरी
शयन-कक्ष में शय्यासीन विश्वंतर और उनकी पत्नी माद्रि के प्रेमासक्त चित्रण
देखती, तो उसका मन परलोक से इहलोक में उतर आता। स्थान-स्थान पर
भों पर, तोरणों पर, वितानों पर चित्रित या आमूर्तित पशु-पक्षी और प्रेमासक्त
ानव-युग्मों को वह खोयी-खोयी-सी देखती रह जाती, संयम-साधना एवं धर्मपालन
उस वातावरण में भी विचलित-सी हो जाती। वह भूल जाती कि वह बभूति है,
र ये हैं कुशलपाणि। वह अपने आपको माद्रि समझती और कुशलपाणि को
श्वंतर। मानव-देह की स्वाभाविक वृत्तियों का दमन कहां तक संभव था उस
-क्षुधिता के लिए?

* * *

कुशलपाणि बभूति को अनेक रूपों में चित्रित कर चुका था। अब वह चाहता था
भूति को उसी के रूप में चित्रित करना। विहार के एक भित्तिभाग को उसने इसके
ए चुना, जहां दिवस के अधिकांश भाग में प्रकाश का प्रवेश होता था और जो

दृष्टिपथ में सहज रूप से पडता था। महासघस्थविर की अनुमति प्राप्त करके कुशलपाणि यहा त्रभूति का सजीव चित्र उपस्थित करना चाहता था। उस अनिंद्य सुंदरी की सगति में नितांत अतरगता के क्षणो में, जिस अद्भुत अक्षोभ्य शाति की आत्मानुभूति उसे होती थी, उसी का अनुभव उस चित्र के द्वारा वह शत-सहस्र वर्षों तक यहां आने वाले प्रत्येक दर्शक को कराना चाहता था।

त्रभूति तो सपूर्ण आत्मसमर्पण कर चुकी थी। कलाकार की आज्ञा के अनुसार विना किसी प्रसाधन के अपने निसर्ग-सहज स्वरूप में, कटिवस्त्र के अतिरिक्त सर्वथा निरावरण-निराभरण वह उपस्थित हुई। उसे देखकर कुशलपाणि मानो दिव्यलोक में पहुंच गया। चित्रण के प्रथम चरण मे उसे उसके अंग-सौष्ठव की बाह्य रेखाओं से ही अभिप्राय था। श्वेतपत्रों पर विविधतया उसे अकित कर, अत में उसने एक विशिष्ट आकृति का निर्धारण किया, जिसमें त्रभूति की देहवल्लरी की समस्त सुंदरता एक झलक में ही परिलक्षित हो जाती थी।

आज वह आकृति त्रभूति के सम्मुख थी और उसके सम्मुख थी त्रभूति। वह श्वेतपत्र मानो निर्मल दर्पण था। उस अगिमा में स्थिर रहने के लिए त्रभूति को कुछ दिन विशेष व्यायाम-साधना करनी पडी, जिसका सचालन कुशलपाणि ने स्वय किया। अंग-प्रत्यंग के प्रत्येक छोर की स्थिति वह निर्धारित करता और त्रभूति को उसका अनुकरण करना पडता। इस सारे कार्य-कलाप में त्रभूति तापसी की तरह तन्मय और शिशु की भाति प्रसन्नवदन रहती। वह भी जानती थी कि उसके देह की आकांक्षा की यह पराकाष्ठा है। वह जानती थी कि एक दिन उसकी यह सुंदरता उसकी काया से विलुप्त हो जायेगी और उसकी काया पंचभूतों में विलीन हो जायेगी, परंतु यह चित्र सदा अमर रहेगा।

कुशलपाणि के वे दिन अपनी कला के प्रति सपूर्ण अवधान के थे। अब तक की उसकी सब कलाकृतियां आदेशजन्य थीं, किंतु यह होगी आत्मजन्य। वास्तविक कला होती भी है स्वान्तःसुखाय—हृदय के आतरिक उच्छ्वास से प्रसूत। इस बार चित्रकर्म की अवधि में चित्रिता और चित्रकार मे जो सान्निध्य स्थापित हुआ, वह अतीव घनिष्ठ था।

चित्रकार की प्रेरणा और उसके उत्साह के अनुरूप ही चित्रांकन प्रगति कर रहा था। किसी दिन एक पूरे अग का चित्रण समाप्त हो जाता था, तो किसी दिन एक अगुलि-भंगिमा के चित्रण में ही सारा समय समाप्त हो जाता था। किसी दिन दो रंगीन पत्थर के टुकडों को मिलाकर पीसने से निर्मित रंग ही उस वर्णिका-भंग के ज्ञाता को सतुष्ट कर देते थे, तो किसी दिन नाना प्रकार के रगों के जटिल सम्मिश्रण के उपरात भी उसका मनचाहा रग प्रस्तुत नहीं होता था।

त्रभूति का वर्ण श्याम था, किंतु उसमें ताम्रतेज था। न्यूनाधिक प्रकाश से भी

उसकी चमक में परिवर्तन होता और उसी के अनुसार रग बनाना पडता। सहायकों का एक समुदाय इसी कार्य में निरत रहता था। अपनी तूलिका से प्रसूत एक रेखा या एक बिंदु के द्वारा जब कुशलपाणि के मुखमंडल पर संतोष प्रकट होता, तो सहायक-वर्ग प्रसन्न हो जाता था। यथोचित भंगिमा के द्वारा जब बभूति कुशलपाणि को सतुष्ट कर पाती, तो स्वयं भी अपरिमित परितोष अनुभव करती थी। अजंता की समस्त कलासृष्टि में यह चित्र अनोखा था, अद्वितीय था। सभी कलाकार ही नहीं, भिक्खु भी इस चित्र की समाप्ति की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे।

* * *

वर्षा समाप्त हो चुकी थी। शरद् ऋतु का प्रारंभ हो चुका था। सारा गिरिवन-प्रदेश नहा-धोकर निर्मल हो गया था। जलप्रपातों में कृशता आ गयी थी। किंतु नीचे का जलाशय परिपूर्ण था। उसके तट पर किसी शिलाखंड पर बैठना और जल में तैरती मछलियों को देखना बभूति का नितांत प्रिय कार्यक्रम था।

चित्रादर्श उपस्थित करने के अतिरिक्त अन्य कोई काम न होने से वह अपने भीतर जड़ता-सी अनुभव करने लगी थी। इसीलिए गिरि-काननों में अकेली निकल जाती, किसी मनोरम स्थल पर बैठकर अपने मनोभावों को बटोरने में लग जाती।

एक दिन वह इसी तरह बैठी हुई थी कि समीप के वृक्ष की डाल से उड़कर एक मोर अपनी हरी-नीली पूंछ का भार सभाले समतल भूमि पर उतर आया और उसके पीछे-पीछे चला आया मोरनियों का एक समूह। मोर ने अपने पंखों को वृत्ताकार ऊपर उठाया और उसके पाव आप-ही-आप थिरक उठे। वह चारो ओर घूम-घूमकर शोभावृष्टि करने लगा। मयूरियां उसके चारों ओर वृत्ताकार नाचने लगीं, आत्मार्पण द्वारा प्रणयी की कृपा की कामना करती हुई-सी। बभूति को अपने हृदय की भी वही दशा प्रतीत हुई। क्या वह भी इन मयूरियों की भाति प्रणयिनी नहीं है? क्या वह मन-ही-मन कुशलपाणि से प्रणय की भिक्षा नहीं मांगती रहती है?

इस सत्य के बोधोदय से बभूति विचलित-सी हो गयी। कैसे वह अपना निष्काम योगदान करती रहे? इस बोध का भार वह कैसे वहन करे कि जिसे वह आत्मार्पण कर चुकी है, वह उसके जीवित सौंदर्य का पिपासु नहीं, केवल उसके चित्रार्पित प्रतिबिंब का दास है? उसका यह रूप-वैभव क्या मात्र नयनों को सुख देने के लिए है? क्या इस कमनीय काया में आबद्ध कामनाओं को तृप्त होने का अधिकार नहीं? कामनाएं उसके रोम-रोम से प्रकट होने लगीं। वह अपने आपको सभाल नहीं पा रही थी। वह अपलक मयूर-मयूरियों के नृत्य को देखती रही।

तभी कहीं कोई आहट हुई, मयूर ने अपने पंख समेट लिये और जिस डाली से आया था, उसी पर चला गया। मयूरियों ने भी उसका अनुगमन किया।

आहट हुई थी कुशलपाणि के पदचाप की। तीन दिन बाद शरत्-पूर्णिमा थी।

उस दिन उसे अपनी कला की उस अनुपम कृति को मत्राराम को समर्पित करना था। सारा शरीर चित्रित हो चुका था, मुख-मंडल को मपूर्ण करना ही शेष था। आज प्रातःकाल वभूति को खोजता हुआ वह इसी उद्देश्य से यहां आया था कि उस चेहरे का एक वार फिर सूक्ष्म अध्ययन करेगा, जिसकी उसे अनुकृति करनी है।

जिस प्रकार नियमपूर्वक समाचरित नृत्य-साधना द्वारा उसने वभूति के अंगों में अपूर्व सौष्ठव का आधान किया था, उसी प्रकार आज उपदेशों द्वारा उसके मुख-मंडल में वे भाव जाग्रत करना चाहता था, जो विहार की भित्ति पर चित्रित उस रमणी की आत्मा को व्यक्त करेंगे। वह चित्र जो शब्द बोलता-सा प्रतीत होगा, उन शब्दों को वह वभूति के अंतःस्थल में प्रवेश कराना चाहता था।

कुशलपाणि समीप आया। उगते सूर्य के मपूर्ण प्रकाश में उसने अपनी उस अप्रतिम संगिनी के मुख-मंडल पर दृष्टिपात किया। सहसा वह सहमकर रह गया। जिन भावों की अभिव्यक्ति वहां उसने देखी, उनकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। वह उस समय आया था चारित्र्य, शील एवं शांति का पाठ पढ़ाने, अपने वचनों द्वारा उस रूपसी के अंतःस्थल को संयम और शालीनता से परिपूरित करके उसके मुख-मंडल को सात्विक भाव से उद्दीप्त करने। परंतु उस मुख-मंडल पर असंदिग्ध रूप से अंकित प्रणय-भिक्षा को पढ़कर कुशलपाणि किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। वभूति हिली-डुली नहीं और न बोली—केवल नेत्रों को विस्फारित कर अपने स्वप्नों के स्वामी को, अपने मनोरथों के मन्मथ को टुकुर-टुकुर ताकती रही।

सारा साहस बटोरकर कुशलपाणि ने स्पष्ट रूप से कहा—"देवि, आज तुम्हारे मुख पर ये मनोभाव!"

वभूति ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसके विशाल नेत्रों से जलधारा फूट पड़ी, जिसका एक-एक अश्रुबिंदु अपना संदेश स्पष्ट रूप से कह रहा था।

कुशलपाणि ने आंखें मूंद लीं। इंद्रियों के समस्त कपाटों को उसने बलपूर्वक बंद कर लिया। वह हारना नहीं, जीतना चाहता था—अपनी प्रशंसिका को खोकर भी, अपने चित्र के अपूर्ण रह जाने की अति अप्रिय आशंका को झेलकर भी।

वहीं एक शिलाखंड पर वह भूमिस्पर्श मुद्रा में बैठ गया। कतिपय क्षण शांत बैठकर जब वह तनिक स्वस्थचित्त हुआ, तो बोला—"वभूति, स्मरण करो उन उत्खात शिलामूर्तियों को, उन वर्णचित्रों को, जिनमें मार द्वारा प्रताड़ित भगवान तथागत की अविचलित अजेय मूर्ति प्रस्तुत की गयी है। हमारा आदर्श तो वह है देवि! तुम्हें विदित है, भूमिस्पर्श मुद्रा में अवस्थित भगवान को अपने आसन से विचलित करने के लिए मार ने सुंदरी नवयुवतियों को प्रेषित किया, रति-विभ्रम का जाल बिछाया, परंतु विंध्यवत् अविचल रहे तथागत। उस चित्र का वर्णन करते समय मैंने तुम्हें भगवान की वह प्रतिज्ञा सुनायी थी कि मैं कल्प-कल्पांतर तक भी सिद्धिप्राप्ति

के निमित्त इसी मुद्रा में यहीं आसीन रहूंगा, भले ही इसी स्थान और आसन पर मेरी त्वचा, मेरा मांस, मेरी अस्थि सभी गलित होकर विलीन क्यों न हो जायें।"

इन वाक्यों ने वभूति को झकझोर दिया। इस नये सिद्धार्थ के सम्मुख क्या वह मारसुता के समान है? क्या वास्तव में वही क्षुधातुरा है? क्या वह सचमुच अबला है? उसके मुंह से बोल नहीं फूट रहा था। अपने अंतर्द्वंद्व को वह सभाल नहीं पा रही थी। उस स्थिति का एक-एक पल उसके लिए दुःसह हो रहा था।

कुशलपाणि अविचल भाव से उत्तर की प्रतीक्षा करता हुआ नयन मूंदकर भूमिस्पर्श मुद्रा में बैठा रहा। एक पल बीता, दो पल बीते, बीस पल बीत गये। कोई उत्तर न पाकर कुशलपाणि ने नेत्र उघाडे। वभूति उठ चुकी थी। डगमगाते पगों से वह उसी वनपथ की ओर अग्रसर हो रही थी, जिस पर से चलकर एक बरसाती रात को उधर आयी थी।

कुशलपाणि निःशब्द रहा और आखों से ओझल होती उस अभिरामा को देखता रहा। जब पथ के मोड में वह समा गयी, कुशलपाणि का भूमिस्पर्शासन भी समाप्त हुआ।

* * *

आगे की कहानी बहुत छोटी है। नारी-सौंदर्य का वह भित्तिचित्र असपूर्ण ही रह गया; क्योंकि कुशलपाणि ने चित्रण-कार्य से सन्यास ले लिया। उस गुहा के किसी वर्तमान भित्तिचित्र का वर्णलेप दूर हो, तो शायद उसके नीचे वभूति का वह असमाप्त चित्र प्रकट हो। जैसे वह चित्र अपूर्ण रहा, वैसे ही वभूति का जीवन भी अपूर्ण रहा होगा। उसकी कहानी कहने वाला कोई नहीं हुआ।

* * *

जीवन की अनुपम आभा में धरती का बेजोड़ सौंदर्य हर नयी खिलने वाली पंखड़ी के साथ एक नया विचार प्रस्तुत करता है। जिन घडियों में हमारा मन सौंदर्य में तल्लीन होता है, उन्हीं घड़ियों में हम सचमुच जीवित होते हैं। सो हम जितने ही क्षण सौंदर्य के बीच में बितायेंगे, क्षयधर्मी काल से उतने ही क्षण छीन लेंगे।

—रिचार्ड जेफरीस